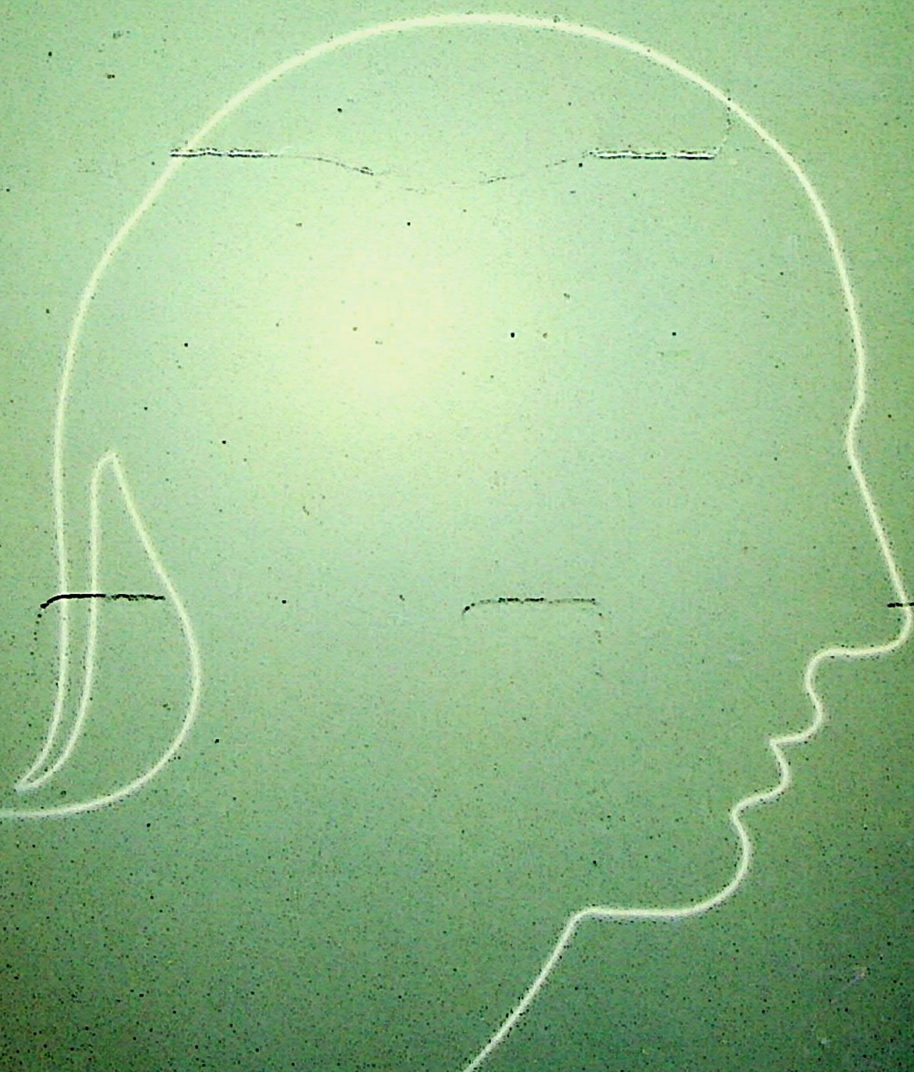
कौटल्य कालीन भारत

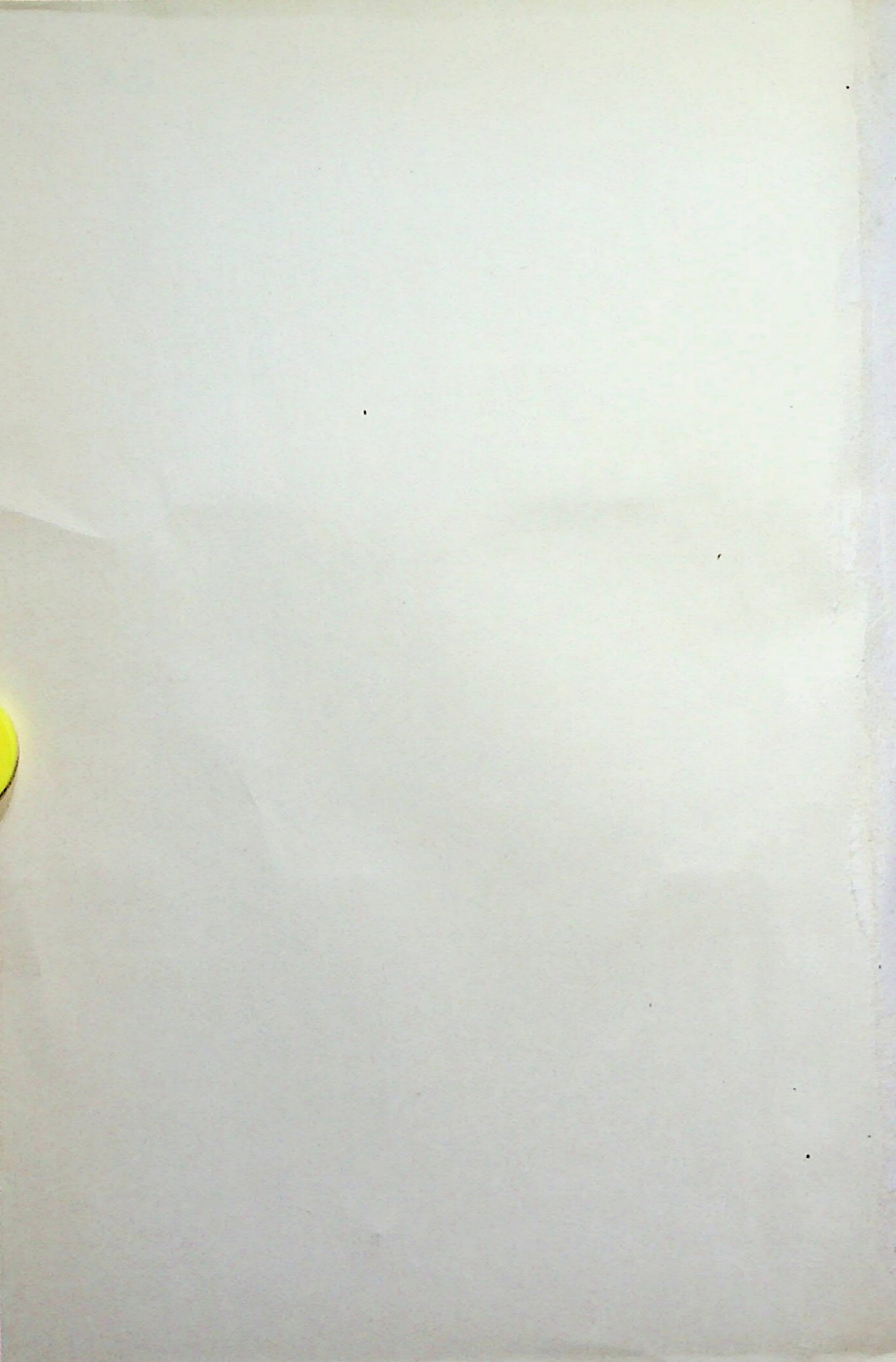
लेखक

आचार्य दीपंकर



उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ





कौटल्य कालीन भारत

हिन्दी समिति प्रभाग ग्रन्थमाला - १६१

कौटल्य कालीन भारत

लेखक
आचार्य दीपंकर



उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान
(हिन्दी समिति प्रभाग)
राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन हिन्दी भवन
६, महात्मा गांधी मार्ग, हजरतगंज,
लखनऊ

प्रकाशक :
डॉ. सच्चिदानन्द पाठक
निदेशक
उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान,
लखनऊ

प्रथम संस्करण : १६६८
द्वितीय संस्करण : १६८६
तृतीय संस्करण : २००३

प्रतियों की संख्या : २१००

मूल्य : ८७.०० (सत्तासी रुपये मात्र)

मुद्रक :
रोहिताश्व प्रिण्टर्स,
ऐशबाग रोड, लखनऊ
फोन : २६६२६७३, २६६२२८६

यह पुस्तक सादर समर्पित है –

श्री शाम शास्त्री की पुण्यस्मृति को
जिन्होंने कौटल्य के विलुप्त अर्थशास्त्र का
आँग्ल भाषा में अनुवाद करके एवं सज-धज के साथ
प्रकाशन कराकर पुनरुद्धार किया।

– आचार्य दीपंकर

कौटल्य के राजतन्त्र का आदर्श

प्रजा सुखे सुखं राज्ञः प्रजानाञ्च हितेहितम्।
नात्मप्रियं हितं तस्य प्रजानान्तु प्रियं हितम्।।

अर्थात् राजा का अपना सुख कुछ नहीं है। प्रजा का सुख ही राजा का सुख है और प्रजा के हित में ही उसका हित है। उसका करना प्रिय और हित कुछ भी नहीं है। प्रजा का प्रिय और हित ही उसका प्रिय और हित है।

–कौटल्य

प्रकाशकीय

उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान के समिति प्रभाग के महत्त्वपूर्ण प्रकाशन 'कौटल्यकालीन भारत' जिसकी रचना आचार्य दीपंकर ने की है, का तृतीय संस्करण प्रकाशित करते हुए हमें अपार हर्ष हो रहा है। पुस्तक में विद्वान लेखक ने अपने दृष्टिकोण से मानव सभ्यता के विकास का सिंहावलोकन करते हुए कौटल्यकालीन भारत के समाज का एक सुन्दर चित्र प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। ग्रन्थ से तत्कालीन राजनीति एवं अर्थव्यवस्था का आभास मिलता है तथा आचार्य कौटल्य के महान बौद्धिक व्यक्तित्व की जानकारी भी प्राप्त होती है, जिन्होंने सुविख्यात 'अर्थशास्त्र' ग्रन्थ में राजतन्त्र के अन्तर्गत लोक कल्याणकारी शासन का सूत्रपात भी किया था।

दो भागों में विभक्त इस ग्रन्थ में ग्यारह अध्याय हैं। विद्वान लेखक ने पुस्तक के प्रारम्भ में कौटल्य से पहले के भारत की चर्चा की है। वैदिक युग, पुरोहित युग, उपनिषद् काल, यूनानी दार्शनिकों का संघर्ष, महामानवों का योगदान, बौद्धधर्म, जैनधर्म, चर्वाक के प्रहार आदि की विवेचना करते हुए प्रथम नवजागरण के साथ-साथ भारत के राजनैतिक बिखराव पर भी प्रकाश डाला गया है।

पुस्तक में भारत के प्रथम राष्ट्रपिता कौटल्य के उदय, उनकी सफलता के कारण, उनके सपनों का भारत को रेखांकित करते हुए चाणक्य की नीति को भी उद्धृत किया गया है। चन्द्रगुप्त मौर्य से लेकर विक्रमादित्य तक का शासन काल लगभग ५०० वर्षों का है जिसमें आधुनिक भारत का राजनैतिक एकीकरण एवं रूपान्तरण हुआ था। इस काल में उस संस्कृति और ज्ञान, विज्ञान तथा साहित्य एवं कला का विकास हुआ था जिसे भारतीय संस्कृति के नाम से जाना जाता है। आचार्य विष्णु गुप्त (चाणक्य, कौटिल्य अथवा कौटल्य) इसके संस्थापक एवं क्रान्तदर्शी हैं।

विद्वान लेखक ने ग्रन्थ में समाज का आर्थिक ढाँचा कैसा हो इस पर भी विस्तार से प्रकाश डालते हुए समाज के ऊपरी ढाँचे, सामान्य प्रशासन, विदेश नीति की रूपरेखा, राजतंत्र का संकट आदि का विश्लेषण किया है।

पुस्तक में तत्कालीन आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक स्थिति का तो स्पष्ट चित्रण है लेकिन साथ ही साथ शत्रु और मित्र कैसे हों, सीमा सम्बन्धी विवादों का निपटारा कैसे किया जाय, मंत्रिपरिषद् का दायित्व क्या हो आदि विषयों पर नीति निर्धारित की गयी है जो कौटल्य की इस समाज को विशेष देन है।

आशा है पुस्तक का यह तृतीय संस्करण विद्वानों, छात्रों, जिज्ञासुओं का पूर्व की भाँति समादर प्राप्त कर सकेगा।

डॉ. सच्चिदानन्द पाठक
निदेशक

अनुक्रमणिका

अध्याय-तीन

अध्याय-चार

अध्याय-पाँच

द्वितीय भाग

अध्याय-छः

अध्याय-आठ

हार न मानूँ !

जिस समय हिन्दी संस्थान के कार्यकारी उपाध्यक्ष ने कौटल्य कालीन भारत की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि देते हुए कौटल्य के जीवन तथा उनसे पहले के भारत की रूपरेखा बताने के लिए पुस्तक का संशोधन एवं परिवर्द्धन करने का सुझाव दिया था, उस समय मुझे ऐसा अनुभव हुआ जैसे वह मेरे ही मन की बात कह रहे हैं। फिर भी, हाँ करते समय मैं यह जानता था कि इसके लिए कितना पढ़ना पड़ेगा और सम्भव है भारतीय इतिहास के सर्वाधिक विवादास्पद और बहुचर्चित महात्मा कौटल्य के प्रति न्याय न कर पाऊँ। इसका मुख्य कारण यह है कि इनका व्यक्तित्व जितना ही अधिक महान है उतनी ही मात्रा में वे तन्तु भी टूटे हुए हैं जिन्हें जोड़कर कौटल्य और उनसे पहले के भारत का दिग्दर्शन कराया जा सकता है। परन्तु, मैंने कौटल्य जैसे महापुरुष का व्यापक आभार शिरोधार्य किया है और यह माना है कि जो भारत उन्होंने बनाया था, बाद के भारतीयों ने उसे तोड़ा ही है और छोटा किया है, बढ़ाया नहीं है।

अतः इस अवसर को उनकी स्मृति में श्रद्धासुमन अर्पित करने का बहाना मानकर कौटल्य से पहले के भारत का दिग्दर्शन कराना मैंने सहर्ष स्वीकार कर लिया।

परन्तु लखनऊ से लौटते ही मोतियाबिन्दु से ग्रस्त मेरी आँखों ने पूरी तरह जवाब दे दिया। मैंने एक आँख का आपरेशन भी करवाया। फिर भी सफलता नहीं मिली। उस आँख का परदा ही खराब था। मैंने आँखों से बहुत काम लिया था। अब जब उनकी सबसे अधिक आवश्यकता है, वे मुझसे बदला ले रही हैं। परन्तु मैं आँखों की धमकियों में आने से इन्कार करता हूँ। हार मानना मेरा स्वभाव नहीं है। फिर स्वभाव कैसे छोड़ूँ?

१९४२ के स्वाधीनता आन्दोलन में कूदते समय मेरे साथियों ने बार-बार रोका था- एक पाँव से आन्दोलन कैसे करोगे, फरारी जीवन व्यतीत करना असम्भव है। परन्तु मैं ही सबसे बाद में पकड़ा गया था, फरार जीवन भी मेरा ही सबसे लम्बा था और आन्दोलन का क्षेत्र भी वाराणसी से दिल्ली, लाहौर, पेशावर और मुल्तान तक मेरा ही सबसे विशाल था। मेरा विश्वास था कि आन्दोलन पाँव नहीं करते, दृढ़ संकल्प, मनोबल और इच्छाशक्ति ही उनका मार्ग प्रशस्त करती है।

आँखों के इन्कार कर देने पर कठिनाई तो बहुत हुई, पर मैंने मार्ग निकाल ही लिया। एक संस्कृत पण्डित की सहायता से मैंने भविष्यपुराण, विष्णुपुराण, कामन्दक नीतिशास्त्र, मुद्राराक्षस, मृच्छ कटिक, जैन साहित्य, बौद्ध साहित्य एवं अन्य रचनायें सुनी। वैदिक साहित्य सुना और अन्य विद्वानों की रचनायें भी। बड़ी संख्या में मैंने स्मृति में टिप्पणियाँ लिखीं। पुस्तक लिखने बैठा तो फिर आँखों का असहयोग बाधा बना। परन्तु मैंने मोटी कलम से लिखना प्रारम्भ किया, फिर भी लिखना आसान न था। अपना ही लिखा हुआ पढ़ना कठिन था, दूसरों की सहायता से अपना लिखा हुआ सुनता था। परन्तु, संतोष नहीं हुआ।

तभी एक दिन मेरी दत्तक पुत्रवधू श्रीमती सरस्वती ने बच्चों का एक स्कैच पेन दिया जिससे वे रंग भरते हैं। इन मोटे-मोटे अक्षरों को मैं लिखकर स्वयं पढ़ सकता था। इस प्रकार धीरे-धीरे यह बड़ी पुस्तक तैयार हो गयी है। मेरा संकल्प था कि बाधाओं के सामने हार नहीं मानूँ और मैंने हार नहीं मानी।

पुस्तक टाइप में गयी तो उसे पढ़कर कौन सही करे? मैंने अपने मित्र श्री ओ.पी. गोयल, नवयुवक पं. कौशल कुमार चतुर्वेदी हरिओम् और सरस्वती से सहायता ली। परन्तु ये तीनों ही संस्कृत नहीं जानते। तब मैंने ही उनसे अलग-अलग अक्षर पढ़वा कर संस्कृत पाठ को सही करने का प्रयास किया। कुछ अंशों में सफलता मिली भी है। तंग आकर मैंने उस शीशे से काम लिया जो अक्षरों का आकार बहुत बढ़ाकर दिखाता है। परन्तु अन्त में वह शीशा भी धोखा दे गया।

लेकिन मेरे संकल्प ने धोखा नहीं दिया। जैसे-तैसे मैंने कौटल्य कालीन भारत का संशोधित एवं परिवर्द्धित संस्करण तैयार कर दिया है। मैं अपने प्रयासों पर सन्तुष्ट हूँ और आशा करता हूँ कि मेरे प्रिय पाठक भी मेरे प्रयासों से अवश्य सन्तुष्ट होंगे।

– आचार्य दीपंकर

भूमिका

प्राचीन भारत के इतिहास, उसकी अर्थव्यवस्था एवं सामाजिक तथा राजनीतिक व्यवस्थाओं के सम्बन्ध में बहुत से विद्वानों ने विस्तार के साथ विचार किया है। परन्तु इसके लिए उन्होंने जिस सामग्री का प्रयोग किया है, वह प्रायः अनेक शाखाओं तथा क्षेत्रों में कण-कण रूप में बिखरी हुई है, और इन विद्वानों के दृष्टिकोणों में इतना मौलिक अन्तर रहता है कि साधारण पाठक को किसी निश्चित मत पर पहुँचने में भारी बाधा होती है।

'कौटल्य कालीन भारत' में इस प्राचीन देश के पूरे इतिहास की विवेचना नहीं की गयी है। ऐतिहासिक विकास के एक पड़ाव पर भारत की जो स्थिति थी उसी का विवेचन किया गया है। ऐतिहासिक विकास का वह पड़ाव सामन्तवाद था जिसका अध्ययन इस पुस्तक में किया गया है।

फिर भी हमारे प्रकाशकों की यह प्रबल इच्छा और अनुरोध रहा है कि जब तक कौटल्य कालीन भारत की ऐतिहासिक परिस्थितियों का विवेचन नहीं किया जाता तब तक विष्णुगुप्त कौटल्य द्वारा इतिहास में पहली बार भारत के एकीकरण का महत्त्व समझ पाना सम्भव नहीं है। इस पुस्तक के प्रथम भाग में यही प्रयास किया गया है।

परन्तु काल्पनिक आधार पर और मनोगत भावनाओं तथा सन्देहों की स्थिति को देखकर यह विवेचना करना उचित नहीं हो सकता। इसके लिए एक ठोस सैद्धान्तिक आधार की आवश्यकता होती है। इस आवश्यकता की पूर्ति कौटल्य के अर्थशास्त्र को आधार बना कर की गयी है। कौटलीय अर्थशास्त्र संस्कृत वाङ्मय में अद्वितीय ग्रन्थ है और इस अद्भुत शास्त्र की रचना ही इसका ठोस प्रमाण है कि कौटल्य-कालीन भारत का बौद्धिक एवं सामाजिक स्तर कितना उन्नत हो गया होगा। जो कुछ अर्थशास्त्र में प्रतिपादित है वही इस पुस्तक का मूल सैद्धान्तिक आधार है।

अतएव, कौटल्य कालीन भारत का समय और उसकी सर्वांगीण रूपरेखा हृदयंगम करने के लिए अर्थशास्त्र का समय निश्चित करना आवश्यक है।

प्राचीन जनश्रुतियों के अनुसार कौटल्य चन्द्रगुप्त मौर्य के समय में हुए थे और उसके साम्राज्य के मुख्य संस्थापक तथा महामंत्री अथवा महामात्य थे। परन्तु अधिकांश पाश्चात्य विद्वान् अर्थशास्त्र के रचयिता को मौर्यकालीन नहीं मानते और यह भी कहते हैं कि अर्थशास्त्र के रचयिता प्रसिद्ध विष्णुगुप्त कौटल्य नहीं हैं प्रत्युत अनेक विद्वानों ने समय-समय पर एक लम्बी अवधि में इसका निर्माण किया है। परन्तु ये सभी मत अनुपयुक्त हैं।

जो इसे कौटल्य की कृति नहीं मानते उन्हें स्वयं अर्थशास्त्र उत्तर देता है कि 'इस शास्त्र की रचना उस व्यक्ति ने की है जिसने नन्द राज्य का उच्छेद किया है, शस्त्रों और शास्त्रों का उद्धार किया है और मौर्य साम्राज्य की स्थापना की है।'

येन शस्त्रं च शास्त्रं च नन्दराज्यगता च भूः।
अमर्षेणोद्धृतान्याशु तेन शास्त्रमिदं कृतम्।।

कौटल्य की यह शानदार गर्वोक्ति ही नहीं है प्रत्युत वास्तविकता है इस प्रकार कौटल्य फिर कहते हैं –

'सभी शास्त्रों एवं पुराने मतों का अनुशीलन करके एवं सिद्धान्तों का पूर्ण प्रयोग करके कौटल्य ने मौर्य राजा के लिए अर्थशास्त्र की रचना की है' –

सर्वशास्त्राण्यनुक्रम्य प्रयोगमुपलभ्य च।
कौटल्येन नरेन्द्रार्थे शासनस्य विधिः कृतः।।

इन दोनों श्लोकों के सम्बन्ध में इसी अध्याय की अग्रिम पंक्तियों में विवेचना की गयी है।

पुराणों और जैन साहित्य में स्थान-स्थान पर इसका उल्लेख है कि कौटल्य नामक ब्राह्मण ने नन्दराज्य का उच्छेद किया एवं मौर्य साम्राज्य की स्थापना की। ये श्लोक इसलिए भी महत्त्वपूर्ण हैं कि पूरे संस्कृत साहित्य में ऐसा अभिमत कहीं प्रकट नहीं किया गया है कि कौटल्य ने अर्थशास्त्र की रचना नहीं की है तथा उसका रचनाकाल मौर्यकाल से भिन्न है। इसके अलावा, संस्कृत विद्वानों की यह परम्परा रही है कि उन्होंने केवल अपवाद स्वरूप में ही अपनी रचनाओं में अपने सम्बन्ध में कुछ लिखा है। केवल जनश्रुतियों के आधार पर यह पता चलता रहा है कि अमुक ग्रन्थ किसकी रचना है। परन्तु महामात्य कौटल्य ने, अपवाद स्वरूप में ही सही, प्रत्यक्ष रूप में स्वयं के सम्बन्ध में थोड़ा-सा उल्लेख किया है।

एक विदेशी विद्वान का अभिमत है कि अर्थशास्त्र में दार्शनिक क्षेत्र के बाहर विज्ञान की बातों का उल्लेख किया गया है। पुराने शास्त्रकारों की दृष्टि में विज्ञान दर्शन शास्त्र की ही शाखा थी। ईसा की तीन शताब्दियों के बाद यूनान आदि में विज्ञान को दर्शन से भिन्न समझा गया था। अत्तएव, अर्थशास्त्र की रचना तीसरी शताब्दी के उपरान्त ही हुई होगी, ऐसा कहा जाता है।

यह सर्वविदित है कि तक्षशिला विश्वविद्यालय विश्वविजेता सिकन्दर के आक्रमण के समय अपनी उन्नति की पराकाष्ठा पर था। यहीं आयुर्विज्ञान के संस्थापक चरक और सुश्रुत, नक्षत्र विज्ञान और गणित शास्त्र के महर्षि वराह-मिहिर और व्याकरण विज्ञान के प्रणेता महर्षि पाणिनि एवं अर्थशास्त्र के संस्थापक महर्षि विष्णुगुप्त कौटल्य विश्व में ख्याति प्राप्त कर चुके थे। यह धारणा कितनी भ्रामक है कि दर्शन और विज्ञान का भेद ईसा की तीसरी शताब्दी के बाद सामने आया है। ये संकीर्ण मनोवृत्ति के विदेशी लेखक प्रायः प्रत्येक सिद्धान्त और व्यक्ति को ईसा के बाद घसीट कर लाने की दूषित मनोवृत्ति से पीड़ित रहते हैं। परन्तु हमें यह कहने में संकोच नहीं होता कि जब सारा यूरोप गड़रियों के रूप में भेड़ चराया करता था तब भारत में तक्षशिला जैसा एक विश्व-विख्यात विश्वविद्यालय ज्ञान और विज्ञान की शिक्षा दिया करता था।

यद्यपि अर्थशास्त्र में आयुर्वेद, वनस्पति शास्त्र, कृषि विज्ञान और अन्य वैज्ञानिक शाखाओं के सम्बन्ध में विस्तृत विवेचना की गयी है और कौटल्य ने प्रत्येक सामाजिक गतिविधि एवं कर्त्तव्यों को 'स्वर्ग' एवं 'मोक्ष' की सीमित परिधि का बन्दी नहीं बनाया है, इसलिए आधुनिक दृष्टिकोण तथा सांसारिकता को इसमें प्रमुख स्थान दिया गया है, जैसा कि अन्य शास्त्रकारों ने नहीं किया है। परन्तु फिर भी यह घोषणा निराधार है कि कौटल्य से पहले के विद्वानों ने विज्ञान को दर्शन से पृथक् नहीं माना है। आयुर्वेद आदि के रूप में विज्ञान की चर्चा दर्शनशास्त्र की सीमा से बाहर पहले के शास्त्रकारों ने भी की है। व्याकरण, निरुक्त आदि की रचना कौटल्य से पहले ही हो चुकी थी। यह मत भी सही नहीं है कि अर्थशास्त्र में लोकायत मत का उल्लेख होने से वह तीसरी शताब्दी की रचना है। लोकायत बहुत पुराना सिद्धान्त है और बुद्ध से भी पहले का है।

यह कहना कि विभिन्न समयों में अनेक विद्वानों ने एक लम्बी अवधि में इसकी रचना की है और अपनी बात के समर्थन में अर्थशास्त्र में उल्लिखित मनु, नारद एवं वृहस्पति आदि आचार्यों का उदाहरण दिया है, सही नहीं है।

इसका केवल यही अभिप्राय माना जाना चाहिए कि कौटल्य से पहले के विद्वानों ने राजनीति के सम्बन्ध में जो विभिन्न दृष्टिकोण अपनाये थे उन सभी का समन्वय करके कौटल्य ने अर्थशास्त्र की रचना की है न कि उन सभी विद्वानों ने जिनका उल्लेख बार-बार इस ग्रन्थ में किया गया है।

इसका सबसे प्रबल प्रमाण यह है कि कौटल्य ने राजनीति एवं राजतंत्र के सम्बन्ध में अतिवादी छोरों का अन्त करके अर्थशास्त्र में राजतन्त्र एवं अर्थव्यवस्था के मध्यम मार्ग का अनुसरण किया है। परन्तु इस प्रवृत्ति से यह अभिप्राय निकालना अनुचित है कि विचारों की यह परिपक्वता एवं प्रौढ़ता मौर्य काल में सम्भव न होकर ईसा की तीसरी एवं चौथी शताब्दी में ही सम्भव हो सकती है। ये विद्वान् ईसा की तीसरी या चौथी शताब्दी को पूरे विश्व में अतिवाद विरोधी संघर्ष की शताब्दी मानते हैं। यद्यपि यह सही है कि विश्व में प्रायः एक साथ ही नये विचारों तथा आदर्शों का ज्वारभाटा एक ही काल में आता रहा है तथा एक देश में जो नये विचार उठे उनसे मिलते-जुलते विचार दूसरे देशों में भिन्न व्यक्तियों द्वारा पारस्परिक सम्पर्क के अभाव में भी उठाये जाते रहे हैं। इसका विवरण हम पुस्तक के प्रथम भाग में दे रहे हैं। परन्तु फिर भी यह धारणा बचकाना होगी कि विचारों एवं आदर्शों की उथल-पुथल के युगों में सैद्धान्तिक संघर्षों का संवत्सर भी एक समान होगा या वे विचारक एक दूसरे से प्रभावित होकर अपने मतों का प्रतिपादन करते थे। युगों के विकास एवं परिवर्तनों के प्रति यह धारंणा नितान्त भ्रामक तथा यान्त्रिक कही जायगी।

सर्वमान्य तथा वैज्ञानिक धारणा यह होगी कि किसी युग की विशेष सामाजिक व आर्थिक परिस्थितियों में जो नयी सामाजिक व आर्थिक धारणा बनती है वह भिन्न देश और काल में समान आर्थिक तथा सामाजिक धारणाओं को जन्म देती है। यदि पूँजीवाद का विकास इंग्लैंड में होता है तो वैसी ही सामाजिक व आर्थिक धारणाएँ भारत में भी आनी आवश्यक नहीं हैं कि इंग्लैंड के साथ ही भारत में पूँजीवाद का विकास हो और भारत में

भी वे ही परिस्थितियाँ विद्यमान हों जो पूँजीवाद के विकास के समय इंग्लैंड में थीं।

इन दोनों देशों में पूँजीवाद के विकास में कई सौ वर्षों का व्यवधान भी हो सकता है तथा सामाजिक परिस्थितियों में ऐसा मौलिक अन्तर भी हो सकता है कि भारतीय पूँजीवाद का विकास हजार प्रयत्न करके भी इंग्लैंड के पूँजीवाद के पदचिह्नों का अनुसरण न कर सके।

इस प्रकार यद्यपि यह सही है कि मध्य एशिया और यूरोप में तीसरी शताब्दी में अतिवाद के विरोध में तथा मध्यम मार्ग के पक्ष में बुद्धिमानों ने जनमत जाग्रत किया था। परन्तु भारत में सामन्तवाद एवं राजतंत्र का विकास यूरोप तथा मध्य एशिया से बहुत पहले हो चुका था। इसके अलावा, कौटल्य से पहले उपनिषद्-काल, बौद्ध-काल आदि युग में भी अतिवाद के खिलाफ मध्यम मार्ग की स्थापना की गयी है। स्वयं बुद्ध ने उसका उपदेश किया था कि अतिशय विलासिता और अतिशय कष्टों का जीवन व्यतीत करना बुरा है।

कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने अर्थशास्त्र की उन्नत अर्थव्यवस्था और राजतंत्र से भी यह निष्कर्ष निकाला है कि वह मेगास्थनीज के वर्णन एवं अशोक के शिलालेखों से मेल नहीं खाता है, जिनके अनुसार अर्थव्यवस्था एवं राजतंत्र का इतना उन्नत विकास सम्भव प्रतीत नहीं होता। अर्थव्यवस्था में जो बात सबसे ऊपर निखर कर आती है वह है अर्थव्यवस्था के सभी अंगों पर राजसत्ता का कड़ा नियन्त्रण। कौटल्य का राजतंत्र केवल व्यापार, उद्योग और खानों तक ही अपना नियंत्रण सीमित नहीं रखता, प्रत्युत खेती एवं उससे सम्बन्धित सभी व्यवसायों एवं वर्गों पर भी नियंत्रण रखता है।

अब देखना यह है कि क्या कौटल्य से पहले की अर्थव्यवस्थाओं एवं राज्य व्यवस्थाओं में आर्थिक साधनों पर इस प्रकार का नियंत्रण भी था। अगली पंक्तियों में यह स्पष्ट हो जायेगा कि यह नियंत्रण अर्थशास्त्र में नयी घटना नहीं है, प्रत्युत पूरा वैदिक एवं बौद्ध साहित्य इस प्रकार के उदाहरणों से भरा हुआ है। हाँ, इतना अन्तर अवश्य स्वीकार किया जा सकता है कि समाज में जो व्यवस्थाएँ अव्यवस्थित एवं परिपाटी के रूप में विद्यमान थीं, कौटल्य ने उन्हें वैज्ञानिक रूप में रखने का प्रयत्न किया था। पता नहीं ये विद्वान लेखक मेगास्थनीज को ही इतना प्रामाणिक इतिहासकार क्यों मानते हैं और उसी के लेखों के आधार पर मध्यकालीन भारत का चित्रण करने का दुराग्रह क्यों रखते हैं। क्या यह सम्भव हो सकता है कि मेगास्थनीज ने मौर्य दरबार में रहते हुए कैसे पूरे भारत की सर्वांगीण समीक्षा की होगी और कैसे वह उसका उल्लेख कर सकता था। फिर इतनी बात तो स्वयं मेगास्थनीज ने भी लिखी है कि सिंचाई साधनों पर राजकीय नियन्त्रण था एवं स्वयं अशोक के शिलालेखों से विस्तृत राजमार्गों, उनके दोनों ओर खड़े वृक्षों तथा जल पीने के स्थानों की बीच-बीच में व्यवस्था थी, मेगास्थनीज कहता है कि भूराजस्व का संग्रह करने के लिए जो राजकर्मचारी जाते थे वे खतौनियों (भूलेखों) के आधार पर लगान वसूल करते थे और जंगली मार्गों, जंगलों तथा उनका व्यवसाय करने वाले वर्गों पर कड़ा राजकीय नियन्त्रण था, आदि।

यद्यपि यह सही है कि कौटल्य से पहले ही सामन्ती अर्थव्यवस्था का विकास हो चुका था, राजतंत्र ने समाज को चारों ओर से घेर लिया था और पुरानी राज्यव्यवस्था एवं अर्थतन्त्र के प्रभावशाली कबीला व्यवस्था के अवशेष मात्र बकाया थे, परन्तु फिर भी यह सर्वविदित है कि कौटल्य ने भारतीय राजतन्त्र (राजशासन) की एक वैज्ञानिक तथा प्रशासकीय इकाई कायम की और राजतन्त्र की शक्तियों का असाधारण विस्तार करके करीब ३० विभाग संगठित किये, जिससे राजतन्त्र का वैभव मूर्तिमान् हो उठा। जिस प्रशासनतन्त्र का मौर्यकाल में कौटल्य ने गठन किया था, आगे चलकर अशोक ने उसका उपयोग बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए किया। प्रशासनतन्त्र का केवल रूप और लक्ष्य बदल गया, परन्तु उसका ढाँचा ज्यों का त्यों कायम रहा।

राजतन्त्र का यह अध्यक्ष-नियंत्रित नौकरशाहाना रूप स्वयं अलक्षेन्द्र (अलेक्नेण्डर) के शासन में प्रकट है और कौटल्य का संगठन किसी भी रूप में अलक्षेन्द्र से उत्कृष्ट है, निकृष्ट नहीं। अर्थशास्त्र की रचना के बाद राजतन्त्र का यह रूप इतना सर्वमान्य हो गया कि आगे चलकर भारतीय विद्वानों ने राजतन्त्र के रूप में विवाद एवं विचार करना ही छोड़ दिया एवं सभी ने उसे ज्यों का त्यों स्वीकार कर लिया। कौटल्य काल में ही मिस्र में न्यायाधिकरणों (मैजिस्ट्रेटों) की प्रथा प्रचलित थी और ये मैजिस्ट्रेट किसी का प्रभाव न मानकर अपनी ही विवेक-बुद्धि से विवादों का निपटारा किया करते थे। परन्तु कौटल्य के अर्थशास्त्र को छोड़कर अन्य किसी प्रामाणिक ग्रन्थ में इन न्यायाधिकरणों का उल्लेख नहीं मिलता।

यह भी कहा जाता है कि मौर्य साम्राज्य जब थोड़े से दक्षिणी भागों को छोड़कर पूरे भारत में फैला हुआ था तो कौटल्य ने आर्थिक व सामाजिक स्थितियों का उल्लेख करते समय केवल उत्तरी भारत के ही उदाहरण क्यों दिये हैं। इससे प्रतीत होता है कि अर्थशास्त्र ऐसे समय में लिखा गया है जब उत्तर भारत वालों का दक्षिण भारत से कोई सम्बन्ध नहीं रहा होगा और यह समय अशोक की मृत्यु के उपरान्त कम से कम दो सौ वर्ष बाद का हो सकता है।

यह तर्क सारहीन है। एक बार दक्षिण की विजय और अखण्ड भारतीय साम्राज्य की स्थापना हो जाने के बाद भी तथा दक्षिणी भारत से किसी केन्द्रीय प्रशासन के उठ जाने पर भी वहाँ के आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक सम्बन्ध नष्ट नहीं हो सके। फिर मनुकाल से लेकर और कौटल्य के बहुत दिनों बाद तक भी परम्परागत रूप में आर्यों के लिए आर्यावर्त ही सहस्त्रों वर्षों तक आचार-विचार के लिए अनुकरणीय माना जाता रहा है, जैसा कि मनु ने कहा है। इसके अलावा, पूरे साम्राज्य के लिए सामान्य प्रशासन सम्बन्धी नियम बनाते हुए भी विस्तार के साथ उसके केन्द्रीय भाग की विवेचना करना एवं उससे उदाहरण देना अर्थशास्त्र के लिए परम स्वाभाविक है।

कौटल्यकालीन भारत की आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक स्थिति का पता लगाने एवं उसके समय का निश्चय करने से पहले प्राचीन भारत के इतिहास की विशेष अवस्थाओं की विवेचना करना परम अनिवार्य हो जाता है। केवल उसी से सब प्रश्नों का समाधान होना

संभव है।

वास्तव में देखा जाय तो प्राचीन भारत की सभ्यता और संस्कृतियों के विकास का इतिहास धर्मों के विकास एवं उनके विभिन्न रूपों के सामने आने की परम्परा का इतिहास है। प्रत्येक अवस्था या युग में धर्म बदलते गये, वे समाज पर अपनी छाप छोड़ते गये। नये धर्मों के साथ पुराने धर्मों की कुछ मान्यताओं के अनवरत संघर्ष तथा समन्वय का इतिहास ही प्राचीन भारत के इतिहास की मुख्य धुरी है। धर्मों के विकास का यह रूप आमतौर पर इतना जनवादी होता था कि किसी पुराने रूप के हट जाने या चले जाने और नये रूप के सामने आ जाने की बड़ी घटना का समाज को कभी-कभी आभास तक नहीं होता था और बहुत कम ऐसे अवसर आते थे जब धर्म के विभिन्न रूपों में जमकर तथा खुला संघर्ष होता था एवं समाज के विभिन्न भाग एक दूसरे से प्रत्यक्ष रूप में टकराते थे। भारत देश में वर्ग-संघर्ष भी, जो कि पूरे मानव समाज की मूल प्रेरक शक्ति है, धर्म के ही विभिन्न रूपों में सामने आया है।

प्राचीन भारत में धर्मों की परिधि के हिसाब से इतिहास की विवेचना करने पर मुख्यतः तीन धर्म और संस्कृतियाँ दृष्टिगोचर होती हैं। पहली वैदिक काल दूसरी, देवासुर संग्राम और समन्वित संस्कृति तथा तीसरी, प्रथम नवजागरण काल जिसमें उपनिषद-काल, बौद्ध-धर्म, चार्वाक और अन्य दार्शनिकों के आन्दोलन सम्मिलित हैं।

वैदिक काल में धर्म का प्रधान रूप यज्ञ था जिसका अर्थ है मिलकर काम करना, देवताओं को बलि देना एवं मिलकर खाना तथा उत्सव। इस उत्सव का मुख्य रूप अग्नि के चारों ओर एकत्रित होकर आर्यों का नृत्य, संगीत के साथ खाद्य पदार्थों तथा मदिरा का अग्नि में होम करना तथा बदले में अग्नि एवं अन्य देवताओं का प्रसन्न रहना माना जाता था।

इस काल में मानव बच्चों की तरह उत्सुक एवं विभिन्न जिज्ञासाओं से भरा हुआ था और प्रकृति उसके लिए रहस्यों से भरी हुई थी। वह प्रकृति की प्रत्येक घटना एवं विस्फोट पर हक्का-बक्का सा वृद्धों से, जिन्हें वह ऋषि कहता था, प्रश्न करता था और वे ऋषि काव्यमय भाषा में उसे उत्तर देते थे। मानव समाज में किसी प्रकार की रूढ़िवादिता नहीं थी और वह प्राकृतिक जीवन में रह रहा था।

दूसरा धर्म जो वैदिक धर्म का विकृत रूप है और देवासुर संस्कृतियों का समन्वत रूप है, उसमें पुरोहित धर्म, वैदिक धर्म से कई बातों में भिन्न था समाज विभिन्न प्रकार की रूढ़ियों में फँसा हुआ था और वह विभिन्न प्रकार के भयों से व्याप्त था। कर्मकाण्ड एवं देवपूजा धर्म के मुख्य रूप थे एवं समाज के विभिन्न वर्णों में जिन्हें भारतीय शास्त्रकारों ने वर्णों की संज्ञा दी थी, इतनी गहरी खाई, भेद एवं कटुता पैदा हो गयी थी कि वे निरन्तर एक दूसरे से टकराते रहते थे एवं धर्म जनसाधारण की परिधि से बाहर पहुँचकर थोड़े से अभिजात वर्गों तक सीमित हो गया था।

मानव धर्म (मनुस्मृति) इसी युग का राजनीतिक, धार्मिक तथा सामाजिक नियम

सम्बन्धी शास्त्र था जिसकी मान्यताओं के विरोध में समाज का बहुसंख्यक भाग आगे चलकर विद्रोह करने लगा था।

इस विद्रोह के परिणामस्वरूप हजारों वर्षों के पश्चात् बौद्ध धर्म का विकास हुआ परन्तु यह महत्त्वपूर्ण बात भुलाई नहीं जा सकती कि उपनिषद्कारों के ज्ञानकाण्ड ने कर्मकाण्ड को तुच्छ साबित करके बौद्ध धर्म के लिए अनुकूल परिस्थिति तैयार कीं जिसमें बहुसंख्यकों को शान्ति की साँस मिली। बुद्धदेव ने यह दावा नहीं किया कि वे मानव मात्र की सुख एवं शान्ति के लिए धर्म का प्रचार कर रहे हैं, बल्कि नारा था कि 'बहुजन के हित के लिए, बहुजन के सुख के लिए धर्म का प्रचार करो।'

स्पष्ट है कि तीन-चार सौ वर्षों में ही बौद्ध धर्म ने पूरे भारत में रूढ़िवाद के विरुद्ध प्रबल उभार पैदा किया और पुरोहित धर्म चरमराने लगा।

परन्तु हजारों वर्षों तक भारतीय राजनीति एवं समाज व्यवस्था पर प्रभाव रखने के बाद सामाजिक जीवन से यह बहिष्कार पाना पुरोहित धर्म को स्वीकार्य नहीं था। पुरोहित धर्म के विरुद्ध विद्रोह का नेतृत्व करके बौद्ध धर्म ने विजय दुंदुभि बजायी थी।

अब बौद्ध धर्म की असंगतियों और निहित स्वार्थों के विरोध में भी सर्वसाधारण जनता बहुत दिनों तक मौन होकर नहीं बैठी रह सकती थी।

विष्णुगुप्त कौटल्य उपनिषद्काल तथा गौतमबुद्ध के द्वारा किये गये सामाजिक उत्थान के प्रयासों को प्रोत्साहन दे रहे थे। परन्तु दूसरी ओर उनके द्वारा प्रसारित सामाजिक अकर्मण्यता को राष्ट्र के अधःपतन का मूल कारण मानते हुए ऐसी आर्थिक एवं सामाजिक व्यवस्था को जन्म देना चाहते थे जिसमें उन दोनों की असंगतियाँ तो दूर हो जायें परन्तु उनके द्वारा छेड़े गये नवजागरण की उपलब्धियों से राष्ट्र लाभान्वित हो सके।

इस वैचारिक तथा सैद्धान्तिक संघर्ष ने भारत भूमि को महान् सांस्कृतिक विकास की घुड़दौड़ में विश्व के सभी देशों के मुकाबले बहुत आगे पहुँचा दिया। इसी काल ने भारत को महामात्य कौटल्य के अलावा कालिदास, अश्वघोष, भवभूति जैसे महाकवियों को जन्म दिया, दिंगनाग, धर्मकीर्ति, कपिल, कणाद एवं उदयनाचार्य जैसे दार्शनिकों को उभार कर समाज के सामने लाकर खड़ा कर दिया।

इस बात में कोई अतिशयोक्ति नहीं है कि सांस्कृतिक एवं राजनीतिक क्षेत्र में भारत के इस गरिमापूर्ण स्वर्ण युग का सूत्रपात महामात्य कौटल्य ने ही किया था।

प्राचीन भारत के इतिहास में जिन तीन युगों की बात कही गयी है उसमें मौलिक प्रश्नों पर मतभेदों ने कभी भी और किसी भी अवस्था में उतने ही व्यापक मूल प्रश्नों पर एकमान्यता का खंडन नहीं किया।

यद्यपि वैदिक काल में राजा का समाज पर प्रभुत्व नहीं था और वह नाममात्र का राजा होता था, परन्तु फिर भी उसका अस्तित्व जन्म ले चुका था। समाज की सम्पूर्ण शक्ति समुदाय में निहित थी और बहुमत के निर्णय समाज के लिए शिरोधार्य होते थे।

वहवः संभूय यदि एक वाक्यं वदेयुस्ताद्विनः परे रति संध्यम्

आगे चलकर वैदिक काल में ही राजा का चुनाव होने लगा और जिस सभा में वह आकर बैठता था उसका सभापति कोई अन्य व्यक्ति होता था।

नमः सभाभ्यः सभापतिभ्यश्च वौनमः।

प्रारम्भ में राजा बनने के बाद कुछ व्यक्तियों ने स्वच्छन्द व्यवहार किया तो प्रजा ने सरलता के साथ उन्हें गद्दी से उतार दिया। महाभारत और जातक कथाओं में और स्वयं अर्थशास्त्र में इसके सैकड़ों उदाहरण मिलते हैं जब स्वेच्छाचारी राजाओं को प्रजा ने राज सिंहासन से पृथक कर दिया या उनका वध कर डाला।

राजतंत्र की स्थापना से पहले वैदिक काल में कदाचित् सहस्रों वर्ष ऐसे बीते थे जब कोई राजा नहीं था, न राजशासन था और समाज में प्रचलित नियमों के अनुसार आचरण करके समाज व्यवस्था चलायी जाती थी। महाभारत के शान्तिपर्व में कहा गया है कि 'एक समय ऐसा था जब न राज्य था और न राजा था। न दण्ड था और न दण्ड देने वाला था। सभी प्रजाओं का व्यवहार धर्म (समाज में प्रचलित नियमों) के अनुसार होता था और सभी मिलकर एक दूसरे की रक्षा करते थे' –

न वै राज्यं न च राजासीत् न दण्डौ न च दाण्डिकः।
धमेणैव प्रजाः सर्वाः रक्षन्ति स्म परस्परम्।।

अथर्ववेद में राज्यविहीन आदिम साम्यवादी व्यवस्था का वर्णन करते हुए कहा गया है –

'तुम्हारे पेय और भोजन का भाग एक समान होना चाहिए। मैं तुम सबको एक प्रवृत्ति और एक ही बंधन में बाँधता हूँ।'

सह वोअन्नभागः समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि।

ऋग्वेद में यही बात और भी स्पष्टता के साथ कही गयी है –

'हम सब मिलकर अपनी रक्षा करें, हम सब मिलकर समान भाग खायें, हम सब मिलकर साहस के कार्य करें। हममें जो सर्वाधिक तेजस्वी है उसकी आज्ञाओं को शिरोधार्य करें और उससे ईर्ष्या तथा द्वेष न करें।'

सह नाववतु सह नौ भुनक्त सहवीर्य करवावहै।।
तेजस्विनावधीतमस्तु माविद्विषावहै।।

राजतंत्र के प्रबल समर्थक और संस्थापक महामात्य कौटल्य भी यही मानते हैं कि राजा और राजतंत्र सनातन काल से नहीं चले आ रहे हैं, प्रत्युत (व्यक्तिगत सम्पत्ति के उदय के बाद) जब समाज में छोटे और बड़े का भेद पैदा हुआ और कुछ लोग निर्वल तथा बलवान हो गये एवं छोटी मछली को बड़ी मछली की भाँति निर्बलों को बलवान निगलने लगे, तो समाज में अनुशासन की स्थापना के लिए दंडधर राजा की स्थापना की गयी।

वैदिक कालीन समाज के राज्यविहीन युग में जो स्वतंत्रता मनुष्यों को थी, वह पुरोहित

युग के आडम्बर-भरे धर्म एवं निरंकुश राजतंत्र में छिन गयीं, जिससे मुक्ति दिलाने के लिए बुद्धदेव ने बहुजन-सुखाय, बहुजन-हिताय समाज व्यवस्था की स्थापना का कार्यक्रम बताया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि बौद्ध काल में ब्राह्मण काल के विरोध में जिस व्यवस्था की स्थापना की गयी थी उसमें यद्यपि वैदिक धर्म का खंडन किया गया था, परन्तु वैदिक काल में प्रचलित सामाजिक रीतियों को मान्यता दी गयी थी, राजतंत्र की निरंकुशता को अमान्य बताया गया था। बहुमत के निर्णय अन्तिम बताये गये थे और मानवमात्र की समानता के अधिकारों को शिरोधार्य किया गया था। परन्तु पुरोहित युग में स्थापित राजतंत्र को जड़मूल से उखाड़ देने के साहस का परिचय बौद्धों ने भी नहीं किया था।

जातक कथाओं में राज्य के सात अंग माने जाते थे, स्वामी, अमात्य, दुर्ग, जनपद, कोष, दण्ड और मित्र। स्पष्ट है कि वैदिक काल में प्रकारान्तरेण यही मान्यताएँ थीं और आश्चर्य है कि महामात्य कौटल्य ने अपने अर्थशास्त्र में इस मान्यता को ज्यों का त्यों स्थान दिया है। इसी प्रकार, वैदिक साम्यवादी संघ, की भाँति बौद्ध साम्यवादी संघों की स्थापना की गयी थी और ये बौद्ध संघ जिन्हें आगे चलकर बौद्ध विहार कहा जाने लगा था, उसी प्रकार के संघीय अनुशासन में रहते थे जैसे कि आदिम साम्यवादी संघ होते थे। इन दोनों में केवल इतना अन्तर था कि पहले सब मिलकर उत्पादन करते थे या संग्रह करते थे और समान रूप से उसका उपभोग करते थे, एवं दूसरे में उत्पन्न या संग्रह का प्रश्न तो नहीं था प्रत्युत श्रद्धालु गृहस्थ जो कुछ दे देते थे उसे समान रूप से मिलकर खा लेते थे। पहले संघ राज्य में शिशु, वृद्ध, युवक, और स्त्री-पुरुष एवं गृहस्थ सभी रहते थे जबकि बौद्ध संघों में गृह त्यागियों को ही स्थान मिलता था।

अतएव कौटल्य के अर्थशास्त्र के सम्बन्ध में कुछ ऐतिहासिक तथ्य इस प्रकार रखे जा सकते हैं –

(१) वैदिक धर्म का स्थान जब पुरोहित धर्म ने लिया तो धर्म का बाहरी रूप कृत्रिम तथा आडम्बरपूर्ण हो गया, राजतंत्र की स्थापना के साथ-साथ उसकी निरंकुशता बढ़ी हुई सामन्ती अर्थ व्यवस्था ने वर्ण व्यवस्था को दूषित एवं दमघोटू बना दिया एवं समाज में विशेषाधिकार प्राप्त वर्गों के अधिकार बढ़ गये तथा उसी मात्रा में बहुसंख्यक जनों के अधिकार छिन गये या सीमित हो गये।

(२) इस युग में वैदिक कालीन समाज व्यवस्था के आदिम साम्यवादी युग की मधुरता एवं स्वतंत्रता के संस्मरण मानव हृदयों पर पुनरंकित होने लगे और वे इस आडम्बर तथा निरंकुशता से निकलना चाहते थे। बुद्धदेव के बहुजन-हिताय, बहुजन-सुखाय कार्यक्रम में करोड़ों मानवों को अपनी मुक्ति की आशा दिखायी देती थी एवं दावानल की भाँति एक राज्य से दूसरे राज्य में बौद्ध धर्म एवं विचारधारा फैलती चली गयी।

(३) लोगों को मुक्ति तो मिली, परन्तु उन्हीं को जो बौद्ध संघों में सम्मिलित हो जाते थे। बुद्धदेव राजतंत्र तथा संकुचित समाज व्यवस्था के, जिसमें एक ओर दासों की विशाल सेना थी और दूसरी ओर मुटठी भर दासस्वामी एवं सामन्त थे जिनका समाज पर

निरंकुश प्रभाव था, विरोध में नारा नहीं लगा सकते थे। परिणाम यह हुआ कि एक ओर तो राजतंत्रों की निरंकुशता बढ़ी, जन-असंतोष चरम सीमा पर पहुँचता गया और दूसरी ओर समाज के बहुसंख्यक बुद्धजीवी लोग बौद्ध संघों में एकत्रित होकर अपनी व्यक्तिगत मुक्ति का मार्ग ढूँढ़ने लगे। पूरा समाज नेतृत्वविहीन हो गया और देश की रचनात्मक एवं प्रतिरोधात्मक शक्ति नष्ट हो गयी। जब पूरे देश में वैराग्य एवं गृह त्याग की प्रवृत्ति बढ़ी तो उसी के साथ चारों ओर निराशा का अन्धकार फैल गया।

(४) इसी निराशापूर्ण वातावरण में अलक्षेन्द्र महान् ने यूनान से कूच करके भारतीय समाज को भूलुण्ठित किया और पूरे देश में भगदड़ तथा हाहाकार मच गया। इस विश्वविजेता को कड़ा प्रतिरोध देने की राष्ट्र की क्षमता नारंगी वस्त्रधारी भिक्षुओं ने नष्ट कर दी थी और उसकी विशाल वाहिनी स्वच्छन्द गति से अभियान करती हुई जैसे आयी थी वैसे ही चली गयी। तूफान आया और चला गया। अपने पीछे गर्द गुब्बार, टूटे पेड़, फुँके मकान और धराशायी राजतंत्रों के चमचमाते मुकुटों को धूल में फेंकता गया।

(५) परन्तु जैसे आँधी और तूफान भूमि की उर्वरा शक्ति में वृद्धि करते हैं तथा भूमि में दबे हीरों को बाहर निकाल देते हैं, वही भूमिका अलक्षेन्द्र महान के आक्रमण ने भारत के लिये की। पूरे देश ने राष्ट्रीय अपमान का घूँट पीकर एक राष्ट्रीय सरकार की स्थापना के स्वप्न देखने प्रारम्भ किये और महामति कौटल्य का मानवरत्न उभर कर बाहर निकल आया।

(६) किसी भी महान् साम्राज्य की स्थापना एवं विजेताओं के महान् अभियानों के पीछे केवल व्यक्तिगत आकांक्षाएँ ही निर्णायक नहीं होतीं। उसकी मूल प्रेरक शक्ति और कोई-न-कोई आदर्श ही उसे आगे बढ़ाता है। सेना एवं विजेता के बीच तथा उन दोनों को जनता या समाज के बीच लाने एवं जोड़ने का काम ये आदर्श ही करते हैं जिनके अभाव में प्रबल प्रतिरोध का मुकाबला करना असंभव हो जाता है।

(७) महान् मौर्य साम्राज्य की स्थापना भी केवल मौर्य की महत्त्वाकांक्षा एवं महामात्य कौटल्य के सहयोग मात्र से होनी संभव नहीं थी। इसके लिए करोड़ों व्यक्तियों का सक्रिय सहयोग अपेक्षित था और उसके लिए विशाल एवं शक्तिशाली केन्द्रीय सरकार की स्थापना करना ही प्रेरक आदेश हो सकता था। परन्तु जब तक करोड़ों व्यक्तियों को मुक्त करने का, राष्ट्रीय पुनर्निर्माण का कार्यक्रम नहीं अपनाया जाता एवं जनता को यह विश्वास नहीं हो जाता कि वे जिस केन्द्रीय सरकार अथवा राष्ट्रव्यापी साम्राज्य की स्थापना कर रहे नहीं है कि तत्कालीन भारत में प्रबल वेग से आर्थिक शाखाओं का विकास ही हैं, वह निरंकुश नहीं होगा एवं जिस अपार शक्ति को उस राज्य के हाथों में सौंप रहे हैं, वह राज्य उस शक्ति का उन्हीं के विरुद्ध दुरुपयोग नहीं करेगा, तब तक करोड़ों व्यक्तियों का पूर्ण सहयोग प्राप्त होना असंभव है।

(८) मौर्य साम्राज्य की स्थापना के पश्चात् रचा गया महान् अर्थशास्त्र राजतंत्र पर अंकुश

लगाये रखने का, राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के पुनर्गठन का, करोड़ों व्यक्तियों के सामाजिक अधिकार निश्चित करने का और राष्ट्र की रक्षा का स्थायी प्रबन्ध करने एवं राज्य के सामान्य प्रशासन में से राजा का दैनिक हस्तक्षेप हटाने का प्रभावशाली आश्वासन एवं सिद्धान्त शास्त्र है।

इसीलिए अर्थशास्त्र की ऐतिहासिक उपादेयता और महत्त्व उस मात्रा से बहुत अधिक हैं, जो समझी जाती है।

स्वयं कौटल्य ने अपने और अर्थशास्त्र के सम्बन्ध में बड़े गर्व के साथ कहा है कि 'अपने पूर्व प्रचलित सभी शास्त्रों का अनुशीलन करके और शास्त्रोक्त सिद्धान्तों को प्रयोग की कसौटी पर कस कर कौटल्य ने राजा (मौर्य) के लिए इस शासन विधान (विधि) का निर्माण किया है।'

अर्थशास्त्र के सम्बन्ध में इससे अधिक गौरव की बात दूसरी क्या हो सकती है कि उसका रचयिता स्वयं इसके सम्बन्ध में यह दावा करता है कि यह राज्य का नया शासन विधान है, सभी शास्त्रों की तर्कसंगत बातों का इसमें समन्वय किया गया है और यह कि सभी सिद्धान्त कसौटी पर खरे उतारे गये हैं।

अब प्रश्न केवल यही है कि नरेन्द्र अर्थात् राजा कौन है जिसके लिए यह शासन विधान लिखा गया है? यह मौर्य ही है, मौर्य से भिन्न कोई राजा है या नरेन्द्र का अर्थ केवल सामान्य राजा है? सामान्य स्थिति में और सामान्य काल में व सामान्य रूप से राजतंत्र के लिए इस ऐतिहासिक ग्रन्थ की रचना नहीं हो सकती थी। ऐसा विशेष परिस्थितियों में किसी राजा विशेष के लिए ही लिखा जा सकता था। अतएव 'नरेन्द्रार्थ' का अर्थ केवल 'मौर्यार्थ' ही हो सकता है।

कौटल्य के अर्थतन्त्र में जिस प्रकार से सामाजिक अर्थव्यवस्था के लिए सर्वांगीण विकास पर अतिशय बल दिया गया है वह केवल इसी बात का सूचक रहा था, बल्कि समाज में एक व्यापक आर्थिक दृष्टिकोण का विकास भी हुआ था जो कि पुरानी मान्यताओं, रूढ़िवाद, भाग्यवाद एवं अन्धविश्वासों से दूर समाज को ले जाता था।

कौटल्य कहते हैं –

'जो मूर्ख धन प्राप्ति के लिए भाग्य या ग्रह की पूछताछ करता है उसे धन कभी प्राप्त नहीं होता। धन का ग्रह तो धन है। उसमें ग्रह और नक्षत्र क्या करेंगे।'

'जिनके पास धन नहीं होता उन्हें कभी धन नहीं मिलता। जैसे हाथी हाथी को खींच लाता है वैसे ही धन धन से खिंचता है।'

नक्षत्रमतिपृच्छन्तं बालमर्थोंनातिवर्तते।
अर्थों ह्यर्थस्य नक्षत्रं किं करिष्यन्ति तारकाः।।
नाधनाः प्राप्नुवन्त्यर्थान्नरायत्नशतेरपि।
अर्थरर्थाः प्रबध्यन्ते गजाः प्रतिगजैरिव।।

(अधि. ९, अध्याय ४)

पानी अनिवार्य है, बीज की रक्षा और संरोपण किस विधि से करना अपेक्षित है तथा कितनी वर्षा किस फसल के लिए पर्याप्त समझनी चाहिए, आदि।

अर्थशास्त्र से एक दूसरे महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त पर भी प्रकाश पड़ता है कि समाज में जब किसी मुख्य आर्थिक शाखा का जन्म एवं विकास होता है तो उसी तीव्र गति से दूसरी सैकड़ों-हजारों आर्थिक उपशाखाओं का जन्म एवं विकास भी हो जाता है। कौटल्य कालीन भारत में कृषि अर्थतंत्र के विकास के साथ ही बढ़ई, लुहार, धोबी, नाई, रथकार, सपेरे, शिकारी, धरती खोदने वाले और ऐसे ही सैकड़ों के नये धन्धे समाज में चहल-पहल करने लगे। जब समाज में मुख्य आर्थिक शाखा के विकास में गतिरोध पैदा होता है तो सभी आर्थिक उपशाखाएँ मुरझाने लगती हैं, जो मुख्य शाखा की सहायक तथा पूरक होती है और एक बार नयी उपशाखा के जन्म एवं विकास के बाद अथवा पुरानी आर्थिक शाखा के नवीन जीवन धारण के बाद मृतप्राय आर्थिक उपशाखाएँ फिर चहचहाने लगती हैं। अर्थशास्त्र में यह सिद्धान्त कृषि के विकास के साथ अत्यन्त सजीव हो उठा है।

यह कहना अतिशयोक्ति न होगी कि अर्थशास्त्र के शब्दों में मौर्य साम्राज्य कर्मकारों, दस्तकारों और फुटकर कार्य करने वाले करोड़ों व्यक्तियों तथा वर्गों से काम लेने वाला तथा उन्हें रोजगार देने वाला राजतंत्र था, और उसने राजतंत्र की समृद्धि में वृद्धि करने के लिए कृषि अर्थतंत्र का विकास करना अपना चरम लक्ष्य बना रखा था।

जो किसान समय पर जुताई-बुवाई का काम नहीं करते थे, राज्य उनसे भूमि लेकर दूसरों को अर्ध बटाई पर दे देता था। परन्तु यदि यह भूमि कर्मकरों (जी साझियों) को दी जाती थी जो केवल शारीरिक परिश्रम कर सकते थे और खेती के साधन जिनके पास नहीं होते थे, उन्हें यह भूमि बटाई पर पाँचवें हिस्से पर दी जाती थी। राज्य खेती का पूरा खर्च वहन करता था। इस प्रकार यह समझा जा सकता है कि मौर्यकालीन भारत में राज्य सबसे बड़ा किसान था।

बटाईदारों को यह सुविधा थी कि वे अपने अस्तित्व की देखभाल करके राजकीय अदायगियों का भुगतान करें और राज्य के लिए भी यह आदेश था कि वह बटाईदारों का हित सामने रखकर अपने कर आदि वसूल करें। बटाईदारों को जमीन का एक टुकड़ा निजी खेती के लिए भी दिया जाता था और इसके वदले में वे राज्य को किसी प्रकार का कर नहीं देते थे।

उच्च वर्णों के किसान अपने निजी खेतों में खेत-मजदूरों, दासों और दस्तकारों से (राजकीय फार्मों की भाँति बन्दियों से नहीं) काम लेते थे। गोप अधिकारी का काम किसानों से भूमि का कर संग्रह करना था और यह भी पुस्तक में उल्लिखित करना था कि ग्राम विशेष में कितने शूद्र कर्मकर तथा दास रहते हैं और आवश्यकता पड़ने पर कितने बेगारी (विष्टि) प्राप्त किये जा सकते हैं। गोप की पुस्तक में उल्लिखित शूद्रों तथा कर्मकरों को प्रायः कर से मुक्त रखा जाता था और इसके बदले में वे बेगार देते थे।

कुछ ग्राम ऐसे थे जो पूर्णतया करमुक्त थे और राज्य की सहायता केवल बेगार के

रूप में अदा करते थे। पूरी अर्थव्यवस्था का निर्माण किसी न किसी रूप में बेगार पर निर्भर था और राजतंत्र सुनियोजित ढंग से बेगार शक्ति का संगठन एवं उपयोग करता था। कर्मकरों और दासों की जनसंख्या मुख्य रूप से बेगार के लिए नियत थी।

अर्थशास्त्र में पशुपालकों, चरवाहों के एक बड़े वर्ग के सम्बन्ध में विस्तार के साथ विचार किया गया है जो राजकीय चरागाहों में नियत वेतन पर बेगार की शर्तों पर राजकीय पशुओं का पालन करते थे और राज्य की ओर से इनकी देखभाल करने वाला एक बड़ा अधिकारी होता था। इन चरवाहों के लिए बड़े कठोर नियम थे और यहाँ तक होता था कि यदि चरवाहे के प्रमाद से कोई पशु नष्ट हो जाता था तो उसे राज्य की ओर से मृत्युदण्ड तक दिया जाता था। अर्थशास्त्र से पहले के किसी ग्रन्थ में इतनी कड़ी सजा का उल्लेख नहीं है। इसके दो कारण हो सकते हैं। पहला और बड़ा कारण तो यह है कि खेती के उन्नत विकास ने पशुशक्ति को एक नया रूप दे दिया था जिसमें पशुओं का महत्त्व पहले की अपेक्षा कई गुना बढ़ गया था और दूसरा यह कि बौद्ध एवं जैन धर्मों के प्रसार ने हिंसा की ओर से समाज को पूर्णतया विमुख कर दिया था।

शूद्रों और विशेष रूप से दस्तकारों ने कृषि अर्थव्यवस्था के विकास के साथ-साथ समाज में अपने लिए विशेष स्थान बना लिया था। यह बात उन वेतनमानों से सिद्ध होती है जो कौटल्य कालीन भारत में महामात्य से लेकर छोटे से छोटे राजकर्मचारियों के लिये नियत थे। कुछ दस्तकार ऐसे भी थे जो मोटे कार्यों के अलावा कातने, बुनने, खान खोदने, गोदाम रखने, शस्त्रों का निर्माण करने और धातु-विज्ञान के सूक्ष्म एवं कौशलपूर्ण कार्यों में संलग्न थे। बुनकर आदि मौर्य से पहले के युग में केवल गृहस्थी का कार्य करते थे परन्तु अब उन्हें राज्य सबसे बड़ा रोजगार देने वाला था। दस्तकार आमतौर पर अपने साधनों के स्वामी होते थे परन्तु राज्य उन्हें कच्चा माल देता था। दास आमतौर पर मोटा काम करते थे और दस्तकारी के क्षेत्र से बाहर थे। खानों में भी दास काम नहीं करते थे बल्कि कर्मकर करते थे।

परन्तु दस्तकारों के कार्य-कलाप केवल राजधानी तथा बड़े नगरों तक सीमित थे। सभी स्थानों पर कुशल दस्तकारों का मिलना संभव नहीं था। राजधानी में ये दस्तकार प्रायः सूत्राध्यक्ष एवं शस्त्राध्यक्ष के आधीन कार्य करते थे और केवल राज्य के लिए ही कार्य करते थे। औद्योगिक संस्थानों तथा दस्तकारों की देखभाल के लिए एक समिति होती थी और दस्तकार अपने संघ बनाकर भी कार्य करते थे एवं अपने हितों की पैरवी करते थे। मोटा काम करने वाले दस्तकार सभी स्थानों पर सुलभ थे एवं उनसे राज्य अपने पूरे राज्य में लकड़ी काटने आदि का मोटा ही काम लेता " और वेतन देता था।

प्राचीन भारत में अर्थशास्त्र सबसे पहली पुस्तक है जिसने मालिक और नौकर के आपसी सम्बन्धों के बारे में सामान्य नियमों का प्रतिपादन किया है। आमतौर पर समाज इन दस्तकारों की तिकड़मों तथा शरारतों से तंग था और स्वयं कौटल्य ने इन्हें सामाजिक परेशानी का कारण समझा है तथा माना है कि प्रजाजनों को तंग करना इनका स्वभाव होता

अर्थशास्त्र के इस अर्थवादी दृष्टिकोण ने समाज के विभिन्न भागों-वर्णों के आपसी सम्बन्धों में व्यापक क्रान्ति ला दी तथा वर्गों में यह भावना जागृत की कि शूद्रों के सहित सभी वर्गों तथा व्यक्तियों को प्रयास करके आर्थिक दृष्टि से आत्मनिर्भर होना चाहिए। अर्थशास्त्र इसका प्रमाण है कि विभिन्न वर्गों में कितनी व्यापक आर्थिक हलचल पैदा हुई थी और पुराने सामाजिक ढाँचे टूट रहे थे, और नया सामाजिक ढाँचा एवं उसकी मान्यताएँ उभर कर ऊपर आ रही थीं।

अगली पंक्तियों में समाज के सबसे निचले स्तर पर रहने वाले शूद्रों की आर्थिक व सामाजिक स्थिति की विवेचना की गयी है। ऊपर से देखने में कौटल्य ने शूद्रों के सम्बन्ध में जब और जहाँ कुछ कहा है कि वह पुराने धर्मशास्त्रों एवं सामाजिक रूढ़ियों से भिन्न प्रतीत नहीं होता परन्तु फिर भी, उनके लिए जीविका के नये क्षेत्रों तथा शाखाओं का सुझाव देकर कौटल्य ने केवल द्विजों की सेवा के जीविका साधनों पर निर्भरता से उन्हें बचाने का प्रयास किया है।

पुराने धर्मशास्त्रों के अनुसार और विशेष रूप से मनु द्वारा प्रतिपादित सामाजिक परिपाटी में शूद्रों की जीविका का एकमात्र साधन द्विज जातियों की सेवा करना था और वे किसी स्वतंत्र आजीविका का अवलम्बन नहीं कर सकते थे। परन्तु कौटल्य ने जहाँ एक ओर दस्तकारी, नृत्य, संगीत और नाटक मंडलियों में अभिनय आदि के रूप में उनके जीविका साधनों का निरूपण किया है वहाँ भूमि-व्यवस्था तक में शूद्रों को स्थान दिया है और उन्हें दास या कर्मकर के रूप में ही नहीं बल्कि काश्तकारों के रूप में। यद्यपि यह आर्थिक और सामाजिक परिवर्तन बहुत बड़ा था परन्तु कौटल्य ने अतिवादिता का रंग चढ़ाये बिना और विशेष शोर मचाने का लोभ संवरण करके यह युगान्तरकारी परिवर्तन कर डाला और बहुत बड़े सुधार की नींव बहुत चुपके से रख दी।

नवीन उपनिवेशों की स्थापना का सुझाव देते समय कौटल्य कहते हैं कि एक सौ से पाँच सौ परिवारों के नये गाँव बसाते समय शूद्र कृषकों को आबाद किया जाये। यह धारणा 'शूद्र कृषक प्रायम्' शब्द से स्पष्ट हो जाती है। यहाँ शूद्र शब्द कृषक का विशेषण है और ऐतिहासिक तथा आर्थिक दृष्टि से यह प्रसंग के अनुरुप है कि नये उपनिवेशों में केवल कृषकों की ही आवश्यकता होती है और ये शूद्र कृषक उच्च वर्ण के कृषकों की अपेक्षा अधिक परिश्रम करके नये उपनिवेशों को बसा सकते थे।

इस प्रकार नये उपनिवेश बसाने की आर्थिक एवं सामाजिक आवश्यकता ने अर्थशास्त्र काल में शूद्रों को नये आर्थिक क्षेत्र में प्रवेश का शुभ अवसर प्रदान कर दिया। शूद्र शब्द के साथ ही एक नये पारिभाषिक शब्द ने सामाजिक जीवन में प्रवेश किया जिसे 'कर्मकर' कहते थे। ये शूद्रों तथा दासों से भिन्न थे जिन्हें दैनिक मजदूरी देकर काम पर ले जाया जाता था और जो खेतों में काम करके जीविका चलाते थे। इसके अलावा, भूमिहीन शूद्र जातियाँ अस्थायी किसानों के रूप में पट्टे पर राज्य या भूस्वामियों की भूमि पर खेती करती थीं।

अर्थशास्त्र में विस्तारपूर्वक और स्पष्टता के साथ यह व्यवस्था की गयी है कि नयी

भूमि को तोड़कर खेती के अन्तर्गत लाते समय शूद्रों के नाम आजीवन पट्टा कर देना चाहिए। यह भूमि राज्य की ओर से एक बार तोड़कर उन्हें दी जाती थी और पशु, खेती के अन्य साधन तथा बीज आदि भी उन्हें दिये जाते थे जिसके अभाव में भूमिहीन शूद्रों के लिए खेती करना सम्भव नहीं था। इसके बदले में वे नियमित रूप से राज्य को भूमिकर तथा दूसरे टैक्स अदा करते थे। इसमें शूद्रों के सिर पर बेदखली की तलवार सदा लटकती रहती थी। यदि वे नियमित रूप में टैक्स नहीं दे पाते थे तो भूमि से बेदखल कर दिये जाते थे एवं वैदेहकों (वैश्यों) को वह भूमि दे दी जाती थी जिन्हें मुख्य कृषक समझा जाता था या ग्राम भृतकों को दे दी जाती थी। परन्तु वैश्यों को वेदखल नहीं किया जाता था जिन्हें भू-सम्पत्ति पर कुल परम्परागत अधिकार मिले हुए थे। हाँ, यदि जीवनपर्यन्त ये शूद्र किसान भूमिकर तथा राज्य के दूसरे करों को ठीक समय पर भुगतान करते रहते थे तो विशेष सुविधा के रूप में उनकी सन्तानों को वंश परम्परागत अधिकार मिल जाता था।

शूद्र किसान इस पट्टे के बदले में केवल भूमिकर आदि ही नहीं देते थे बल्कि उन्हें राजकीय कार्यों में तथा राज्य के दूसरे आर्थिक साधनों में बेगार भी करनी पड़ती थी। किसी उपनिवेश में इनकी जनसंख्या बढ़ जाती थी तो राज्य उन्हें वहाँ से हटाकर किसी नये उपनिवेश में जाकर बसने एवं वहाँ खेती के विकास में हाथ बँटाने को बाध्य कर सकता था।

राजतंत्र सामन्ती कृषि अर्थव्यवस्था के निर्माण कार्य में इतना दत्तचित था कि उसे सदा ही बेगारियों की सेना की आवश्यकता रहती थी। जिन शूद्रों के नाम भूमि के अस्थायी पट्टे किये जाते थे उन्हें इस बेगार (विष्टि) की पूर्ति के लिए सदा तैयार रहना पड़ता था और उन्हें राजाज्ञा अस्वीकार करने का अधिकार नहीं था।

संभवतः बेगारियों और दासों तथा कर्मकरों की विशाल सेना इन शूद्र जातियों से ही निकल-निकल कर आती थी।

कौटल्य से पहले के भारत में दास प्रथा उत्पादन का मुख्य कारक थी और समाज में उन्हें किसी प्रकार का कोई आर्थिक व सामाजिक अधिकार नहीं था। ब्राह्मणवादी लेखकों और दार्शनिकों में कौटल्य पहले और शायद एकमात्र लेखक हैं जिन्होंने दासों के आर्थिक पक्ष एवं उनसे खेती का विकास कराने के सम्बन्ध में इतनी स्पष्टता के साथ प्रकाश डाला है। यद्यपि बुद्ध के समय में पाली साहित्य में तीन बड़े राजकीय कृषि फार्मों का उल्लेख मिलता है परन्तु वे नाममात्र के थे और कृषि व्यवस्था पर उनका कोई प्रभाव नहीं था। परन्तु अर्थशास्त्र काल में राजकीय खेती कृषि अर्थव्यवस्था पर छा गयी थी और उसी के माध्यम से खेती की उन्नति साकार हो रही थी। इन राजकीय कृषि फार्मों में कर्मकर, दास, बन्दी, शूद्र कार्य करते थे और खेती के विनाश में सर्पों, जंगली जानवरों एवं पशु-पक्षियों के आक्रमणों और दैवी विपदाओं तथा प्रकोपों का निवारण करने के लिये बड़े स्तर पर प्रतिरोधात्मक कार्यवाहियाँ की जाती थीं। कौटल्य ने विस्तार के साथ यह निरूपण किया है कि कौन से महीने में किस विधि के साथ कौन-सी फसल बोनी चाहिए, उसके लिए कितना

पानी अनिवार्य है, बीज की रक्षा और संरोपण किस विधि से करना अपेक्षित है तथा कितनी वर्षा किस फसल के लिए पर्याप्त समझनी चाहिए, आदि।

अर्थशास्त्र से एक दूसरे महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त पर भी प्रकाश पड़ता है कि समाज में जब किसी मुख्य आर्थिक शाखा का जन्म एवं विकास होता है तो उसी तीव्र गति से दूसरी सैकड़ों-हजारों आर्थिक उपशाखाओं का जन्म एवं विकास भी हो जाता है। कौटल्य कालीन भारत में कृषि अर्थतंत्र के विकास के साथ ही बढ़ई, लुहार, धोबी, नाई, रथकार, सपेरे, शिकारी, धरती खोदने वाले और ऐसे ही सैकड़ों के नये धन्धे समाज में चहल-पहल करने लगे। जब समाज में मुख्य आर्थिक शाखा के विकास में गतिरोध पैदा होता है तो सभी आर्थिक उपशाखाएँ मुरझाने लगती हैं, जो मुख्य शाखा की सहायक तथा पूरक होती है और एक बार नयी उपशाखा के जन्म एवं विकास के बाद अथवा पुरानी आर्थिक शाखा के नवीन जीवन धारण के बाद मृतप्राय आर्थिक उपशाखाएँ फिर चहचहाने लगती हैं। अर्थशास्त्र में यह सिद्धान्त कृषि के विकास के साथ अत्यन्त सजीव हो उठा है।

यह कहना अतिशयोक्ति न होगी कि अर्थशास्त्र के शब्दों में मौर्य साम्राज्य कर्मकारों, दस्तकारों और फुटकर कार्य करने वाले करोड़ों व्यक्तियों तथा वर्गों से काम लेने वाला तथा उन्हें रोजगार देने वाला राजतंत्र था, और उसने राजतंत्र की समृद्धि में वृद्धि करने के लिए कृषि अर्थतंत्र का विकास करना अपना चरम लक्ष्य बना रखा था।

जो किसान समय पर जुताई-बुवाई का काम नहीं करते थे, राज्य उनसे भूमि लेकर दूसरों को अर्ध बटाई पर दे देता था। परन्तु यदि यह भूमि कर्मकरों (जी साझियों) को दी जाती थी जो केवल शारीरिक परिश्रम कर सकते थे और खेती के साधन जिनके पास नहीं होते थे, उन्हें यह भूमि बटाई पर पाँचवें हिस्से पर दी जाती थी। राज्य खेती का पूरा खर्च वहन करता था। इस प्रकार यह समझा जा सकता है कि मौर्यकालीन भारत में राज्य सबसे बड़ा किसान था।

बटाईदारों को यह सुविधा थी कि वे अपने अस्तित्व की देखभाल करके राजकीय अदायगियों का भुगतान करें और राज्य के लिए भी यह आदेश था कि वह बटाईदारों का हित सामने रखकर अपने कर आदि वसूल करें। बटाईदारों को जमीन का एक टुकड़ा निजी खेती के लिए भी दिया जाता था और इसके वदले में वे राज्य को किसी प्रकार का कर नहीं देते थे।

उच्च वर्णों के किसान अपने निजी खेतों में खेत-मजदूरों, दासों और दस्तकारों से (राजकीय फार्मों की भाँति बन्दियों से नहीं) काम लेते थे। गोप अधिकारी का काम किसानों से भूमि का कर संग्रह करना था और यह भी पुस्तक में उल्लिखित करना था कि ग्राम विशेष में कितने शूद्र कर्मकर तथा दास रहते हैं और आवश्यकता पड़ने पर कितने वेगारी (विष्टि) प्राप्त किये जा सकते हैं। गोप की पुस्तक में उल्लिखित शूद्रों तथा कर्मकरों को प्रायः कर से मुक्त रखा जाता था और इसके बदले में वे बेगार देते थे।

कुछ ग्राम ऐसे थे जो पूर्णतया करमुक्त थे और राज्य की सहायता केवल बेगार के

रूप में अदा करते थे। पूरी अर्थव्यवस्था का निर्माण किसी न किसी रूप में बेगार पर निर्भर था और राजतंत्र सुनियोजित ढंग से बेगार शक्ति का संगठन एवं उपयोग करता था। कर्मकरों और दासों की जनसंख्या मुख्य रूप से बेगार के लिए नियत थी।

अर्थशास्त्र में पशुपालकों, चरवाहों के एक बड़े वर्ग के सम्बन्ध में विस्तार के साथ विचार किया गया है जो राजकीय चरागाहों में नियत वेतन पर बेगार की शर्तों पर राजकीय पशुओं का पालन करते थे और राज्य की ओर से इनकी देखभाल करने वाला एक बड़ा अधिकारी होता था। इन चरवाहों के लिए बड़े कठोर नियम थे और यहाँ तक होता था कि यदि चरवाहे के प्रमाद से कोई पशु नष्ट हो जाता था तो उसे राज्य की ओर से मृत्युदण्ड तक दिया जाता था। अर्थशास्त्र से पहले के किसी ग्रन्थ में इतनी कड़ी सजा का उल्लेख नहीं है। इसके दो कारण हो सकते हैं। पहला और बड़ा कारण तो यह है कि खेती के उन्नत विकास ने पशुशक्ति को एक नया रूप दे दिया था जिसमें पशुओं का महत्त्व पहले की अपेक्षा कई गुना बढ़ गया था और दूसरा यह कि बौद्ध एवं जैन धर्मों के प्रसार ने हिंसा की ओर से समाज को पूर्णतया विमुख कर दिया था।

शूद्रों और विशेष रूप से दस्तकारों ने कृषि अर्थव्यवस्था के विकास के साथ-साथ समाज में अपने लिए विशेष स्थान बना लिया था। यह बात उन वेतनमानों से सिद्ध होती है जो कौटल्य कालीन भारत में महामात्य से लेकर छोटे से छोटे राजकर्मचारियों के लिये नियत थे। कुछ दस्तकार ऐसे भी थे जो मोटे कार्यों के अलावा कातने, बुनने, खान खोदने, गोदाम रखने, शस्त्रों का निर्माण करने और धातु-विज्ञान के सूक्ष्म एवं कौशलपूर्ण कार्यों में संलग्न थे। बुनकर आदि मौर्य से पहले के युग में केवल गृहस्थी का कार्य करते थे परन्तु अब उन्हें राज्य सबसे बड़ा रोजगार देने वाला था। दस्तकार आमतौर पर अपने साधनों के स्वामी होते थे परन्तु राज्य उन्हें कच्चा माल देता था। दास आमतौर पर मोटा काम करते थे और दस्तकारी के क्षेत्र से बाहर थे। खानों में भी दास काम नहीं करते थे बल्कि कर्मकर करते थे।

परन्तु दस्तकारों के कार्य-कलाप केवल राजधानी तथा बड़े नगरों तक सीमित थे। सभी स्थानों पर कुशल दस्तकारों का मिलना संभव नहीं था। राजधानी में ये दस्तकार प्रायः सूत्राध्यक्ष एवं शस्त्राध्यक्ष के आधीन कार्य करते थे और केवल राज्य के लिए ही कार्य करते थे। औद्योगिक संस्थानों तथा दस्तकारों की देखभाल के लिए एक समिति होती थी और दस्तकार अपने संघ बनाकर भी कार्य करते थे एवं अपने हितों की पैरवी करते थे। मोटा काम करने वाले दस्तकार सभी स्थानों पर सुलभ थे एवं उनसे राज्य अपने पूरे राज्य में लकड़ी काटने आदि का मोटा ही काम लेता था और वेतन देता था।

प्राचीन भारत में अर्थशास्त्र सबसे पहली पुस्तक है जिसने मालिक और नौकर के आपसी सम्बन्धों के बारे में सामान्य नियमों का प्रतिपादन किया है। आमतौर पर समाज इन दस्तकारों की तिकड़मों तथा शरारतों से तंग था और स्वयं कौटल्य ने इन्हें सामाजिक परेशानी का कारण समझा है तथा माना है कि प्रजाजनों को तंग करना इनका स्वभाव होता

है। इस पर अंकुश लगाने के लिए कुछ कड़े नियम बनाये गये थे। उनके लिए यह आवश्यक समझा गया था कि जैसे काम का आदेश दिया गया हो वैसा ही काम, उसी समय एवं स्थान पर दें जैसा कि आपस में समझौता हो चुका हो। इस नियम का उल्लंघन करने पर उनकी आधी मजदूरी काट ली जाती थी। मजदूरी का दुगना दण्ड भरना पड़ता था और हर्जाना अलग से देना पड़ता था। वह यदि अपने काम में प्रमाद करता है, आनाकानी करता है जबकि उसे मजदूरी पेशगी में मिल चुकी हो तो १२ पण तक उसे दण्ड दिया जा सकता था और तब तक काम करता था जब तक वह पूरा नहीं हो जाता था। हाँ, यदि वह वास्तव में असमर्थ होता था तो यह सब नहीं किया जाता था।

इसके साथ ही कौटल्य ने दस्तकारों के हितों की रक्षा के लिए भी कुछ नियम बनाये थे। ऐसे व्यक्तियों पर एक हजार पण तक दण्ड होता था जो दस्तकारों को अपनी न्यायोचित आय करने से वंचित करते थे, उनके अच्छे काम को घटिया बताते थे, उनके माल की बिक्री में बाधा डालते थे, और उन्हें किसी लाभदायक माल के खरीदने में बाधक बनते थे। यदि मालिक काम पर आये दस्तकार से काम नहीं लेता था तो १२ पण दण्ड भरता था और यदि वह उससे काम लेने से इंकार करता था तो काम पूरा हुआ मान लिया जाता था और उसे मजदूरी मिल जाती थी। कौटल्य ने ऐसे दस्तकारों को एक विशेष अधिकार भी दिया है जो संघ में संगठित होते थे। उन्हें अपने ठेके के काम की पूर्ति में सात दिन का फालतू समय मिल सकता था।

इनके वेतनों के सम्बन्ध में अनिश्चित नियम नहीं थे। काम के गुण के अनुसार वेतन निश्चित करने का सिद्धान्त प्रचलित था। दस्तकार, संगीतकार, चिकित्सक, वाचक और दूसरे कर्मकरों को उतना ही वेतन मिलता था जितना योग्य व्यक्ति तय कर दें। नौकरों को वही वेतन देना पड़ता था जो पहले आपस में तय हो जाता था। परन्तु यदि तय किये बिना कोई मालिक के यहाँ कार्य प्रारम्भ कर देता था तो खेत-मजदूर (कर्मकर) को खेती की पैदावार का दसवाँ, चरवाहे को उसके द्वारा पाले गये पशुओं से उत्पन्न घी का दसवाँ और व्यापारी को कुल माल की बिक्री पर आय का दसवाँ भाग वेतन में देना पड़ता था। यहाँ मुख्य अन्तर जो देखने योग्य है, यही है कि राजकीय खेतों में काम करने वाले कर्मकर को पैदावार का चौथा या पाँचवाँ भाग मिलता था जबकि कृषक के खेत मजदूर को केवल दसवाँ भाग मिलता था।

कर्मकर और मालिक के बीच का विवाद साक्षियों के वक्तव्य के आधार पर तय किया जाता था और यदि साक्षी सुलभ नहीं होते थे तो मालिक पर अपना मत सिद्ध करने का भार डाला जाता था। मालिक का अपराध सिद्ध होने पर मजदूरी का दस गुना दण्ड दिया जाता था और या ६ पण दण्ड मिलता था। कर्मकरों का मासिक वेतन ३/४ से ३/५ पण तक था। खेत-मजदूर का वेतन इसकी तुलना में बहुत कम था, सवा पण मासिक।

अर्थशास्त्र में प्रशासन में कार्य करने वाले अधिकारियों तथा कर्मचारियों के वेतनों में असाधारण अन्तर था जो कि मूल पुस्तक में विस्तार के साथ दिया गया है। राजतंत्र का

ऊपरी भाग आर्थिक दृष्टि से बहुत महँगा और भारी था एवं निचले स्तरों पर कर्मचारियों का वेतन विडम्बना मात्र था।

वेतन के साथ भत्ता देने की परिपाटी भी अर्थशास्त्र काल में प्रचलित थी, और इसके लिए निश्चित नियम प्रचलित थे जैसा कि पाठक अगली पंक्तियों में मूल पुस्तक पढ़ते समय जान सकेंगे। इसके अलावा, आर्यों (मुक्तजनों) के अधिकारियों तथा कर्मचारियों को जितना राशन दिया जाता था उसका कम भाग (चावल आदि को छोड़कर) निम्न जातीय कर्मकरों को वेतन के रूप में मदिरा देने की परिपाटी भी थी जिसका बुरा प्रभाव उनके आर्थिक जीवन पर पड़ता था। शूद्रों और निम्न जातीय कर्मकरों को घटिया खाद्य पदार्थ दिये जाते थे। उत्तर भारत में आज भी यह परिपाटी प्रचलित है कि शूद्र जातियों को खेतों में काम करने का वेतन अनाज या राशन के रूप में दिया जाता है और इसका सूत्रपात निश्चयपूर्वक मौर्य काल में हुआ होगा।

सामन्ती भूमि व्यवस्था के उदय काल में शूद्रों, कर्मकरों के आर्थिक जीवन में कुछ परिवर्तन आया। उन्हें नवीन उपनिवेशों में खेती के लिए भूमि मिली और उन्होंने खेत-मजदूर के रूप में जीविका साधन पाये। वे राजकीय कृषि फार्मों में बटाईदार के रूप में कार्य करते थे। परन्तु यह परिवर्तन उनके मूल सामाजिक रूप में विशेष अन्तर नहीं ला सका। फिर भी वे शूद्र बने रहे और उनकी दासता का रूप बना रहा। अपना आर्थिक आधार दृढ़ करने के लिए राजतंत्र को उनके उस सामाजिक रूप में अन्तर लाना अभिप्रेत नहीं था। उनका ऊपरी रूप अब भी वही था जो कौटल्य से पहले धर्मसूत्रों के काल में था।

यद्यपि कौटल्य ने धर्मसूत्रकारों की भाँति शूद्रों और निम्न जातीय व्यक्तियों को उच्च राजसेवा के पदों से बहिष्कृत नहीं किया है, फिर भी द्विज जातीय व्यक्तियों का राजपद एवं राजतंत्र के उच्च पदों पर आसीन करने का सुझाव कौटल्य ने भी दिया है। कौटल्य ने अपना अभिमत प्रकट करते हुए कहा कि अभिजात वर्ग के निर्बल राजा को भी प्रजा एवं प्रकृतिजन आदर की दृष्टि से देखते हैं तथा उसके आदेशों को शिरोधार्य करते हैं।

हाँ, कौटल्य ने शूद्र जातियों के व्यक्तियों को जालसाजी, गुप्तचर, विभाग आदि में प्रमुख स्थान देने की मान्यता प्रदान की है जो कि मौर्य कालीन भारत में राजनीति का महत्त्वपूर्ण एवं सर्वोपरि विभाग समझा जाता था। जालसाजी तथा गुप्तचर कार्यों में सुन्दर शूद्र स्त्रियाँ भी नियुक्त की जाती थीं और शूद्रों को राजा का संदेशवाहक दूत बनाकर भी भेजा जाता था। वे चाहे अछूत ही क्यों न हों, परन्तु संदेशवाहक दूतों को अवध्य माना जाता था।

एक विशेष अन्तर और अधिकार कौटल्य ने शूद्रों को यह दिया था कि वे सेना में भर्ती हो सकते थे जबकि धर्मसूत्र काल में केवल क्षत्रिय सेना में भर्ती हो सकते थे और संकटकाल में ब्राह्मण तथा वैश्य शस्त्र उठा सकते थे। विपरीत इसके, कौटल्य ने ब्राह्मणों की सेना को श्रेष्ठ नहीं माना है जिन्हें केवल प्रणाम मात्र से शत्रु परास्त कर सकता है।

बागुरिकों (दण्डधरों) पुलिन्दों और चाण्डालों की, जो कि पूर्णतया अछूत जातियाँ थीं, एक विशेष सेना संगठित करने का आदेश कौटल्य ने दिया था, जो आक्रमण के समय शत्रु

सेना को परेशान करते थे और विशेष रूप से सुरक्षात्मक संघर्षों में निर्णायक युद्ध करते थे।

कानून और सामान्य प्रशासन में पतितों, अन्त्यजों और चाण्डालों को किसी का साक्षी बनने का अधिकार नहीं था, परन्तु वे अपनी जाति के लोगों के विवादों में साक्षी बन सकते थे। नौकर अपने स्वामी के खिलाफ, बँधुवा मजदूर और दास अपने साथियों के साथ समझौता नहीं कर सकते थे। साक्ष्य देने से पहले जो शपथ ली जाती थी उससे सबसे कठोर चेतावनी शूद्रों को दी जाती थी कि झूठ बोलने पर उन्हें क्या-क्या दण्ड दिये जा सकते हैं, आदि। भिन्न वर्ण की स्त्रियों के साथ सम्पर्क स्थापित करने या मारपीट, हिंसा और तिरस्कार करने में ऊँचे वर्णों के लिए जो दण्ड विहित था, वही शूद्रों तथा और जातियों के लिए नहीं था। उन्हें मौत की सजा दी जा सकती थी एवं उनके वे अंग काटे जा सकते थे जिससे वे ब्राह्मणों आदि के प्रति अपराध करते थे।

कौटल्य आर्यों को दास बनाने का विरोध करते हैं। आर्यों को दास बनाकर बेचने वाले को तथा उसकी गवाही देने वाले को आर्थिक दण्ड दिया जाता था। परन्तु आर्यों को कानूनी दण्ड के रूप में, युद्ध में पकड़े जाने पर, अथवा स्वेच्छापूर्वक दास बनाया जा सकता था। इस प्रकार आर्यों (स्वतंत्रों) को भी दासता में बदला जा सकता था।

घरेलू स्थिति के बिगड़ जाने, आर्थिक ढाँचा टूट जाने और ऋण आदि उतारने के लिए स्वेच्छापूर्वक स्वाधीन लोग दासता ग्रहण कर लेते थे। वे अपने आपको धरोहर भी रख देते थे। धरोहर के रूप में रखे लोगों के प्रति कौटल्य ने बहुत उदार सामाजिक नियम बनाये थे उनका विस्तारपूर्वक उल्लेख मूल पुस्तक में किया गया है।

कौटल्य ने एक बार किन्हीं परिस्थितियों के वशीभूत होकर दास हुए आर्य लोगों की स्वतंत्रता की प्राप्ति के लिए बहुत उदार नियमों का उल्लेख किया है। कौटल्य इस परिपाटी का उल्लेख केवल म्लेच्छ जातियों के लिए करते हैं कि यवनों में आर्य का दास हो जाना एवं दास का आर्य हो जाना सामाजिक परिपाटी है।

यह कहना सही नहीं है कि मौर्य काल में शूद्रों तथा पिछड़ी जातियों के सामाजिक व आर्थिक जीवन में कोई अन्तर एवं सुधार नहीं आया था।

अर्थशास्त्र में सम्पत्ति विभाजन के अध्याय से प्रकट है कि विजातीय विवाहों की प्रथा प्रचलित थी और समाज उन्हें मान्यता देता था।

पाणिनि चाण्डालों की गिनती शूद्रों में करते हैं, परन्तु कौटल्य चाण्डालों को चारों वर्णों से बाहर मानते हैं।

यद्यपि शूद्र जातियों को बहुत-सी सुविधाएँ दी गयी थीं, परन्तु फिर भी परम्परा के रूप में द्विज जातियों से वे पीछे थीं।

यद्यपि यह दावा करना उचित न होगा कि भारतीय सामन्तवाद के आदि सिद्धान्तकार महामात्य कौटल्य ही थे, इसलिए कि यह स्थान केवल मनु को ही प्राप्त हो सकता है। परन्तु

इसमें संदेह नहीं है कि मनु-कालीन सामन्तवाद बहुत प्रारम्भिक अवस्था में था और उसे समाज द्वारा मान्यता प्राप्त नहीं हुई थी। विपरीत इसके, महामात्य कौटल्य न केवल महान सिद्धान्त शास्त्री थे, प्रत्युत सामन्ती व्यवस्था और साम्राज्य के संस्थापक एवं नेता थे। अर्थशास्त्र में राजा का जो अनुशासित आचरण आदर्श रूप में प्रस्तुत किया गया है। वह केवल काल्पनिक नहीं था। कौटल्य कालीन भारत में राजाओं को दीक्षित एवं प्रशिक्षित किया जाता था, उनमें निरंकुशता के बीज मिटा दिये जाते थे तथा राज्य का असली स्वामी प्रजाजन सदा उसकी दृष्टि के सामने रखे जाते थे।

विष्णुगुप्त कौटल्य ने राजा और प्रजाजनों के बीच पुरोहित के नये पद की सृष्टि नहीं की थी। कौटल्य तो राजा के तुरन्त उपरान्त मन्त्री परिषद् को जो राजनीतिक दायित्व सौंपते हैं, वह भारतीय राजनीति की मुख्य आधारशिला रही है। परन्तु पूर्वोत्तर वैदिक काल में जब यज्ञानुष्ठानों ने सामाजिक रीति-नीति और धर्मानुष्ठानों का निर्णायक आकार ग्रहण कर लिया था उसमें पुरोहित वर्ग की सर्वोपरि भूमिका रहती थी। जैसा कि मूल पुस्तक में कहा गया है कि धार्मिक यज्ञानुष्ठानों का लम्बा युग भारतीय इतिहास में अन्धकार युग कहा जाना चाहिए। इस युग में पुरोहित वर्ग को जो महत्त्व प्राप्त था, उसे कौटल्य ने ज्यों-का-त्यों कायम नहीं रखा प्रत्युत राजा और मन्त्री परिषद् के बीच में प्रजाजनों के सम्पर्क का पुरोहित को नया माध्यम बनाकर पुराने पद की गरिमा को पुराने रूप से हटाकर परन्तु-उसकी प्रतिष्ठा को नये रूप में प्रयोग करके मन्त्री परिषद् की भाँति ही पुरोहित को भी राजतन्त्र पर अंकुश लगाने का साधन बनाने का प्रयास किया था। यह प्रयास आंशिक रूप में सफल भी रहा। इस प्रकार पुरोहित का उच्च पद राजतंत्र को निरंकुशता बढ़ाने से रोकता था।

राजतंत्र विकसित होकर सामन्ती अर्थव्यवस्था के रूप में निखर चुका था और पूरे समाज ने यह स्वीकार कर लिया था कि राजतंत्र एक उन्नत राज्य व्यवस्था है तथा सामन्तवाद एक प्रगतिशील अर्थव्यवस्था है।

यद्यपि यह सही है कि कौटल्य कालीन भारत में राजा का निर्वाचन नहीं होता था, राजसिंहासन विरासत में प्राप्त होता था; परन्तु राजतंत्र के जन्म से पहले राजा का निर्वाचन होता था, यह बात किसी से छिपी नहीं है। अपने निर्वाचन के उपरान्त वह जो शपथ ग्रहण करता था वह बहुत भयानक होती थी। ऐतरेय ब्राह्मण में लिखा है –

'यदि मैं प्रजाजनों से विश्वासघात करूँ तो मैं जिस रात्रि में पैदा हुआ तथा जिस रात्रि में मेरी मृत्यु होगी इन दोनों के बीच में मेरे द्वारा किये गये सभी पुण्य कर्म नष्ट हो जायें तथा मुझे स्वर्ग तथा मोक्ष प्राप्त न हो एवं मैं अपने जीवन और संतान सभी से वंचित कर दिया जाऊँ।'

यां च रात्रिमजायेहं यांच प्रेतास्मि तदुभयमन्तरेण।
इष्टापूर्ते में लोक सकृतमायुः प्रज्ञां बृज्जीथा यदि से द्रुह् ये यंमिति।।

इसके अलावा पुरोहित का राजतंत्र में सबसे ऊँचा स्थान धार्मिक कृत्यों के कारण ही नहीं माना जाता था। राजपुरोहित जो कि प्रायः कौटल्य कालीन भारत में महामात्य एवं राजा

के बीच का सम्मानित पद समझा जाता था, केवल धार्मिक कृत्यों में ही राजा का अनुशासक नहीं था। यह समझा जाता था कि पुरोहित का प्रजाजनों के साथ प्रत्यक्ष सम्पर्क है एवं प्रजाजन पुरोहित के द्वारा अपनी सामूहिक एवं व्यक्तिगत आकांक्षाओं को राजतंत्र तक पहुँचाते थे। पुरोहित को दिया गया उच्चकोटि का सम्मान प्रजाजनों को दिया गया आदर समझा जाता था और पुरोहित का रोष प्रजाजनों का राजतंत्र के प्रति विद्रोह माना जाता था।

इस विशाल राजतन्त्र का, जिसकी सैकड़ों प्रशासकीय इकाइयाँ थीं और हजारों आर्थिक शाखाएँ तथा उपशाखाएँ थीं, किसी एक व्यक्ति के हाथों में सीमित एवं नियंत्रित रह सकना संभव नहीं था। फिर भले ही वह राजा ही क्यों न हो? इसीलिए विभागों का संगठन किया गया था और प्रत्येक विभाग का एक अध्यक्ष होता था एवं अमात्य परिषद् में ऐसे अनेक अमात्य रहते थे जो इन प्रशासनिक इकाइयों की देखभाल करते थे, उनसे काम लेते थे और विशेष परिस्थितियों में ही इन विभागों की समस्याएँ सीधे राजा तक पहुँचती थीं। कौटल्य द्वारा स्थापित विभागीय प्रशासन व्यवस्था हजारों वर्षों तक चलती रही जिसमें अमात्य परिषद् राजतंत्र का नियमन करती थी, उसे सुचारू ढंग से चलाती थी और राजा भी जिमसें केवल सम्मति मात्र देने वाला था वह राजतंत्र का सर्वेसर्वा नहीं माना जाता था। परन्तु आगे चलकर अमात्य परिषद् प्रभावहीन हो गयी तथा राजा का प्रभाव अनियंत्रित होता गया। अमात्य परिषद् ने दरबार का रूप धारण कर लिया एवं दरबारी लोगों की कुशलता इसी में समझी जाती थी कि वे राजा की कितनी खुशामद कर सकते हैं और उसे कितना प्रसन्न रख सकते हैं। अमात्य परिषद् के दरबार के रूप में बदल जाने से राजतंत्र की प्रतिष्ठा गिरने लगी। उसकी निरंकुशता निरन्तर बढ़ती गयी। उसके प्रशासन के प्रति जनता में उत्तरदायित्वपूर्ण दृष्टिकोण समाप्त हो गया और जनता एवं राजतंत्र को जोड़ने वाला हजारों वर्ष पुराना धागा टूट गया। इस प्रकार कौटल्य कालीन भारत में सर्व-विजयी, सर्वमान्य एवं प्रगतिशीलता का अग्रदूत बनकर आने वाला सामन्तवाद प्रतिक्रियावाद का अग्रदूत बन गया और जनता से उसका पूर्णतया सम्बन्ध विच्छेद होने लगा।

यह बड़े आश्चर्य की बात है कि आज से ढाई हजार वर्ष पहले एक सिद्धान्तकार इतना प्रतिभाशाली था कि समाज की प्रगति के लिए प्राचीन एवं रूढ़िवादी परम्पराओं के विरुद्ध संघर्ष करना अनिवार्य समझता था और साथ ही समाज के सर्वांगीण विकास के लिए एवं सामन्तवाद के अभ्युत्थान के लिए आर्थिक योजनाओं को कार्यान्वित करना सर्वोपरि मानता था। कौटल्य का राजतंत्र एक सामाजिक संस्थान प्रतीत होता है न कि किसी राजा विशेष का वैभव स्थापित करना। कौटल्य के सामन्तवाद में शेष अन्य छः प्रकृतियों की भाँति राजा भी सातवीं प्रकृति मात्र है और यह घोषणा करने में कौटल्य ने कोई संकोच नहीं किया कि दूषित मनोवृत्ति का राजा राजतंत्र का उच्छेदक बन जाता है और उसकी निरंकुशता की प्रति क्षण निगरानी रखना अनिवार्य है।

कुछ शंकाशील लोग यह दावा कर सकते हैं कि कौटल्य के अर्थशास्त्र में प्रतिपादित राजतंत्र का सांगोपांग रूप केवल आदर्शवादी एवं काल्पनिक है। उनके विचारों के अनुसार

ऐसा राजतंत्र भारत में कभी नहीं हुआ। परन्तु यह धारणा सत्य नहीं है। इसके निराकरण के लिए नीचे की पंक्तियों में उन ठोस रचनात्मक कार्यक्रमों का निरूपण किया जा रहा है जिनकी सफलता ने सामन्तवाद को महान सामाजिक व्यवस्था के रूप में परिवर्तित कर दिया।

यह बता देना भी अप्रासंगिक न होगा कि कौटल्य ने जिस राजतंत्र के लिए अपने महान सिद्धान्त शास्त्र की रचना की है उसमें जनता के साम्पात्तिक एवं दाण्डिक विवादों का निपटारा करने के लिए जिन न्यायाधिकरणों की स्थापना का प्रावधान किया था वे राजा की इच्छाओं से निरपेक्ष होकर और आत्मविवेक से विवादों का निपटारा करते थे। इन विवादों में साक्षियों से एवं साक्षियों के वक्तव्यों तथा उनसे की गयी जिरह से सत्य का पता लगाया जाता था। न्यायाधिकरणों को यह अधिकार था कि वे किसी भी बड़े अधिकारी को एवं महामात्य तक को विवादों में सत्य का निर्णय करने के लिये 'समन' (आहूत) कर सकते थे और वह अधिकारी अपनी उपस्थिति से इंकार नहीं कर सकता था। सत्य का पता लगाने के लिए गुप्तचर विभाग द्वारा जाँच कराने की परिपाटी चालू हो चुकी थी। किन्हीं विशेष परिस्थितियों में राजा तक को ये न्यायाधिकरण साक्षी के रूप में बुला सकते थे और उनके निर्णय शास्त्र के अनुरूप एवं आत्मविवेक से होते थे न कि राजा के संकेत पर। असत्य शपथ (कसम) खाने वाले साक्षी को कड़े से कड़ा (पूर्व साहस) दंड दिया जाता था।

ऐसा प्रतीत होता है कि भारतीय सामन्तवाद अपने अभ्युत्थान काल में महान क्रान्तिकारी था और भारत के नवीम आर्थिक पुनर्निर्माण एवं पुनर्गठन के लिए उसने महान अभियान चलाये थे। जनसंख्या कम थी। विशाल जंगलों, नदी-नालों, पर्वतों एवं समुद्र मार्गों पर मानव का अधिकार नहीं हुआ था और उन पर नियंत्रण प्राप्त करने के लिए वह दारुण संघर्ष कर रहा था।

हम देखते हैं कि कौटल्य सबसे पहले नयी भूमि के तोड़ने, नये उपनिवेश बसाने और कृषि-अर्थतंत्र के विकास के लिए एक रोमांचकारी एवं महत्त्वाकांक्षापूर्ण कार्यक्रम लेकर समाज के सामने उपस्थित होते हैं। राज्य की देखभाल और संरक्षण में विशाल कृषि फार्म संगठित किये जाते थे। जंगल तोड़े जाते थे, नयी भूमि स्वयं तोड़कर राज्य दूसरों को पट्टे पर देता था। विशाल राजकीय फार्मों में दासों, बन्दियों, कर्मकरों दस्तकारों तथा दैनिक वेतन पर कार्य करने वाले व्यक्तियों की अपार वाहिनी काम करती थी और इस प्रकार सामन्तवाद ने मानव जीवन के नवीन एवं विश्वसनीय साधन, खेती के विकास के लिए असाधारण अभियान चलाया था। वास्तव में यदि ऐसा न होता तो विश्व में सबसे पहले भारत में ही खेती का इतना उन्नत विकास कैसे होता? राजकीय प्रयासों ने ही विशाल जंगलों को राजकीय एवं व्यक्तिगत खेती के अन्तर्गत लाने में ऐतिहासिक भूमिका अदा की है।

यह सर्वविदित है कि किसी मूल उद्योग के विकास के साथ उसकी सैकड़ों हजारों उपशाखाएँ तथा गौड़ आर्थिक शाखाएँ जन्म लेती तथा विकसित होती हैं। अर्थशास्त्र में विस्तार के साथ इन आर्थिक शाखाओं तथा उपशाखाओं का न केवल उल्लेख किया गया है प्रत्युत राजतंत्र के लिए यह आवश्यक बताया गया है कि इनके विकास तथा निर्देश के

लिए स्थापित विभागों का कार्य-कलाप क्या होना चाहिए। इस आर्थिक विवेचना में दो बातें उभरकर सामने आती हैं। कृषि अर्थतन्त्र के विकास की धुरी पर शिल्प उद्योग विकसित हुआ और सैकड़ों प्रकार की शिल्पी जातियों ने भारत के सामन्ती समाज को विकास की नयी दिशा प्रदान की, इन शिल्पी जातियों, जो आमतौर से शूद्र जातियों से सम्बन्धित थीं, चमत्कारपूर्ण शिल्प ने न केवल समाज को समृद्ध बनाया प्रत्युत उनकी सामाजिक स्थिति को भी उभार दिया। कौटल्य ने शिल्पियों को बहुत उच्च स्थान दिया है। इस सम्बन्ध में दूसरी महत्त्वपूर्ण घटना वाणिज्य की थी। यदि कृषि का विकास न हुआ होता तो कौटल्य कालीन भारत का वैभवपूर्ण वाणिज्य और देशदेशान्तरों के शिल्पियों तथा उनके पण्यों (विक्री का माल) से उसका कभी सम्बन्ध न हुआ होता। यह आश्चर्य की बात है कि महामात्य कौटल्य शिल्प उद्योग एवं वाणिज्य उद्योग को कृषि के समान ही राजतंत्र के वैभव के लिए महत्त्वपूर्ण बताते हैं। परन्तु कौटल्य कदाचित् यह नहीं जानते थे और जान सकते भी नहीं थे कि ये दबे-दबे से रहने वाले शिल्पकार और राजतंत्र को सलाम ठोकने वाले बनिये भविष्य में राजतंत्र को चुनौती देंगे और इन दोनों का आपसी गठबन्धन ऐसे वैभव को जन्म देगा जिसकी चकाचौंध में राजतंत्र फीके पड़ जायेंगे।

'आवश्यकता आविष्कार की जननी होती है', मुहावरा यद्यपि नया है परन्तु इसका प्रयोग मानव इतिहास के साथ जुड़ा हुआ है। ज्यों-ज्यों राजतंत्रों को अपनी दुर्दमनीयता की स्थापना करने के लिए और नित नये राज्यों को आत्मसात करने के लिए विशाल सेनाओं की आवश्यकता अनुभव होने लगी त्यों-त्यों सेनाओं के सम्बन्ध में मनुकालीन दृष्टिकोण रद्दी की टोकरी में फेंका जाने लगा। कौटल्य द्वारा शूद्रों को सेना में भर्ती करने का तथा अपवाद के अवसरों पर उन्हें उच्चकोटि की सेना सिद्ध करना तथा अनेकानेक कूटनीतिक विभागों में प्रवेश के लिए शूद्र पुरुषों तथा महिलाओं को प्राथमिकता देना इस बात का प्रमाण है कि क्रूर सामाजिक बन्धन अधिक दिनों तक कुशल शूद्र जातियों को अपनी ऐतिहासिक भूमिका को निभाने से रोक नहीं सकते थे।

जैसे-जैसे कौटल्य का सामन्तवाद सामान्य समाज पर हावी होता चला गया वैसे-वैसे उसके शिकंजों से बच निकलने के लिए अराजक प्रवृत्तियों ने मार्ग ढूंढ़ निकाले थे। कौटल्य ने इन प्रवृत्तियों को भ्रष्टाचार की संज्ञा दी थी। परन्तु वे स्वयं भूल गये कि राजतंत्र स्वयं प्रलोभन देकर लोगों को अपनी सत्ता के पक्ष में करता है।

सामान्य प्रशासन के रूप में जो शासनतंत्र खड़ा किया गया था, उसका रूप बहुत अद्भुत था। राज-पुरोहित, युवराज, महामात्य, सेनाध्यक्ष आदि को यदि (अड़तालीस हजार) पण वार्षिक वेतन प्राप्त होता था तो निम्न कर्मचारियों की कम होते-होते वेतन की मात्रा बीस पण वार्षिक थी। यह शिखर गुरु (टॉप हेवी) सामान्य प्रशासन निश्चय ही सामान्य जनों के लिए बहुत उद्वेगनीय रहा होगा।

कौटल्य के अर्थशास्त्र से मेरा सम्बन्ध जुलाई, १९४३ में डेरा गाजी खाँ जेल में आकस्मिक रूप में हुआ। इससे पहले मैं सैकड़ों संस्कृत पुस्तकों में इसके उद्धरण और

उल्लेख पढ़ चुका था। परन्तु मूल पुस्तक पढ़ने का सौभाग्य कभी प्राप्त नहीं हुआ था। सितम्बर १९४४ में गवर्नर पंजाब के आदेश से मुझे तन्हाई में डाल दिया गया और मेरी पुस्तकें भी छीन ली गयीं। मेरे बार-बार अनुरोध करने पर जेल सुपरिटेन्डेन्ट ने कृपा करके मुझे जेल के पुस्तकालय से पढ़ने के लिए पुस्तक देना स्वीकार कर लिया। एक बल्लोच मसक्कती (कैदी) मोटी-मोटी पुस्तकों की गठरी के साथ जब मेरे पास आया तो गठरी खोलने पर मुझे कौटल्य का अर्थशास्त्र देखने को मिला और मैं आनन्दातिरेक में नाच उठा। जेल सुपरिटेंडेंट की कृपा से वह पुस्तक आज भी मेरे पास है।

उस पुस्तक का मैंने यह अध्ययन सामाजिक विकास की एक मंजिल के रूप में किया है। एक भारतीय और स्वतंत्रता सेनानी होने के नाते मैं विष्णुगुप्त कौटल्य की उन उपलब्धियों के सम्मुख नतमस्तक हूँ जिनमें उन्होंने हजारों छोटे-छोटे टुकड़ों में बिखरे हुए इस देश का एकीकरण किया था। इस दृष्टि से विचार करने पर वह हमारे देश के प्रथम राष्ट्रपिता हैं।

इस पुस्तक में मैंने यह दिखाने का प्रयास किया है कि भारतीय राजतन्त्र कितना अनुशासित और नियन्त्रित था। निरंकुश राजतन्त्रों के मुकुट किस प्रकार धूल में मिला दिये जाते थे और सुनियोजित आर्थिक विकास के लिए विष्णुगुप्त कौटल्य ने पशुपालन, प्रारम्भिक औद्योगिक विकास, खेती, यातायात मार्गों, उत्तरापथ और दक्षिणापथ के व्यापारिक प्रतिष्ठानों तथा सामुद्रिक व्यापार तक की जो व्यवस्था एवं सुरक्षा प्रदान की थी वह भारतीय इतिहास में अभूतपूर्व है।

भारत देश के इस महान गौरवदाता को कभी कुटिल कहकर और कभी कातिल एवं षड्यन्त्रकारी क़हकर विश्व की राजनीति में लांछित एवं कलंकित किया गया है। प्रस्तुत पुस्तक में ऐतिहासिक विवेचना करते हुए वस्तुगत रूप में कौटल्य का राजनीतिक महत्त्व दर्शाया गया है।

प्राचीन दास प्रथा और कौटुम्बिक समाज व्यवस्था के खंडहर पर कौटल्य ने जिस आर्थिक एवं सामाजिक व्यवस्था का विजय अभियान चलाया था, ऐतिहासिक दृष्टि से वह एक प्रगतिशील कार्य था। इस प्रगतिशीलता की सामाजिक मान्यता युगों-युगों तक भारत में प्रचलित रही है। फिर प्रगतिशील आन्दोलनों में दत्तचित रहने वाले हमारे जैसे लोग उन भूतकालीन मान्यताओं को उपेक्षा की दृष्टि से कैसे देख सकते हैं जिन्होंने विभिन्न पड़ाओं पर अपने कार्यकलापों द्वारा समाज को वांछनीय मोड़ एवं गति प्रदान की हैं।

कौटल्य के नेतृत्व में एक ओर तो भारत में महान आर्थिक एवं सामाजिक पुनर्गठन का अभियान चल रहा था और दूसरी ओर शूद्र जातियों, महिलाओं और दासों के करुणक्रन्दन तथा कौटुम्बिक अर्थव्यवस्था के अवशेष सामाजिक प्रगति में गतिरोध पैदा कर रहे थे। ये दोनों धाराएँ साथ-साथ नहीं चल सकती थीं। इन दोनों प्रवृत्तियों का टकराव अनिवार्य था। हम देखते हैं कि महामात्य कौटल्य ने जर्जर सामाजिक रूढ़ियों के विरोध में प्रगतिशील शक्तियों का साथ देकर पुरानी रीति-नीति एवं मान्यताओं पर प्रबल प्रहार किया

है और सामाजिक विकास की धारा को गतिशील करके भारत में शक्तिशाली राष्ट्रीय एकता की सरकार का कार्यक्रम पूरा किया।

भारत में सामन्तवाद की विजय आंशिक रूप में होती रही है। देश का एक भाग सामन्तवाद के अधीन हो जाता था और दूसरे भागों में कौटुम्बिक समाज के राजनीतिक अवशेष प्रभावशाली बने रहते थे। कुछ भागों में दास स्वामियों के राज्य कायम थे और कुछ में पुराने गणराज्यों (रिपब्लिक्स) का बोलबाला था। सामन्ती राज भी एक दूसरे की प्रतिस्पर्धा में फँसे हुए परस्पर युद्धों में रत थे। नाम भारतवर्ष अवश्य था परन्तु इस देश की कोई एक सर्वमान्य राजनीतिक इकाई नहीं थी। जिस समय अलक्षेन्द्र (सिकन्दर) महान ने भारत देश पर आक्रमण किया था उस समय न तो इस देश के सभी भूभागों पर किसी एक आर्थिक प्रणाली का प्रचलन था और न कोई केन्द्रीय राजसत्ता थी। महामात्य कौटल्य ने तक्षशिला विश्वविद्यालय में अपने शिष्यों को विद्यादान करते हुए भारतीय वैभव का सिकन्दर द्वारा वह अपमानपूर्ण पराभव देखा था। कदाचित् उसी एक घटना ने उनकी तेजस्वी अन्तरात्मा को उद्वेलित कर दिया होगा। उन्हें अपनी इच्छाओं के अनुरूप ही एक शिष्य एवं अनुयायी भी प्राप्त हो गया था। वह चन्द्रगुप्त मौर्य था। भारतीय सामन्तवाद में जब भी कभी ब्रह्मज्ञान और छात्र दंड का समुचित समन्वय हो पाया है तब अनिवार्य रूप से सदा ही प्रशंसनीय परिणाम सामने आये हैं। इतिहास इसका साक्षी है। कि इन गुरु-शिष्यों के सम्मिलित प्रयत्नों ने सामन्तवाद के संकुचित दायरे को तोड़ा, कुटुम्ब प्रणालियों तथा दास स्वामियों के दुर्गों पर विजय प्राप्त की तथा संघ राज्यों का उच्छेद करके इतिहास में प्रथम बार एक विशाल राजनीतिक सत्ता को जन्म दिया। महान अर्थशास्त्र इस नये राज्य का सिद्धान्तशास्त्र एवं संविधान था। सिकन्दर से दबे-कुचले विशाल भारत को अपने साम्राज्य का अंग बनाने के लिए जब सिकन्दर के सेनापति सेल्युकस ने दुबारा हम पर आक्रमण किया था तब महान मौर्य और महान कौटल्य की अजेय वाहिनी ने सिन्धु नदी के तट पर सेल्युकस को मुँहतोड़ जवाब दिया था। अपनी कन्या और राजदूत को सौंपकर अखंड भारत से सेल्युकस ने समझौता किया था। भारत के सम्पूर्ण इतिहास में यह पहली राष्ट्रीय एकता की सरकार थी जिसके सिद्धान्तकार महामात्य कौटल्य थे और राजनेता चन्द्रगुप्त मौर्य थे।

यह राष्ट्रीय एकता कितनी प्रभावशाली थी और उसके परिणाम कितने दूरगामी थे, यह इसी से समझा जा सकता है कि करीब एक हजार वर्ष तक विदेशियों को भारत देश पर आक्रमण करने का साहस नहीं हो सका। यह वही स्पृहणीय काल था जिसमें महान भारतीय संस्कृति, दर्शनशास्त्र, कला, विज्ञान आदि का विकास हुआ।

आज जब भारत अपनी संस्कृति के विकास के अन्तिम पड़ाव की ओर डग भरना चाहता है और भारतीय संविधान की घोषणा के अनुसार विश्व के विशाल समाजवादी परिवार का अंग बनना चाहता है तब अपने अतीत के पवित्र संघर्षों की ओर देखने से उसे

प्रेरणा ही प्राप्त होगी। यही सोचकर अपने भूतकालीन इतिहास के ढाई हजार वर्ष पुराने ये पन्ने नयी पीढ़ियों के सामने खोलकर रखे जा रहे हैं ताकि ये नयी पीढ़ियाँ सोच सकें कि पूँजीवाद के दुर्ग पर हमला करके और नयी प्रगतिशील समाजवादी अर्थव्यवस्था की अन्तिम विजय का अभियान चलाकर सुसंगत रूप में वे वही कार्य कर रहे हैं जिन्हें हमारे पूर्वजों ने किया था। नयी पीढ़ी को वे आशीर्वाद देते हैं कि :-

'जो हमारे अच्छे आचरण एवं व्यवहार हैं उनकी नकल करो, हमारी बुराइयों का अनुकरण मत करो।'

यान्यस्माकं सुचरितानि तानि सेवयानिनेतराणि।

अगस्त, १६८७ — आचार्य दीपंकर
शिवाजी मार्ग, मेरठ

प्रथम भाग

कौटल्य से पहले का भारत

अध्याय-एक

देवासुर सभ्यताओं का संघर्ष और समन्वय !

आचार्य श्री विष्णुगुप्त कौटल्य की राजनीतिक उपलब्धियों का और भारत को एक संयुक्त राष्ट्र के रूप में पुनर्गठित करने के महान कार्यों का सही-सही मूल्याँकन करने में भारतीयों को कितना समय और लगेगा, इस सम्बन्ध में कोई सुनिश्चित भविष्यवाणी करना तो अति कठिन है। परन्तु ऐसा करते समय यह जान लेना परम अनिवार्य होगा कि उनके उदय से पहले भारत का राजनीतिक मानचित्र क्या था, भारत को किन-किन सभ्यताओं और व्यवस्थाओं के मध्य से गुजरना पड़ा तथा व्यतीत हो जाने वाली सभ्यता और व्यवस्था ने आने वाली व्यवस्था पर अपनी कितनी गहरी छाप छोड़ी और उसके कितने अवशेष आने वाली व्यवस्था को कितनी मात्रा में प्रभावित करते रहे। ऐसा करके ही हम भारतीय इतिहास के इस सर्वाधिक विवादास्पद परन्तु साथ ही सर्वमान्य राजनेता की विविधतापूर्ण प्रतिभा एवं उसके उद्देश्यपरक राजनीतिक कौशल का महत्त्व समझ सकते हैं।

विष्णुगुप्त कौटल्य के उदय से पहले भारत मुख्य रूप से तीन व्यवस्थाओं के माध्यमों से गुजरा था। वैदिक सभ्यता, पुरोहित युग और प्रथम नवजागरण काल। यहाँ यह बताना अप्रासंगिक नहीं होगा कि वैदिक सभ्यता के उदय से पहले भी भारत में एक शक्तिशाली व्यवस्था और सभ्यता विद्यमान थी। आगे बताया गया है कि व्यवस्था के रूप में वह वैदिक सभ्यता से अधिक उन्नत थी और उसने अपने प्रभाव की परिधियों में वैदिक सभ्यता को इस प्रकार आत्मसात या विलीन कर लिया था कि आगे चलकर वैदिक सभ्यता का अस्तित्त्व पूर्णतया विलुप्त हो गया। इसे असुर सभ्यता, राक्षस सभ्यता अथवा देव, दानव, यक्ष किन्नर और गन्धर्व सभ्यता आदि के रूप में चाहे जिस नाम से पुकारा जाये, परन्तु ये लोग वैदिक मानवों से अधिक सुसंस्कृत एवं विकसित थे।

आश्चर्य है कि इनमें से भी अधिकांश लोग वैदिक भाषा से मिलती-जुलती भाषा का ही प्रयोग करते थे और इनके नामोच्चारण तथा देवी देवताओं की परम्परायें भी वैदिक आर्यो की भाषा तथा नमोच्चारणों से मेल खाती थी। इतिहासकारों का मत है कि ये आदिवासी भी अधिकांशतः वैदिक मूल के आर्य ही थे जो इन वैदिक आर्यों के समान ही दस या बीस हजार वर्ष पहले उन्हीं प्रदेशों से आये थे जहाँ से वैदिक आर्य भटकते-भटकते यहाँ आ उतरे थे।

परन्तु इस चौथी व्यवस्था अर्थात् भारत के मूल निवासियों के सम्बन्ध में विस्तृत चर्चा अथवा विवेचना करना इस पुस्तक की परिधि में नहीं आता। अतः इस विषय को असामयिक एवं अप्रासंगिक मानकर हम शेष तीन व्यवस्थाओं की विवेचना करना एवं विनष्ट व्यवस्था के अवशेषों का अग्रिम व्यवस्थाओं को प्रभावित करना सामयिक विषय मानते हैं जिन पर यहाँ विचार करना आवश्यक है।

कौटल्य से पहले के भारत का स्वरूप समझने के लिए ढाई या तीन हजार वर्ष पुराने भारत का दिग्दर्शन भी पर्याप्त हो सकता था। परन्तु प्रत्येक घटना एक दूसरी घटनाओं का स्वरूप समझ कर ही चर्चित घटना का स्वरूप समझ में आता है। इसलिए कि कोई भी छोटी या बड़ी घटना अलग-अलग रूप में उत्पन्न नहीं होती। अतः कौटल्य से पहले की परिस्थितियाँ समझने के लिए उन परिस्थितियों का अध्ययन करना भी अनिवार्य है, जिन्होंने उन्हें जन्म दिया था और क्या यह जन्म लेना ऐतिहासिक दृष्टि से अनिवार्य था। हमारा उत्तर केवल हाँ, में ही हो सकता है।

इसलिए कि सिकन्दर महान् से पहले भी विदेशियों ने आक्रमण किये थे और भारत के प्रदेशों पर अपने आधिपत्यों की स्थापना की थी। सिकन्दर के आक्रमण से ही ऐसी कौन-सी नयी घटना घटी थी जिसने पूरे भारत में राष्ट्रवाद की लहर उत्पन्न कर दी तथा हजारों टुकड़ों में बिखरा हुआ भारत एक अविभाजित राजनीतिक ईकाई के रूप में पहली बार उभरकर सामने आया? यह राजनीतिक नहीं, दार्शनिक प्रश्न है कि विष्णुगुप्त कौटल्य ही भारत के प्रथम राष्ट्रपिता क्यों बने? वह ३१२ ईसवी पूर्व ही क्यों उत्पन्न हुए, इससे आगे पीछे क्यों उत्पन्न नहीं हुए, आदि प्रश्न अप्रासंगिक नहीं हैं। कौटल्य में ही ऐसी कौन-सी विशेषतायें थी जो वे भारत का एकीकरण कर सके और प्रशासनिक व्यवस्था एवं आदर्शों का ऐसा सूत्रपात कर सके कि पूरे ७०० वर्षों तक किसी प्रतिष्ठित विजेता और राजतंत्र का उनसे विचलित होने का अथवा निरंकुशता अपनाने का साहस ही नहीं हुआ।

इन प्रश्नों का समाधान प्राप्त करने के लिए भारत की ऐतिहासिक परिस्थितियों का अध्ययन अनिवार्य है।

आधुनिक भारत के निवासियों के लिए यह जान लेना कठिन नहीं है कि बीसवीं सदी के पराधीन भारत के राष्ट्रपिता महात्मा गांधी ही क्यों हो सके? माना कि वह न चाहते हुए भी भारत विभाजन स्वीकार करने को विवश हो गये और यह विभाजन ही उनकी राजनीतिक अन्तरात्मा पर सबसे प्रबल आघात था जिसके घाव सदा रिसते रहे और अन्त में वह हुतात्मा हो गये। परन्तु कौटल्य ने तो हजारों प्रमुख राजनीतिक ईकाइयों तथा हजारों अप्रमुख राजनीतिक ईकाइयों में विभक्त भारत को एक राजनीतिक मानचित्र पर स्थापित किया था और पूरे ५५ वर्षों तक सिंहासन पर दूसरों - चन्द्रगुप्त मौर्य तथा सम्राट बिन्दुसार को प्रतिष्ठित करके और स्वयं एक हाथ में लेखनी और दूसरे हाथ में खड्ग धारण करके भारत का एकीकरण स्थापित्त किया तथा बचाया और इतना शक्तिशाली बना दिया कि उनकी मृत्यु के उपरान्त भी सात सौ वर्षों तक किसी विदेशी को आक्रमण करने का साहस नहीं हुआ और यदि कोई यहाँ लूट-खसोट करने आया भी तो सकुशल वापस नहीं लौट पाया। वह अपना पूर्ण भारतीयकरण करके अन्त में भारतीय ही बन गया। महात्मा कौटल्य को यह देश कब अपने प्रथम राष्ट्रपिता के रूप में श्रद्धांजलि अर्पित करेगा, हम नहीं जानते। परन्तु इन पंक्तियों का लेखक अपने पुनीत कर्तव्यों का पालन करते हुए इसी रूप में उन्हें दोनों हाथ जोड़कर नमन करता है।

वैदिक युग

यह कहना यद्यपि सरल नहीं है कि भारतीय इतिहास में वैदिक युग कब प्रारम्भ हुआ था और उसका अन्त कब तथा किन परिस्थितियों में हुआ था, परन्तु यह कहना बहुत सरल और मार्मिक है कि हजारों वर्ष बीत जाने पर भी भारतीयों के मन पर उस युग की मधुरता, प्रेम, स्वाभाविकता, वीरता, पारस्परिक आत्मनिर्भरता और एक दूसरे पर विश्वास तथा सहयोग की भावनाएँ याद कर करके लोग आज के दुर्दिनों को कोसते हैं। इससे अधिक आश्चर्य की बात और क्या हो सकती है कि आधुनिक सभ्यताओं तथा वैज्ञानिक युग में रहते हुए भी कुछ भारतीय वैदिक काल की याद करके भाव-विभोर हो जाते हैं।

आज से लगभग दस हजार वर्ष पहले वैदिक आर्य ऋग्वेद की ऋचाओं का गान करते हुए सारे संसार को आर्य बनाओ (ऋण्वन्तो विश्वमार्यम्) की घोषणाएँ करते हुए भारत भूमि पर अवतीर्ण हुए थे। ठीक उसी समय उनकी अन्य शाखायें और टोलियाँ योरोप तथा मध्य एशिया के हरे-भरे मैदानों में अवतीर्ण हुई थीं। ये टोलियाँ कहाँ से आयीं इस पर विभिन्न मत-मतान्तर हैं।

स्वामी दयानन्द सरस्वती का विचार है कि तिब्बत संसार की छत है और यही भूभाग सबसे पहले जल से बाहर निकला होगा। यहीं मानव ने सबसे पहले आँखें खोली होंगी और वह वैदिक आर्य ही होगा।

स्वामी जी का यह मत असंगत नहीं है। सम्भव है कि पहला मानव तिब्बत में ही उत्पन्न हुआ हो। परन्तु वह निश्चित रूप में वैदिक आर्य नहीं होगा। नृवंश विज्ञान ऐसा ही कहता है। वैसे यह सत्य है कि तिब्बत के साथ भारत के प्रागैतिहासिक युगों से घनिष्ठ सम्बन्ध रहे हैं और आज भी हैं। संस्कृत एवं वैदिक भाषा में स्वर्ग का दूसरा नाम त्रिविष्टपम् अर्थात् तिब्बत है। परन्तु जिन वैदिक आर्यों की टोलियों के आने की हम यहाँ चर्चा कर रहे हैं उनसे भी बहुत पहले अर्थात् दस या बीस हजार वर्षों से भी पहले वैदिक आर्यों की अनेक टोलियाँ यहाँ एवं अन्य भूभागों में आ गयी होंगी।

वैदिक सभ्यता संसार की प्राचीनतम मानव सभ्यता है और मानव सभ्यता का अस्तित्व केवल पाँच या दस हजार वर्षों तक सीमित नहीं किया जा सकता है। भारत में वैदिक आर्यों के आगमन का क्रम साल, दस साल या सौ सालों तक ही नहीं चलता रहा होगा। वे भटकते, ढूँढते और सोचते-विचरते ही यहाँ सदियों तक आते रहे होंगे। वे सार्थवाहों अर्थात् काफिलों में यहाँ आये। झुंड के झुंड पशुओं के लहड़ें उनके साथ होते थे जिनका वे दूध पीते, माँस खाते और जिनकी पीठ पर उनका सामान – जो अत्यधिक सीमित होता था – लदा रहता था।

करीब दस हजार वर्ष पहले जब वे यहाँ आये तो भारत में पहले से ही विद्यमान कुछ जातियाँ उन्हीं की तरह वैदिक भाषा या उससे मिलती-जुलती अपभ्रंश भाषा बोलती थीं। उनके नाम भी वैदिक आर्यों से अधिक भिन्न नहीं थे। इतना तो कहा ही जा सकता है कि उनके लिए भी वैदिक भाषा विजातीय नहीं थी। परन्तु ऐसे लोगों की संख्या भी विशाल थी

जो इस भाषा से सर्वथा अपरिचित थे और उनके नाम तथा नैतिक आचरण आर्यों से सर्वथा भिन्न थे। वैदिक आर्यों के बाहर से आने की बात कपोल-कल्पित नहीं है। स्वयं वैदिक ऋचाएँ इसका प्रमाण देती हैं कि वैदिक आर्य भारत के मूल निवासी नहीं थे। वैदिक ऋचाओं और उनमें वर्णित देश, काल और परिस्थितियों का मेल यह सिद्ध करता है कि वे ऐसे प्रदेशों के रहने वाले होंगे जहाँ शरद् ऋतु की शिशिरता असह्य होगी और इससे बचने के प्रतिकार ढूँढ़ने में उन्हें अत्यधिक चिंतित रहना पड़ता होगा।

शरद ऋतु की भयानकता के कारण ही उन्होंने वर्ष का नाम शरद् रख दिया था और समय का विभाजन शरदों की गणना के रूप में किया करते थे। जैसे 'जीवेम शरदःशतम्' अर्थात् हम सौ शरदों (वर्षों) तक जियें।

भारत में आने के उपरान्त ही उन्हें बरसात का अत्यधिक महत्त्व ज्ञात हुआ होगा और उनके जीवन पर इसकी अच्छी छाप पड़ी होगी। तब वे समय का विभाजन शरदों से करने की अपेक्षा बरसातों से करने लगे होंगे और तभी से वर्ष साल का पर्यायवाची बन गया।

आर्यों के आदि देश की रातें बहुत लम्बी होती होंगी। सैकड़ों ऋचाओं में अन्तहीन काली रातों और उनकी भयानकता का वर्णन है जहाँ वे अपने पशुओं के संकट में पड़ने से भयभीत प्रतीत होते हैं तथा जीवन की रक्षा के लिए बारम्बार इन्द्र से प्रार्थना करते हैं जो रात के अंधेरे में उनकी व उनके पशुओं की रक्षा कर सकते थे। भारतवर्ष में तो रात अधिक से अधिक बारह घंटे तक की और प्रायः आठ घंटे की होती है तो इस रात से इतना भय कैसा जो दिन की थकान मिटाने के लिए लम्बी और गहरी नींदों में ही व्यतीत हो जाती है।

वेदों में सैकड़ों ऋचाएँ उषा का सौन्दर्य वर्णन करती हुई उसे जीवन की आशा का प्रतीक मानती हैं। महीनों लम्बी काली रातों के काले अन्धकारों से भयभीत मानव को उषा ने सचमुच ही नये जीवन की सान्त्वनायें प्रदान की होंगी। इसके अलावा, रात्रियाँ यदि अधिक भयावह और अत्यधिक दीर्घकालीन होती होंगी तो उषाकाल भी अधिक लम्बा और लुभावना होता होगा। तभी तो मानव जीवन को उसने इतना प्रभावित किया होगा कि आह्लादित होकर ऋषि उसका वर्णन करते हैं। भारतवर्ष में तो उषाकाल अधिक से अधिक तीन या पाँच मिनट का ही होता है। जब तक उसे ध्यान से देखा जाय तब तक तो अरुणोदय ही सामने आ जाता है।

भारतीय साहित्य में उषाकाल की महिमा वैदिक युग की ही देन है।

ये लम्बी और काली रातें, यह असहनीय सर्दी और लम्बी तथा आकर्षक उषा ऐसे ही प्रदेशों में हो सकती है जहाँ छः महीने की रात और छः महीने का दिन होता होगा। वहाँ उषाकाल भी १० या १५ घंटों से कम का नहीं होता होगा और अन्धकार की निराशाओं से पीड़ित वैदिक ऋषियों ने बड़ी आत्मीयता के साथ उसका स्तुति गान किया होगा।

ये प्रदेश उत्तरी ध्रुव के क्षेत्र ही हो सकते हैं।

उत्तरी ध्रुव प्रदेशों के आस-पास वैदिक आर्यों के निवास करने की बात भारत में १८०० वर्ष पहले तक विद्वानों की जनचेतना में थी। उसका उदाहरण महाकवि कालीदास का कुमारसंभव काव्य है। शिव-पार्वती के विवाह मंडप का वर्णन करते हुए कवि कहता है कि प्रज्ज्वलित अग्निकुण्ड की प्रदक्षिणा करते हुये गोरे शिवजी और नीली साड़ी पहने पार्वती ऐसे लग रहे थे जैसे ध्रुव के प्रदेशों की परिक्रमा करता दिन और रात आगे-पीछे चल रहे हों।

प्रदक्षिणाप्रकुमणात्कृशानोरुदर्चिषस्तन्मिथुनं चकासे।
मेरोरुपान्तोष्वव वर्तमानमन्योन्यससंक्तमहास्नयामम्।।

सप्तम सर्ग श्लोक ७८

कालीदास की यह अद्भुत उपमा केवल कल्पना पर आधारित नहीं हो सकती। दूसरे मूल श्लोक में 'मेरोरुपान्तेष्विव वर्तमान' इस बात की ओर संकेत करता है कि दिन और रात का आगे-पीछे दौड़ना केवल ध्रुव के छोर पर ही नहीं प्रत्युत वहाँ वहुत बड़े भूभाग पर होता है और उन प्रदेशों का ज्ञान वैदिक ऋषियों के बाद कालीदास के युग तक विद्वानों में चर्चित था।

हजारों वर्षों तक ध्रुव प्रदेशों से वैदिक आर्य पूरे भूमण्डल पर भटकते रहे। वे एक ही भाषा बोलते हुए पूरे योरोप, रूस मध्यएशिया, भारतवर्ष और वहाँ से दक्षिण पूर्वी एशिया के देशों में फैल गये। देशकाल और परिस्थितियों के भेद से उनकी भाषा, अर्थव्यवस्था, संस्कृति एवं शरीर संरचना में भेद उत्पन्न होता गया। यदि ऐसा नहीं है अर्थात् ध्रुव प्रदेश के हिममहार्णव से आत्म-रक्षार्थ वैदिक आर्य सुरक्षित प्रदेशों में नहीं फैले और उनके पूर्वजों की एक ही भाषा और चिन्तन-शैली नहीं थी तो रसियन, युकरेनियन, आरमिनियन, जर्मन, फ्रेंच, पुरानी इंगलिश, पर्शियन और मंगोलियन तथा अन्य भाषाओं में हजारों शब्द एक ही अर्थ के द्योतक क्यों हैं? संसार के भाषा वैज्ञानिकों ने खोज की है कि दस हजार से भी अधिक शब्द ऐसे हैं जो वैदिक भाषा संस्कृत, पर्सियन, मंगोलियन, रसियन और ऊपर लिखित सभी भाषाओं में समान अर्थ में प्रयोग होते हैं या फिर अपभ्रंश के रूप में काम में लाये जाते हैं। प्रश्न उठता है कि यदि हजारों किलोमीटर के फासलों पर रहने वालों के पूर्वजों का आपस में सम्बन्ध ही नहीं था तो शब्दों की यह समानता कहाँ से आयी। चार या दस बीस शब्दों को तो संयोग मात्र कहकर टाला जा सकता है। परन्तु जब उनकी संख्या हजारों में हो गयी हो तो संयोग मात्र कहकर इस सच्चाई की उपेक्षा नहीं की जा सकती। यह भी आश्चर्यजनक है कि आर्यकुल की सभी भाषाओं में माता के पर्यायवाची शब्द 'म' से और पिता के 'प' से प्रारम्भ होते हैं।

इसी प्रकार भ्राता, ब्रदर और ब्रादर शब्दों की समानता भी कम आश्चर्यजनक नहीं है। इसी प्रकार दुहिता (पुत्री), दुख्तर और डॉटर एक दूसरे के कितने समीप हैं।

अतः यह गर्व से कहा जा सकता है कि वैदिक भाषा केवल भारतीय आर्यों की ही आदि भाषा नहीं थी, बल्कि वह पूरे योरोप, मध्य एशिया और दक्षिण पूर्वी एशिया के पूर्वजों की भी मूल भाषा रही है।

उत्तरी ध्रुव प्रदेशों से वैदिक आर्यों के भारत आगमन की चर्चा करने वाले हम पहले व्यक्ति नहीं हैं। लोकमान्य तिलक ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक ओरायन में इसकी विशद चर्चा की है। इसमें जो नयी बात कही गयी है वह केवल इतनी ही है कि मेरू शब्द दोनों ध्रुवों के लिए अर्थात् दक्षिणी ध्रुव और उत्तरी ध्रुव दोनों के लिए प्रयुक्त होता है।

परन्तु वर्तमान सन्दर्भ में वह केवल उत्तरी ध्रुव प्रदेशों का पर्यायवाची है। दक्षिणी ध्रुव से आर्यों का कोई सम्बन्ध नहीं था विपरीत इसके, भारत में आने के बाद भी वे दक्षिण दिशा को यमराज की दिशा मानते थे और कहा करते थे कि 'दक्षिण गता न निवर्त्तन्तें' अर्थात् दक्षिण की ओर गये लोग वापस नहीं लौटते। दक्षिण दिशा असुरों की, राक्षसों की और अनार्यों की दिशा मानी जाती थी। कौटल्य से पहले तक पाटलिपुत्र और पूर्वी तथा दक्षिणी प्रदेशों को 'व्रात्य' कहकर पुकारा जाता था। पहली बार कौटल्य ने ही हिमालय से लेकर दक्षिणी सागर पर्यन्त इस राष्ट्र को आर्यों का चक्रवर्ती साम्राज्य कहकर पुकारा था। जैसा कि सर्वविदित है 'व्रात्य' का अर्थ वर्जित एवं गर्हित होता है। परन्तु कौटल्य की दृष्टि में भारत का कोई भी भाग 'व्रात्य' नहीं था।

वैदिक आर्य भारत में जहाँ कहीं भी गये उनसे अधिक उन्नत, समृद्ध और सुसंस्कृत सभ्यता के लोग उन्हें मिले। उन्हें किसी निर्जन वन में विचरण का कहीं सौभाग्य नहीं मिला। प्रत्येक स्थान पर संघर्ष था। और उन्हें हजारों वर्षों तक देवासुर संग्रामों के मध्य से यात्रा करनी पड़ी। पूरा वैदिक साहित्य इन देवासुर संग्रामों से भरा हुआ है।

माना कि वे असुरों की तुलना में कम विकसित, अल्प साधन-सम्पन्न थे और विविध विद्याओं, गृह निर्माण, कृषि व्यापार और आयुध विद्यादि में असुरों से पिछड़े हुए थे; कभी-कभी उन्हें लम्बी पराजयों का सामना करना पड़ता था और प्रायः गिरिकन्दराओं में समय व्यतीत करना पड़ता था। परन्तु वे बलशाली थे। विजयी थे। इसलिए कि उनमें राजा और प्रजा का भेद नहीं था। गरीब और अमीर का अन्तर नहीं था। वे साथ मिलकर चलते थे। साथ मिलकर बोलते थे। वे साथ मिलकर सोचते थे और अपने पूर्वज देवों से मिले ३ वरदानों का समान रूप से लाभ उठाते थे।

(संगच्छध्वै संवदध्वैसं वो मनांसि जानताम्। देवा भागं यथा पूर्वे संजानना उपासते)।

ध्रुव प्रदेशों से चलते समय जो प्रज्वलित अग्नि उन्होंने अपने साथ ली थी उसे मार्ग में कभी बुझने नहीं दिया। यद्यपि ध्रुव प्रदेशों में अग्नि का अधिक महत्त्व था और वह जीवनरक्षक मानी जाती थी (अमृतं शिशिरे वह्नि), परन्तु यहाँ आने के बाद भी अग्नि ही उनका सबसे बड़ा देवता बना रहा। ऋग्वेद का सबसे पहला मंत्र अग्नि के सम्बन्ध में है और सबसे पहला शब्द भी अग्नि है।

अग्नि मीलेपुरीहिंतम्। यज्ञस्य देवमृभृतं

और आश्चर्य है कि वैदिक आर्यों के कबीले जहाँ कहीं भी गये उन्होंने अग्नि का पुराना महत्त्व बनाये रखा। पारसीक देशीय आर्यों का अग्नि ही देवता था और वे उसी की पूजा-आराधना करते थे।

आर्यों में व्यक्तिगत सम्पत्ति उत्पन्न नहीं हुई थी। इसीलिए वर्गभेद भी नहीं था। वे जो भी संघर्ष करते थे उसके लाभ में प्रत्येक योद्धा समान रूप से भागीदार माना जाता था। वे सभी आर्य थे अर्थात् स्वतंत्र थे। उनमें कोई भी अनार्य अर्थात् दास नहीं था। वे जहाँ जाते थे वहीं दास अदास हो जाते थे। वे मिलकर आत्मरक्षा करते थे। दुःसाहस करना वर्जित था। मिलकर खाते थे। मिलकर ही पराक्रम करते थे – अकेले-अकेले नहीं। उनमें जो सर्वाधिक तेजस्वी और पराक्रमी होता था, सब उसके आदेशों का पालन करते थे। आपस में द्वेष करना वर्जित था।

जो अकेला खाता था, उसे पाप खाने वाला माना जाता था। (केवला घो भवति केवलादी)।

वैदिक आर्यों का समाज और उनकी अर्थव्यवस्था वास्तव में आदिम साम्यवादी थी। सभी कुछ आपसी सहयोग, विश्वास और सद्भावना पर आधारित था। उनका प्रतिरोध जिस व्यवस्था से था वह बहुत उन्नत थी। उसमें व्यक्तिगत सम्पत्ति ने जन्म ले लिया था और समाज का बहुत बड़ा भाग दासों का था। ये दास घरेलू सेवाओं में संलग्न रहने के साथ-साथ कर्मियों के रूप में, जिन्हें अर्दद्धदास कहा जाना चाहिए, खेतों और उत्पादन तथा निर्माण केन्द्रों में कार्यरत थे। उत्पादन का मुख्य भार इन्हीं दासों, अर्दद्धदासों, क्रीतदासों, उदरदासों और ऋणदासों आदि पर निर्भर हो गया था। उन्नत अर्थव्यवस्था और साधनों के होते हुए भी असुरों की पराजय और वैदिक आर्यों की अनवरत विजय इस बात का संकेत देती है कि आर्यों की विजय का सारा लाभ पूरे कबीले या विभिन्न आर्य कबीलों में मिलता था, जबकि असुरों का विजय-लाभ मुख्य रूप से एक अति सीमित वर्ग को मिलता था।

इन्हीं सब कारणों से आर्य अनवरत विजयी होते गये और दक्षिण पूर्व तथा धुर पश्चिम में अग्रसर होने का उन्होंने विशेष प्रयास नहीं किया। किया भी तो उन्हें पूर्ण सफलता नहीं मिली।

फिर भी, यह बताना अत्यावश्यक है कि महती सफलताओं के मिलते रहने पर भी वैदिक भारत बहुत छोटा था। उसकी सीमायें उत्तर पश्चिम में गान्धार, कम्बोज, बलोचिस्तान, सिन्ध और जम्मू-काश्मीर से लेकर अधिकाधिक वर्तमान इलाहाबाद तक थी। बहुत लम्बी अवधि के पश्चात् वर्तमान बिहार के मिथिला अंचल में आर्यों का प्रभुत्व स्थापित हो पाया था। वेदों से प्रकट होता है कि वैदिक काल में आर्य भारत की निम्नलिखित नदियों से परिचित थे और उन्हीं के पुलिनों तथा तटों पर उनकी बस्तियाँ स्थापित हुई थीं। वे नदियाँ हैं :-

कुभा (काबुल) कुर्म (कुर्रम) गोमल (गोमती) भुवस्तु (स्वात) सिन्धु (सिन्ध) वितस्ता (झेलम) अश्किनी (चेनाब) पुरुष्की (राती) पिपासा (व्यास) शतद्री (सतलज) यमुना और गंगा तथा सरस्वती।

इनमें सरस्वती नदी की कहानी बहुत ही रोचक तथा दुःखद है। वैदिक काल में इस नदी का बड़ा महत्त्व था और गंगा तथा यमुना की भाँति ही वह पाप विमोचिनी एवं पवित्र मानी जाती थी। इसके तटों पर और मुख्यतः पूर्वी पंजाब तथा हरियाणा में रहने वाले विद्वान्

वेदपाठी ब्राह्मण सारस्वत कहलाते थे। इसकी लम्बाई भी बहुत थी। हिमाचल से निकल कर वह पूर्वी पंजाब, हरियाणा, दिल्ली, मध्यप्रदेश और उत्तर प्रदेश के बुन्देलखण्ड को पार करती हुई इलाहाबाद में त्रिवेणी संगम बनाती हुई गंगा में विलीन हो जाती थी। वैदिक आर्यों में इसकी विशेष मान्यता थी। परन्तु बाद के साहित्य में इसका उल्लेख नहीं मिलता। हो सकता है कि वैदिक युग के साथ ही वेदों में वर्णित यह नदी भी सूख गयी हो। परन्तु इसकी स्मृतियाँ आज तक भी नहीं सूखीं।

वैदिक आर्यों में बन्धुत्व एवं पारस्परिक सहयोग असीमित था। फिर भी यह सत्य है कि वे कबीलों या कुलों में बँटे हुए थे और कबीलों के रूप में ही प्रस्थान करते रहने में उनके एक कबीले का नाम ही प्रस्थान या पठान पड़ गया था जो मुख्य रूप से कुभा नदी के तट पर रहता था और वैदिक अपभ्रंश की एक भाषा पक्तो (अर्थात् पश्तो) बोलता था।

आर्यों के अनेक वैदिक कबीलों में नाग, शिवि, कुरु, पांचाल, विदेह और अन्य अनेक प्रमुख थे। परन्तु इन सभी में सर्वाधिक शक्तिशाली, प्रभुत्वपूर्ण कबीला कुरुओं का था। इसका विस्तार पूरी मेरठ कमिश्नरी, दिल्ली, मुरादाबाद मण्डल, पूरा हरियाणा और पंजाब तथा राजस्थान के कुछ भागों के अलावा हिमालय के कुछ भाग तक था। वैदिक काल में कुरुओं को 'उत्तराः कुरवः' भी कहते थे अर्थात् सीधे उत्तरी ध्रुव से आये कुरुजन। वैदिक काल में कबीले को जन कहते थे और उसके एक भाग को गण कहकर पुकारते थे।

वैदिक काल की समाप्ति के उपरान्त भी कुरुजन वैदिक सभ्यता एवं परम्पराओं के प्रतीक माने जाते रहे हैं। कुरुओं की राजधानी हस्तिनापुर थी। मेरठ जिले में प्रत्येक १० किलोमीटर पर कोई न कोई महाभारत कालीन अवशेष मिल जाता है जिसके उपरान्त कुरुजनों का वैभव सदा के लिए अस्त हो गया। कुरु कबीले के ही एक राजा दुष्यन्त ने कण्व ऋषि की पुत्री शकुन्तला से प्रेम (गन्धर्व) विवाह किया था और शकुन्तला से उत्पन्न पुत्र-भारत के नाम पर ही बाद में इस देश का नाम भारतवर्ष पड़ा। इस प्रकार कुरु कबीले का इतिहास भारत का इतिहास बन गया।

इसी प्रकार, जब कुरु कबीले ने पुरानी वैदिक परम्परायें त्याग दीं, दास प्रथा अपना ली, पशुपालन भी दासों द्वारा ही कराया जाने लगा तथा असुरों के सारे सामाजिक आडम्बर अपना लिये गये तो वे बन्धुत्व की भावनायें नष्ट करके असुरों की भाँति आपस में लड़ने लगे। इसी व्यक्तिगत सम्पत्ति के संरक्षण की मनोवृत्ति ने महाभारत युद्ध की सृष्टि की तो कुरु कबीले का सत्यानाश तो होना ही था। परन्तु इस युद्ध ने एक नाग कबीले के अलावा सभी कबीलों को अपनी परिधि में खींच लिया तथा वैदिक सभ्यता और आर्य कबीलों का अस्तित्व भी युद्ध के साथ समाप्त हो गया।

युद्ध के उपरान्त हस्तिनापुर निर्जन हो गया था। युधिष्ठिर ने उसके स्थापत्यकार मयदानव से कहा कि वह अपनी नगरी-मयदन्त का खेड़ा, मेरठ उसे दे दे ताकि हस्तिनापुर के स्थान पर उसे राजधानी बना लिया जाये। परन्तु मयदन्त दानव ने ऐसा करने से मना कर दिया। तब युधिष्ठिर के अनुरोध पर उसने गंगा का तट छोड़कर यमुना तट पर इन्द्रप्रस्थ नगर (वर्तमान दिल्ली) बसाया। कुपित मयदन्त ने शाप दिया था कि 'युधिष्ठिर

तुमने मेरी बसायी राजधानी हस्तिनापुर ध्वस्त की है, इन्द्रप्रस्थ भी अनेक बार ध्वस्त होगी।' ध्वस्त होकर भी दिल्ली बची हुई है और संसार की सुन्दरतम महानगरियों में एक है।

इस प्रकार, वैदिक कालीन कुरुजनों ने ही भारत की वर्तमान राजधानी का भी शिलान्यास किया।

यहाँ आने से पहले आर्यों की मनोवृत्ति असुरों की तरह अन्तर्मुखी नहीं थी। वे गाते थे, बजाते थे, अग्नि के चारों ओर एकत्रित होकर नाचते थे और खाते-पीते थे। वे मग्न एव सन्तुष्ट होकर बड़बड़ाया करते थे – हमने सोम पी लिया है। हम अमर हो गये हैं। अर्थात् 'अपाम सौमम्। अमृता अभूम।' (ऋग्वेद) विपरीत इसके असुर सुरापान नहीं करते थे। आर्य उन्हें हीन भाव से देखकर आपस में कहते यह असुर है। सुरापान नहीं करता। समाज में बैठने योग्य नहीं है।

यह सदा ही निर्माण और मोक्ष की बातें करता है, जीवन से परे की और इहलोक की कभी चर्चा नहीं करता। असुरों के काम प्रायः उनके दास किया करते थे और उनकी ओर से युद्ध भी वे ही किया करते थे जिससे असुरों की हार सुनिश्चित होती थी। वे इस देश के नदी, नालों, वनों, मार्गों, झाड़ियों तथा पर्वत कन्दराओं एवं घाटियों से सुपरिचित थे। अतः कभी पीछे से, कभी आमने-सामने और कभी परोक्ष (गुरिल्ला) युद्ध करते थे, जिससे व्याकुल वैदिक आर्य उन्हें मायावी कहकर पुकारते थे। सहस्रों वर्षों तक चलने वाले इन देवासुर संग्रामों में देवों का मार्गदर्शन देवगुरु वृहस्पति और असुरों का मार्गदर्शन असुरगुरु शुक्राचार्य किया करते थे। देवों का सेनापति इन्द्र था और असुर समय-समय पर सेनापति बदलते रहते थे। इन युद्धों में तो अन्तिम विजय वैदिक आर्यों को ही मिली, परन्तु आर्थिक, सांस्कृतिक और दार्शनिक क्षेत्रों में वे पूर्णतया पराजित हो गये थे। विजयी आर्यों ने अपनी जीवन पद्धति का परित्याग कर दिया और धीरे-धीरे जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में पराजित असुरों की जीवन पद्धति का अनुसरण कर लिया। विजेता आर्यों की यही सबसे बड़ी विडम्बना थी। परन्तु ऐसा होना ऐतिहासिक अनिवार्यता थी। पिछड़ी समाज-व्यवस्थायें और दार्शनिक प्रणालियाँ उन्नत व्यवस्थाओं तथा जीवन पद्धतियों का अनिवार्य रूप में अनुसरण करती ही हैं। यही वैदिक आर्यों के साथ भी हुआ तो आश्चर्य ही क्या है? उदाहरण के लिए :-

ये गुरु वृहस्पति अनीश्वरवादी माने जाते थे। और शुक्राचार्य ईश्वरवादी। परन्तु देवासुर संस्कृतियों के विलीनीकरण के पश्चात् वैदिक आर्य असुरों से भी कट्टर ईश्वरवादी बन गये।

वैदिक आर्यों का दर्शन आमोद-प्रमोद परक था और वे जीवन का परम सुख भोगने में विश्वास रखते थे। परलोक की चिन्ता उन्हें नहीं सताती थी। परन्तु असुर सभ्यता से सम्पर्क होने के पश्चात् जीवन के प्रति उनका दृष्टिकोण ही बदल गया। वे परलोक की चिन्ता में इतने डूबे रहते थे कि इहलोक का रस लेना ही भूल गये। पहले वैदिक आर्य सीधे-सादे यज्ञों का अनुष्ठान करते हुए अग्नि के चारों ओर एकत्रित होकर अपने सामाजिक अनुष्ठान सम्पन्न करते थे तो असुर राक्षस अग्नि में मांस पिण्ड फेंककर धार्मिक अनुष्ठानों में विघ्न डालते थे। परन्तु दोनों संस्कृतियों के विलीनीकरण के पश्चात् वैदिक आर्यों के पुरोहित जो

यज्ञानुष्ठान करते थे, उनमें स्वयं भी जीवित और मृत पशुओं की बलि चढ़ाने लगे।

वैदिक आर्यों में न कोई राजा था और न कोई प्रजा थी। न कोई दास था और न कोई दास स्वामी था। जब राज्य ही नहीं था तब बँटवारा किस बात का और सिंहासन नहीं था तो विवाद कैसा। उनमें व्यक्तिगत सम्पत्ति ही नहीं थी तो उसके विभाजन के प्रश्न पर सिरफुटौव्वल कैसी? परन्तु सुविधा का जीवन व्यतीत करने के लिए वैदिक आर्यों ने अपनी समस्त सामाजिक परम्परायें त्याग दीं और असुरों की परम्परायें अंगीकार कर लीं। अब वे राजा भी थे और प्रजा भी। दास थे और दास स्वामी भी। कृषिभूमि थी तथा कृषक भी था। झुण्ड के झुण्ड पशु थे, उनके पालक गोपाल थे और पशुओं का अपहरण करने के लिए बड़े-बड़े संग्राम भी होते थे। विराट राजा के पशुओं का अपहरण करने के लिए भीष्मपितामह और द्रोणाचार्य के नेतृत्व में कौरवों ने चढ़ायी की थी। जब व्यक्तिगत सम्पत्ति ने जन्म ले लिया और वैदिक आर्य उसका संचय करने लगे तो उसके विभाजन के लिए युद्ध क्यों न ठनते? राज और राजसिंहासन आये तो झगड़ा क्यों न होता और वैदिक आर्यों के सबसे बड़े जन अर्थात् कबीले कुरुओं के बीच संघर्ष क्यों न होता और महाभारत का वैदिक सभ्यता का अन्तकारी महायुद्ध क्यों न होता?

दोनों संस्कृतियों के विलीनीकरण के पश्चात् वैदिक आर्य किसी भी अर्थ में आर्य नहीं रह गये थे। उनमें और अनार्यों में अन्तर ढूँढ़ निकालना अति कठिन था और जो थोड़ा बहुत था उसे लगभग साढ़े चार हजार वर्ष पहले महाभारत ने समाप्त कर दिया। अब वैदिक धर्म और सभ्यता का नाम ही शेष रह गया था। असुर संस्कृति और सामाजिक पद्धति ने उसे पूरी तरह मिटा कर जिस धर्म और अनुष्ठान का पाखण्ड स्थापित किया था उसे पुरोहित युग कहकर पुकारते हैं। इसे ब्राह्मण युग भी कहा जाता है। लगभग दो हजार या इससे कुछ अधिक लम्बी अवधि तक चलने वाला ब्राह्मण-युग भारतीय इतिहास में सर्वाधिक उत्पीड़क अन्धकार युग है।

पुरोहित युग

आज से लगभग साढ़े चार या पाँच हजार वर्ष पहले वैदिक धर्म के अन्त एवं देवासुर संस्कृतियों के संक्रमण काल में इस युग का सूत्रपात हुआ। यद्यपि वैदिक युग में भी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों का सामाजिक विभाजन था, परन्तु उसमें घृणा और छुआछूत का कोई स्थान नहीं था। जैसे मुख, बाहु, उदर और पांव शरीर के अविभाजित अंग हैं, एक दूसरे के पूरक एवं अनिवार्य हैं वही स्थिति चारों वर्णों के सामाजिक जीवन में थी। परन्तु ब्राह्मण (पुरोहित) युग में जाति प्रथा ने जो दूषित रूप धारण किया वह युगों-युगों तक अधिकाधिक पीड़ाजनक होता गया।

आज सामाजिक जीवन में जाति प्रथा के रूप में जो कुछ भी गन्दगी तथा घृणित विष दृष्टिगोचर होता है, उसका बीजारोपण ब्राह्मण युग में कर दिया गया था।

इस युग को वास्तव में ब्राह्मण युग कहना उचित नहीं है। ब्राह्मण शब्द ज्ञान परक है और यह माना जाता है कि वह प्रत्येक वस्तु का विवेचन एवं धारण ज्ञानपूर्वक करता है।

इसका तात्पर्य हुआ कि सच्चा ब्राह्मण ज्ञानकाण्डी होना चाहिए। परन्तु इन दो-ढाई हजार वर्षों के अन्धकार युग में जिन तत्वों ने विष घोला था वे वास्तव में पुरोहित थे। पुरोहित निहित स्वार्थ एवं प्रतिगामी होता है जो स्वभावतः रूढ़िवाद का अनुसरण करता है। ब्राह्मण ज्ञानकाण्डी होता है, प्रत्येक वस्तु को गुणवत्ता के आधार पर ग्रहण करता अथवा त्यागता है और इसीलिए निसर्गतः प्रगतिशील एवं क्रान्तिकारी होता है।

अतः इस युग को इतिहास की लीक से हटकर यहाँ पुरोहित युग की संज्ञा दी जा रही है तथा भविष्य में इसी नाम के साथ इसका उल्लेख करना उचित होगा।

उस समय उत्पादक शक्तियों का विकास अति प्रारम्भिक अवस्था में था। कृषि का विकास प्राकृतिक उत्पादन तक सीमित था। अपनी आवश्यकतायें पूरी करने के लिए भी अन्न का उत्पादन पर्याप्त नहीं था। जीविका का आंशिक साधन ही खेती से उपलब्ध था। आखेट और पशुपालन ही जीविका के मुख्य साधन थे। पुराणों और अन्य ग्रन्थों में ऐसे सैकड़ों उल्लेख मिलते हैं जहाँ हरी भरी भूमि, नदी तटों और एक दूसरे के पशुओं की चोरी तथा लूटमार के लिए जनों (कबीलों) में भयानक युद्ध हुआ करते थे, क्योंकि जीवन पद्धति अभी तक भी प्राकृतिक अवस्था में थी; केवल अपना निर्वाह करने के लिए थी और जो वर्ग भेद उभरा था उसमें मुख्य उत्पादक श्रमशक्ति विभिन्न श्रेणियों वाले दासों के श्रम पर ही आधारित थी। इसीलिए, वह बहुत धीमी गति से चल रही थी, और अर्थव्यवस्था में सुधारों की गति अतिसीमित होने के कारण ही सामाजिक परिवर्तन की गति भी अति धीमी थी। हजारों वर्षों तक समाज ज्यों का त्यों एक ही स्थान पर खड़ा रहा, इसीलिए सामाजिक उत्पीड़न भी हजारों वर्षों तक ज्यों का त्यों बना रहा। इसे सहनीय बनाने के लिए किसी राक्षस दार्शनिक ने अगले जन्म की चर्चा चलाकर और वहाँ सुखों के स्वर्णिम स्वप्न दिखाकर इस जन्म की पीड़ायें सहन करने के लिए आश्वस्त कर दिया।

यदि देवासुर संस्कृतियों के संक्रमण-काल में पुरोहित वर्ग ने धार्मिक यज्ञानुष्ठानों का वीभत्स कर्मकाण्ड प्रारम्भ न किया होता तो सम्भव है कि वैदिक आर्यों की शूरता एवं कर्मठता एवं असुरों के व्यवहारिक कौशल तथा आर्थिक विकास ने ऐसी स्थिति उत्पन्न कर दी होती कि भारत चार हजार वर्ष पहले ही नवजागरण की नवीन सभ्यता और संस्कृति का संदेशवाहक बन जाता। परन्तु पुरोहित वर्ग ने आर्थिक विकास के मूल साधनों का इस प्रकार संहार किया कि भारत डेढ़ हजार वर्षों तक आर्थिक गतिरोध के यथा स्थितिवादी भँवर में फँसकर चक्कर काट रहा था।

पुरोहित वर्ग ने वैदिक आर्यों की यज्ञानुष्ठान की भावनाएँ विकृत कीं और उनमें असुर सभ्यता का संपुट देकर इतना भयानक बना दिया था कि पूरा देश सदियों तक यज्ञों में बलि चढ़े पशुओं के जलने की दुर्गन्ध और आकाश पर छाये काले धुएँ के अन्धकार में डूबा रहा।

वैदिक आर्यों के सीधे-साधे यज्ञों का स्थान ऐसे जटिल यज्ञों ने ले लिया था कि प्रत्येक यज्ञ की विभिन्न औपचारिकताओं की पूर्ति के लिए हजारों विशेषज्ञ पुरोहितों की आवश्यकता पड़ती थी।

जैसा कि बताया जा चुका है कि प्रत्येक आर्य परिवार में अग्नि का प्रज्वलित रहना अनिवार्य माना जाता था, आर्यों कि इस परम्परा को भी विकृत करके तथा अग्नि को यज्ञानुष्ठान का पर्यायवाची बताकर पुरोहित वर्ग ने प्रत्येक परिवार के लिए यज्ञानुष्ठान करना अनिवार्य कर दिया। उन्होंने धार्मिक भावनाएँ भड़का-भड़काकर कृषि एवं आर्थिक विकास के मुख्य संसाधनों अर्थात् पशुओं को आग की लपटों में झोंक दिया।

पहले तो साधारण यज्ञ हुआ करते थे। जैसा कि बताया जा चुका है वैदिक आर्यों में यज्ञ मुख्य सामाजिक आयोजन हुआ करते थे। परन्तु जैसे-जैसे समाज के आर्थिक साधन बढ़े तथा तद्नुसार राजकोषों का भी विस्तार हुआ वैसे-वैसे यज्ञों की विशालता और जटिलताएँ लगातार बढ़ती चली गयीं।

प्रत्येक सामाजिक और व्यक्तिगत विपत्ति का निराकरण यज्ञों से किया जाने लगा। यहाँ तक कि किसी धनी व्यक्ति के रोग का उपचार करने के लिए भी पुरोहित लोग किसी न किसी यज्ञ का अनुष्ठान बता देते थे। चाहे महार्णव (बाढ़) आया हो, महामारी फैल गयी हो, मूषिक प्रकोप हो, अकाल अथवा सूखा पड़ गया हो, अतिवर्षा का प्रकोप हो, प्रबल शत्रु ने देश पर आक्रमण कर दिया हो अथवा किसी को किसी अन्य राज्य पर आक्रमण करना हो; प्रत्येक अवसर पर किसी न किसी यज्ञ का अनुष्ठान करने की तथा उसकी पूर्ति के लिए निश्चित मात्रा में धनराशि की व्यवस्था करने की सलाह दे दी जाती थी। यहाँ तक कि टिड्डियों का प्रकोप भी यज्ञों से रोका जाता था। सभी सामाजिक, धार्मिक और सांस्कृतिक गतिविधियों का केन्द्र-बिन्दु यज्ञानुष्ठान बना दिये गये थे।

इस प्रकार धीरे-धीरे यज्ञों की अनेक शाखाएँ, उपशाखाएँ और प्रशाखाएँ विकसित की जाने लगीं। इससे यज्ञों का सर्वसाधारण जनता से सम्पर्क ही टूट गया। यज्ञानुष्ठान ही जब धर्म का मुख्य रूप बन गया और वह धीरे-धीरे इतना महंगा होता गया कि सर्वसाधारण जनता के सामर्थ्य से बाहर चला गया। परन्तु जब धर्म जनसम्पर्क से दूर चला जाता है तो उसकी प्रेरक शक्ति नष्ट होने लगती है तथा जड़धर्म बनने के उपरान्त वह स्वयं भी कालान्तर में नष्ट होने लगता है। पुरोहित वर्ग के जड़ीभूत कर्मकाण्डों का भी अन्त में वही परिणाम हुआ और क्योंकि यज्ञानुष्ठान धर्म का नहीं प्रत्युत निहित स्वार्थों का ही प्रतिनिधित्व करते थे, इसीलिए ये धीरे-धीरे जनसमाज की दृष्टि से ओझल होते चले गये।

यज्ञों के निम्नलिखित प्रकार थे :-

ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, भूतयज्ञ, पितृयज्ञ, अश्वमेघयज्ञ, अग्निष्टोमयज्ञ, बलिवैवश्व देव यज्ञ, अतिराज यज्ञ, नरमेध यज्ञ, राजसूय यज्ञ, अकाल यज्ञ, अतिवृष्टि यज्ञ, अनावृष्टि यज्ञ, सूर्यतापी यज्ञ और सैकड़ों अन्य।

और अन्त में यज्ञों का इतना बड़ा आडम्बर खड़ा कर दिया गया कि समाज के अन्य बौद्धिक, धार्मिक और दार्शनिक कार्य पिछड़ गये। पूरा समाज विचार-शून्यता एवं आदर्श-विहीनता में सोकर रह गया। जब धार्मिक आस्थायें और कार्यकलाप थोड़े से पुरोहितों तथा यजमानों तक सीमित रह जाते हैं तो यह समाज का नहीं उनका ही दुर्भाग्य हो जाता है।

फिर भी उत्पादक शक्तियाँ किसी प्रतिबन्ध पर अधिक समय तक रुकी नहीं रहतीं।

जब एक बार समाज को खेती के विकास का मार्ग मिल गया और उसके द्वारा मिले स्थायी तथा निर्भरता योग्य जीविका-साधनों का पता चल गया तो उसका विकास न तो यजमान रोक सकते थे, न पुरोहित; और न यज्ञानुष्ठानों और न ही इन यज्ञानुष्ठानों में हजारों पशुओं की आहुति बहुत दिनों तक सहन की जा सकती थी। वास्तव में उत्पादक शक्तियाँ उत्पादकों की मनकामनाओं की उपेक्षा करके विकसित तो होती हैं और नये उत्पादन सम्बन्धों की भी स्थापना तद्नुरूप होती है। परन्तु उनके कार्यकलाप विकासकर्ताओं की इच्छाओं का अनुसरण नहीं करते। नये उत्पादन सम्बन्ध नयी उत्पादक शक्तियों के अनुकूल विकसित होकर स्वचालित नियमों के अनुसार तीव्रगति से अग्रसारित होते हैं। इस शाश्वत सिद्धान्त के अनुसार भारत में खेती के प्रारम्भिक विकास ने नये उत्पादक सम्बन्धों की स्थापना अनिवार्य कर दी थी और यह ऐतिहासिक कार्य पुरोहित यजमान हितों की उपेक्षा करके समाज को सुनिश्चित और सर्वहितकारी मार्ग पर अग्रसर कर रहा था। इस उद्देश्य की पूर्ति केवल खेती के विकास से ही सुनिश्चित हो सकती थी। उससे दासों को मुक्त होने का तथा अपना रूपान्तरण प्राप्त करने का अवसर मिलता। खेती चाहे और बिना चाहे ही सैकड़ों प्रकार के छोटे बड़े धन्धों एवं दस्तकारियों को साथ लेकर आती है। उन्हें पनपने का अवसर मिलता है। सम्पन्न वर्ग ऐसे धर्म की अपेक्षा करते थे जिसमें उनके बहुमूल्य साधनों का सर्वनाश न हो और वह धन उनके तथा समाज के कल्याणकारी कार्यों में लाभदायक हो सकता हो।

परन्तु सत्ता की धुरी में स्थित जड़ सत्ताधारियों ने इतिहास की पगध्वनि कभी नहीं सुनी। वह जब भी उन्हें सुनायी पड़ी तब तक इतिहास के प्रलयकारी कदम उन्हें रौंद चुके होते हैं। यही स्थिति इस अन्धकार युग में पुरोहित यजमानों की थी।

एक ओर तो भारत में अत्यधिक अनुकूल ऋतुएँ थीं। समय पर सर्दी, समय पर गर्मी और निश्चित समय पर वर्षा होती थी। धरती इतनी उर्वरा थी कि भूल से भी यदि समय पर बीज पड़ जाता था तो उस बीज का दस गुना, बीस गुना और कभी-कभी साठ गुना बनकर उत्पादक की झोली में आ पड़ता था। जीविका का इससे अधिक सुनिश्चित साधन और क्या हो सकता था? परन्तु इसके विकास के लिए पशु शक्ति अनिवार्य थी। आरम्भिक अवस्था में तो दासों की अत्यल्प मानव-श्रम-शक्ति से भी खेती का काम हो जाता था। परन्तु विशाल और सामूहिक आजीविका के रूप में खेती का काम कराने के लिए तो पशु शक्ति ही अनिवार्य थी। किसी देश में घोड़ों से, कहीं बैलों से, कहीं गधों और खच्चरों से, कहीं ऊँट और हाथियों से तथा कहीं भैंस, भैसों और गायों से मानव जाति ने खेती की जुताई का कार्य प्रारम्भ किया था।

परन्तु जहाँ एक-एक यज्ञानुष्ठान में कई हजार पशुओं की आहुतियाँ दी जाती थी और इस प्रकार, खेती के विकास के लिए सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण साधन धर्म के नाम पर नष्ट किये जा रहे थे, वहाँ आर्थिक विकास की सम्भावनायें अति सीमित ही हो सकती थी। यज्ञों में हिंसा का इतना भयानक क्रम चल पड़ा था कि मनुष्यों का भी नरमेध यज्ञ होता था। यह विश्वास दिलाया जाता था कि कुरूप, रोगी और व्यथित, धार्मिक व्यक्ति यदि नरमेध

यज्ञ में अपनी आहुति देता है तो अगले जन्म में उसे सुन्दर शरीर, उसकी खोई हुई या मृत पत्नी और पति, सुरूप, वैभव एवं सभी कुछ मन चाहा प्राप्त हो जाता है। बदनाम नरमेध यज्ञ ने ही कालान्तर में कुत्सित सती प्रथा की नींव डाली।

इस हिंसा, पशु संहार और नर हत्या से समाज घृणा करता था। परन्तु यह असुर संस्कृति वैदिक यज्ञों के नाम पर चलायी जा रही थी। यह कहकर आलोचकों के मुँह बन्द कर दिये जाते थे कि 'वैदिक हिंसा हिंसा न भवति' अर्थात हिंसा तो खोटी है, परन्तु वैदिक यज्ञानुष्टान में की गयी हिंसा हिंसा नहीं होती।

यह क्रूर हिंसा जिसने सामाजिक प्रगति और आर्थिक विकास का मार्ग रोक दिया था केवल वेदों की महती मान्यता एवं प्रतिष्ठा की ओट में चलायी जा रही थी। जो पशु हल जोतते, समान ढोते, दूध देते और अन्य लाभदायक काम करते वे यज्ञों में काटे जा रहे थे। और उन श्रोत्रिय पुरोहितों का वर्चस्व भी देखिये तथा उनके अपार बाहुबल का अनुमान भी लगाइये जो एक ही समय कई-कई सौ पशुओं के सिर एक ही झटके में धड़ से अलग कर देते थे। इतने पशुओं का प्रतिदिन संहार करने वाला पुरोहित कितना कारुणिक होगा, इसका अनुमान लगाना कठिन नहीं है। पूरे संस्कृत साहित्य में इस हिंसा के विरुद्ध ध्वनि गूँजती सुनायी देती है। महाकवि भवभूति ने एक पात्र के मुख से कहलवाया है जिसने वशिष्ठ के आश्रम का पता पूछा था। पूछने वाले को पहला व्यक्ति कहता है – क्या तुम उसी वशिष्ठ का आश्रम पूछते हो जिसने अभी-अभी वह भूरी (कपिशा) गाय बछड़े सहित मरोड़ कर रख दी है?

('कि वशिष्टं पृच्छसि येन श्व एव सा सवत्सा कपिशा ममडायिता')

यहाँ मडमडायिता और सवत्सा शब्दों में कितनी घृणा छिपी हुई है। एक प्रसंग में कालिदास एक पात्र से कहलवाते हैं – वह नीच पात्र है कि :-

'क्षोत्रिय यज्ञानुष्ठान कर्ता पुरोहित जब किसी प्राणी का वध करता है तो यह नहीं भूलना चाहिए कि उसका यह कठिन कार्य उस प्राणी के कल्याण के लिए ही है।'

यहाँ क्षोत्रिय और कल्याण कामना में कितना गहरा व्यंग है।

इस क्रूर हिंसा के विरुद्ध सर्वसाधारण जनों के अलावा, सम्पन्न वर्गों में विशेष रोष था और वह भी गैर-ब्राह्मण क्षत्रिय राजाओं, वैश्यों तथा शूद्रों में जिन्होंने आगे चलकर इनके विरुद्ध दृढ़ अभियान चलाये थे।

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि वैदिक आर्यों ने असुर सभ्यता के साथ समन्वय करके जहाँ इस प्रकार का प्रोत्साहन दिया वहीं तक्षशिला, गान्धार कम्भोज, शालक (स्यालकोट) ग्लुच (बल्लोचिस्तान), शिवि तथा पुरु आदि विशुद्ध वैदिक आर्यों के क्षेत्रों में इस हिंसा एवं असुर संस्कृति को अधिक पनपने नहीं दिया। कुरुजनों ने विशेषतया इस अनार्य परम्परा को अधिक बढ़ावा नहीं दिया। परन्तु उत्तर वैदिक काल में कुरुजनों का पुराना प्रभाव नहीं रह गया था। उनकी शक्ति भी क्षीण हो गयी थी।

इस प्रकार, यह पुरोहित काल जिसे ब्राह्मण ग्रन्थों का युग कहा जाता है और जिन्हें

वेदों का ही 'अभिन्न' अंग बताया गया है, आज से साढ़े तीन हजार वर्ष से लेकर पाँच हजार वर्ष तक अर्थात् लगभग डेढ़ हजार वर्षों तक चला है। इन डेढ़ हजार वर्षों में भारत ने वे बुरे दिन देखे जो उसे असहनीय पराधीनता की घड़ियों में भी नहीं देखने पड़े। वह सचमुच अन्धकार युग था। चारों ओर हाहाकार ! यज्ञकुण्डों में जलते पशुओं की दुर्गन्ध और आकाश में उनकी सड़न का काला और कड़वा धुवाँ बस इसी का नाम भारतवर्ष था। परन्तु जैसे बुरे से बुरे सपने काली रातों के बीत जाने पर समाप्त हो जाते हैं उनकी केवल कम्पन भरी स्मृतियाँ शेष रह जाती हैं, वैसे ही वह युग भी बीत गया। परन्तु उसके लिए इस ऐतिहासिक देश को पूरे डेढ़ हजार वर्षों तक कठोर संघर्ष करना पड़ा। यह युग हमारा प्रथम नवजागरण काल है जिसके मध्य से पूरे संसार में अद्वितीय गरिमाओं का यह देश संकट के बादलों से बाहर निकलकर चमका था। इस नवजागरण की याद करके हम रोमांचित होते हैं तथा आत्म-सन्तोष का अनुभव करते हैं। कितने कठिन संघर्षों के पश्चात् हमने वे लम्बी और काली रातें पार की थीं। जो भारतीय समाज इस प्रकार की कठिन एवं प्राणघातक परिस्थितियों में भी १५ शताब्दियों तक जीवित रह सकता है और फिर १५ शताब्दियों तक ही अपने पुनर्जन्म के लिए कठिन संघर्ष भी कर सकता है और फिर पूरे विश्व का मार्गदर्शन कर सकता है, उसके लम्बे नवजागरण की यहाँ चर्चा करना वास्तव में गौरवपूर्ण है।

महाभारत की एक रोचक कहानी

जिस पुरोहित कालीन अंधकार युग की ऊपर चर्चा की जा चुकी है, उसके प्रति धीरे-धीरे पूरे भारतीय समाज में अरुचि उत्पन्न हो रही थी। यह दिखाने के लिए महाभारत की एक रोचक कहानी यहाँ दी जा रही है।

कथा यूँ प्रारम्भ होती है। महाभारत की समाप्ति के पश्चात् और असीमित नरसंहार हो जाने के उपरान्त मृतक जनों के तर्पण के लिए पुरोहितों ने महाराज युधिष्ठिर को राजसूय यज्ञ करने का परामर्श दिया। इसके लिए करोड़ों रुपये का बजट बनाया गया और देश देशान्तरों से विशेषज्ञ पुरोहित वर्ग आमंत्रित कर दिये गये। श्रीकृष्ण इस यज्ञ के पक्ष में नहीं थे, परन्तु उन्होंने विरोध भी नहीं किया।

यज्ञ प्रारम्भ हो गया और चारों दिशाओं में युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ की धूम मच गयी। युधिष्ठिर बड़ा आत्मसन्तोष अनुभव कर रहे थे। इतने में अचानक ही वहाँ एक नेवला आ धमका। उसकी अद्‌भुत चेष्टाएँ देखकर चारों ओर उसी की चर्चा होने लगी तथा लोग युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ की चर्चा करना भूल गये। महाराज युधिष्ठिर इससे बहुत परेशान हुए और उन्होंने अन्त में श्रीकृष्ण से पूछा की यह नेवला कहाँ से आया है और भोजन करने के उपरान्त जब कोई कुल्ला करता है तो दौड़कर उसके पानी में क्यों लोटता है।

श्रीकृष्ण ने वेदव्यासजी से प्रार्थना की कि वे नेवले तथा सब प्राणियों की भाषा समझते हैं और नेवले से इस सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करें। वेदव्यासजी के पूछने पर नेवले ने अपनी कहानी इस प्रकार कही-मैं हस्तिनापुर से अति दूर एक बियाबान जंगल में एक मार्ग पर खड़े वटवृक्ष के नीचे रहता हूँ। वहीं एक स्वादिष्ट जल का कुआँ है जहाँ किसी श्रद्धालु

ने डोल और डोरी डाल रखी है। वहाँ बटोही आते हैं, जल पीते हैं और थोड़ा विश्राम करके चले जाते हैं। वहीं एक दोपहरी में एक बटोही आया। वह बहुत प्यासा और थका हुआ और भूखा भी था। उस रमणीक स्थान को देखते ही उसके पाँव रुक गये और वह छाया में बैठ गया। थोड़ी देर बाद उसने डोल से पानी खींचा और अपनी पोटली से रोटी निकालकर खाने ही वाला था कि सामने से एक कुतिया आ गयी। वह बहुत भूखी थी। उसके तीन पिल्ले भी उसके साथ थे। बटोही के पास केवल चार रोटियाँ थीं और वह बहुत भूखा था। परन्तु कुतिया की आवश्यकता अपने से अधिक सोचकर उसने दो रोटियाँ उसे दे दीं और डोल से पानी भी पिलाया।

खा-पीकर कुतिया तो चली गयी और वह शेष बची दो रोटियाँ खाने वाला ही था कि एक अति वृद्ध कोढ़ी उसके सामने आकर गिड़गिड़ाने लगा। उसके शरीर से कोढ़ चू रहा था और बदवू आ रही थी। उसने अति दीन भाव से कहा कि मैंने दो दिनों से कुछ भी नहीं खाया है और रोटी के बिना पानी भी अच्छा नहीं लगता। वह आदमी अति दयालु था। दो में से एक रोटी देकर उसने उसे पानी पिलाया और बूढ़ा भी चलता बना।

अब उसके पास केवल एक रोटी बची थी। ज्यों ही उसे खाने के लिए उसने पानी का डोल खींचा तभी वटवृक्ष के ऊपर से बन्दरिया ने की-की-की की आवाज की। उसने देखा कि बन्दरिया ने अभी बच्चे दिये हैं और वह बहुत भूखी है। उसने आधी रोटी बन्दरिया को दे दी। भूखा तो मैं भी बहुत था। परन्तु यह सोचकर चुप रह गया कि तेरा पेट ही कितनां है। आधी रोटी खाकर जब यह कुल्ला करेगा, इसके पानी में जो भी अन्न के कण बाहर आयेंगे, उन्हें बीन-बीनकर खाने से ही तेरा पेट भर जायेगा।

अतः मैं चुपचाप उसका खाना-पीना देखता रहा। उसने आधी रोटी खाकर पानी पिया और फिर कुल्ला किया तो मैं दौड़कर उस पानी के पास पहुँचा जो उसके मुख से निकला था। अन्न के कुछ कण मेरे पेट में गये और मुझे वह अपार तृप्ति प्राप्त हुई जो जीवन में कभी नहीं मिली थी। साथ ही उसके मुख से निकले पानी में मैंने जब लोट लगाई तो वह पूरा अंग सोने का हो गया जिसे पानी छू गया था। फिर तो धरती माता ने ही पानी सोख लिया। मैं अभागा केवल आधा ही सोने का हो सका।

तभी से मैं चाहता था कि दूसरा यज्ञ हो और मैं किसी श्रद्धालु के कुल्ले के जल में स्नान करूँ तो मेरे शरीर का शेष भाग भी सोने का हो जाये।

नेवले ने कहा कि इसी आशा के साथ इस राजसूय यज्ञ में आया हूँ और भोजन के उपरान्त जो कोई भी कुल्ला करता है, उसके पानी में लोटता हूँ।

सुनते हैं कि यहाँ हजारों पशुओं की बलि चढ़ायी गयी है और इस राजसूय यज्ञ के करने से स्वर्ग एवं मोक्ष मिलते हैं। परन्तु एक यज्ञ वह था सीधा-सादा सा, जो एक बटोही ने किया था, उसने मेरा आधा शरीर सोने का कर दिया था और एक यज्ञ यह भी है जिसमें तीन दिनों से कुल्ले के पानी में लोट रहा हूँ, परन्तु मेरा एक भी बाल सोने का नहीं हो पाया है।

वेदव्यासजी ने नेवले के मुख से कही गयी यह कथा विस्तार के साथ लोगों को

सुनायी। इससे यज्ञों में महती हिंसा और कर्मकाण्डों का गहरा मजाक बनाया गया।

सारांश

संक्षेप में राजनीतिक दृष्टि से कौटल्य से पहले का भारत दो भागों में विभक्त था। पहले भाग में गान्धार और काम्भोज तथा ग्लुच से लेकर कौसल और विदेह तक के वे भू-भाग आते थे जिन पर वैदिक कालीन आर्यों ने अपना प्रभुत्व स्थापित किया था और जहाँ गणतांत्रिक प्रणाली की शासन सत्ता उत्तर वैदिक काल तक अस्तित्व में रही। इनका सूत्रपात पाँच हजार वर्ष पहले हुआ होगा और इनके अवशेष पाणिनि तथा कौटल्य के समय तक रहे हैं। भारत के राजनीतिक एकीकरण के अभियान में कौटल्य ने ही सर्वप्रथम इन्हें निर्मूल किया था। इनका विशद वर्णन आगे किया गया है। यहाँ इतना कहना प्रासंगिक है कि कौटल्य से पहले के भारत में इस प्रकार गणसंघी राज्यों की संख्या कम से कम एक हजार से अधिक रही होगी। ये छोटे भी थे और बड़े भी तथा इनका राजनीतिक प्रभाव भी न्यूनाधिक था।

दूसरी राजनीतिक व्यवस्था पूर्व वैदिक काल से ही चली आ रही थी। वह थी राजतांत्रिक प्रणाली जो प्रायः असुरों में लोकप्रिय थी। असुरों के अनेक राजा अत्यधिक प्रतापी और बलशाली हुए हैं तथा पुराणों एवं जनश्रुतियों में उनमें अनेक के नाम अति प्रसिद्ध हैं। उत्तर वैदिक काल में उन्हें लांछित और कलंकित किया है। वैदिक काल में ही हिरण्यकश्यप, महाबली और अनेक प्रतापी अनार्य राजा हुए हैं, जिनमें ऐतिहासिक रावण भी एक है जिन्होंने अपने राज्यों का विस्तार किया, वैदिक आर्यों से सफल संघर्ष किया और जो आर्यों के साथ ही अनार्य राजाओं से भी सफल संघर्ष करते थे। इनके राज्य बहुत छोटे और विशाल दोनों प्रकार के होते थे। जिनका राज्य सूर्योदय से सूर्यास्त तक पैदल चलकर पार किया जा सकता था वे भी राजा ही माने जाते थे और जिनके राज्य को कोई घुड़सवार तीन दिनों तक दौड़कर भी पार नहीं कर पाता था, वे महाराज कहलाते थे। उत्तर से दक्षिण तक तथा पश्चिम से ध्रुव पूर्व तक ऐसे राजतंत्री राज्यों की संख्या हजारों में थी। राजनीतिक इकाई के रूप में भारत का कोई अस्तित्व नहीं था। ये सभी राजा और गणसंघी राज्य अपने-अपने प्रदेशों को स्वतंत्र देश के रूप में मान्यता देते थे। आज तक संकल्प पढ़ते समय कर्मकाण्डी ब्राह्मण यही कहकर देश का परिचय देते हैं कि 'जम्बूद्वीपे भारत खण्डे' अर्थात् जम्बु (जम्मू) तो द्वीप है और भारत उसमें एक टुकड़ा या खण्ड है।

इस प्रकार, ढाई हजार वर्ष पहले अर्थात् कौटल्य के उदय से पूर्व तक भारत नाम की कोई राजनीतिक इकाई नहीं थी बल्कि हजारों राजनीतिक इकाइयों में बिखरा हुआ यह एक भूखण्ड मात्र था।

जहाँ तक आर्थिक व्यवस्था का प्रश्न है उसकी विवेचना करते समय जो तथ्य सामने आते हैं उनसे प्रकट होता है कि देवासुर संग्राम केवल आगन्तुक आर्यों और अनार्यों के बीच वर्चस्व स्थापित करने का ही संघर्ष नहीं था बल्कि यह अर्थ-व्यवस्थाओं का टकराव भी था। इसमें जनसमूह के रूप में विजय वैदिक आर्यों की हुई जिनके कारण पीछे बताये जा चुके

हैं। परन्तु अर्थ-व्यवस्था के रूप में विजय असुरों के हाथ लगी। इस समृद्ध, विकसित और आत्मनिर्भर अर्थव्यवस्था के सामने, जिसमें दास मुख्य उत्पादक के रूप में कार्यरत थे, वैदिक अर्थव्यवस्था धूमिल पड़ गयी जिसके पास देने के लिए कोई निर्भरता योग्य आर्थिक साधन उपकरण नहीं था, वे तो केवल पशुओं के झुण्ड साथ लिये घूमा करते थे और कभी-कभी एक दूसरे जन (कबीले) के पशुओं का अपहरण करने के लिए मार-पीट एवं युद्ध भी किया करते थे।

अतः अर्थव्यवस्था के मोर्चे पर उत्तर वैदिक काल में पशुओं के लिए युद्ध कम होने लगे तथा भू-सम्पदा एवं दासों के लिए अधिक संघर्ष होते थे। युद्ध में पराजित असुरों का भी कोई उपयोग हो सकता है, इतनी-सी वात समझने में भी उन्हें बहुत समय लगा। परन्तु ज्यों ही उन्हें पता चला कि अपने स्थायी जीवन में वे असुरों और दानवों से भरपूर लाभ उठा सकते हैं तो अपने गाँवों अथवा बस्तियों के दक्षिणी अंचल में उनका स्थान देकर उन्हें बड़ा सन्तोष अनुभव होता था। असुर उनके लिए घर बनाते, बाण तैयार करते, बीमारियों में उपचार करते और प्रत्येक संकट के समय अपनी माया (विद्या) का करतब दिखाकर उनका मनोरंजन करते एवं सहायता देते।

पुराणों में मयदन्त नामक दानव ऐसा ही बड़ा प्रसिद्ध स्थापत्य कलाकार था जिसने हस्तिनापुर बसाया और जो अपनी कला के लिए प्रसिद्ध था।

इस प्रकार, उत्तर वैदिक काल में आर्यों तथा अनार्यों के बीच का तनाव प्रायः समाप्त हो गया था और दोनों के आपसी मिलन से जो समाज उभरा वही वास्तविक भारतीय समाज था। परन्तु इन दोनों जातियों के परस्पर मिलन और विलीनीकरण की सुखद एवं आश्चर्यजनक परिणति तो सांस्कृतिक क्षेत्र में सम्मुख आयी। उत्तर वैदिक कालीन आर्य साहित्य में असुरों पर जो भी लांछन लगाये गये हैं वे सभी पुरोहित कालीन आर्यों पर अक्षरशः लागू होते हैं। हाँ यह भी हो सकता है कि पुरोहितवादी कुकार्यों से समाज को बचाने के लिए इन साहित्यकारों ने वैदिक कालीन मधुरतायें स्मरण करायीं और पुरोहितवाद को असुर संस्कृति का प्रतीक बताकर निन्दित किया हो। उदाहरण के लिए असुरों या राक्षसों को संस्कृत साहित्य में क्रव्याद (कबाब) अर्थात् भुना हुआ मांस खाने वाला बताया है। परन्तु उत्तर वैदिक कालीन कर्मकाण्ड युग में यज्ञों में भुना हुआ मांस खाना अस्वीकार किया ही नहीं जा सकता था। इसलिए कि वह यज्ञ का (प्रसाद) था।

इसी प्रकार, वैदिक आर्य अनेकेश्वरवादी नहीं थे। यह बात अलग है कि प्रत्येक जन का एक पुरखा कुल का अधिष्ठाता देवता माना जाता था जिसे वे 'भूमिहा' भी कहते थे। विपरीत इसके, असुर या तो पूर्णतया अनीश्वरवादी होते थे या कालान्तर में जो ईश्वर विश्वासी हुए थे उनके ईश्वरों की संख्या भी अनेक हो गयी। परन्तु आश्चर्य है कि कालान्तर में ऐसी नयी संस्कृति ने जन्म लिया जहाँ न एकेश्वरवाद था न अनेकश्वरवाद और सृष्टि के मूल में एक ही चेतन मूल तत्व की भावना ने जन्म लिया। दार्शनिक क्षेत्र में भारतीय चिन्तन का यह सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण भाग है।

इसी दार्शनिक क्षेत्र में एक और प्रभावशाली परिवर्तन देखने को मिला। जैसा कि कहा

जा चुका है कि वैदिक आर्य अन्तर्मुखी नहीं थे और वे आमोद-प्रमोद व कर्मठ जीवन बिताने के आकांक्षी थे। मरने के बाद क्या होगा, इसकी चिन्ता इन्हें कम ही सताती थी। विपरीत इसके, अनार्य दर्शन ने निर्वाण, मोक्ष और आत्मचिन्तन की पद्धति को जन्म देकर पूरे समाज को इहलोक से विमुख करके परलोक चिन्ता में धकेल दिया। इस चिन्तन की छाप उत्तर वैदिक कालीन आर्य चिन्तन पर इतनी गहरी पड़ी कि सारा प्रसंग ही उल्टा जा पड़ा। सम्पूर्ण आर्य दर्शन परलोकवादी बन गया, और असुरों को निरा इहलोकवादी माना जाने लगा।

वृहस्पति और शुक्राचार्य देवों तथा असुरों के गुरु माने जाते हैं। सभी शास्त्रकार यह मानते हैं कि वैदिक आर्यो के गुरु वृहस्पति अनीश्वरवादी थे और शुक्राचार्य अनेकश्वरवादी थे। परन्तु उत्तर वैदिक काल में और अनेक देवासुर संग्रामों में देवों तथा असुरों का नेतृत्व करने वाले इन दोनों ही आचार्यों की संस्कृति विपरीत रूप में उभरी। कालान्तर में किसी ने भी यह स्वीकार नहीं किया कि देवगुरु अनीश्वरवादी थे या शुक्राचार्य देव विरोधी थे। शुक्र नीति वैसा ही प्रमाणित नीति शास्त्र माना जाता है जैसी मनुस्मृति या चाणक्य नीति।

जैसा कि कहा जा चुका है, दास प्रथा के प्रति आर्यों की असहिष्णुता भी कालान्तर में और विशेष रूप से उत्तर वैदिक काल में, समाप्त हो गयी। उसके साथ ही उन्होंने स्थायी समझौता कर लिया। देवासुर अर्थव्यवस्थाओं तथा संस्कृतियों का यह समन्वय अन्त में एक संस्कृति को जन्म देता है जिसमें वैदिक कालीन आर्यों की कर्मठता और पूर्ववैदिक कालीन अनार्यों का कौशल एवं आर्थिक प्रगति नयी सभ्यता के रूप में उभरती है। इसके मूल तत्व सहिष्णुता पर आधारित धर्मनिरपेक्षता के सिद्धान्त थे। इन्हीं आदर्शों के आधार पर भारतीय सभ्यता का विकास हुआ जिसकी प्रगति में आर्यों और अनार्यों का समान रूप से योगदान था।

यह संघर्षशील भारत था जो अपने सामाजिक उत्थान के लिए उद्दण्ड प्रकृति के विरुद्ध अनवरत संघर्ष कर रहा था। इस संघर्ष के बीच से ही एक मिली-जुली एवं समन्वित संस्कृति एवं सभ्यता ने जन्म लिया। यही भारतीय संस्कृति थी जिसके विकास में सबका योगदान था।

इस समन्वित संस्कृति ने ही भविष्य में देवों और असुरों का भेद भी मिटा दिया। समन्वित संस्कृति ने जाति भेद मिटा कर मानवता के आधार पर नये समाज की रचना की, जिसे आगे आने वाले पुरोहितवाद ने सदा के लिए छिन्न-भिन्न कर दिया और हजारों जातियों तथा उपजातियों में भारत का फिर से विभाजन कर दिया।

इस अध्याय में वर्णित पुरोहितवाद और कर्मकाण्डी यज्ञानुष्ठान का भारत के आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक विकास में किसी प्रकार का भी योगदान नहीं रहा। यह दो निठल्ले परजीवी वर्गों-पुरोहित वर्ग तथा राजसत्ताधारियों के बीच गठबंधन था। शेष मानव समाज जिनमें आर्य और अनार्य सभी थे, इस कुचक्र से पीड़ित थे। पुरोहितवाद ने दो तरीकों से समाज को पतन के कगार तक पहुँचाया। पहला तो यह कि कृषि विकास के लिए अनिवार्य

एवं परम उपयोगी पशु शक्ति का यज्ञों में इस प्रकार संहार किया गया कि यह हिंसा सामाजिक प्रगति में मुख्य बाधा बन गयी। दूसरे, प्रत्येक सामाजिक एवं व्यक्तिगत विपत्ति का समाधान यज्ञानुष्ठानों को बनाकर मानव चिंतन को इह जीवन की समस्याओं से विमुख करके और प्रत्येक विपत्ति को पूर्वजन्म के कर्मों का फल बताकर तथा केवल अगले जन्म में उसके निवारण की प्रक्रिया पर बल देकर एवं निरंकुश राजशक्ति के साथ गठबन्धन करके पुरोहित वर्ग ने मानव मस्तिष्क के विकास की सम्भावनाएँ भी अवरुद्ध कर दीं। जब धार्मिक उन्माद और राजसत्ता का दण्ड एक दूसरे की सहायता पर उतर आते हैं तब सामाजिक जीवन असहनीय यंत्रणाओं में भर उठता है। कौटल्य के उदय से एक हजार वर्ष पूर्व तक भारत ऐसी ही यातनापूर्ण परिस्थितियों से गुजर रहा था।

परन्तु जिन प्रदेशों में विशुद्ध वैदिक आर्यों का प्रभुत्व था, वहाँ विभिन्न आर्यजनों के परम्परागत गणसंघी राज्यों का अस्तित्व लुप्त नहीं हुआ था। गणसंघी राज्यों के गठन में जनगणों का सहयोग येनकेन प्रकारेण अनिवार्य होता ही था। पुरोहित वर्ग को इन राज्यों का बिना शर्त समर्थन नहीं मिल पाता था इसीलिए पुरोहित वर्ग का अमानुषिक उत्पात इन क्षेत्रों में अधिक उन्मादपूर्ण नहीं हो पाता था और जब इस क्रूर हिंसा के विरुद्ध पूरे देश में जनजागरण की लहर दौड़ी तो गान्धार, कम्बोज, ग्लूच, शालक, पुरु और कुरुजनों से लेकर विदेह तक, जिनमें शाक्य, मल्ल, लिक्ष्छवी और दूसरे वैदिक आर्यों के गणसंघी राज्य थे, अग्रणी पंक्ति में खड़े मिले। यह और भी आश्चर्यजनक है कि पुरोहित वर्ग भी अपनी क्रूर हिंसा को वेदों के नाम पर प्रचलित कर रहा था और प्रथम नवजागरण कालीन ये ऋषि मुनि और महात्मा भी वेदों के नाम पर ही हिंसा और पुरोहितवाद का खण्डन कर रहे थे। इनमें अपवाद है तो केवल चार्वाक जिसने हिंसा और यज्ञों के साथ ही वेदों, ईश्वर, आस्तिकता, पुनर्जन्म, परलोक और स्वर्ग तथा मोक्ष की धारणाओं पर भी समान रूप से प्रहार करते हुए कहा था कि धूर्तों, पाखंडियों और निशाचरों ने ही अपने स्वार्थ सिद्धि के लिए आध्यात्मिकता के नाम पर ये जाल बुने हैं।

इस प्रकार जिस व्यक्ति के अमर कार्यों तथा उपलब्धियों की इस पुस्तक में चर्चा की जा रही है, उससे पहले का भारत केवल ऐसा ही नहीं था जैसा ऊपर बताया गया है। वह वैसा भी था जिसकी चर्चा अगले अध्याय में की जा रही है और यह जानना भी आवश्यक है कि भारत के प्रथम नवजागरण ने ही वे ऐतिहासिक परिस्थितियाँ उत्पन्न की थीं जिन्होंने विष्णुगुप्त कौटल्य को वह व्यक्तित्व प्रदान किया जिसके कारण वह पहली बार भारत का एकीकरण कर सके और उसे एक अभिन्न राजनीतिक इकाई के रूप में पुनर्गठित कर सके।

■■■

अध्याय-दो

प्रथम नवजागरण

१. उपनिषद् काल

जब कोई अर्थव्यवस्था और सामाजिक जीवन पद्धति अपना वास्तविक स्वरूप एवं जनाधार खोकर विकृत रूप में प्रकट होती है तो सामाजिक विकास के मार्ग अवरुद्ध होने लगते हैं। वैदिक सभ्यता के उत्तर काल में और असुर संस्कृति एवं व्यवस्था के साथ उसके समन्वय से ऐसी सभ्यता ने जन्म लिया जिसमें प्रबल असुर संस्कृति के तत्वों का बाहुल्य था। इसे ही पुरोहितवाद का उदय तथा धार्मिक कर्मकाण्ड एवं यज्ञानुष्ठानों का युग कहा जाता है जिसके सम्बन्ध में विस्तार के साथ विचार किया जा चुका है। यद्यपि डेढ़ हजार वर्षों तक यह अन्धकार युग चलता रहा परन्तु अन्त में उसे जाना पड़ा। इसलिए कि जब कोई सामाजिक नीति, धार्मिक अनुष्ठान और कार्य पद्धति प्रचलित आर्थिक शक्तियों के विपरीत जाने लगती है तो उन्हें समाज के संवेदनशील तत्वों से तथा अन्त में पूरे समाज से टकराना पड़ता है। कर्मकाण्ड युग में जिस तरह पशु शक्ति का संहार हो रहा था, उसके विरुद्ध जनता का आह्वान करने वाले तो लगभग एक हजार वर्ष बाद आये। परन्तु उसके लिए अनुकूल ऐतिहासिक परिस्थितियाँ तैयार करने वाले आज से लगभग ३५ शताब्दियों से भी पहले आ गये थे। उसकी कार्य पद्धति आडम्बर मुक्त थी। उनका व्यक्तिगत जीवन अति आकर्षक, सीधा-सादा और सरल था। उनकी विचार शैली मार्मिक थी और मनों में स्पन्दन उत्पन्न करती थी। वे राजमहलों से अति दूर तपोवनों में और पर्णकुटिया में बैटकर सर्वसाधारण से बातें करते थे। सबसे पहले उन्होंने गौऊ को माता और अवध्य कहा था जो हमारे जीवन के लिए बहुमूल्य दुग्ध का आहार प्रदान करती थीं तथा उन्होंने ही पुरोहित ब्राह्मणों के प्रति उपजे क्रोध को शान्त करते हुए कहा था कि ब्राह्मण ब्रह्मवेक्ता होता है। वह मानव मात्र में एकता के दर्शन करता है। अतः ब्राह्मण अवध्य है। उन्होंने सिद्धान्त रूप से मांस भक्षण बन्द करके और कन्द, मूल फलों तथा दूध पर अपना जीवनाधार केन्द्रित करके पशु हिंसा अनावश्यक सिद्ध कर दी। उन्होंने कर्मकाण्ड या यज्ञानुष्ठान को धर्म विरोधी या वेद विरोधी नहीं कहा। ऐसा करना लाभदायक भी नहीं था। निहित स्वार्थ के शक्तिशाली पुरोहित वर्गों के साथ टाल देने योग्य संघर्ष को सामने लाकर खड़ा करने में उन्होंने बुद्धिमत्ता नहीं समझी; परन्तु आडम्बरपूर्ण और महँगे यज्ञानुष्ठानों के मुकाबले उन्होंने धर्म का एक अन्य विकल्प बड़ी योग्यता के साथ प्रस्तुत कर दिया।

पहले तो उन्होंने कर्मकाण्ड और ज्ञान-काण्ड के रूप में मानव मुक्ति के दो समान मार्ग प्रस्तुत किये। फिर यह बहस छेड़ी कि कर्मकाण्ड अधिक उत्तम है या ज्ञानकाण्ड। कुछ

ने कर्मकाण्ड को उत्तम वताया और कुछ ने ज्ञानकाण्ड को। यह समझ लेने के उपरान्त कि जनता ने दोनों को एक दूसरे का विकल्प मान लिया है, उन्होंने नवीन चर्चा प्रारम्भ की। कर्मकाण्ड के मुकाबले ज्ञानकाण्ड को उत्तम बताया और किसी-किसी ने कर्मकाण्ड अथवा हिंसापूर्ण यज्ञानुष्ठान को अविद्या कहकर निन्दा भी की।

ये कौन लोग थे जिन्होंने खतरों से भरा यह मार्ग पकड़ा और अपने प्राणों से खेले? ये बहुत बुद्धिमान भारतीय थे। ३५०० वर्ष पहले चारों ओर फैले अन्धविश्वासों के अन्धकार में उन्होंने ज्ञान ज्योति जलायी थी। ये उपनिषदों के महर्षि थे। जनविचारक थे, नये मार्ग के प्रशस्तकर्ता थे और स्वयं पीड़ायें झेलकर मानव-जाति को पीड़ामुक्त करने के सपने देखते थे।

उन्होंने बड़े आत्मविश्वास के साथ अपने सम्बन्ध में घोषणा की थी :-

'मैं राज्य की कामना नहीं करता। स्वर्ग और मोक्ष प्राप्त करना भी मेरी आकांक्षा नहीं है। मैं तो बस, यही चाहता हूँ कि दुखों में तपती मानव जाति का सन्ताप दूर कर सकूँ।'

न त्वहं कामये राज्यं न स्वर्ग नापुन भर्वम्।
कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामर्त्तिनाशनम्।

इन महामानवों के विचार उपनिषदों में अंकित हैं। उपनिषदें भारतीय विचारों और ज्ञान की महत्त्वपूर्ण पिटारियाँ हैं। वे एकान्त में और गिरिकन्दराओं में बैठकर तथा समाधि लगाकर नहीं लिखी गयी हैं। वे जनता के पास बैठकर और उसके मानसिक आवेगों को ध्यान में रखकर लिखी गयी है। इसलिए उन्हें उपनिषद् अर्थात् सन्निकट बैठकर लिखी, कहा जाता है।

उपनिषदों के ऋषि केवल ब्राह्मण नहीं थे। अब्राह्मण भी थे। अष्टावक्र, जो अत्यधिक कुरूप और आठ स्थानों से टेढ़ामेढ़ा था, केवल उपनिषदों के ज्ञान के कारण सर्वमान्य था। ब्राह्मणों का जन्मजात अहंकार उपनिषदों के ज्ञानकाण्ड ने धूल में मिला दिया। उपनिषदों के ऋषियों ने पुरोहितवाद और धार्मिक अनुष्ठानों पर प्रहार नहीं किये। परन्तु धर्म के वैकल्पिक रूप प्रस्तुत करके उन्होंने शताब्दियों से दबी हुई और गूँगी तथा बहरी जनता को बोलना सिखा दिया। यही उनका सबसे बड़ा कौशल था। इससे कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड के बीच का संघर्ष पुरोहितों तथा ऋषियों के मध्य का संघर्ष न रहकर सर्वसाधारण जनता और पुरोहित वर्ग तथा रूढ़िवाद और प्रगतिवाद के बीच का संघर्ष वन गया।

उपनिषदों के ऋषि बार-बार शारीरिक श्रेष्ठता पर प्रहार करते हैं और ज्ञान की श्रेष्ठता का वर्णन करते हैं। परन्तु ज्ञान तो किसी जाति विशेष के एकाधिकार में नहीं होता। ब्राह्मणेतर जाति का व्यक्ति भी ज्ञानवान् हो सकता है। उनकी इस बहस ने पूरे समाज को हिला दिया, उसकी गतिहीनता नष्ट कर दी और विचार मंथन प्रारम्भ कर दिया।

ज्ञान की इस श्रेष्टता ने स्त्री जाति को भी बन्धनों से मुक्त कर दिया। पुरोहित युग

में नारी का महत्त्व केवल दासी के रूप में था। वैदिक काल की स्वाधीन नारी पुरोहित काल की दासी मात्र थी। परन्तु उपनिषद्‌कार ऋषियों ने उसे पुनः वही सम्मान दिया जो उसे वैदिककाल में उपलब्ध था। अनेक स्त्रियों ने अपने बुद्धिवैभव का प्रदर्शन करके पुरुष के समान अपनी गरिमा और योग्यता का परिचय दिया। गार्गी और मैत्रेयी आदि नारियों ने पुरुषों के समान ही अपनी विद्वता और ब्रह्मज्ञान का परिचय दिया।

अनेक मौलिक प्रश्नों पर चिन्तन को नया मोड़ देकर उन्होंने कुंठित मानव मस्तिष्क को पूर्णतया सचेष्ट कर दिया। उन्होंने पुरोहितवाद पर प्रहार करते हुए उपनिषदकाल के अंतिम दिनों में प्रश्न किया कि ब्राह्मण कौन है और स्वयं उत्तर भी दिया कि जो ब्रह्म ज्ञान रखता हो। इस प्रकार उन्होंने धार्मिक उन्माद और जातीय अहंकार पर चोट की। उनका कहना था कि सच्चा ब्राह्मण तो वही है जो कुत्ते, ब्राह्मण और चाण्डाल में एकरूपता देखता हो। उनका उच्च मानवतावाद वास्तव में प्राणिमात्र के प्रति असीम प्रेम का द्योतक था जिसमें किसी भी दृष्टि से प्राणी-हिंसा अप्रासंगिक हो जाती है। महाकवि कालिदास ने अभिज्ञान शाकुन्तल में ऐसे ही एक तपोवन का वर्णन किया है जिसमें एक हिरण के बच्चे पर धनुष-वाण ताने दुष्यन्त को रोकते हुए कहा था :-

'राजन ! हरिण के इस छोटे बच्चे पर वाण मत चलाओ; वह तो ऐसा होगा जैसे रुई के ढेर पर अँगारा फेंक दिया जाये। किलोलें करते ये हिरण के छोटे बच्चे कहाँ और वज्र के समान विनाश करने वाले तेरे ये कठिन वाण कहाँ?'

'न खलु न खलु बाणः सन्निपात्योअयम स्मनडिनः।
मृदुनि मृग शरीरे तूल राशा विवाग्निः।
क्ववन हरिणकानां जीवनं चाति लीलं।
क्वच कठिन नियाता वज्र साराः शरास्ते।।'

इसमें प्राणिमात्र के लिए जिस कोमलता की अभिव्यक्ति की गयी है, वह उस हृदयहीन पुरोहितकाल में कैसे मिल सकती थी जहाँ प्रज्वलित अग्निकुण्ड निरपराध पशुओं के सिर काटने के लिए पुरोहित जी गण्डांसा ताने खड़े दिखते थे।

जो उपनिषदकार वन्य प्राणियों के प्रति सहृदय थे वे दास मानवों के प्रति हृदयहीन कैसे हो सकते थे? उन्हें भी प्रत्येक अवसर पर वे मानवीय अधिकार प्रदान करते हैं।

उन्होंने पशुपालन के तुरन्त बाद कृषि के विकास को महत्त्व दिया और इस प्रकार, आश्रमों में भी शीघ्र फसल देने वाली कृषि को प्रोत्साहन देकर उन्होंने नये आर्थिक साधन को भी महत्त्व प्रदान किया। सष्ठी नामक धान का बीज केवल ६० दिनों में पककर तैयार हो जाता है, विशेष लागत भी नहीं लगती, वह इन आश्रमों की ही देन था।

इसके अलावा उपनिषत्कारों ने मानव जीवन की ऐसी मौलिक समस्याओं की ओर समाज का ध्यान आकृष्ट किया जिनकी ओर कुण्ठाग्रस्त पुरोहित काल में कभी ध्यान भी नहीं जा सकता था। जैसे—धरती, आकाश, चाँद, तारे आकाशगंगा और यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड

किसने बनाया है? यदि कोई इनका बनाने वाला है तो उसे किसने बनाया है? शून्य आकाश में घूमते ये तारे और नक्षत्र पुंज किस पर टिके हैं और ये आपस में टकराते क्यों नहीं हैं?

मैं कौनं हूँ? तू कौन है? हम सब कहाँ से आये हैं? और निष्कपट सब उपनिषदकारों ने इनका एक निश्चित उत्तर भी दिया है। तू आत्मा है। मैं आत्मा हूँ। प्राणिमात्र आत्मा है। और हम सभी का स्रोत एक परमात्मा है। वही ब्रह्म है। हम उसी के विभिन्न रूप हैं। जैसे एक ही सूर्य विभिन्न जलाशयों में भासित होता और विभिन्न रूपों में अभिव्यक्त होता है, वैसे ही परम ब्रह्म विभिन्न प्राणियों में विभिन्न नामाकारों के रूप में प्रकट होता है।

इस प्रकार, उपनिषदकारों के महान् मानवतावाद में न केवल मानव मात्र को समान महत्त्व प्रदान किया तथा कुत्सित जाति प्रथा पर प्रहार किया जिसे पुरोहितवाद ने चरम रूप से दूषित कर दिया था, प्रत्युत प्रत्येक प्राणी में परमात्मा का साक्षात्कार कराकर उन्हें पूर्णतया अवध्य घोषित कर दिया।

भारतीय दार्शनिक कल्पनाओं की इन ऊँची उड़ानों ने भारतीयों का मन और उनके विचार इतने ऊँचे धरातल पर पहुँचा दिये कि वह पुरोहितवाद के अमानवीय हत्याकाण्डों और यज्ञानुष्ठानों के प्रति उद्वेग और घृणाओं से भर उठा।

उपनिषदकारों ने मानव जीवन के प्रत्येक मूल प्रश्न पर मौलिकता से विचार किया। उपनिषदों ने दार्शनिक दृष्टि दी और प्रत्येक समस्या पर गहराई के साथ विचार करना सिखाया।

भारत में प्रथम नवजागरण की यह प्रथम वेला थी। उपनिषद् वास्तव में ऋग्वेद और सामवेद का नया संस्करण था। इनमें वृहदारण्यक और छान्दोग्य उपनिषदें विशेष ऐतिहासिक महत्त्व की हैं। कठोपनिषद् ने मानव चिन्तन को नयी दिशा प्रदान की है। पहली और दूसरी शताब्दियों के महाकवि और विशेष रूप से कालिदास और भवभूति उस युग की उपलब्धियों के अमर गीतकार हैं जिन्होंने पुरोहितवाद के प्राणघातक वातावरण से बाहर निकले भारतीय समाज के चारों आश्रमों-ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास - की महिमा गा-गाकर पूरे भारतीय समाज को नयी दिशा प्रदान की।

अब धीरे-धीरे लोग पुरोहित काल के आडम्बर भरे कर्मकाण्ड तथा यज्ञानुष्ठानों को भूलते जा रहे थे। अश्वमेध यज्ञ, नरमेध यज्ञ, बलिवैवस्य यज्ञ और महँगे पाखण्डों के स्थान पर तपोवनों की ओर लोगों का ध्यान जा रहा था जहाँ कहीं, उद्दालक मुनि, कहीं याज्ञवल्क्य मुनि, कहीं महान ब्रह्मज्ञान के मुनि अष्टावक्र, कहीं ब्रह्मवादिनी मैत्रेयी और गार्गी मानव जीवन की तथा ब्रह्माण्ड संरचना की जटिल समस्याओं पर चर्चायें करती थीं और सहस्त्रों ज्ञान पिपासु श्रद्धालुजन बद्धांजलि होकर इन चर्चाओं का अमृतपान किया करते थे। इन चर्चाओं ने जीवन की प्राथमिकतायें ही बदल डालीं।

परन्तु यह विचार चिन्तन बुद्धिजीवी वर्गों तक ही सीमित था। इसका जनसाधारण पर धीरे-धीरे ही प्रभाव पड़ रहा था। यह युग पर्याप्त रूप में दीर्घकालीन था और करीब एक हजार सालों तक चला। इसे ढाई हजार से साढ़े तीन हजार वर्ष पुराना युग कह सकते हैं। इसने वैदिक एवं असुर संस्कृतियों को समान रूप से प्रभावित किया। प्रत्युत यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि उपनिषदकारों ने पुराने वैदिक चिन्तन को इतना गहन रूप में पुरस्थापित किया कि तदुपरान्त अनार्य संस्कृति अथवा असुर सभ्यता और चिन्तन का बहुत कम प्रभाव रह गया था। फिर भी, यह तो मानना ही होगा कि दार्शनिक क्षेत्र में भी और उपनिषदकाल में असुर संस्कृति ने अपने आपको निर्मूल नहीं होने दिया। वैदिक आर्य अन्तर्मुखी नहीं थे और इहलोक की समस्याओं की उपेक्षा करके उन्होंने कभी परलोक के सम्बन्ध में माथापच्ची नहीं की। परन्तु भारतीय चिन्तन पर जिस प्रकार मरणोपरान्त की समस्याएँ छायी रही हैं, उससे प्रतीत होता है कि असुर संस्कृति भारतीय संस्कृति का अभिन्न रूप हो गयी थी। फिर भी उपनिषदों ने रूढ़िवाद के दलदल से निकलने में उसकी सहायता की। आगे चलकर गौतम बुद्ध के जनान्दोलन ने उपनिषदकारों का ज्ञानकाण्ड भिन्न नामों और रूपों में जन-जन तक पहुँचा दिया। जब मानव अपने सीमित ज्ञान को ही असीमित और अन्तिम मान बैठता था तो ऋग्वेद की भाषा में उपनिषदकार 'नेतिनेति' कहकर सावधान किया करते थे। 'नहीं, ऐसा ही सब कुछ नहीं, और भी हो सकता है।' उपनिषदों के ऋषियों ने प्रकृति और समाज के प्रति हमारे ज्ञान की इच्छा-जिज्ञासा उत्पन्न की और यहीं से मानव के लिए विभिन्न ज्ञानों और विज्ञानों के द्वार मुक्त हुए।

क्या सृष्टि से पहले अन्धकार था? नहीं; फिर प्रकाश कहाँ से आता। क्या प्रकाश ही प्रकाश था? नहीं, फिर अन्धकार कहाँ से आता। क्या अन्धकार और प्रकाश दोनों ही थे? नहीं, फिर दोनों की उत्पत्ति कहाँ से और क्यों होती?

क्या सृष्टि से पहले जगत् सत् था अर्थात् उसका अस्तित्व था? नहीं, सत् था तो सृष्टि किसकी हुई ! क्या असत् अर्थात् अभाव था? नहीं, अभाव में से सत् और असत् दोनों कैसे उत्पन्न हो सकते थे।

क्या सृष्टि से पहले असत् अर्थात् जड़ था? नहीं, फिर सत् अर्थात् चेतन कहाँ से आया? क्या सत् अर्थात् चेतन था? नहीं, फिर असत् जड़ कहाँ से आया।

ये उपनिषदकार इन मौलिक दार्शनिक प्रश्नों को बार-बार उठाकर मानव मस्तिष्क को उसी तरह सक्रिय कर रहे थे जैसे चिड़िया फुदक-फुदक कर अपने नवजात शिशु को आकाश में उड़ना सिखाती है।

और कभी-कभी तो वे इन जटिल प्रश्नों का उत्तर देते-देते इतने रुष्ट हो जाते थे कि झल्लाकर कह उठते थे :-

'हिरण्यगर्भो वेद यदि वा न वेद'

अर्थात् सृष्टि का प्रथम मानव ही यह जानता होगा कि सृष्टि से पहले क्या था और

संभव है वह भी न जानता हो।

वैदिक ऋषियों और शास्त्रकारों ने मानव मस्तिष्क को सोचने की कितनी स्वाधीनता दी थी। दिमागी दासता से मुक्त करके और किसी को भी यहाँ तक कि हिरण्यगर्भ को भी अपने से अधिक ज्ञानवान् या सर्वज्ञ समझकर हीनता की भावनाओं से पीड़ित होने के पतन से उन्होंने मानव को रोका था।

जिस युग का यहाँ उल्लेख किया गया वह ईसा पूर्व ५०० वर्ष से लेकर डेढ़ हजार वर्ष तक का है। उपनिषद काल में आज से ३५०० वर्ष पहले नवजागरण की और पुरोहितवादी कर्मकाण्डों तथा यज्ञानुष्ठानों में पशुहिंसा की तथाकथित धार्मिक प्रवृत्तियों के विरोध में जो विचार प्रकट किये थे उन्हें हमारे दार्शनिक ऋषियों ने मौलिक दर्शनशास्त्रों की रचना करके पुरोहितवाद पर और भी कड़ा प्रहार किया। इन सर्वमान्य ऋषियों में परमाणुवाद के प्रथम संस्थापक महर्षि कणाद, न्यायशास्त्र के प्रवर्त्तक महर्षि गौतम, सांख्य दर्शन के प्रणेता कपिल, वेदान्तशास्त्र के रचयिता महर्षि वादरायण, योग दर्शन के संस्थापक महर्षि पतंजलि तथा मीमांसा शास्त्र के प्रणेता जैमिनी हैं। शेष आस्तिक और नास्तिक दार्शनिकों के सम्बन्ध में अगले पृष्ठों पर विस्तार से उल्लेख किया गया है।

नीचे की पंक्तियों में हम भारत के समान ही मानव संस्कृति के मुख्य संस्थापक देश, यूनान अर्थात् यवन देश, की गौरवशाली दार्शनिक परम्पराओं का भी उल्लेख कर रहे हैं। इस अध्ययन से यह समझना सरल हो जायेगा कि मानव जाति पूर्णतया एक है और एक ही प्रकार की सैद्धान्तिक विचार-धारायें और विचार संघर्ष, थोड़ा आगे पीछे ही सही, समान रूप से उसे प्रभावित करते हैं।

यही स्थिति विश्व सभ्यता के दो प्राचीन केन्द्रों चीन और ईरान की भी है।

नीचे हम संक्षेप में यवन देश के वैचारिक संघर्ष की कहानी का दिग्दर्शन कराकर यह कहना चाहेंगे कि हमारा ढाई हजार वर्ष पहले का बौद्धिक संघर्ष और उसकी अंतिम परिणति के रूप में विष्णुगप्त कौटल्य द्वारा भारत के एकीकरण का अभियान तथा उसकी सफलता आकस्मिक नहीं थी। इसके बाद सात सौ वर्षों तक देश में कृषि के विकास, उद्योगों, व्यापार तथा पशुपालन के क्षेत्र में जो अभूतपूर्व प्रगति हुई थी उसी के कारण विश्व की दृष्टि में 'भारत को परियों' का देश और 'सोने की चिड़िया' की संज्ञा प्राप्त हुई थी।

जैसा कि अन्यत्र कहा भी जा चुका है कि मौर्यों, शुंगों, कण्वों, सातवाहनों, आन्ध्र नरेशों और वीर विक्रमादित्य के शासनकाल में उसी प्रकार वैदिक आर्य सभ्यता और मर्यादाओं की स्थापना के लिए रामायण, महाभारत, पुराणों और अन्य ऐतिहासिक ग्रन्थों की रचना की गयी जैसे सम्राट अशोक, कनिष्क, कुबलय खाँ और अन्य बौद्ध धर्म के अनुयायी सम्राटों की अध्यक्षता में बुद्ध संगीतियों की स्थापना करके महात्मा गौतम बुद्ध के मौखिक प्रवचनों को स्मृतियों के आधार पर लिपिबद्ध किया गया था तथा ग्रन्थों की रचना की गयी।

२. यूनानी दार्शनिकों का संघर्ष

जिस समय भारत में यह नवजागरण प्रारम्भ हुआ था उसके थोड़ा पीछे ही यवन देश (यूनान) और चीन में नये विचारों की नयी लहर उत्पन्न हुई थी। परन्तु जैसी क्रिया होती है, वैसी ही प्रबल प्रतिक्रिया भी होती है। १५ शताब्दियों के अन्धकार का निराकरण करने के लिए भारत का नवजागरण भी लगभग १५ शताब्दियों तक ही चला। परन्तु यवन देश के क्रान्तिकारी दार्शनिकों ने मानव जाति की सभ्यता के विकास में जो योगदान किया है, उसका संक्षिप्त विवरण यहाँ दिया जा रहा है। सुकरात, अफलातून और अरस्तू जैसे महर्षियों को मानव जाति कैसे भुला सकती है?

हमारे पूर्वजों के संघर्षों ने यदि उन्हें प्रभावित किया था तो यवन देश की महती सभ्यता से हमें भी बड़ा बल एवं प्रेरणायें मिली थीं। हमारे पूर्वज एवं सभ्यता एक थी तथा हजारों वर्षों से हमारे यूनान के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध रहे हैं।

आज से तीन हजार वर्ष पहले उपनिषदकारों और अन्य दार्शनिकों ने जिन नवीन विचारों के लिए भारत में विचार मंथन प्रारम्भ किया था वैसा ही दार्शनिक विचार मंथन उसी काल में यवन देश के दार्शनिकों ने भी किया था। यह विवाद दोनों देशों में समान रूप से प्रचलित था कि संसार का मूल क्या है, यह किससे बना है और इसका स्वरूप क्या है। इनमें कभी अग्नि को, कभी आकाश को, कभी वायु को और कभी आत्मा या ब्रह्म को मूल तत्व मानकार विश्व की विवेचना की जाती थी।

इनमें यूनानी दार्शनिक थे। ईसा पूर्व छठी शताव्दी में जल को ही मूलतत्व मानते थे परन्तु उसी काल के दूसरे यवन दार्शनिक तत्वों को अतिसूक्ष्म मानकर उन्हीं के स्थूल आकार को विश्व की रचना की संज्ञा देते थे।

और यही समय कणाद का भी है जिसने सृष्टि के तत्वों के सम्बन्ध में अधिक तर्क संगत विवेचना की है। उनका कहना था कि मूल तत्व एक नहीं पाँच हैं और इनमें शून्य अथवा आकाश को प्राथमिकता देकर तथा पदार्थों में अभाव को भी स्थान देकर जिस मौलिक चिन्तन का परिचय दिया था, उससे कणाद पूरे विश्व के वैज्ञानिकों तथा दार्शनिकों की प्रथम पंक्ति में आ बैठे हैं।

इस बहस और विवेचना में सर्वाधिक महत्त्व की बात यही है कि यवन दार्शनिक और भारत के गौतम बुद्ध के अनुयायियों तथा चार्वाक ने कहीं भी यह बहस नहीं छेड़ी है कि सृष्टि का कर्ता कौन है और उसने इसे क्यों बनाया है। ये दार्शनिक जीवन को महाभूत से पृथक् नहीं मानते थे और न उसका कोई संचालक था। वे तो स्वयं भूत तत्वों को ही सजीव पदार्थ मानते थे।

हाँ, पैथागोर जो यवन देश में ईसवी पूर्व ५८२ में उत्पन्न हुआ था और जिसने भारत भ्रमण करके उपनिषदों के रहस्यों का बोध पाया था वह दूसरे यवन दार्शनिकों की तरह

स्थूल प्रकृति पर नहीं, प्रत्युत सूक्ष्म रहस्यों की खोज करता प्रतीत होता है वह योरोप का पहला विज्ञानवादी है। पैथागोर केवल दार्शनिक नहीं था प्रत्युत गौतम और वर्द्धमान की तरह धार्मिक विचारों का प्रचार भी करता था।

ईसवी पूर्व ४८० में एलिया के दार्शनिकों ने तो यहाँ तक कहा था कि देवता भी उसी प्रकार अस्तित्व में आये हैं जैसे हम, और हमारे समान ही उनके नाक-कान और इन्द्रियाँ भी हैं और देवताओं को भी अपने ही जैसे सुन्दर या कुरूप चित्रित करते थे। तभी तो इथोपिया वाले अपने देवताओं को काले और चपटी नाक वाले बनाते हैं। इसी प्रकार एलिया के दार्शनिक कैथो नोफेन यह मानते थे कि ईश्वर मनुष्य जैसा साकार नहीं है तथा देवता अनेक नहीं हैं। वह केवल एकेश्वरवाद का पक्षधर था। उसके विचारों पर उपनिषदों की बड़ी गहरी छाप थी कि सब एक में है और एक ही ईश्वर है। उसके विचार शंकराचार्य और रामानुज के विचारों का अद्भुत मिश्रण थे। एलिया का ही अति विख्यात दार्शनिक परमेनिद यह मानता है कि न सत् से असत् हो सकता है और न असत् से सत् की उत्पत्ति हो सकती है इसका समय ५४० ईसवी पूर्व है और वह उपनिषदों की ही भाषा में बोलता है। इसी देश का विख्यात दार्शनिक जेनों ईसवी पूर्व ४६० में अपने देश का दार्शनिक राजनेता था जो स्थिर अद्वैतवादी था। वह द्वन्द्ववादी सिद्धान्त का प्रवर्तक माना जाता है।

गौतम बुद्ध कालीन हैराक्यूलस भी महान् दार्शनिक था और गौतम बुद्ध की भाँति ही क्षणिकवाद एवं परिवर्तनवाद में विश्वास करता था। सृष्टि और प्रलय के सम्बन्ध में जल और अग्नि की निर्णायक भूमिका मानने वाले इसके विचार भारतीय दृष्टिकोण से मिलते थे। इन सभी दार्शनिकों का मत था कि संसार दीपशिखा की भाँति प्रतिक्षण नष्ट होता और निर्मित होता है। वह सृष्टि और प्रलय को अनवरत साथ चलने वाला तत्व मानते थे। सृष्टि ही प्रलय है और प्रलय में ही सृष्टि निहित है। द्वन्द्वात्मकतावादी हेगेल ने इसी दर्शन को अपना आधार बनाया था।

ईसवी पूर्व ४६६ में सुकरात रूढ़िवादी परम्पराओं पर कड़ा प्रहार करता था और ज्ञानकाण्ड का प्रबल समर्थक था। उसका कथन था कि अनुभवों तथा विवेचना पर आधारित ज्ञान ही सच्चा ज्ञान है। ज्ञान से पवित्र किसी वस्तु को वह नहीं मानता था। ठीक करने के लिए ठीक सोचना आवश्यक है, वह कहा करता था। उसे तरुणों को बिगाड़ने, देवनिन्दा करने और अनीश्वरवाद का प्रचार करने के अपराध में जहर का प्याला पीने के लिए विवश किया गया था।

अफलातून ईसा पूर्व ४२७ में २० साल का अति समृद्ध दार्शनिक था जो सुकरात का शिष्य था और उनकी मृत्यु के समय अपने गुरु के साथ था। उसने प्रतिज्ञा की थी कि अपने गुरु का अधूरा कार्य वह पूरा करेगा। यूनान की जनतंत्र विरोधी सरकार के विरोध में उसने कहा था कि जब तक वास्तविक दार्शनिकों के हाथों में सत्ता नहीं आती तब तक समाज में न्याय तथा शान्ति की स्थापना नहीं हो सकती।

यूनानी अफलातून की भाँति भारतीय ऋषियों ने भी जातिभेद एवं दास तथा दास स्वामियों के बीच की कटुता दूर करने के लिए वर्ण व्यवस्था के रूप में उसे लाभदायक एवं न्यायसंगत ठहराने का प्रयास किया था। पुरुष सूक्त इसका प्रमाण है।

अरस्तू ५६३ ईसवी पूर्व स्तगिरा (यूनान) में उत्पन्न हुआ था। उसका पिता निकोमादु सिकन्दर के पिता मकदुनिया के राजा फिलिप का राजवैद्य था। मृत्युपर्यन्त वह अपने गुरु अफलातून के साथ रहा। अरस्तू सिकन्दर का गुरु था। गुरु परम्परा में सुकरात, अफलातून और अरस्तू हुए हैं। सिकन्दर के निर्माण में उसका विशेष हाथ था।

अफलातून के समतावादी आदर्श अरस्तू द्वारा सिकन्दर तक पहुँचे थे और वह आशा करते थे कि विश्वविजेता सिकन्दर सामाजिक न्याय की स्थापना के लिए विश्व साम्राज्य की स्थापना का प्रयोग करेगा। परन्तु ये कपोल-कल्पित आदर्श वास्तविकताओं से टकराकर धराशायी हो गये। इसी प्रकार, गौतमबुद्ध श्रद्धालु भक्तों की ओर से प्राप्त उपभोग्य वस्तुओं का भिक्षु-संघों में समता के साथ वितरण करते थे। परन्तु जब तक उत्पादन में समानता के नियम लागू नहीं होते तब तक वितरण में भी वे अव्यावहारिक ही रहते हैं। अतः अरस्तू के मानवतावादी एवं समतावादी आदर्श सिकन्दर के लिए अव्यावहारिक थे।

इसी प्रकार एपीक्यूरियों का दर्शन देमीक्तु के यांत्रिक परमाणुवाद पर आधारित था कि विश्व असंख्य भौतिक परमाणुओं की पारस्परिक क्रिया-प्रति-क्रिया का परिणाम है जिसके पीछे कोई प्रयोजन या ज्ञान शक्ति काम नहीं कर रही है। इन्हीं परमाणुओं के योग से मनुष्य भी बना है। जीवन के अन्त में ये बिखर जाते हैं। अतः आनन्द प्राप्ति का प्रयास इसी जीवन में करना चाहिए। तदुपरान्त केवल अन्धकार है। परन्तु यह संकीर्ण वैयक्तिक भोगवाद नहीं है बल्कि प्रत्युत पूरे समाज के लिए है।

एपीकुरुमोस द्वीप में एथेन्स प्रवासी माता-पिता के घर उत्पन्न हुआ था। डेमीक्रीटस के दर्शन परमाणुवाद के साथ सम्पर्क होते ही उसने अपने दर्शन के अध्ययन-अध्यापन के लिए विद्यालय की स्थापना की जिसे जीवन भर वह चलाता रहा। ३०२ ईसा पूर्व में उसने प्रामाणिक ज्ञान पर जोर दिया और दह यवन देश का दूसरा चार्वाक माना जाने लगा।

स्तोइक दर्शन के आचार्य जैनों द्वितीय (साईप्रस ३३६ ईसवी पूर्व) का मत था कि दर्शन एक खेत है, तर्क उसकी रक्षा के लिए काँटों की बाड़ है, भौतिक शास्त्र खेत की मिट्टी और आचार शास्त्र फल है। वह केवल प्रत्यक्ष को प्रमाण मानता था, अथवा इन्द्रियों के अलावा अन्य किसी प्रमाण पर भरोसा नहीं करता था। यह भी चार्वाक का भाई वन्द था।

३. अन्य महामानवों का योगदान

जिस समय भारत में उपनिषदकार, गौतम बुद्ध, चार्वाक और दूसरे महामानव

नवजागरण का महान अभियान चला रहे थे, उसका पूरे विश्व पर गहरा प्रभाव पड़ रहा था। गौतम बुद्ध ने न केवल भारत को बल्कि पूरे एशिया और योरोप को प्रभावित किया था। महान् धर्मप्रवर्त्तक और नवसभ्यता के जन्मदाता ईसा मसीह पर भी उनके विचारों का बड़ा गहरा प्रभाव था।

इस प्रसंग में जिन विदेशी दार्शनिकों ने नवीन विश्व और उसकी नवीन सभ्यता के विकास में योगदान किया है, उनमें यवन देश के तीन महान दार्शनिकों का यहाँ उल्लेख किया जा चुका है। विश्व इन तीनों को अपना महान पूर्वज मानता है और नमन करता है।

परन्तु यहाँ तीन अन्य महानुभावों का उल्लेख न करके हम आगे नहीं बढ़ सकते हैं।

ईसा से करीब १००० वर्ष पहले पारसीक देश (ईरान) में एक महात्मा हुए हैं। उनका नाम जरदस्तु है। महान् वैदिक ऋषियों की भाँति ही वह सर्वमान्य थे। उन्हें वेद व्यास की जगह माना जाता है। महात्मा जरदस्तु ने ही जिन्दावेस्त नामक महाग्रन्थ लिखकर ईरान के माध्यम से विश्व सभ्यता के निर्माण में महान् योगदान किया है। उनकी इस पुस्तक के कारण ही पारसीक देश विश्व सभ्यता और नवजागरण का एक महत्त्वपूर्ण केन्द्र बन सका था।

महात्मा जरदस्तु ने हजारों कुलों (कबीलों) में विभक्त समाज को, हजारों देवी-देवताओं में विभक्त एवं रक्तपात में डूबे मानवों को वैदिक ऋषियों की भाँति अग्नि के चारों ओर एकत्रित करके एकेश्वरवाद की शपथ दिलायी तथा मानवों को आपस में मिलकर रहना सिखाया। मानव सहयोग बहुत बड़ी वस्तु है जिस किसी देश में भी इसकी स्थापना हुई, वहीं समाज ने उन्नति की ऊँची छलाँगे लगायी हैं।

ऐसा ही एक महात्मा ईसा से पहले चीन देश में हुआ है। संसार के महापुरुषों में उनकी गणना होती है। वह कन्फ्यूशियस थे। अपने समय के उतने ही महान दार्शनिक जितना महान उनका चीन देश था। इस महात्मा ने नवजागरण की लहर उत्पन्न करते हुए रूढ़िवाद, अनुदारवाद और अन्धविश्वासों पर ऐसे प्रबल प्रहार किये कि चीन देश नवीन विचारों तथा सभ्यताओं को आत्मसात करने के लिए सदा तत्पर रहने लगा। महात्मा कन्फ्यूशियस और गौतमबुद्ध की शिक्षाओं में कोई मौलिक अन्तर नहीं था। इन दोनों महात्माओं ने हमारे दोनों महान देशों को सदा सर्वदा के लिए एक दूसरे को समान संस्कृति के मजबूत धागों में बाँध दिया।

इस महान् नवजागरण युग में जो दो हजार वर्ष पहले प्रारम्भ हुआ था और ३५०० वर्ष पहले तक गया था, हम ईसा मसीह को सर्वोच्च सिंहासन पर प्रतिष्ठित पाते हैं। यह महामानव उस युग में पधारे थे जब पूरा रोमन साम्राज्य दासों के करुण क्रन्दन में डूबा हुआ था और पीड़ित मानवता थोड़े से विशेषाधिकार सम्पन्न वर्गों के दमन और उत्पीड़न में कराह रही थी। रोमन साम्राज्य दूर-दूर तक फैला था, वह दासों की लाशों पर टिका हुआ

था जिनके कोई अधिकार नहीं थे। वे बेचे, खरीदे और कत्ल किये जाते थे। उन्हें मानव माना ही नहीं जाता था। नारी की दशा तो और भी अधिक शोचनीय थी। ऐसे ही अवसर पर वह धरती पर आया और मानवमात्र की समानता, सामाजिक न्याय और शान्ति का सन्देशवाहक बनकर आया। क्रूर रोमन साम्राज्य ने ३२ वर्ष की आयु में ही उसे शूली पर चढ़ा दिया। शूली पर चढ़कर माता मरियम का बेटा तो अमर हो गया। परन्तु उसे शूली पर चढ़ाने वाला रोमन साम्राज्य और दास प्रथा सदा सर्वदा के लिए मर गये।

विश्व सभ्यता का विकास पूरे विश्व के महामानवों के योगदान का फल है। इसीलिए इसे विश्व सभ्यता कहते हैं। महामानव किसी भी एक देश की सीमाओं में बन्दी नहीं होते। वे तो पूरी की पूरी मानव जाति के होते हैं। इसीलिए, देश-देशान्तरों की सीमायें लाँघकर उनके नाम और काम पूरे विश्व के लिए प्रेरणाओं के स्रोत होते हैं।

यह सब उल्लेख यह ध्यान में रखकर किया गया है कि रूढ़िवादी परम्पराओं के विरुद्ध जो संघर्ष आज से ढाई हजार वर्ष से लेकर साढ़े तीन हजार वर्ष तक चलाया गया है तथा उपनिषदों ने जिसका प्रारम्भ किया था उसी प्रकार के प्रगतिशील बौद्धिक, आर्थिक और सामाजिक संघर्षों के लिए पूरा संसार नहीं तो कम से कम पुरानी विश्व सभ्यता के केन्द्र जड़ सिद्धान्तों के विरुद्ध उठकर खड़े हो रहे थे। यदि ऐसा न होता तो विश्व विख्यात दार्शनिक, सन्त, महात्मा, ऋषि और मुनि तथा सत्य के अन्वेषणों में जहर का प्याला पीने वाले अमर हुतात्मा इन एक हजार वर्षों में उत्पन्न न होते।

४. गौतमबुद्ध का जनान्दोलन

उपनिषदों का ज्ञान मानसिक संकीर्णता तो दूर कर रहा था, परन्तु अति सीमित क्षेत्र में अर्थात् केवल शिक्षित वर्गों तक। परन्तु उसी ज्ञान को जन-जन तक और पूरे भारत तथा सम्पूर्ण विश्व तक पहुँचाने का काम एक महान् ऐतिहासिक पुरुष की प्रतीक्षा कर रहा था। वह महापुरुष गौतमबुद्ध था। आज से ढाई हजार वर्ष पहले देश दो भिन्न संस्कृतियों तथा व्यवस्थाओं के मध्य से संक्रमण कर रहा था। एक ओर तो महाज्ञानी उपनिषदकार थे जिनका प्रभाव क्षीण हो रहा था और दूसरी ओर अज्ञानान्धकार में डूबी विशाल भारतीय जनता थी। इसके अज्ञान, सामाजिक उत्पीड़न और दासता की कोई सीमा नहीं थी। गौतमबुद्ध ने इनके विरोध में अति संयत और अति स्पष्ट विचार प्रकट किये। उपनिषदकारों के सैद्धान्तिक संघर्षों ने भारतीय समाज को जहाँ एक सहस्र वर्ष तक प्रभावित किया, गौतमबुद्ध के विचारों ने उसे ५०० वर्षों तक कभी तीव्रता के साथ और कभी हल्के रूप में प्रभावित किया।

ईसा पूर्व ५०० वर्ष पहले गौतमबुद्ध शाक्य गणतन्त्र में राजा शुद्धोदन के यहाँ उत्पन्न हुए थे। यह गणतंत्र नेपाल और पूर्वी उत्तर प्रदेश की सीमा पर स्थित था। युवराज गौतमबुद्ध, जिनका बचपन का नाम सिद्धार्थ था, अति कारुणिक स्वभाव के थे। संसार में

किसी भी प्राणी को दुखों तथा पीड़ाओं में ग्रस्त देखकर वह विह्वल हो जाते थे। अपने आपसे प्रश्न पूछते यदि यह दुख मुझे हो जाता तो मैं कैसा अनुभव करता। किसी रोगी या दरिद्र व्यक्ति को देखकर वह रोगों तथा दरिद्र व्यक्ति की पीड़ा अनुभव करते। किसी दास की यातनायें तथा नारी की अन्तर्व्यथायें अनुभव करते तो स्वयं व्याकुल हो उठते। एक दिन जब वह राजमहल से रथ में बैठे भ्रमण करने जा रहे थे, मार्ग में एक अतिवृद्ध व्यक्ति को देखा जो न चल सकता था और न बोल सकता था। युवराज ने तुरन्त सारथी से पूछा क्या सभी को वृद्ध होना होगा और मैं भी वृद्ध होऊँगा? सारथी के हाँ में उत्तर देने पर सिद्धार्थ ने कहा कि महल में वापस लौट चलो।

कुछ दिन पश्चात् पिता का अनुरोध मानकर जब वह फिर रथ में बैठकर घूमने निकले तो लोगों को स्वजन की शवयात्रा के साथ रोते-बिलखते जाते देखा। उन्होंने पुनः सारथी से पूछा :

क्या सभी को मरना होगा और क्या मैं भी मरूँगा? सारथी ने कहा - हाँ युवराज ! सभी को मरना होगा। जो जन्म लेता है, उसकी मृत्यु ध्रुव है। आपकी मृत्यु भी ध्रुव है। कारुणिक सिद्धार्थ के मन में महाकरुणा उपजी। उसके मुख से निकला - जरा दुख है ! रोग दुख है !! मृत्यु महादुख है !!! इस चराचर जगत् में चारों ओर दुख ही दुख है !

पिता शुद्धोदन पुत्र की करुणा वृत्ति और वैराग्य भावना पर अति चिन्तित थे। शुभचिन्तकों की सलाह पर एक सुन्दर युवती यशोधरा के साथ उसका विवाह कर दिया गया। चारों ओर सुख ही सुख था। परन्तु सुख में भी उन्हें अन्तहीन दुख ही दुख अनुभव होता था। ऐसे ही मानसिक संघर्ष की घड़ी में एक रात यशोधरा ने पुत्र राहुल को जन्म दिया। राहुल अर्थात् अन्धकार, कष्ट और पीड़ाओं का हरण करने वाला पुत्र। परन्तु वही रात उसके जीवन की निर्णायक घड़ी लेकर आयी और साथ ही मानव जाति के भाग्योदय की घड़ी भी।

युवराज सिद्धार्थ योगी वन गये, हठयोगी। वह सूख कर काँटा हो गये। परन्तु मानसिक शान्ति नहीं मिली। अनेक गुरुओं और मुनियों का अन्तेवासित्व ग्रहण किया। परन्तु कहीं ज्ञान नहीं मिला। महीने वीते, वर्ष बीते और एक दिन बिहार के गया जिले में एक वटवृक्ष के नीचे युवराज दीर्घ अवधि तक लम्बी समाधि में बैठे रहे। वहीं उन्हें बोध हुआ। वही स्थान बोध गया बना और वटवृक्ष बोधी वट तथा सिद्धार्थ बोधीसत्व और गौतमबुद्ध बन गये। गौतमबुद्ध संसार के सबसे बड़े महात्मा, सबसे बड़े सन्त और महानतम मानवतावादी थे। उन्होंने सन्तप्त मानवजाति को अपने कारुणिक विचारों से शान्ति प्रदान की, भटकते विश्व को सुनिश्चित मार्ग-दर्शन दिया।

गौतमबुद्ध किसी तपोवन में सन्यासी बनकर नहीं बैठे। उन्होंने जीवन भर घूम-घूमकर प्रचार किया और लाखों भिक्षुओं को जो उनके विचारों से सन्नद्ध थे न केवल भारत में

प्रत्युत, पूरे विश्व में घूमते रहने की प्रेरणा दी। उनका नारा था - चरैवेति चरैवेति। घूमते रहो, विचरते रहो, और ज्ञान का प्रचार करते रहो।

हे भिक्षुओं, घूमते रहना जीवन है ! और ठहरना मृत्यु है !

उनके विचारों ने टूटे हृदयों को थामा और निराशजनों को आशायें प्रदान कीं।

गौतमबुद्ध यही मानते और कहते रहे कि वे जो कुछ कहते हैं, वही वेद कहता है। शान्ति और अहिंसा मानवजीवन की सबसे बड़ी सान्त्वना है। उन्होंने यह भी बार-बार कहा कि उपनिषदकारों और उनके विचारों में कोई भेद नहीं है। परन्तु जानने वाले भली-भाँति जानते थे कि भेद और स्पष्ट अन्तर है। उपनिषदकार तपोवनों में प्रवचन करके जो कुछ भी ज्ञानदान करते थे उससे पुरोहित वर्ग एवं निहित-स्वार्थ को सीधी चोट नहीं पड़ती थी। परन्तु गौतमबुद्ध और उनके अनुयायी जो प्रवचन करते थे, वह प्रतिदिन लाखों लोगों के मनों में प्रवेश करता था और उनका चिन्तन प्रभावित करता था। नये विचार सुनकर दबे-कुचले लोग नयी आशाओं के साथ नये जीवन के सपने देखने लगते थे। देखने और सुनने में तो ये विचार केवल विचार-संघर्ष 'ही प्रतीत होते थे। परन्तु परिवर्तित आर्थिक परिस्थितियों में इन विचारों ने नयी और पुरानी वर्ग-शक्तियों के समर्थन और विरोध का रूप ले लिया।

गौतमबुद्ध ने गणतांत्रिक राज्यों के साथ अपना सम्पर्क बढ़ाया। वे बिहार और उत्तर प्रदेश के जिन भागों में अधिकाधिक भ्रमण करते रहे वहाँ नये विचारों की मान्यता के लिए अनुकूल संभावनायें थीं और यही हुआ भी। उनके जीवन का अधिकांश भाग शाक्यों, लिच्छवियों, मल्लों और उन गणसंघी राज्यों में व्यतीत हुआ जो आगे चलकर उनके विचारों के लिए सबसे दृढ़ जनाधार बने। स्त्रियों के पुरुषों के समान अधिकार, दासों की मुक्ति, हिंसा का उन्मूलन और मावन मात्र में समानता के आदर्श यद्यपि उन्हें बहुत प्रिय थे, इनके समर्थन में उन्होंने आवाज भी उठायी, परन्तु हिंसा के विरोध में उनका जनान्दोलन विशेष महत्त्व का था। उसने विशेष सफलता प्राप्त की।

कहने को तो हिंसा और अहिंसा का सवाल साधारण बहस अनुभव होती है। परन्तु जैसा कि पीछे बताया जा चुका है पशु हिंसा उदीयमान कृषि-अर्थ-व्यवस्था के विकास में मुख्य बाधा थी और यथास्थितिवादी पुरोहित वर्ग का सम्पूर्ण अस्तित्व कर्मकाण्डी अनुष्ठानों पर आधारित था, जो पूरी तरह पशु-हिंसा पर टिके हुए थे। आर्थिक प्रश्नों पर छेड़ा गया संघर्ष अन्त में यथास्थितिवाद पर प्रहार करता था, यह गौतमबुद्ध के अहिंसक आन्दोलन से भली-भाँति सिद्ध हो गया।

जिन क्षेत्रों में उपनिषदों और वैदिक कालीन संस्कारों का अधिक प्रभाव था, वहाँ गौतमबुद्ध के विचारों को दृढ़ जनाधार मिला और वे अधिक मात्रा में फले-फूले। परन्तु जहाँ असुर संस्कृति का व्यापक प्रभाव था या ये विचार पहुँचे ही नहीं वहाँ बुद्धिवाद का प्रभाव

कम पड़ा।

गौतमबुद्ध ने भिक्षुओं की एक सभा में कहा था 'महत्त्व इस बात का नहीं है कि कोई बात किसने कही है। महत्त्व इस बात में है कि वह बात कितनी सही है।'

उनके इस प्रकार के प्रश्नों ने रूढ़िवादी परम्पराओं पर अनवरत प्रहार किये। वे क्षीण होती चली गयीं। अव वेद या किसी शास्त्र के नाम पर कोई अनर्थकारी कार्य करना संभव नहीं था। पशुहिंसा बन्द होते ही नयी अर्थ-व्यवस्था अर्थात् खेती के विकास की ऐसी संभावनायें उत्पन्न हो गयीं कि आदिम कवीला और दास-प्रथाओं का अस्तित्व अगले चार-पाँच सौ वर्षों में ही पूर्णतया धराशायी हो गया।

पूरे भारतीय इतिहास में गौतमबुद्ध सबसे प्रभावशाली व्यक्ति थे जिन्होंने सबसे पहले और सदियों तक भारतीय समाज को इतने सघन रूप से प्रभावित किया। यहाँ उन असंगतियों का उल्लेख करना अनावश्यक है जो भिक्षुसंघों में पनपीं, जिन्होंने राष्ट्र को अहिंसा के नाम पर शस्त्रहीन एवं अपंग बना दिया तथा ऐसे बहुसंख्यक वर्ग को जन्म दिया जो पूर्णतया परजीवी था, सुविधा भोगी था और गौतमबुद्ध के क्रान्तिकारी मार्ग से हटकर पूर्णतया यथास्थितिवादी एवं निहित स्वार्थों का पोषक वन गया था। इन असंगतियों की तुलना में बौद्धों के आन्दोलन की क्रान्तिकारिता अधिक महत्त्वपूर्ण है जिसने नये आन्दोलन से जन-जन को इतना प्रभावित कर दिया कि पुरोहितवाद की जड़ता और दास-प्रथा की सैद्धान्तिक मान्यतायें हवा में उड़ गयीं। इस आन्दोलन ने केवल भारतीयों को ही प्रभावित नहीं किया बल्कि यूनानियों, मंगोलों, सिंघल द्वीप और वियतनाम, जापान तथा चीन आदि को भी प्रभावित किया। स्वयं महान संत क्राइस्ट के जीवन और विचारों पर भी गौतमबुद्ध के जीवन और विचारों की गहरी छाप थी।

जैसा कि सर्वविदित है, यवनदेश के विजयी राजा म्लान्देर ने, जिसका भारतीय नाम मिलिन्द था, बौद्ध धर्म की ऐसी विशेष सेवा की थी कि इतिहास में मिलिन्द नाम ही अमर हो गया है। गौतम बुद्ध के निधन के उपरान्त उनके विचारों का संकलन करने के लिए भारत में अनेक संगीतियाँ हुई हैं। इनमें हजारों विद्वान एक साथ बैठकर विचार विनिमय करते थे और गौतमबुद्ध के विस्मृत प्रवचनों का स्मृति के आधार पर संकलन करते थे। इन संगीतियों ने भारतीय चिन्तन को नया मोड़ देकर उसमें नयी गतिविधि एवं हलचल उत्पन्न की थी।

ऐसा ही एक उदाहरण एक मंगोल सम्राट का है। वह चंगेज़ खाँ की छठी पीढ़ी में उत्पन्न हुआ था और उसका न केवल वंशज था प्रत्युत उसी के समान विश्व विजेता भी था। भारत भूमि में आगमन के पश्चात् कुछ बौद्ध भिक्षुओं से उसका सम्पर्क हुआ। वह उनसे अत्यधिक प्रभावित हुआ और उन्हीं भिक्षुओं से उसने बौद्धधर्म की दीक्षा ग्रहण की। तभी से पूरा मंगोलिया बौद्धधर्म का अनुयायी बन गया और आज भी समाजवादी देश होते

हुए भी संसार के बौद्ध धर्मानुयायी देशों में उसकी गिनती है। उसका नाम कुबलय खान था। मंगोल भाषा के इस शब्द का अर्थ है- राजा। उसने भी एक बौद्ध संगीति का आयोजन करके बौद्ध धर्म की प्रतिष्ठा बढ़ाने में योगदान किया था।

भारत के नवजागरण में उपनिषदों के उपरान्त सबसे महत्त्वपूर्ण स्थान बौद्धों के व्यापक जनान्दोलन का है। उन्होंने हजारों वर्षों से चली आ रही रूढ़ियों तथा अन्धविश्वासों में डूबे हुए भारत का आत्मबोध कराकर नयी परिस्थितियों का सामना करने के योग्य बनाया।

५. जैन धर्म का योगदान

आज से करीब ढाई हजार वर्ष पहले ही महावीर स्वामी ने, जो स्वयं राज-परिवार में जन्मे थे और गौतमबुद्ध की भाँति कष्टों से मुक्ति दिलाने के लिए लालायित थे, बड़ी प्रबलता और सिद्धान्त-निष्ठा के साथ यज्ञों में हिंसा का, जिसने धार्मिक रूप ले लिया था, विरोध किया। माना कि जैन धर्म कभी भी जनान्दोलन नहीं बना और अपनी स्थापना के दिवस से लेकर आज तक वह सम्पन्न वर्गों की परिधि में सीमित रहा, फिर भी दार्शनिकता के क्षेत्र में उसकी प्रगतिशील भूमिका का अवमूल्यन नहीं किया जा सकता। उसका स्यादवाद दर्शन पुरानी निष्ठाओं और अन्धविश्वासों पर यह कहकर प्रहार करता है कि जैसा तुम सोचते हो, उसके विपरीत आचरण भी धर्म हो सकता है। कोई वस्तु एक ही समय है भी, और नहीं भी। उसका एक स्वरूप प्रकट है और दूसरा अप्रकट रूप इससे भिन्न भी हो सकता है। शताब्दियों तक जिन यज्ञानुष्ठानों को धर्म का एक भाव रूप मान लिया गया था, उस पर सन्देह प्रकट करके जैन धर्म ने उसके विरुद्ध संघर्षरत सामाजिक शक्तियों को शक्ति प्रदान की थी।

फिर भी, बौद्धों और जैनों को विचारसंघर्ष के क्षेत्र में परस्पर सहयोगी माना जाता है।

६. विभिन्न दार्शनिक मान्यताएँ

भारतवर्ष में यह महती सामाजिक क्रान्ति यद्यपि मूलरूप से आर्थिक ही थी और वही हो भी सकती थी, इसलिए कि जब तक किसी दमनकारी व्यवस्था से बाहर निकलने का सपना पददलित वर्गों को दिखाई नहीं देता तब तक वे कोई बड़ा, संशय (खतरा) मोल नहीं ले सकते। और बाहर निकलने की कल्पना मूलतः सुरक्षा और जीवननिर्वाह मूलक ही होती है। नीचे के प्रसंग से यह प्रकट होता है कि पुरोहितवाद एवं यज्ञानुष्ठान-जनित हिंसा तथा प्रारम्भिक दास प्रथा के विरोध में जनमानस में कितनी असहनीय उत्तेजनायें थी। जहाँ तक उपनिषदों, बौद्ध एवं जैन सिद्धान्तों का प्रश्न है, ये पुराने यथा स्थितिवाद के विरुद्ध बड़ा सुसंगत असन्तोष एवं विकल्प प्रस्तुत करते थे। परन्तु भारतीय समाज की चेतना का स्तर एक समान नहीं था। अतः अपने-अपने स्तरों पर जो व्यापक सैद्धान्तिक संघर्ष चल रहा

था उसका दिग्दर्शन करना अतिरुचिकर रहेगा।

ऐसा प्रतीत होता था कि २ हजार से ३ हजार वर्ष पहले के भारत में चप्पे-चप्पे पर दार्शनिक उत्पन्न हो गये थे और वे अपने-अपने दृष्टिकोणों तथा अपने अनुयायियों के प्रभावों के अनुसार अनुदारवाद एवं यथास्थितिवाद के विरुद्ध संघर्ष कर रहे थे।

जो दार्शनिक पुरानी परम्पराओं के विरुद्ध संघर्ष कर रहे थे उनमें प्रमुख थे :-

पूर्णकाश्यप, मक्खली पुत्र गोसाल, निगष्ठनाथ पुत्र अजितकेश, कम्पलिन यकुद्ध कात्यायन, संचयवेलट पुत्र निगष्ठनाथ आदि और अन्त में चार्वाक।

सहस्त्राब्दियों तक जिस समाज ने अपने मस्तिष्क से काम लेना ही बन्द कर दिया था और वेदों तथा पुरोहित-वर्ग के आदर्शों के रूप में मानसिक दासता का अन्धेरा अपने चारों ओर पाल लिया था, उसी समाज को विभिन्न बौद्धिक स्तरों के अनुसार छेड़ा गया स्वतंत्र चिन्तन का आन्दोलन दिमागी दासता का अन्त करने की ओर अग्रसर कर रहा था। इसके बिना भारत के एकीकरण एवं उसके विश्व में अग्रणी राष्ट्र के रूप में उभरने की संभावनाओं के द्वारा मुक्त हो ही नहीं सकते थे। उदाहरण के लिए बुद्ध के समकालीन उच्छेदवादी यह मानते थे कि संसार की प्रत्येक वस्तु विनाशशील है, नष्ट होती है और संसार में कुछ भी स्थायी नहीं है। आत्मा और मन भी नहीं। अतः आत्मा को अमर और अविनाशी अथवा पुनरागमनशील मान कर जो धार्मिक अनुष्ठान किये जाते हैं, वे अर्थहीन हैं।

इस चिन्तन से स्वर्गप्राप्ति और मोक्ष के लिए यज्ञानुष्ठानों में जो हिंसा चल रही थी, उस पर लोगों का विश्वास कम हो जाता था।

स्वामिच्छावादी यह मानते थे कि उचित और अनुचित का अथवा पाप और धर्म का निर्णय किसी धर्मग्रन्थ के आधार पर नहीं हो सकता और न होना चाहिए। इसमें अनर्थ की संभावना रहती है। अतः जो बात स्वयं को अच्छी लगती हो और हितकर प्रतीत होती हो, वही दूसरों और अपने लिए करनी चाहिए। किसी धर्मग्रन्थ और पुरोहित की इच्छा को अन्तिम आधार मानकर धर्म-अधर्म की कल्पना नहीं करनी चाहिए।

इनमें पूर्णकाश्यप आत्मा की परम स्वतंत्रता और चिन्तन पर अत्यधिक बल देते थे। उन्होंने धार्मिक जड़ताओं, अन्धविश्वासों तथा रूढ़िवाद पर सबसे अधिक प्रहार किये। उनके अनुयायियों की संख्या में अनवरत विस्तार होता गया और प्रभाव में भी। पूर्णकाश्यप ने सामाजिक कुप्रथाओं पर भी प्रहार किये। प्रत्येक व्यक्ति को यह प्रेरणा दी कि उसकी चिन्तन-क्षमता किसी से भी कम नहीं है तथा सभी को अपनी चिन्तन-क्षमताओं पर विश्वास करना चाहिए।

इस दार्शनिक मान्यता से लोगों का खोया हुआ आत्मविश्वास वापस लौटता था। वे आपस में मिल बैठकर गूढ़ से गूढ़ दार्शनिक समस्या पर विचार करते और किसी सर्वोच्च

सत्ता पर उनका चिरकाल से आया भरोसा कमजोर पड़ने लगा।

अहेतुवादी यह मानते थे कि सृष्टि की रचना न तो किसी कर्त्ता ने की है और न इसकी रचना का कोई उद्‌देश्य है। संसार स्वभावतः सृजनशील है, आगे की ओर सरकता रहता है और उसके आगे की ओर सरकने की प्रक्रिया सर्वथापूर्ण एवं निर्दोष है। यही सोचकर शास्त्रकारों ने इसका नाम संसार रखा है। संसार वही है जो स्वयं ही और बहुत सुसंगत ढंग से आगे की ओर सरकता है और किसी वस्तु का गतिशील रहना ही यह सिद्ध कर देता है कि उसमें सृजन और विनाश के स्वाभाविक गुण अन्तर्निहित हैं।

इस दार्शनिक मान्यता का गौतमबुद्ध के पहले और बाद में भी वहुत प्रभाव रहा है। भारत के सर्वाधिक तेजस्वी और विवादास्पद दार्शनिक चार्वाक इस दार्शनिक परम्परा में सर्वाधिक विख्यात हुए हैं।

मक्खली या मस्करी पुत्र गोसाल इस युग के सर्वाधिक चर्चित दार्शनिक थे। वह साधारण परिवार में जन्मे ब्रह्मणेतर दार्शनिक थे। वैसे भी इस युग में नयी विचार शैली का सूत्रपात करने वालों में वहुसंख्यक दार्शनिक ब्रह्मणेतर ही थे। मक्खलीपुत्र गोसाल का मत था कि स्वर्ग और मोक्ष की चिन्ता में इस जीवन को दुखों में डुवोकर रखना व्यर्थ है। मनुष्यों को कष्ट का जीवन व्यतीत नहीं करना चाहिए। ऐसे उपाय करने आवश्यक हैं जिनसे समाज का जीवन भी सुखी हो और अपना भी। मक्खली पुत्र परलोक सुधारने की मिथ्या आकांक्षा में इस लोक को यातनाओं में डालना मूर्खता मानते थे।

अजितकेश कम्बली मानव जीवन को प्राणी की सर्वश्रेष्ठ उपलब्धि मानते थे। उन्हें मानवजीवन की निकृष्टतम वस्तु भी अत्यधिक रुचिकर थी। यही सिद्ध करने के लिए वह मानव के सिरों से उतारे गये केशों का कम्बल वनाकर पहना और ओढ़ा करते थे। उन्हें मानवजीवन की तुलना में स्वर्ग और मोक्ष की कल्पनायें भी तुच्छ लगती थी। जो लोग मानवजीवन को अर्थहीन बताते हैं और स्वर्ग तथा मोक्ष के झूठे सपने साकार करने के लिए उसका दुरुपयोग करते हैं, उनसे मानवों को सावधान करने के लिए अजितकेश कम्बली अनवरत जनसमुदाय में भ्रमण करते व प्रचार करते थे।

पकुदकचायन भी सर्वसाधारण में उत्पन्न एक दार्शनिक थे और निचली जातियों में उनके विचारों का बहुत प्रभाव था। उनकी मान्यता थी कि जो वस्तु अस्तित्व में है, उसका रूप परिवर्तन तो हो सकता है परन्तु वह पूर्णतया नष्ट कभी नहीं होती। इसी प्रकार, जिस वस्तु का पूर्ण अभाव है, उसका अस्तित्व में आना संभव नहीं है। उनका मत था कि पूर्वजन्म, अग्रिम जन्म, स्वर्ग और मोक्ष का कहीं अस्तित्व नहीं है। उनकी प्राप्ति के लिए बहुमूल्य साधनों तथा मानवीय सुखों का संहार करना निरर्थक है। उनका अभाव है तो अभाव ही बना रहेगा।

निगण्ठनाथ अनिश्चयवादी वास्तव में यह नहीं मानते थे कि किसी सिद्धान्त का

निश्चित रूप होता ही नहीं है। परन्तु वे यह दावा करते थे कि जो कुछ वेदों में लिखा है या परमप्रतिष्ठित व्यक्ति घोषणायें करते हैं उन्हें बिना किसी परीक्षा के ज्यों का त्यों स्वीकार नहीं कर लेना चाहिए। अनिश्चयवादियों के प्रचार कार्य ने यथास्थितिवाद पर कड़े प्रहार किये। प्रत्येक मानव को विवश किया कि वह बँधे-बँधाए सिद्धान्तों पर विश्वास करने की अपेक्षा अपनी विवेक बुद्धि एवं अनुभवों पर अधिक भरोसा करना सीखे।

क्रियावादी दैनिक जीवन में अच्छे व्यवहार और नैतिकता पर अधिक भरोसा करते थे।

इन सभी दार्शनिक चिन्तकों ने पुरोहितवाद के निविड़ अन्धकार के निवारण-अभियान में उपनिषदकारों द्वारा छेड़े गये नवजागरण के ऐतिहासिक आन्दोलन को आगे बढ़ाया और समाज के बौद्धिक, सामाजिक व आर्थिक विकास को नयी दिशा देकर अग्रसारित किया। परन्तु इस युग में जहाँ गौतमबुद्ध जैसे महान् जनान्दोलनकारी उत्पन्न हुए हैं वही चार्वाक जैसे महान् साहसी एवं प्रतिभाशाली दार्शनिक भी हुए हैं जिन्होंने म्याऊँ के गले में घंटी बाँधते हुए बौद्धिक प्रतिक्रियावाद पर प्रत्यक्ष प्रहार करके पाखण्डों को पूर्णतया निर्मूल करने का साहस दिखाया था। इसी कारण वह प्रत्येक प्रकार के निहित-स्वार्थ का प्रबल कोपभाजन बने।

७. चार्वाक का प्रहार

भारत के प्रथम नवजागरण में चार्वाक की भूमिका दूसरे दार्शनिकों से भिन्न प्रकार की है। उपनिषदकारों ने वेदों का समर्थन करते हुए वेदों के नाम पर यज्ञों में होने वाली पशुहिंसा का विरोध किया। उन्होंने आडम्बरपूर्ण यज्ञानुष्ठानों और कर्मकाण्ड के समानान्तर ज्ञान की श्रेष्ठता स्थापित की और प्रकारान्तरेण यज्ञों में पशुहिंसा बन्द करने का सुझाव दिया। इसका व्यापक प्रभाव भी हुआ। बाद में, गौतमबुद्ध ने उपनिषदकारों की शैली में ही वेदों की मान्यता का आदर करते हुए वेदों के नाम पर चलने वाली हिंसा का विरोध किया। उन्होंने अपने आप को वेद-निन्दक के रूप में नहीं रखा तथा वेदों की भिन्न व्याख्या करके कुरीतियों से समाज को बचाने का प्रयास किया। अन्य दार्शनिकों ने भी यही कार्यशैली अपनायी। परन्तु चार्वाक इनमें सर्वथा भिन्न कार्यशैली वाले थे और उनकी दार्शनिक प्रतिक्रिया बौद्धिक संघर्ष चलाने की थी। भारत के दर्शनों और पुराणों में चार्वाक की बहुत चर्चा है।

पुराणों में लिखा है कि महाभारत की समाप्ति के उपरान्त जब कलियुग का प्रारम्भ हुआ तो उसके साथ ही चार्वाक ने भी प्रवेश किया। उसने वेदों की निन्दा करना तथा वैदिक धर्म का खण्डन करना अपना व्रत बनाया था। जैसे इस्लाम और ईसाई धर्म में शैतान का काम लोगों को उल्टे मार्ग पर चलाना था, यहाँ चार्वाक के प्रति वही दृष्टिकोण है। भारतीय शास्त्रों और पुराणों में चार्वाक को खलनायक के रूप में प्रस्तुत किया गया है। नैषधीयचरित

में भी उसे इसी रूप में प्रस्तुत किया गया है। नैषधीयचरित में विशेष अन्याय करते हुए चार्वाक का आगमन कलियुग के आगमन की प्रथम सूचना के रूप में चित्रित किया गया है। इसके अलावा, उसका कोई प्रामाणिक ग्रन्थ भी शेष नहीं छोड़ा गया है। केवल सर्वदर्शन संग्रह में उसका संक्षिप्त विवरण दिया गया है। पूर्वपक्ष के रूप में विद्वान दार्शनिकों ने उसका खण्डन करने के लिए जो कुछ भी कहा वह भी इतना तर्कसंगत है कि उसका न्यायपूर्ण खण्डन नहीं किया जा सका। केवल सामाजिक चिन्तन में व्याप्त पूर्वाग्रहों को उभार कर ही उनका दमन कर दिया जाता था।

उसका असली नाम क्या था, यह कोई नहीं जानता। परन्तु इतना सत्य है कि वह एक राजा था और अपनी पत्नी से अत्यधिक प्यार करता था। परन्तु बाद में विद्रोही बनकर उसने ईश्वरवाद, कर्मकाण्ड, आस्तिकवाद तथा आडम्बरों का घोर शत्रु बनकर उनका खण्डन किया।

कहते हैं कि कुछ पाखण्डी पुरोहितों ने उसे अश्वमेघ यज्ञ करने के लिए उकसाया और यज्ञानुष्ठान में उसकी पत्नी पर घोड़ा चढ़ा दिया। असह्य पीड़ा से उसकी पत्नी मर गयी और वह विवश-सा खड़ा देखता रहा। स्वयं विद्वान और दार्शनिक होने के कारण उसकी प्रतिक्रिया वैराग्य के रूप में प्रकट न होकर क्रान्तिकारी विद्रोही के रूप में प्रकट हुई। उसने धर्म, कर्म, यज्ञानुष्ठान, वेद, ईश्वर और पुनर्जन्म आदि के सम्बन्ध में जो विचार प्रकट किये थे वे मानसिक आक्रोश मात्र नहीं थे। वह विशुद्ध दार्शनिक विचारधारा थी जिसे बाद के दार्शनिकों ने भौतिकवाद कहकर पुकारा था।

चार्वाक कहते हैं कि :-

'अश्वस्यहि शिश्नंतु पत्नीग्राह्यम् प्रकीर्तितम्'

अर्थात् इसका नाम अश्वमेध यज्ञ रखा गया है जहाँ घोड़े का लिंग यज्ञमान की पत्नी को अपनी योनि में रखना पड़ता है। क्या यह कार्य भंडेलों से भिन्न कोई सज्जन व्यक्ति कर सकता है।

चार्वाक ने इस आप बीती कहानी को अपना व्यक्तिगत आक्रोश नहीं माना बल्कि उसे पूरे चिन्तन पर शान्त मन से प्रहार किया जो इस प्रकार के अमानुषिक तथ्यों के लिए अनुकूल वातावरण बनाती थी।

चार्वाक के अनेक अनुयायियों ने उनके विचारों का प्रचार किया। चार्वाक ने सृष्टि से लेकर लौकिक दिनचर्या तक सभी प्रश्नों पर गंभीरता से विचार किया है। वह कहते हैं कि :-

स्वयं विसारवोभावाः स्वयं च सृजनात्मकाः।
संहार सृष्टि कार्येय कः कर्त्ता किं करिष्यति।।

अर्थात् - 'संसार के सभी तत्व सब स्वभावतः विनाशशील हैं और स्वभावतः सृष्टि में रहते हैं। अतः संहार और सृष्टि करने के लिए कौन कर्ता होगा और वह क्या करेगा।'

वेदों के सम्बन्ध में चार्वाक ने कहा है कि :-

'त्रयो वेदस्य कर्त्तारों धूर्त भण्ड निशाचर।
जर्फरी-तुर्फरीत्यादि तेषां भाषा प्रकीर्तिता।।'

अर्थात् वेद की रचना तीन तरह के लोगों ने की है - पाखण्डियों, धूर्त भंडेलों और राक्षसों ने। जर्फरी और तुरफरी जैसे शब्द वे ही प्रयोग कर सकते हैं, पढ़े लिखे और सभ्य लोगों की यह भाषा नहीं हो सकती।

यज्ञानुष्ठानों में की जा रही पशु हिंसा पर चार्वाक विशेष रूप से क्रोध प्रकट करते हुए कहते हैं :-

पशुश्चेद् यज्ञे निहतः ज्योतिष्टेमे गमिष्यति।
स्वपिता यज्ञमानेन तत्र कस्मान्नह्यते।।

अर्थात् - यदि यज्ञों में बलि चढ़ाया गया पशु सीधा स्वर्ग चला जाता है तो यजमान अपने पिता को यज्ञ में बलि चढ़ाकर स्वर्ग क्यों नहीं भेजता। इसके उपरान्त चार्वाक देवताओं और पित्रों को दिये गये तर्पण तथा श्राद्ध का परिहास करते हुए कहते हैं कि :-

मृतानामपि जन्तुनां श्राद्धं चेत्तृप्ति कारणम्।
स्वपभि वुभुक्षा शान्त्यै स्वर्थः पाथेय कल्पनम्।।

अर्थात् - यदि मरे हुए लोगों को श्राद्ध और तृप्ति मिल सकती है तो राह चलते लोगों को अपने घर से रास्ते के लिए (खाना) भोजन लेकर चलने की क्या आवश्यकता है। श्राद्ध और तर्पण से मार्ग में उनकी भी भूख और प्यास शान्त हो सकती है।

इस प्रकार, चार्वाक ने गौतमबुद्ध के समय से भी पहले धार्मिक प्रतिक्रियावादी मान्यताओं पर प्रहार करके प्रथम नवजागरण का अभियान चलाया।

८. सन्देहवादी

सन्देहवादी वेद प्रतिपादित सिद्धान्तों, यज्ञानुष्ठानों और कर्मकाण्डों को सन्देह की दृष्टि से देखते थे। किसी भी सिद्धान्त और मान्यता को व्यक्ति विशेष अथवा ईश्वर की प्रामाणिकता के आधार पर प्रामाणित मानने को तैयार नहीं थे। उनका कथन था कि हमारा अनुभव और ज्ञान ही ऐसी कसौटी है जिसे प्रामाणित माना जा सकता है।

क्रियावादी आत्मा को अमर मानते थे और कहते थे कि उसे कर्मफल भोगना पड़ता है। अक्रियावादी आत्मा को नश्वर तथा कर्मफल न भोगनेवाला मानते थे।

अज्ञानवादी संसार के प्रत्येक ज्ञान को अधूरा एवं अविश्वसनीय मानते थे। उनकी मान्यता थी कि ज्ञान से स्वर्ग मिलना भी संभव नहीं है। यह दावा करना भी सही नहीं है कि जितना जाना जा चुका है, वह भी सही और भरोसे लायक होगा। प्रत्येक ज्ञान अधूरा, अस्थायी और अनिश्चयात्मक होता है।

विनयवादी विनम्रता और विनय में ही जीवन की सार्थकता मानते थे। जैसा कि कहा

जा चुका कि इन सभी दार्शनिक विचार-धाराओं में चार्वाक सर्वाधिक तेजस्वी थे और उन्होंने पुरानी मान्यताओं तथा सिद्धान्तों की जड़ें हिलाकर पूरे समाज को झकझोर दिया था।

यह संक्षिप्त सा सिंहावलोकन है उस विचार संघर्ष और नयी जनक्रान्तियों का जिनके अन्तर्विरोधों में पूरा भारतीय समाज फँसा हुआ था। वैसी ही स्थिति उन सभी देशों की थी जो सदियों से मानव सभ्यता के केन्द्र रहे हैं। इसी अन्तर्विरोध में से एक नया रास्ता प्रकट हुआ था जिस पर करीब १०० वर्षों तक यह देश चला और प्रगति करता रहा। इस विचार-मन्थन और बौद्धिक संघर्ष के अभाव में अतीत की अच्छी उपलब्धियाँ संजोकर रखने, विकृत रूपों का निराकरण करने और नये सन्तुलित विकासपथ की खोज करने व उस पर चलते रहने की सम्भावनायें कदापि मुक्त नहीं हो सकती थी।

६. तक्षशिला विश्वविद्यालय

इस अन्धकार युग में तक्षशिला विश्वविद्यालय ऐसा प्रकाश-स्तम्भ था जिसने पूरे भारत और पश्चिमी तथा दक्षिण-पूर्वी एशिया और योरोप को अपने प्रकाशपुंज से भासित एवं प्रकाशित किया।

यह विश्वविद्यालय वर्तमान पाकिस्तान में रावलपिण्डी के निकट स्थित था। इसमें देश और विदेशों के १० हजार से अधिक विद्यार्थी एक साथ विद्या अध्ययन करते थे। यहाँ का पाठ्यक्रम ८ वर्षों का था और अपने-अपने देशों में अध्ययन करने के उपरान्त केवल उच्च शिक्षा प्राप्त करने और एक से अधिक विषयों में पारंगत होने के लिए ही विद्यार्थी प्रवेश करते थे। यहाँ प्रवेश प्राप्त करना ही इस बात का प्रमाण होता था कि विद्यार्थी प्रतिभावान है और विद्या के सागर में विशेष स्थान रखता है। यहाँ से उत्तीर्ण होते ही विद्यार्थी देश के सर्वोच्च विद्वानों एवं ऋषि-मुनियों की गिनती में आ जाता था।

यह विश्वविद्यालय अपने ही नाम से विख्यात नगर तक्षशिला के नाम से प्रसिद्ध था। तक्षशिला नागवंशी वैदिक आर्यों के कबीले की राजधानी थी, और तक्षक उस वंश का सबसे प्रभावशाली राजा था जिसके नाम पर यह नगर बसाया गया था। वैदिक आर्यों के इस प्रतिष्ठित गण ने विश्वविद्यालय का विस्तार करने के लिए १० योजन तथा उसका खर्चा चलाने के लिए १०० योजन कृषि-योग्य भूमि दे रखी थी।

पुराणों में प्रसिद्ध है कि नागदेवता वासुकी ने विद्या का प्रसार करने के लिए यह स्थान चुना था। उसने अनेक बार दूसरे देशों पर आक्रमण किये। नागवंशी राजाओं की मुख्य प्रतिद्वन्द्विता कुरुजनों के साथ चलती थी और उन्हें नष्ट होता देखने के लिए ही नागराज तक्षक ने महाभारत युद्ध में कौरवों तथा पाण्डवों से किसी एक पक्ष का साथ नहीं दिया।

वैदिक आर्यों में ब्राह्मणवंशी नाग लोग बड़े पराक्रमी विद्याप्रेमी एवं साहसी जन होते थे। यही कारण है कि पूर्व से असम, दक्षिण तथा पश्चिम के अनेक भागों में नागवंशी वैदिक आर्य फैले हुए हैं। अनेक स्थानों पर उनके शासन स्थापित हुए। माना कि नालन्दा विश्वविद्यालय का भी उसी के समान महत्त्व था, तथा वहाँ भी दस हजार विद्यार्थी विद्या

अध्ययन करते थे। मगध साम्राज्य का इसे पूरा सहयोग मिला था। फिर भी भारत के नवजागरण में इसका उतना योगदान नहीं था जितना तक्षशिला का था। बौद्धमठ के रूप में परिवर्तित होने के बाद नालन्दा का स्थान एक बौद्ध धर्मी कर्मकाण्ड के केन्द्र के रूप में बदल गया।

विपरीत इसके तक्षशिला विश्वविद्यालय विज्ञान, दर्शन, आयुर्वेद, व्याकरण, गणित, अर्थशास्त्र और राजनीति आदि विषयों का अध्ययन करने का सबसे बड़ा विश्वकेन्द्र रहा है। इसके अलावा, ज्योतिष, खगोल, भूगोल, नक्षत्रविद्या, शल्व शास्त्र, शल्यशास्त्र, कृषिविज्ञान, धनुर्वेद, वेदवेदांग तथा नवीन एवं प्राचीन विषयों पर शोध कार्य कराना भी इस विश्वविद्यालय के परिधिक्षेत्र में आता था। यहाँ बड़े-बड़े लेखक एवं विद्वान कार्यरत रहते थे।

विश्वविख्यात अष्टाध्यायी लेखक महर्षि पाणिनि जो काम्भोज गणसंघ के रहने वाले थे, तक्षशिला विश्वविद्यालय के विद्यार्थी एवं बाद में यहीं के प्राचार्य थे। विश्वविख्यात आयुर्विज्ञानवेत्ता और विज्ञान की इस शाखा के संस्थापक महर्षि चरक और सुश्रुत तक्षशिला विश्वविद्यालय की ही देन थे।

विश्वविख्यात पुस्तक, पंचतंत्र के अमर लेखक विष्णुशर्मा को तक्षशिला विश्वविद्यालय ने ही उत्पन्न किया था जिन्होंने विष्णुगुप्त कौटल्य के साथ मिलकर मौर्य साम्राज्य की स्थापना में योगदान किया था।

महर्षि वररुचि, कात्यायन और प्रसिद्ध निघण्टुकार भी इसी विश्वविद्यालय ने तैयार किये थे।

विष्णुगुप्त कौटल्य जो स्वयं नागवंशी एवं तक्षशिला के निकट के रहने वाले थे उच्च विद्याध्ययन के लिए इसी विश्वविद्यालय में आये थे। वह व्याकरण, राजनीति, धर्मशास्त्र, न्यायशास्त्र, कानूनशास्त्र और धनुर्वेद के पारंगत विद्वानों में गिने जाते थे। विद्याध्ययन पूरा कर लेने के पश्चात् अपनी विशिष्ट प्रतिभा के कारण वह विश्वविद्यालय में प्राचार्य मनोनीत कर लिये गये थे।

विभिन्न शास्त्रों से भी बाहर वह व्यावहारिक ज्ञान में अति प्रवीण थे और विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों तथा अध्यापकों पर कौटल्य का व्यापक नैतिक दबाव था। यहाँ अध्ययन करने आये पूरे देश के प्रतिभाशाली तरुणों, राजकुमारों तथा बुद्धिजीवियों के साथ न केवल उसका व्यापक सम्पर्क था बल्कि वे सभी उसके प्रति नतमस्तक भी थे।

तक्षशिला विश्वविद्यालय में चन्द्रगुप्त मौर्य के साथ कौटल्य का परिचय एवं तत्पश्चात प्रगाढ़ सम्पर्क हुआ था।

जिस समय अलक्षेन्द्र (सिकन्दर) ने भारत पर आक्रमण किया था उस समय २५ साल के तरुण विद्वान कौटल्य इस विश्वविद्यालय में अध्यापन कार्य कर रहे थे।

यह देखकर उन्हें बड़ा मानसिक आघात लगा था कि वीर नागवंश की प्रतिष्ठा धूल में मिलाते हुए तक्षशिला के युवराज आम्भि ने सिकन्दर के स्वागत में तोरण लगाये थे और

देश पर आक्रमण करने के लिए उसे निमंत्रित किया था।

बाद का भारत इसी तक्षशिला विश्वविद्यालय और उसके सम्मानित अध्यापक विष्णुगुप्त कौटल्य के कार्यकलापों की रोमांचकारी कहानी है।

भारतीय नवजागरण की यह संक्षिप्त कहानी है। जीवन के पुराने संतुलन बदल गये थे। हजारों वर्ष पुराने देवों और असुरों के भेद भी तिरोहित हो चुके थे। बौद्धिक संस्कृति और आदर्शों की मान्यताएँ स्मृतियों से लुप्त हो गयी थीं। लगभग डेढ़ हजार वर्षों तक यज्ञों में क्रूर हिंसा और यज्ञानुष्ठानों ने सामाजिक जीवन पूरी तरह कुंठित कर दिया था। उसके विरुद्ध पूरे भारत भू-खण्ड में हजारों दार्शनिकों उपनिषदकारों जन-आन्दोलनकारियों और विचार मंथन करने वालों ने नये भारतीय समाज के उदय के लिये आवश्यक परिस्थितियाँ तैयार कर दी थीं। जिनका संक्षिप्त उल्लेख इस अध्याय में किया जा चुका है। परन्तु इस नवजागरण के फलस्वरूप भारत का एक राष्ट्र के रूप में जन्म लेना तथा एक राजनैतिक इकाई के रूप में उभरना अभी शेष था। हाँ उसके लिए आवश्यक परिस्थितियाँ तैयार हो गयी थीं।



अध्याय-तीन

भारत का राजनीतिक बिखराव

कौटल्य की उपलब्धियों और कार्यों का महत्त्व समझने के लिए उस समय की राजनीतिक और सामाजिक स्थिति का स्वरूप समझना आवश्यक है। उपनिषद्काल और बुद्धकाल में जो विचार संघर्ष चला था उसका दिग्दर्शन कराया जा चुका है बौद्धिक एवं सांस्कृतिक जीवन पर जिसका अनुकूल प्रभाव पड़ा था, परन्तु देश का राजनीतिक ढाँचा तो पहले की ही भाँति अस्त-व्यस्त बना रहा। एक राजनेता एवं सामाजिक चिन्तक के नाते कौटल्य को इससे बहुत लाभ हुआ था। इसलिए कि कर्मकाण्ड एवं यज्ञों में अपार हिंसा की परम्पराओं पर गौतमबुद्ध पहले ही प्रहार कर चुके थे। उन्हें केवल बुद्धसंघों की असंगतियों के मध्य से एक मध्यम मार्ग निकालना था।

फिर भी यह जानना आवश्यक है कि इस महान् राजनेता ने किन जटिल परिस्थितियों में अपना विजय अभियान छेड़ा था।

कौटल्य कालीन भारत वैदिक काल है। वैदिक कालीन भारत वर्ष बहुत छोटा था। वैदिक काल का भारत केवल उत्तर पश्चिमी सीमान्त राज्य अर्थात् वर्तमान पाकिस्तान, काश्मीर, अर्थात पूर्वी पंजाब, हरियाणा और आधा उत्तर प्रदेश मात्र था।

परन्तु कौटल्य के समय का भारत पूर्वोक्त क्षेत्र के अलावा, समुद्र तक फैला था और उसकी सीमायें पूर्व में वर्तमान असम तथा पश्चिम में पश्चिमी सागर तक फैली हुई थीं।

आज से करीब २३०० वर्ष पहले यह देश करीब हजारों छोटी बड़ी राजनीतिक इकाइयों में बँटा हुआ था। सांस्कृतिक और बौद्धिक रूप में इस विशाल भूभाग को एक देश की संज्ञा अवश्य दी जा सकती है, परन्तु कौटल्य से पहले एक अभिन्न राजनीतिक ईकाई के रूप में इसका अस्तित्व नहीं था। जिन हजारों इकाइयों का उल्लेख किया गया है, वे बड़े-बड़े राज्य थे जो स्वयं को प्रदेश नहीं, देश ही कहते थे। जैसे कोसल देश, कुरुदेश, पांचाल, सौरसेन और विराट् देश आदि। ये किसी के अधीन नहीं थे। परन्तु इनके अलावा भी सैकड़ों शासकीय इकाईयाँ थीं जिनके राजा किसी दूसरे राजा को कर देते थे, और इस प्रकार पृथक्देश होते हुए भी अन्य राजा की पराधीनता के कारण स्वतंत्र इकाई का रूप एवं वैभव खो वैठे थे।

उस समय देश में शासन प्रणाली भी एक समान नहीं थी। अधिकांश भारत पर छोटे बड़े राजा राज्य करते थे जो स्वयं को इन्द्र या वरुण का अवतार मानते थे। परन्तु उनमें से कुछ यमराज के भी अवतार होते थे जो अपनी निरंकुशता और अहंकार के कारण प्रजाजनों के लिए यमराज की तरह आतंक एवं भय का कारण बने रहते थे।

ये राजा अपने प्रजाजनों के कल्याण एवं देश के आर्थिक विकास या जन सुरक्षा संगठनों पर नाममात्र को धन व्यय करते थे। इस ओर तो उनका ध्यान भी नहीं जाता था। सारा धन और राजशक्ति उनके व्यक्तिगत सुखों, रंगरेलियों और वैभव साधनों पर खर्च होती रहती थी। उत्तर वैदिक काल में ये लोग हर तरह के व्यसनों में लिप्त रहते थे। महाभारत के कथानकों से प्रकट है कि किस तरह राजघराने मदिरा, मांस, आखेट, जुआ, चौपड़, रण्डियों और अशोभनीय जनघाती उपक्रमों में लिप्त रहते थे।

पूरा देश परस्पर विरोधी धाराओं में बँटा हुआ था। एक ओर तपोवनवासी स्वाध्याय एवं शोध कार्यों में तल्लीन बुद्धिजीवी लोग थे और दूसरी ओर रंगरेलियों तथा भ्रष्टाचार में गले तक डूबे हुए राजघराने थे। यदि इनके पास ऐयाशियों से अधिक धन एकत्रित हो जाता था तो सेनायें संगठित करके पड़ोसी राज्यों पर धावे बोलते थे, छीना झपटी और लूटमार करते थे, तथा संभव होता था तो अपने राज्य की सीमाओं का विस्तार करते थे। इन भेड़ियों के समान लाल तथा क्रूर राजतंत्रों के अलावा देश में ऐसे संघवृत्त अर्थात् जनता द्वारा निर्वाचित गणराज्य भी थे जहाँ जीवन अधिक सुखमय स्वतंत्र एवं रचनात्मक था। परन्तु इनकी संख्या राजतंत्रों की तुलना में कम थी। कौटल्य के समकालीन महर्षि पाणिनि ने अपनी अष्टाधायी में १६ गणराज्यों का उल्लेख किया है।

संघराज्यों अर्थात् गणतंत्रों की जनता राजनीति में सदा रुचि लेती थी, और बाहरी आक्रमणकारी के प्रति बहुत असहिष्णु होती थी। परन्तु भारतीय राजतंत्रों ने जनता को लूट-लूट कर तथा पीट-पीट कर राजनीति के प्रति इतना उदासीन बना दिया था कि वे प्रायः यह कहकर बड़े से बड़ा अन्याय और अत्याचार सहन कर लेते थे, कि वे कर ही क्या सकते हैं और 'जो भी राजा आयेगा, ऐसा ही करेगा।'

इनमें गणराज्यों का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है जिनके कारण आज से २५०० वर्ष पहले एक स्वतंत्र चिन्तन की पवन वही थी और जिसके कारण भारतीय इतिहास में पहली वार एक विशाल साम्राज्य का उदय हुआ था।

वैसे भी भारत के जिस युग का यहाँ वर्णन किया जा रहा है, मुख्य भूमिका उत्तर पश्चिमी भारत की ही थी। इसमें दक्षिणी प्रदेशों तथा घुर पश्चिमी और पूर्वी भागों की भूमिका तो मौर्य साम्राज्य के उत्थान के बाद ही सामने आयी थी।

अष्टाध्यायी में पाणिनि ने निम्नलिखित गणराज्यों का उल्लेख किया है :-

गान्धार, काम्भोज, अवन्ति कुरु मद्र, कोसल, वज्जि और मगध आदि। ऐसा प्रतीत होता है कि कुरु, मगध, कोसल, गान्धार पहले गणराज्य रहे होंगे और बाद में उन पर राजतंत्रों का प्रभुत्व स्थापित हो गया।

कोसल राज्य मगध तक फैला था जिसमें अयोध्या भी सम्मिलित थी। अयोध्या प्रदेश ही बाद में विकृत होकर अवध कहा जाने लगा। इस प्रकार, अवध और मगध लम्बे समय तक देश की राजनीति के ध्रुव बिन्दु बने रहे।

अंग देश भी उस युग में देश की प्रमुख राजनीति इकाई था। यह वर्तमान भागलपुर

(बिहार) जिले के आसपास का क्षेत्र था। कभी राजतन्त्री और कभी गणसंघी राज्य सत्ता के रूप में इसका महत्त्व बना रहा।

मगध वर्तमान पटना और गया का प्रदेश कहा जाता था।

वज्जि बहुत बड़ा संघराज्य था। यह आठ बड़े-बड़े कबीलों का संघ या संघराज्यों का समूह शासन चलाता था, जिनमें प्रमुख थे लिच्छवि, और विदेह। इनकी राजधानी मिथिला थी।

विदेह का अन्तिम राजा कलार था जिसने एक ब्राह्मण कन्या के साथ बलात्कार करने के अपराध में अपने राज्य, वंश और स्वयं का विनाश मोल लिया था।

अतः विदेह के खण्डहरों पर ही लिच्छवि वैदेह और ६ अन्य गणसंघी राज्यों की आधार शिला रखी गयी थी।

इन सभी गणसंघी राज्यों में लिच्छवि गणसंघ स्वाधीनता प्रेमी, स्वाभिमानी और एकताप्रिय संघ था जिसने अनेक युद्धों तथा संघर्षों में ऐतिहासिक विजय प्राप्त की थी।

इसकी राजधानी वैशाली अपने समय की सर्वाधिक समृद्ध और बहुचर्चित नगरी मानी जाती थी। अपने जीवनकाल में गौतम बुद्ध यहाँ अनेक बार आये तथा उनके अनेक उपदेश इसी नगरी के नाम के साथ जुड़े हुए हैं।

मल्लगणसंघी राज्य वर्तमान गोरखपुर तथा देवरिया और बलिया तक फैला हुआ था। इसकी राजधानी कुशीनारा वर्तमान कसिया थी। मल्लगणसंघ की दूसरी राजधानी पव थी। मल्लों के साथ भी गौतमबुद्ध के बड़े मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध थे। वे प्रायः मल्ल संघराज्य की यात्रायें करते रहते थे। अपने जीवन के अन्तिम दिनों में जब भोजन में शुष्क सूकर मार्दव खाकर उनकी मृत्यु हो गयी थी, उस समय वह पव राजधानी ही आये हुए थे। सुनते हैं कि मल्लों को इस बात का बड़ा खेद था कि उन्हीं के एक नागरिक की असावधानी से गौतमबुद्ध की मृत्यु हुई। यह गलत आहार लेकर वह पव से चल पड़े थे और देवरिया में कुसीनारा अथवा वर्तमान् कसिया में उनका निधन हो गया था।

चेदि देश वर्तमान बुन्देलखण्ड का पुराना नाम है। यह कभी गणसंघी और कभी राजतन्त्री राज्य के रूप में कार्य करता रहा है।

वत्स देश इलाहाबाद के आसपास का क्षेत्र है जिसकी राजधानी कोसाम्बी थी। यह नगरी भी अपने युग में देश की प्रमुख नगरियों और राजधानियों में गिनी जाती थी। कुरु गणसंघ वर्तमान मेरठ कमिश्नरी, हरियाणा और दिल्ली क्षेत्र था। बिजनौर भी इसी का भाग था। पहले इसकी राजधानी हस्तिनापुर थी और बाद में इन्द्रप्रस्थ अर्थात् दिल्ली हो गयी थी।

पांचाल देश आधुनिक रुहेलखण्ड था जिसकी राजधानी काम्पल्ल और मामनी थी। बौद्धकाल में पांचालों का महत्त्व घट गया था, जबकि वैदिक काल में इसका महत्त्व कुरुओं के बाद केवल दूसरे स्थान पर था।

शूरसेन वर्तमान मथुरा, आगरा और अलीगढ़ तथा भरतपुर आदि क्षेत्र थे। इसकी

राजधानी मथुरा थी।

अस्सक देश अवन्ति से लेकर गोदावरी तक सटा हुआ क्षेत्र था। अवन्ति वर्तमान मालवा है जिसकी राजधानी उज्जयिनी थी।

महाकवि कालिदास ने १८०० साल पहले ही इसे 'कार्नतमत्खण्डमेकम' अर्थात् स्वर्ग का सबसे चमकीला एक टुकड़ा कहा था।

गान्धार गणसंघी राज्य वड़ा प्रमुख था और महाभारत काल में इसका महत्त्व बहुत अधिक था। परन्तु बाद में गणतंत्री परम्परायें त्याग कर यहाँ राजतन्त्री शासन का प्रभुत्व स्थापित हो गया। इसकी सीमायें वर्तमान, अफगानिस्तान और काश्मीर तक फैली हुई थीं।

पर्वतक या पोरत गान्धार का अति प्रसिद्ध राजा हुआ है जिसने अलक्षेन्द्र (सिकन्दर) से युद्ध किया था। परन्तु वाद में उससे समझौता कर लिया था। यह पोरस प्रसिद्ध पुरुवंशी राजा था। यह राज्य भारत के परे उत्तरी किनारे पर फैला हुआ था। इसकी राजधानी हाटक थी जो मौर्य शासनकाल में उत्तरापथ का सबसे बड़ा व्यापारिक केन्द्र था।

गणसंघी राज्य आर्यों के विभिन्न कबीलों के स्वशासित राज्य होते थे। इनमें कुल (कबीले) का सबसे प्रभावशाली व्यक्ति शासन का संचालन करता था। कभी-कभी राजा का पद पिता से भी मिल जाता था। परन्तु अधिकांशतया यह पद व्यक्ति की गुणवत्ता के आधार पर ही मिलता था।

बौद्ध एवं जैन ग्रन्थों में विभिन्न रूप में इन गणतंत्री राज्यों का उल्लेख किया गया है। मगध, वत्स, चेदि वज्जि, भत्स्य, शूरसेन, अस्सक, अवन्ति, पांचाल, गान्धार, काम्भोज, वंग, मलय, मालव, अच्छ, कच्छ, पाथलाथ, मौलि अबह और समुत्तर आदि।

बौद्ध ग्रन्थ में दीर्घनिकाय में ऐसे गणतंत्री देशों का भी उल्लेख है जो वाद में राजतंत्री बन गये थे। इनमें प्रमुख थे कलिंग, विदेह, अस्सक, अवन्ति सोवीर और अंग।

अष्टाध्यायी के अनुसार नीची जातियों के कुछ गणतन्त्री राज्य भी थे। जैसे शूद्रक, अम्बष्ट, हस्तिनायण प्रकाण्ड, भद्रक मधुमन्त अप्लीहा, वासाली भाग शिवि और आशकायण।

महर्षि पाणिनि के आकलन के अनुसार भी कुछ ने गणतन्त्रों का रूप ले लिया था। इनमें प्रमुख थे गान्धार, अवन्ति, कोसल कुशिनारा विदेह, अंग और वंग। शाल्य लोग अन्त तक गणतंत्री ही बने रहे जिनकी राजधानी कपिल वस्तु थी। परन्तु शाक्यों ने अपने ही वंशज चन्द्रगुप्त मौर्य के सम्राट घोषित होने पर स्वयं गणतंत्री रहते हुए भी पूर्ण समर्थन दिया था।

कोसल का राज्य अन्त में मगध साम्राज्य का ही अंग वन गया था।

अंग देश बिहार के मुंगेर जिले के आस-पास का हिस्सा था जिसकी राजधानी चम्पानगरी थी।

इस समय देश जबरदस्त संक्रमण काल से गुजर रहा था। पुराने सामाजिक सम्बन्ध,

परम्परायें, रीतिनीतियाँ और विचारधारायें टूट रही थीं। पुरोहितवाद पूर्णतया छिन्न-भिन्न हो रहा था। गौतमबुद्ध ने देश में घूम-घूम कर और उनके हजारों शिष्यों ने पुरानी रूढ़ियों, कर्मकाण्ड और यज्ञों की हिंसा के विरोध में पूरा देश खड़ा कर दिया था। गौतमबुद्ध के युग में ही चार्वाक और अन्य अनीश्वरवादियों ने जो मौलिकवाद विवाद छेड़ रखा था, उसने सैकड़ो मत-मतान्तरों का रूप लेकर विचारों में भारी तनाव उत्पन्न कर रखा था। प्रारम्भ में तो गौतम बुद्ध के विचारों ने जागरण की लहर उत्पन्न की थी। परन्तु उनके निधन के उपरान्त अगले सौ दो सौ वर्षों में बौद्ध धर्म भी अनेक भागों में बिखर कर केवल एक सम्प्रदाय मात्र रह गया। उसने देश में विचारों की एकता के जो सूत्र जोड़े थे वे देश को क्या बाँधते स्वयं ही टूटते गये।

सम्राटों और नरेशों ने स्तूप बनाने और बौद्ध संगीतियों पर लाखों करोड़ों रुपए खर्च करके अपनी वाहवाही के स्रोत तो खूब बढ़ाए, परन्तु इससे देश को कोई ठोस लाभ नहीं पहुँचा। वह पहले भी विखरा पड़ा और अब और भी अधिक बिखरता जा रहा था।

बौद्ध धर्म के प्रचार एवं प्रसार से देश की सबसे बड़ी हानि यह हुई कि देशवासी राजनीति से पहले भी उदासीन थे और अपनी उदासीनता को अकर्मण्यता में बदलने के लिए अब उन्हें गौतमबुद्ध के उपदेशों का बहाना मिल गया।

पहले तो कर्मकाण्ड और यज्ञों ने शस्त्रास्त्रों की ओर से देश को उदासीन कर दिया और अब बौद्ध एवं जैन धर्मों ने तथाकथित अहिंसा के राग अलापकर ऐसी स्थिति उत्पन्न कर दी थी कि देश की सुरक्षा और आत्मरक्षा का प्रश्न ही जनचेतना से बाहर हो गया।

पूरा देश ही राजनीति की ओर से उदासीन होता गया। राजा रंगरेलियों तथा बौद्ध संगीतियों में तल्लीन थे तथा प्रजा को अपने तन की ओर ही हर समय चिन्तित एवं प्रयत्नशील रहना पड़ता था। निःसन्देह गौतमबुद्ध के विचारों ने नवजागरण उत्पन्न करके इस देश के प्रति महान् उपकार किया था। परन्तु जैसे नमक की खान में पड़ा गुड़ थोड़ी देर में अपना स्वाद खोकर स्वयं नमक बन जाता है, वही स्थिति विघटित भारत में बौद्ध धर्म की भी हुई।

बौद्ध विहारों तथा संगीतियों में हर समय निर्वाण की ही समस्या पर चर्चायें चलती थीं। फिर राष्ट्र के उत्थान, विकास एवं सुरक्षा के प्रश्न पर चर्चा चलाने का अवकाश किसके पास था।

वैसे भी चार्वाक के अलावा सभी भारतीय दार्शनिकों ने जीवन के बाद की या परलोक की समस्याओं पर ही सदा विचार किया है। गौतमबुद्ध और जैन धर्मों ने निर्वाण की इस प्रवृत्ति को महामारी का रूप दे दिया जिसके नशे में पूरा राष्ट्र अपनी मौत के बाद की समस्याओं पर विचार-गोष्ठियों में डूब गया।

फिर बौद्ध विहारों में जब स्वच्छन्द यौनाचार होने लगा तथा अमुक भिक्षुणी के अमुक भिक्षु के साथ स्वच्छन्द यौनाचार चल रहे हैं, आदि की खुल कर चर्चायें छिड़ीं तो इस धर्म ने समाज का नैतिक धरातल ऊँचा उठाने का जो श्लाघनीय कार्य किया था वह भी कुत्सा

और निन्दा में बदल गया।

इतिहास इसका साक्षी है कि सम्राट अशोक ने जब अपने बाबा चन्द्रगुप्त मौर्य और पिता बिन्दुसार का मार्ग छोड़कर भिक्षु-भिक्षुणियों की संगीतियों में राजवैभव लुटाया तो उसकी प्रतिष्ठा तो बहुत बढ़ी परन्तु वह राष्ट्रीय भवन ध्वस्त हो गया जिसकी आधार शिला उसके पिता और बाबा ने रखी थी।

इस प्रकार एक ओर शस्त्रों के परित्याग के कारण और वह भी तथाकथित अहिंसा के नाम पर, और दूसरी ओर, हजारों वर्षों से चली आ रही दूषित जाति-प्रथा ने इस देश को न केवल देश का रूप नहीं लेने दिया बल्कि नारंगी के फल की भाँति उसे अन्दर से सैकड़ों हजारों फाँकों में बाँटकर रख दिया।

प्रारम्भ में यह आशा की गयी थी कि बौद्ध और जैन जातिवाद के इस अभिशाप से देश को मुक्ति दिला देंगे। गौतमवुद्ध डंके की चोट पर यह घोषणा करते थे कि जन्म से कोई नीच नहीं होता और न कोई केवल जन्म के कारण ऊँचा होता है उनके बौद्ध संघों में गैर-ब्राह्मणों तथा अन्त्यज्ञों तक को प्रवेश मिलता था और संघों में उनकी बड़ी गरिमापूर्ण भूमिकायें रहती थीं। परन्तु तथागत के निधन के उपरान्त यह प्रवृत्ति धीरे-धीरे लुप्त होने लगी और बौद्धों ने भी परम्परा से आयी कुत्सित जाति प्रथा के साथ समझौता कर लिया।

सुनते है कि वर्णव्यवस्था के रूप में जब हजारों साल पहले जातिप्रथा का सूत्रपात हुआ था तो इसका सम्बन्ध लोगों द्वारा किये गये कार्यो को सामाजिक मान्यता प्रदान करना था। जैसे लुहार का काम करने वाला लुहार और लकड़ी का कार्य करने वाला बढ़ई आदि। इस प्रकार यह सामाजिक श्रम-विभाजन ही था और जातियाँ बहुत कम थीं। परन्तु बाद में व्यवसाय जन्म के साथ जुड़ गये, और एक ही जाति में उत्पन्न अनेक व्यक्ति .अनुलोम प्रतिलोमों की संख्या से असंख्य मात्रा में उभरते गये। इन अनुलोम प्रतिलोम विवादों के भेद से उत्पन्न जातियों, अवान्तर जातियों तथा उपजातियों की गिनती करना धीरे-धीरे असंभव हो गया। इसका विवरण कौटल्य ने अपने अर्थशास्त्र में विस्तार के साथ दिया है।

इसके अलावा, विदेशी आक्रमणकारियों का भी जब भारतीयकरण होता था तो वे भी एक नयी जाति का समावेश भारतीय समाज में कर देते थे।

भारतीय समाज की पाचन शक्ति किसी युग में अद्भुत थी। यहाँ के विद्वान सारे विश्व में भ्रमण करते थे। वे चीन, जापान, कोरिया, मंगोलिया, ईरान, यूनान, वियतनाम, इण्डोनेशिया, जावा, सुमात्रा, बाली श्रीलंका आदि जहाँ भी गये वहीं भारतीयता की अमर छाप छोड़ते गये। परन्तु कालान्तर में उनकी यह शक्ति क्षीण हो गयी।

इस प्रकार एक ओर तो राजनीतिक ईकाई के रूप में भारत का मानचित्र देशवासियों की दृष्टि से ओझल रहता था दूसरी ओर जातियों, उपजातियों तथा अवान्तर जातियों के हजारों भागों में विभक्त भारतीय समाज के लिए अपने गौरवशाली अस्तित्व की रक्षा का संघर्ष भयावह मोड़ पर आ गया था।

यह बात ईसा पूर्व ३०० वर्ष पुरानी है। परन्तु उस समय देश में एक अपार जीवन शक्ति का केन्द्र भी था जिसने इसे संकट से उबारा और इससे न केवल भारत को बल्कि पूरे संसार को एक नया प्रकाश मिला था। वह था तक्षशिला विश्वविद्यालय।

जिसके सम्बन्ध में पीछे विचार किया जा चुका है।

बिखरे भारत पर विदेशी आक्रमण

दूसरे अध्याय में विस्तारपूर्वक विचार किया गया है कि देश में नवजागरण की लहर पैदा हो चुकी थी। परन्तु राजनीतिक रूप में अभी भी देश हजारों भागों में बँटा हुआ था और उसकी प्रतिरोध शक्ति शून्य थी। भारत पर होने वाले आक्रमणों की चर्चा इस पुस्तक में विस्तार से की गयी है। परन्तु यहाँ अलक्षेन्द्र (सिकन्दर) महान के आक्रमण की चर्चा किये बिना यह अध्याय अधूरा रह जाता है।

जिस समय देश हजारों भागों में बिखरा हुआ था तब विश्व विजय की महत्त्वाकांक्षा रखने वाला अलक्षेन्द्र भारत की विजय के सपने क्यों न देखता। सबसे पहले तो उसने यवन देश के ही सभी राजतंत्रों को धूल में मिलाया, अपनी एकछत्र सत्ता स्थापित की, फिर वह मिस्र और ईरान को रौंदता हुआ भारत भूमि पर आ धमका। यहाँ करीब ३७ राजतंत्रों और गणतन्त्रों को उसने धूल में मिलाया और इन विश्वासघाती विभीषण राजतन्त्रों ने देश के साथ विश्वासघात किया तथा आक्रमणकारी का साथ दिया।

देश बड़े गर्व के साथ उन गणतंत्री व्यवस्था के देशों का स्मरण करता है तथा नमन करता है जिन्होंने प्राणान्त संघर्ष करते हुए सिकन्दर की दासता स्वीकार नहीं की। इनमें शिवि, अमबष्ट, शुद्रक और सिन्ध के अनेक गण संघीय राज्य प्रमुख थे।

यह ठीक है कि देश बिखरा हुआ था और उसकी प्रतिरोध शक्ति सीमित थी फिर भी १८ महीने तक सिकन्दर को भारत भूमि एक कष्टप्रद भूमि अनुभव होती रही जहाँ वह चैन से एक रात भी सो नहीं पाया।

हमारे बिखरेपन के कारण इतने विशाल भूभाग पर उसे आक्रमण करने का साहस हुआ। परन्तु इसी एक घटना ने कुभा (काबुल) से लेकर गोदावरी तक इस भूभाग को एक राष्ट्र के रूप में खड़ा होने की प्रेरणा दे दी। यह प्रथम अवसर था जब भारत भूखण्ड में रहने वाले लोगों ने कुभा से गोदावरी तक अपने आपको एक राष्ट्र के रूप में अनुभव किया और सिकन्दर द्वारा किये गये अपमान को राष्ट्रीय अपमान अनुभव करके विष्णुगुप्त कौटल्य के नेतृत्व में अपने आपको एक राष्ट्रीय ईकाई के रूप में पुनर्गठित होना स्वीकार कर लिया। यदि सिकन्दर का आक्रमण न होता तो भविष्यवाणी करना सरल नहीं है कि विष्णुगुप्त कौटल्य के मन में विशाल मौर्य साम्राज्य की स्थापना का विचार आता या नहीं और असंख्य देशवासी उनके आह्वान को शिरोधार्य करते या नहीं।

●●●

अध्याय-चार

भारत के प्रथम राष्ट्रपिता का उदय

कौटल्य के अर्थशास्त्र का सार एवं महत्त्व समझने के लिए तथा मौर्य साम्राज्य की स्थापना का भारत के राजनीतिक जीवन पर पड़ने वाला व्यापक प्रभाव हृदयंगम करने के लिए विष्णु गुप्त कौटल्य का व्यक्तित्व और उनकी सूक्ष्म दृष्टि का समझना आवश्यक है।

भारतीय इतिहास में अनेक ऋषि और महर्षि हुए हैं, विष्णु गुप्त कौटल्य अपने वात्स्यायन नाम के साथ उनमें सर्वोच्च स्थान पर प्रतिष्ठित दृष्टिगोचर होते हैं। हमारे देश में अनेक नीतिकार और शास्त्रकार हो चुके हैं, जैसे मनु, याज्ञवल्क्य और पाराशर आदि। विष्णु गुप्त कौटल्य अपने चाणक्य नाम के साथ उनमें प्रमुख स्थान रखते हैं और चाणक्य नीति प्रायः सर्वाधिक व्यावहारिक नीति मानी जाती है।

इसी प्रकार, भारत में अनेक गौरवशाली एवं महिमामण्डित शास्त्रकार माने जाते हैं। परन्तु अर्थशास्त्र लिखकर विष्णु गुप्त कौटल्य देश के सबसे बड़े शास्त्रकार बन गये हैं। राजनीति के मान्य सिद्धान्तों के रूप में उन्होंने जो मापदण्ड स्थापित किये हैं आज २५०० वर्ष बाद भी संसार उन्हें ज्यों का त्यों मानता है तथा मानता रहेगा। जैसे कांटे से कांटा (कष्टकेनेव कण्टकम्) दुश्मन का दुश्मन दोस्त (शत्रोः शत्रुर्मित्रम्) दुश्मन का दोस्त दुश्मन (शत्रोमित्रं शत्रुः) इत्यादि।

भारत में बड़े-बड़े सम्राट विजेता और योद्धा हुए हैं। परन्तु मौर्य साम्राज्य के संस्थापक और प्रधानमंत्री विष्णु गुप्त कौटल्य से बड़ा योद्धा और साम्राज्य का संस्थापक इस देश में दूसरा नहीं हुआ। परन्तु यह भी विचित्र चमत्कार ही है कि वह जीवन में केवल एक बार राजसभा (दरबार) में गये थे और सारा राजकाज पाटलिपुत्र से दूर एक तपोवन में रहकर चलाते रहे। एक भी पैसा वेतन में नहीं लिया और राजकाज का संचालन भी अपने शिष्यों द्वारा ही चलाते थे। ये शिष्य भी वेतन नहीं लेते थे।

यही कारण है कि विष्णु गुप्त कौटल्य एक विनीत राजतंत्र की स्थापना करने में सफल रहे। चन्द्र गुप्त मौर्य और उनके पुत्र बिन्दुसार के लिए उन्होंने जो मर्यादायें स्थापित की थीं उनका उल्लंघन करना उनके लिए असंभव हो गया।

इस प्रकार, विष्णु गुप्त कौटल्य प्रभावशाली व्यक्तित्व एवं अद्वितीय प्रतिभा के युगपुरुष थे जिन्होंने करीब ५ हजार शासकीय इकाइयों में बिखरे देश को इतिहास में पहली बार एकता के राजनीतिक सूत्र में बाँधा था।

विष्णु गुप्त कौटल्य के अनेक नामों में एक नाम पक्षित स्वामी भी है और इससे कुछ लोग उन्हें दक्षिण भारत का मानते हैं। कुछ का यह भी सोचना है कि मगध या पाटलिपुत्र उनका कार्यक्षेत्र होने के कारण वे अवश्य ही मगध के रहने वाले होंगे! परन्तु ये दोनों मत

भ्रामक हैं। विष्णु गुप्त कौटल्य तक्षशिला के निकट एक गाँव के रहने वाले थे। उनके पिता प्रसिद्ध विद्वान एवं प्रभावशाली व्यक्ति थे जिनकी पहुँच तक्षशिला विश्वविद्यालय तक थी। जब विष्णु गुप्त बालक ही थे उनके पिता का स्वर्गवास हो गया था। उनकी माता, जिनका नाम द्रमिला था, एक विदुषी महिला थी। वह अपने पुत्र को एक प्रतिष्ठित ऋषि एवं विद्वान बनाना चाहती थी। परन्तु इसके लिए पुत्र का तक्षशिला विश्वविद्यालय में प्रवेश पाना एवं वहाँ का आठ वर्षीय पाठ्यक्रम पूरा करना आवश्यक था। माता को इसके लिए कठोर संघर्ष करना पड़ा जिसमें उन्हें सफलता भी मिली। विष्णु गुप्त कौटल्य लम्बी आयु तक जीवित रहे और जिस साम्राज्य की उन्होंने स्थापना की थी उसके दो सम्राटों के शासनकाल में प्रधानमंत्री रहे। परन्तु वह अपनी प्रत्येक सफलता के लिए अपनी माता के कृतज्ञ रहे तथा प्रत्येक अवसर पर उनकी सम्मति को उचित महत्त्व देते रहे।

वह आजीवन अविवाहित रहे और विवाह रचाने की वास्तव में उन्हें फुर्सत भी नहीं थी। परन्तु अपनी माता के महान् गुणों और विद्वता से प्रभावित विष्णु गुप्त कौटल्य, माता को नारी जाति का प्रतीक मानते हुए, अपने अर्थशास्त्र में अन्य स्मृतिकारों की अपेक्षा स्त्रियों के प्रति अधिक उदारता का परिचय देते हैं। वह उन्हें सम्पत्ति में अधिकार देते हैं और जहाँ तक माता का सवाल है उसके बारे में विधान बनाते हैं और राजाज्ञा निकालते हैं कि माता चाहे दुराचारिणी और कुलटा भी क्यों न हो, उसका भरण-पोषण करने से कोई भी पुत्र इन्कार नहीं कर सकता।

इस प्रसंग में यह समझना विशेष महत्त्व का है कि तक्षशिला विश्वविद्यालय में वह केवल अर्थशास्त्र और राजनीति के ही प्रकाण्ड पण्डित एवं प्रधानाचार्य नहीं थे प्रत्युत व्याकरण, न्यायशास्त्र मीमांसा और दर्शनशास्त्र के भी प्रकाण्ड पण्डित एवं मर्मज्ञ थे। तक्षशिला विश्वविद्यालय में अध्ययन कार्य पूरा करके वे वहीं अध्यापन भी करने लगे थे। अष्टाध्यायी रचयिता महर्षि पाणिनि उनके सहपाठी भी थे और सहयोगी अध्यापक भी। उन्होंने ही अष्टाध्यायी पर (वात्स्यायन भाष्य) लिखकर व्याकरण की कठिन गुत्थियाँ सुलझायी थीं और पाणिनि का व्याकरण भरा-पूरा किया था।

कहते हैं कि पुरुष-नारी सम्बन्धों की रहस्योत्मकता दूर करने के लिए और इन सम्बन्धों को नैसर्गिकता प्रदान करने के लिए विष्णु गुप्त कौटल्य ने ही कामशास्त्र की रचना की थी। इस शास्त्र का उद्देश्य उच्छृंखलता का निवारण करना और यौन सम्बन्धों में अनुशासन स्थापित करना था।

कौटल्य अपनी रचनात्मक प्रतिभा और अनुशासित सार्वजनिक जीवन के लिए केवल पूरे भारतवर्ष में ही नहीं प्रत्युत सम्पूर्ण विश्व में अद्वितीय समझे जाते हैं। यही कारण है कि रामायण के रचयिता बाल्मीकि और महाभारत के रचनाकार वेदव्यास के बाद पूरे देश में चाणक्य और चाणक्य-नीति का नाम अशिक्षित भारतवासियों में भी परिचित है। उनका नाम बड़े आदर के साथ लिया जाता है।

आधुनिक जगत् में यह जान कर लोग चकित रह जाते हैं कि करीब २३०० साल

पहले भारत में एक व्यक्ति ऐसा भी था जो युद्ध के साथ-साथ कूट-युद्ध और शीत-युद्ध से न केवल परिचित था, वल्कि उन्हें सशस्त्र युद्धों से अधिक प्रभावशाली मानता था और राजतंत्र के लिए विदेशनीति को उतना ही महत्त्वपूर्ण मानता था जितना सशस्त्र सेनाओं और मंत्रिपरिषद् को। अर्थशास्त्र की रूपरेखा पर प्रकाश डालते हुए इन सिद्धान्तों पर विस्तार से विचार किया गया है।

माना कि विष्णु गुप्त कौटल्य का कोई लिखित इतिहास अथवा जीवन-वृत्त हमारे सामने नहीं है, परन्तु पुराण, संस्कृत वांङ्मय तथा सैकड़ों विश्वविख्यात लेखकों के उल्लेख और अन्त में अर्थशास्त्र स्वयं उस व्यक्ति के जीवन पर प्रकाश डालते हैं जो सदियों से जनश्रुतियों तथा गाथाओं के अंग बनकर भारत के सांस्कृतिक जीवन पर छाये हुए हैं।

कौटल्य हमारे राजनीतिक चिन्तन, संघर्ष, विध्वंस, निर्माण, अनुशासन और सोद्देश्य राजनीतिक जीवन के ऐसे प्रतीक बने हुए हैं कि सदियों तक कीचड़ उछाल कर भी उनके विरोधी उनके निष्कलंक राजनीतिक जीवन पर कलंक नहीं पोत सके। वह ऐसा राजनीतिक आदर्श है जिसकी रह-रह कर भारतवासी कल्पना करते हैं और प्रत्येक राजनेता से आशा करते हैं कि वह बड़े-से-बड़े पद पर रहकर भी वैसा ही जीवन व्यतीत करे जैसा कौटल्य व्यतीत करते थे। यहाँ एक उदाहरण प्रस्तुत है :-

मुद्राराक्षस करीब १४०० साल पहले लिखा गया अमर नाटक है। इसमें विध्वस्त नन्द साम्राज्य के भूतपूर्व प्रधानमंत्री राक्षस और उसके खण्डहरों पर स्थापित मौर्य साम्राज्य के संस्थापक विष्णु गुप्त कौटल्य के बीच चल रहे कूटनीतिक युद्ध का विस्तृत वर्णन है। इसी नाटक में एक अवसर पर सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य कौटल्य से मिलने की इच्छा प्रकट करते हैं। इसके लिए वह अपने निजी अधिकारी (कंचुकी) को कौटल्य के पास सन्देश लेकर भेजते हैं। कंचुकी मौर्य साम्राज्य के संस्थापक का आर्थिक जीवन देखकर मन-ही-मन कहता है:-

उपलक्षकलमेतद् भेदकं गौमयानां वटुभिरुपहृतानां वर्हिषां स्तोम एषः।
भरण मपि समिद्‌भः पुष्यमाणाभिराभिः विनमित पटलान्तं दृश्यते जीर्ण कुड्यम।।

कंचुकी कहता है कि सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य के प्रधानमंत्री का यह घर है जहाँ गोबर के उपले तोड़ने के लिए पत्थर के टुकड़े एक ओर रखे हैं, विद्यार्थियों द्वारा जंगल से बीनकर लायी लकड़ियों का ढेर एक ओर रखा है। गीली लकड़ियाँ सुखाने के लिए इस झोपड़ी पर डाल दी गयी हैं जिससे अगला हिस्सा झुक गया है और यह झोपड़ी भी नयी नहीं, पुरानी है।

स्वाधीनता आन्दोलन में जो लोग सेवाग्राम और साबरमती आश्रमों में गांधीजी के साथ रहे हैं, वे यह कैसे भूल सकते हैं कि विशाल ब्रिटिश साम्राज्य की जड़ें हिला देने वाला भारत का हृदय-सम्राट किस तरह की झोपड़ी में रहता था और उसी झोपड़ी में उस साम्राज्य के अस्तित्व का फैसला हुआ करता था जिसमें किसी दिन सूर्य अस्त नहीं होता था। भारत के राजनीतिक इतिहास में विष्णु गुप्त कौटल्य के बाद महात्मा गांधी ही उनके पदचिह्नों पर चल सके थे, इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं है।

पूरा भारतीय इतिहास इन तथ्यों से भरा है कि निरंकुश, आततायी और जनद्रोही नन्द-साम्राज्य का उन्मूलन अपने बुद्धि वैभव और कूट-युद्ध के प्रभाव से कौटल्य ने ही किया था। परन्तु उनका उद्‌देश्य नकारात्मक नहीं था। केवल नन्दों का उच्छेद मात्र उनकी प्रतिज्ञा नहीं थी। उसके स्थान पर ऐसे साम्राज्य की स्थापना करना ही विष्णु गुप्त कौटल्य का उद्‌देश्य था जिसमें प्रजा सुखी रहे, राजतंत्रों पर अंकुश लगाया जा सके तथा प्रजा का कल्याण ही राज्य का चरम उद्‌देश्य बना रहे। इस उद्‌देश्य की पूर्ति के लिए उसने स्वयं को सम्राट घोषित करने के स्थान पर विन्ध्याचल की पहाड़ियों में स्वयं निर्वासन का जीवन व्यतीत करते चन्द्र गुप्त को ढूँढ़ निकाला और सम्राट घोषित किया। ऐसा करने में कौटल्य का अति दूरगामी लक्ष्य सिद्ध होता था।

पहला तो यह कि चन्द्र गुप्त मौर्य का मगध साम्राज्य के साथ सन्निकट सम्पर्क था। वह कुछ दिनों के लिए साम्राज्य की सेनाओं का सेनापति रह चुका था जिससे प्रशासनिक क्षेत्रों में उसके सन्निकट सम्पर्क थे। उसे सम्राट घोषित कर देने से कौटल्य को ऐसे सुदूर एवं अज्ञात कोनों से जनसमर्थन मिला जो साम्राज्य में स्थायी शान्ति स्थापित करने एवं प्रगतिशील आर्थिक निर्माण के लिए परम आवश्यक था।

दूसरे, नन्द साम्राज्य के विरुद्ध विफल विद्रोह करके और अपार हानि उठाकर चन्द्रगुप्त अपनी शक्ति से इतना परिचित हो चुका था कि कौटल्य के नीतिनिर्देशों को नतमस्तक होकर स्वीकार करने के अलावा वह दूसरा मार्ग पकड़ ही नहीं सकता था।

तीसरे वह मुरा नामक सुन्दरी का पुत्र था जो स्वयं शाक्य थी और नन्द सम्राट की उपपत्नी या रखेल थी। वह राजमहल में व्यापक प्रभाव रखती थी। परन्तु विवाहिता न होने के कारण उसके पुत्र चन्द्रगुप्त को साम्राज्य का उत्तराधिकारी या युवराज घोषित किये जाने का दरबार ने प्रबल विरोध किया था। परन्तु वह उदात्त, सहिष्णु, वीर, सौम्य, योद्धा और विद्वान नवयुवक था। विपरीत इसके, शेष सभी राजकुमार अविनीत, व्यभिचारी और उच्छृंखल थे। प्रजाजनों में मौर्य की बढ़ती हुई लोकप्रियता से भय खाकर सम्राट और उसके दरबारियों ने यह फैसला किया कि उच्च शिक्षा प्राप्त करने के बहाने उसे पाटलिपुत्र से कहीं अति दूर भेज दिया जाय। अतः उसे तक्षशिला विश्वविद्यालय में भेज दिया गया जहाँ उसकी मुलाकात राजनीतिक अर्थशास्त्र के परमगुरु विष्णु गुप्त कौटल्य से हुई।

चौथा और निर्णायक कारण यह था कि उस युग में शाक्य, मल्ल, लिच्छवि आदि आठ गणसंघी राज्य ऐसे थे जिनमें बड़ी एकता थी, जो निर्भीक योद्धा थे और पाटलिपुत्र से लेकर आधुनिक काल के गोरखपुर, देवरिया और बस्ती आदि जनपदों पर प्रभुत्व रखते थे। कौटल्य ने सोचा कि चन्द्रगुप्त मौर्य शाक्य है और गुणवान् है, तथा राजवंश से जुड़ा हुआ भी है, उसे सम्राट घोषित करने से आठ शक्तिशाली गणराज्यों का उसे स्वयमेव समर्थन मिल जायेगा और ऐसा ही हुआ भी। इस तरह, विष्णु गुप्त कौटल्य ने कूटनीतिक युद्ध की कला से मौर्य को न केवल सम्राट् बना दिया प्रत्युत उसके चारों ओर शक्तिशाली जनसमर्थन भी जुटा दिया।

परन्तु यह सोचना भी भ्रामक होगा कि कौटल्य केवल कूटनीतिक युद्ध में ही प्रवीण थे। नहीं, वह असाधारण कोटि के सेनापति और परमवीर योद्धा भी थे, इसलिए कि कूटनीतिक युद्ध में वही व्यक्ति विजय पाता है जिसकी छत्रछाया में अति बलशाली राजसत्ता और सैनिक शक्ति हो। मौर्य साम्राज्य की स्थापना के पश्चात् पूरे देश में राजतंत्रों का विद्रोह कुचलने तथा साम्राज्य का विस्तार करने के लिए कौटल्य ने १६ बड़े-बड़े युद्धों का नेतृत्व किया था। इनमें कुछ विद्रोही राजाओं ने आत्मसमर्पण कर दिया और अधिकांश का युद्ध क्षेत्र में ही संहार कर दिया गया। १६ राज्यों के प्रधानमंत्रियों ने या तो आत्मसमर्पण कर दिया और या उन्हें यमलोक पहुँचा दिया गया।

कौटल्य ने जिस बड़े युद्ध का नेतृत्व किया, वह था यूनानी सम्राट सैल्यूकस के विरुद्ध युद्ध का नेतृत्व। इस युद्ध में मौर्य पाटलिपुत्र में ही बने रहे और सम्राट की विशाल सेना के सेनापति का दायित्व स्वयं विष्णु गुप्त कौटल्य पर था।

परन्तु इस युद्ध में भी उनकी निर्णायक विजय का मूल कारण उनकी कूटनीति ही थी। पहले तो यह कि कौटल्य के गुप्तचर यूनान से उसके प्रस्थान करने के साथ ही प्रस्थान कर रहे थे और गुप्तचर परम्पराओं से पूरी सूचना उस तक पहुँचाते थे।

दूसरे, उसने युद्धक्षेत्र का चुनाव अपनी सुविधा से किया, न कि यवन नरेश की सुविधा के अनुसार। पहले भी सिन्ध और काश्मीर के ब्राह्मण गणसंघी राज्यों ने महाप्रतापी सिकन्दर के छक्के छुड़ा दिये थे और अबकी बार भी रणक्षेत्र का चुनाव यह सोचकर किया गया कि जहाँ बच्चा-बच्चा आक्रमणकारी का शत्रु हो और स्थानीय जनसंख्या से इसे तिलमात्र भी जनसमर्थन प्राप्त न हो।

इस तरह यद्यपि सैल्यूकस स्वयं विख्यात सेनापति था और सिकन्दर के आक्रमण के समय भारत एवं भारतीयों की स्थिति से परिचित हो चुका था, परन्तु उसे यह पता कहाँ था कि अब भारत बदल चुका था और राज्य एक छत्रछाया में हैं।

यूनान सम्राट् ने हार मान ली और कौटल्य ने उसका समर्पण स्वीकार करने तथा सन्धि करने में कोई विलम्ब नहीं किया। इस प्रकार, कौटल्य केवल शास्त्रकार नहीं थे बल्कि सशस्त्र सैनिक भी थे। परन्तु एक तो वह मूल रूप से युद्धकारी नहीं थे और दूसरे तभी सशस्त्र युद्ध करते थे, जब ऐसा करना अनिवार्य हो जाता था। तीसरे, शक्ति का प्रदर्शन करने के लिए, युद्ध करने के लिए, युद्ध करना उन्हें मान्य नहीं था। युद्ध तो विवशता थी, केवल विवशता।

विभिन्न युगों, कालों और परिस्थितियों में इस महान् राजनेता और भारत-निर्माता का मूल्याँकन अलग-अलग ढंग से किया गया है। उदाहरण के लिए, आज से दो हजार वर्ष पूर्व लिखे गये विश्वविख्यात नाटक, मृच्छकटिक में वह महान् दार्शनिक, राजनेता, राजर्षि, विचारक, लेखक, स्मृतिकार और नीतिकार के रूप में चित्रित किये गये हैं। परन्तु चौदह सौ साल पहले लिखे गये प्रसिद्ध नाटक मुद्राराक्षस में विशाखदत्त ने उन्हें महान् कुटिल, गुप्तचरों पर आधारित राजनीति का सूत्रधार, तोड़फोड़ करके शत्रु का मटियामेट करने वाला

राजनीतिज्ञ तथा पूरे शासनतंत्र को प्रशासनिक एवं विभागीय अध्यक्षों को सौंप देने वाला राजनेता चित्रित किया है।

कामन्दक नीति शास्त्रकार ने कौटल्य को महान् आदर्शवादी समाज एवं राजतंत्र को अनुशासन की नकेल में बाँधने वाला तथा सामाजिक मर्यादाओं का प्रतिष्ठापक बताया है तथा महान् कवि दण्डी भी उन्हें राजतंत्र का और राजकुमारों का गुरु तथा अविनयी राजतंत्र का अंकुश मानते थे। उनका कहना था कि जिन्होंने कौटल्य के अर्थशास्त्र का अध्ययन नहीं किया है, वे राजतंत्र का संचालन करने में असमर्थ रहते हैं।

दण्डी के अनुसार चन्द्रगुप्त मौर्य के कल्याण के लिए रचित कौटल्य का अर्थशास्त्र सभी राजाओं और राज़कुमारों के लिए कल्याणकारी है।

राजनीति और अर्थशास्त्र के सम्बन्ध में हम लम्बे भारतीय इतिहास में किसी अन्य लेखक, राजनेता और विचारक का नामोल्लेख नहीं कर सकते। वह सर्वथा अद्वितीय थे और कदाचित पूरे संसार में भी।

व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन के सम्बन्ध में कौटल्य का चिन्तन और व्यवहार संतुलित था। प्रत्येक प्रकार के अतिवाद का निराकरण करते हुए कौटल्य ने सामाजिक जीवन को मध्यम मार्ग पर चलाने का प्रयास किया है। न केवल राजाओं को बल्कि साधारण जनों को भी कौटल्य ने नैतिक सलाह दी है कि न तो उन्हें सुखविहीन नीरस जीवन व्यतीत करना चाहिए और न धन-वैभव में लिप्त होकर काम का ही सेवन करना चाहिए। एक स्थान पर उन्होंने कहा है कि धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष एक दूसरे के सहायक हैं, न कि विरोधी और तीन का परित्याग करके एक का अतिशय सेवन करने से न केवल तीन नष्ट हो जाते हैं बल्कि चौथा भी नष्ट हो जाता है। अतः उन्होंने इस बात पर बल दिया है कि चिंतन और व्यवहार में अतिवाद कभी लाभदायक नहीं होता।

परन्तु चारों में सन्तुलन की स्थापना पर बल देते हुए भी कौटल्य ने यह कहने में संकोच नहीं किया है कि चारों में प्रमुखता तो अर्थ की ही है जिसके बिना धर्म और काम व्यर्थ हो जाते हैं।

उन दिनों जब कौटल्य अपने अर्थशास्त्र की रचना कर रहे थे, भारत में एक व्यापक दार्शनिक वाद-विवाद चल रहा था। अगले अध्यायों में इसकी विस्तृत विवेचना की गयी है। जितने भी वैदिक मान्यताओं पर आधारित एवं वेदों का उल्लेख न करके सामाजिक मर्यादाओं की स्थापनाओं के लिए संघर्षरत दार्शनिक दृष्टिकोण थे उनमें पुरानी लीक से हटकर बौद्धिक संघर्ष करने वाला दृष्टिकोण चार्वाक का भी था, यह विचारधारा पूर्णतया मौलिक थी और सभी विचार धाराओं का खंडन करती थी। कौटल्य ने अपने अर्थशास्त्र में इस विचारधारा के साथ भी यह कहकर समन्वय स्थापित करने का प्रयास किया है कि अतिकष्ट का जीवन व्यतीत करना मानव जीवन का आदर्श नहीं हो सकता। इसलिए कि कौटल्य यह मान कर चलते हैं कि जीवन का वास्तविक उद्देश्य त्रिवर्ग में समन्वय स्थापित करने से ही पूरा होता है। त्रिवर्ग अर्थात् अर्थ, धर्म और काम में जब अर्थ ही प्रमुख है तो उसे सामाजिक जीवन का आधार बिन्दु बताकर कौटल्य ने आर्थिक विकास की शक्तियों

पर बल दिया है तथा यह कहा है कि जिस समाज में अनर्थ होगा वहाँ अधर्म और शोक तो व्याप्त हो ही जायेगा।

कौटल्य से पहले के सभी महात्माओं और ऋषियों ने जीवन के बाद की समस्याओं अर्थात् मोक्ष पर विचार किया। परन्तु कौटल्य पहले दार्शनिक एवं विचारक थे जिसने आर्थिक समस्याओं पर विचार करके वस्तुतः मृत्यु के बाद की नहीं, प्रत्युत जीवन की समस्याओं पर विचार किया है।

दूसरे भी दार्शनिक हुए हैं जिन्होंने आर्थिक समस्याओं पर विचार किया है। परन्तु उनका चिन्तन केवल अर्थप्राप्ति की समस्या तक सीमित था। उन्होंने अर्थ-प्राप्ति के लिए किसी अनैतिक साधन को भी अमान्य नहीं ठहराया है। कौटल्य पहला दार्शनिक है जिसने अर्थप्राप्ति के साथ-साथ आर्थिक साधनों के विकास और संगठनों पर बल दिया है। राजतंत्र, जिसके वह प्रमुख संस्थापक हैं, को भी कौटल्य आर्थिक विकास के लिए प्रयोग में लाते हुए दिखाई देते हैं। उन्होंने कहा है कि राजा, जिसकी इन्द्रियाँ वस में न हो और जिसने नैतिकता का परित्याग कर दिया हो, वह प्रजा का कोपभाजन बनकर अपने आपको नष्ट कर लेता हैं और जो राजा कृषि, पशुपालन, वाणिज्य तथा आर्थिक साधनों के उत्पादन पर बल देता है वह अनवरत शक्तिशाली होता जाता है।

यही कारण है कि पूरे भारत उपमहाद्वीप, दक्षिणी पूर्वी और पश्चिमी एशिया के सभी देशों में चाणक्य अथवा विष्णु गुप्त कौटल्य का नाम व्यावहारिक राजनेता, अर्थशास्त्री तथा धर्माचार्य के रूप में इतना विश्रुत एवं सर्वमान्य है। चाणक्य के नाम से प्रसिद्ध सैकड़ों उक्तियाँ जनमानस में निर्विवाद सिद्धान्त का रूप ले चुकी हैं।

आज तक भी जिस व्यक्ति का नाम इतनी श्रद्धा और विश्वसनीयता के साथ लिया जाता है वह अपने जीवनकाल में कितनी असाधारण सफलताओं का प्रतीक रहा होगा और उसकी उपलब्धियाँ कितनी महान रही होंगी, इसका अनुमान सरलता से लगाया जा सकता है। यह तो और भी आश्चर्य है कि यह विश्वसनीयता और प्रतिष्ठा उन्हें एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में और भी घनीभूत होकर मिली है तथा सम्पूर्ण भारतीय इतिहास में चाणक्य अथवा विष्णुगुप्त कौटल्य एक पौराणिक गाथा-पुरुष बन गये हैं।

भारत में ही नहीं प्रत्युत पूरे विश्व में वह अनुपम व्यक्ति माने जाते हैं जो एक ओर तो ऋषियों की श्रेणी में हैं और दूसरी ओर लगभग हजारों खण्डों में विखण्डित भारत को मौर्य साम्राज्य के रूप में पहली बार एक अखण्डित राजनैतिक इकाई के रूप में स्थापित करते हैं। इस प्रकार कौटल्य जैसा विविधतापूर्ण व्यक्तित्व भारत में तो क्या विश्व में भी कहीं दृष्टिगोचर नहीं होता।

सभी राष्ट्रों के इतिहास में ऐसे अनेक राज्यों के विध्वंस और अन्य राज्यों की स्थापनाओं के विवरण तो मिलते हैं जहाँ किसी राजा या विजेता की व्यक्तिगत आकांक्षाएँ प्रमुखता से विद्यमान रहती रही हैं, परन्तु विष्णु गुप्त कौटल्य ऐसा निराला विजयी राजनेता है जिसके प्रयासों के पीछे विशाल नन्द साम्राज्य के विध्वंस और मौर्य साम्राज्य की स्थापना

के लिए कोई व्यक्तिगत आकांक्षा कारण नहीं थी। इसका उद्‌देश्य तो एक निरंकुश, आततायी और दुराचारी राजतंत्र का उन्मूलन करना तथा राष्ट्रीय एकता की स्थापना के लिए नये आदर्शों पर आधारित एक नये साम्राज्य की स्थापना करना ही था। यह पहला अवसर था जब हजारों वर्षों के लम्बे इतिहास में इस देश ने काबुल और गान्धार से लेकर धुर दक्षिण में समुद्र की सीमाओं तक एक चक्रवर्ती साम्राज्य की स्थापना की थी। इस साम्राज्य का लाभ उठाकर कौटल्य ने अपने लिए कोई सुख साधन नहीं जुटाये उनका उद्‌देश्य केवल विशाल भारत की स्थापना करना था।

इस प्रसंग में एक उल्लेखनीय बात यह भी है कि कौटल्य ने मौर्य साम्राज्य की स्थापना किसी घोर युद्ध से नहीं, जिसमें हजारों लाखों लोग युद्ध करते हुए मारे गये हों, बल्कि कूटनीतिक युद्धों से की है जिसमें मुख्य संघर्ष मंच पर नहीं बल्कि पर्दे के पीछे लड़ा गया था। क्या ऐसे युद्धों का उदाहरण किसी अन्य देश में भी उपलब्ध हो सकता है?

मौर्य साम्राज्य की स्थापना के पीछे चन्द्रगुप्त मौर्य की वीरता, युद्ध कौशल और अन्य गुण प्रमुख एवं निर्णायक नहीं माने जाते। इसलिए कि एक विशाल सेना के साथ पाटलिपुत्र पर आक्रमण करके चन्द्रगुप्त मौर्य नन्दों के सामने मुँह की खाकर और जान बचाकर विन्ध्याचल की पहाड़ियों में जा छिपे थे और वहीं निर्वासन का जीवन व्यतीत कर रहे थे। उन्हें तो कौटल्य ने पहले ही सम्राट घोषित करके तब राज्याभिषेक के लिए ढूँढ कर बुलाया था, जब कूटनीतिक युद्धों द्वारा नन्दों का पूर्ण उन्मूलन हो चुका था। जैसा कि कहा जा चुका है कि नन्दों का संहार कौटल्य एवं चन्द्रगुप्त मौर्य दोनों का ही समान लक्ष्य था वहाँ मौर्य का राज्याभिषेक करना इसलिए भी कौटल्य का बुद्धिमत्ता पूर्ण कदम था कि वह एक ओर तो नन्दवंश से सम्बन्धित था, दूसरी ओर नन्द साम्राज्य का सेनापति रह चुका था, तीसरी ओर वह तक्षशिला में कौटल्य से राजनीतिक शिक्षा-दीक्षा प्राप्त कर चुका था और चौथे तथा अन्तिम स्थान पर वह शाक्य होने के कारण शाक्यों, मल्लों, लिच्छवियों और अन्य आठ शक्तिशाली गणसंघ राज्यों का विश्वास भाजन हो सकता था और हुआ।

कौटल्य युद्ध का अर्थ किसी व्यक्ति की ओर से डींग हाँकना या किसी व्यक्ति अथवा व्यक्तिसमूह की वीरता का उद्‌घोष मात्र नहीं मानते थे। वह तो सबसे पहले युद्ध का उद्‌देश्य समझना आवश्यक मानते थे और उसमें विजय प्राप्त करना सर्वोपरि लक्ष्य मानते थे। यही कारण है कि कौटल्य ने कूटनीतिक युद्धों को जिससे किसी योद्धा की प्रतिभा का आभास मिलता है, युद्धकला का सबसे महत्त्वपूर्ण अंग माना है। माना कि उन्होंने कुल मिलाकर अपने जीवन में १६ सशस्त्र युद्ध किये किन्तु यवन सम्राट सैल्यूकस के साथ किया गया अन्तिम युद्ध अति विकट और जटिल युद्ध भी था। इन सभी युद्धों में उन्होंने शस्त्र उठाया, सेनाओं का नेतृत्व किया और एक भी युद्ध में चन्द्रगुप्त मौर्य को रणभूमि में उतरने नहीं दिया और सभी में रोमांचकारी विजय प्राप्त की।

कौटल्य ने युद्ध को कभी भी व्यक्तिगत पराक्रम या शौर्य का प्रदर्शन करने की भूमि नहीं समझा। उन्होंने युद्ध को अपनी राजनीति और अर्थशास्त्र के साथ जोड़ा। यही कारण है कि उनका व्यक्तित्व भारत के सभी प्राचीन राजनेताओं, सम्राटों, धर्मशास्त्रियों और ऋषि

मुनियों में भिन्न कोटि का माना जाता है।

कौटल्य के लिए धनुष या खड्ग उठाना या रक्तपात करना ही युद्ध नहीं था, बल्कि विजय कैसे मिलेगी और विजित राज्य का उपयोग क्या होगा, यह सैनिक और प्रशासनिक प्रश्न प्रथम स्थान पर रहते थे।

भारतीय इतिहास में जैसे कौटल्य का जीवन सर्वाधिक विवादास्पद एवं बहुचर्चित है उसी के अनुसार उनके नाम भी संस्कृत साहित्य में इतने अधिक हैं कि उनके वास्तविक नाम का निर्णय कर पाना सरल नहीं है - उनमें कुछ प्रमुख नाम इस प्रकार हैं - विष्णु गुप्त, चाणक्य, कौटल्य, पक्षिलस्वामी, द्रामिल, वात्सायन, मल्लनाग, अंजुल, वारांणक, माणवक आदि।

परन्तु ये सभी नाम आकस्मिक नहीं हैं। इन सभी नामों से उनके एक न एक विशेष गुण का आभास मिलता है।

उनके विद्वान पिता का नाम चषक था जिससे वह चाणक्य कहलाए।

उन्होंने कभी सम्पत्ति या वैभव का संचय नहीं किया और एक कूटल (मिट्टी का कुठला) में वर्ष भर के लिए अनाज एकत्रित करके निश्चिंत हो जाते थे और बीच में कभी किसी प्रलोभन की ओर आकृष्ट नहीं होते थे। इसी कारण लोग उन्हें कौटल्य अर्थात् कुठले वाला कहने लगे।

बड़े-बड़े और गर्वित सम्राटों के पंख काट देने के कारण वह पक्षिल स्वामी बने तथा उनको जड़मूल से उखाड़ देने के कारण भी।

दरमिला उनकी माता का नाम था जिसने उनके पिता के निधन के उपरान्त विष्णु गुप्त कौटल्य को तक्षशिला विश्वविद्यालय तक पहुँचाया और जो कुछ भी वह बने उसके लिए अपनी माता दरमिला के कृतज्ञ थे। दरमिला के कारण ही उनका एक नाम द्रामिल पड़ा।

वात्सायन ऋषि के गोत्र में उत्पन्न होने के कारण विष्णु गुप्त कौटल्य 'वात्सायन' कहलाये।

नागमल्ल वह इसलिए थे क्योंकि उन्होंने नागों अर्थात् तक्षशिला, स्यालकोट और कम्बोज आदि, जहाँ के वह स्वयं रहने वाले थे, मल्लों (शाक्यों, लिच्छवियों और अन्य आठ गणसंघी राज्यों) को जोड़कर उन्होंने विशाल मौर्य साम्राज्य की स्थापना की थी।

अपनी आवश्यकताएँ अत्यधिक सीमित रखने के कारण यहाँ तक कि सोने के लिए भी कम से कम भूमि का उपयोग करने के कारण कौटल्य को लोग अंगुल कहते थे।

लोग माणवक उन्हें इसलिए कहते थे कि वह जीवन भर विद्यार्थी बने रहे और नये से नया ज्ञान प्राप्त करने की उनकी जिज्ञासा कभी शांत नहीं हुई। इस विविधतापूर्ण योग्यता के कारण ही विष्णु गुप्त कौटल्य अर्थशास्त्र, राजनीति, चाणक्य नीति, कामशास्त्र, व्याकरण और आयुर्वेद आदि पर ऐसे प्रामाणिक ग्रन्थ लिख सके थे कि कोई भी ग्रन्थ उनके स्थान की पूर्ति नहीं कर सकता।

जीवन भर अविवाहित बने रहने के कारण भी वह वाराणक और माणवक थे।

मगध साम्राज्य का विध्वंस एवं स्थापना करने से पहले कौटल्य ने किरातों, पारसीकों (पारसियों), यवनों (यूनानियों) शकों तथा अन्य आयुध जीवी जातियों में से भाड़े की सेना संगठित की थी। इस सेना की युद्धों में सफलता के दो मूल कारण थे। एक तो प्रत्येक सेना का नेतृत्व तक्षशिला विश्वविद्यालय में शिक्षित एवं प्रशिक्षित योग्य विद्वानों के हाथों में होता था जिन पर कौटल्य के व्यक्तित्व एवं विचारों की गहरी छाप होती थी। कौटल्य ने अपने सेना नायकों को यह बात भली-भाँति समझा दी थी कि जब तक उत्तरी भारत के करीब पचास राजतंत्रों तथा पचासों संघ राज्यों का उन्मूलन करके एक शक्तिशाली उत्तरी साम्राज्य की स्थापना नहीं की जाती तब तक विदेशियों के आक्रमणों से भारत को मुक्ति नहीं मिल सकती।

इस प्रकार एक उद्देश्य के साथ युद्ध का संचालन करने वाले सेनापतियों के युद्धों में और व्यक्तिगत आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए राजपाट का संचालन करने वाले राजाओं तथा गणराज्यों के युद्धों में एक निर्णायक अन्तर था। इन सभी युद्धों में विष्णुगुप्त कौटल्य सभी सेनापतियों में सर्वोच्च सेनापति थे। परन्तु वह स्वयं इस साम्राज्य के सम्राट बनने के इच्छुक नहीं थे।

दूसरे, इस साम्राज्य के संचालन के लिए उन्होंने पर्वतक या पौरष को उत्तरी साम्राज्य का सम्राट बनाने की घोषणा की थी। पौरष के प्रति कौटल्य के दोहरे विचार थे। वह अलक्षेन्द्र (सिकन्दर) के विरुद्ध संग्राम में कूदा था और अपनी वीरता से उसने पहली बार अलक्षेन्द्र का साहस प्रकम्पित किया था जिससे विष्णु गुप्त कौटल्य उसे उत्तरी साम्राज्य का सम्राट बनाने का इच्छुक था। परन्तु मन ही मन में पौरष के प्रति वह तिरस्कार और हीनता के भाव भी रखता था।

पौरष लम्पट एवं दुराचारी व्यक्ति था। अपनी प्रजाजनों का उत्पीड़न करता था। उसने यवन देश की ओर प्रत्यावर्तन करके अलक्षेन्द्र का क्षत्रक (प्रतिनिधि-राज्यपाल) बनना स्वीकार कर लिया था। कौटल्य इसे अलक्षेन्द्र की पराधीनता स्वीकारना मानता था और ऐसे व्यक्ति के हाथों में उत्तर पश्चिमी भारत का भाग्य सौंपना नहीं चाहता था। परन्तु अस्थायी रूप में उसे सम्राट घोषित करके कौटल्य ने काश्मीर, सिंध, पंजाब तथा उत्तर पश्चिम के सीमाप्रान्त और वर्तमान अफगानिस्तान के एक भाग पर अपनी योजना के अनुसार चलने वाले उत्तर पश्चिमी साम्राज्य की स्थापना कर दी। पौरष इस साम्राज्य का नाम मात्र का सम्राट था।

यहाँ यह बता देना अप्रासांगिक नहीं प्रत्युत सामयिक होगा कि प्रत्येक राज्य का विध्वंस करने के लिए आक्रमण करने से पहले विष्णुगुप्त कौटल्य के सैकड़ों तथा कभी-कभी हजारों गुप्तचर, ज्योतिषियों, छपणकों, माणवकों, (विद्यार्थियों) सन्यासियों, धर्माचारियों, सपेरों, इन्द्रजालकों, जादूगरों, नाटक मंडलियों, पुजारियों, व्यापारिक, सार्थवाहकों (कारवां) आदि के रूप में फैल जाते थे। उस राजा के अवगुणों के विरुद्ध जन-जन में आक्रोश भर

देते थे। वे उस राज्य के सभी सत्ता केन्द्रों में इस प्रकार घुसपैठ कर लेते थे कि किसी का भी एक दूसरे पर भरोसा नहीं रह जाता था। वे यह मान बैठते थे कि किसी भी समय उसका सहयोगी मन्त्री, सेनापति अथवा राजा उनका वध करने वाला है। इस प्रकार अविश्वास और विद्वेष के वातावरण में जब कौटल्य की सेना उस देश पर आक्रमण करती थी तो वहाँ का संघ राज्य अथवा राजतंत्र जो अन्दर से खोखला होता था कौटल्य के एक ही सैनिक झटके में धराशायी हो जाता था। इस संघर्ष में उपर्युक्त सेनाओं के अलावा सिंध के ब्राह्मण संघीय राज्यों और काश्मीर के राजतंत्रों तथा ब्राह्मण संघ राज्यों एवं कम्बोज तथा नागवंशियों ने अपनी पूरी शक्ति और साधनों के साथ कौटल्य की योजनाएँ कार्यान्वित करने में योगदान किया।

कौटल्य के कोप का सर्वप्रथम भाजन तक्षशिला का युवराज आम्भि एवं उसका राजतंत्र हुआ। आम्भि के पिता नाममात्र को राजा थे। राज्य का संचालक अत्यन्त उद्दंड, निरंकुश युवराज आम्भि के हाथ में था जिसने यवन देश के सम्राट अलक्षेन्द्र (सिकन्दर) को भारत पर आक्रमण करने के लिए आमन्त्रित किया। जब अलक्षेन्द्र ने तक्षशिला में प्रवेश किया तो पूरा नगर तोरणों से सजा हुआ था और आगे-आगे घोड़े पर चढ़े आम्भि ने इस प्रकार तक्षशिला नगर में उसकी परिक्रमा कराई जैसे वह तक्षशिला का भाग्य विधाता हो। उस समय विष्णु गुप्त कौटल्य सक्रिय राजनीति में नहीं थे। वह तक्षशिला में युवा अध्यापक मात्र थे। अलक्षेन्द्र के भारत पर आक्रमण और आम्भि की विभीषण भूमिका से वह इतने उत्तेजित हो उठे थे कि पूरे तक्षशिला विश्वविद्यालय का वातावरण प्रक्षुब्ध हो उठा। इस अपराध के लिए आम्भि को दण्डित करना उन्होंने अपने जीवन का लक्ष्य बना लिया था। सक्रिय राजनीति में उतरने के पश्चात कौटल्य ने अपने एक ही झटके में नागदेश की राजधानी तक्षशिला पर अधिकार कर लिया और आम्भि को मौत के घाट उतार दिया।

यहाँ इस पूरी राजनीतिक उथल-पुथल में तक्षशिला राज्य की भूमिका निर्णायक थी। यहाँ पूरे भारतवर्ष तथा पूरब में जावा और सुमात्रा से लेकर उत्तर तथा पश्चिम में पारसीक, यवन और अरबुदों (अरबों) तक के हजारों विद्यार्थी प्रतिवर्ष उच्च शिक्षा पाकर अपने देश में लौट जाते थे। कौटल्य ने इस बौद्धिक शक्ति को अपनी अजेय राजनैतिक शक्ति के रूप में प्रयुक्त किया।

माना कि तक्षशिला के कुछ विद्वानों, आचार्यों और ऋषियों ने इस ऐतिहासिक राजनैतिक संघर्ष में कौटल्य का साथ देने में असमर्थता प्रकट की थी। महर्षि पाणिनि, वाराहमिहिर, महर्षि चरक और सुश्रुत, महर्षि कात्यायन एवं वररुचि इनमें प्रमुख थे। परन्तु शेष सभी आचार्यों, विद्वानों और छात्रवृन्द ने इस संघर्ष में पूरी शक्ति के साथ कौटल्य का समर्थन किया। इस प्रसंग में भारत के राजनीतिक आकाश पर दूसरे स्थान पर दैदीप्यमान नक्षत्र का उल्लेख न करना अन्याय होगा। वह थे दक्षिण भारतवासी और अमर ग्रन्थ 'पंचतंत्र' के लेखक विष्णु शर्मा। उन्होंने अपनी सेवाएँ इस निष्ठा के साथ कौटल्य को समर्पित की थी कि उसके प्रचार कार्यों के आरम्भ होते ही शत्रु का राज्य धराशायी हो चुका

होता और कौटल्य की सेनाओं को तो केवल अधिकार कर लेने की औपचारिकता मात्र बरतनी पड़ती थी।

यह विष्णु शर्मा का ही कौशल था कि मगध साम्राज्य की राजधानी पाटलिपुत्र पर कौटल्य की सेनाओं के आक्रमण से बहुत पहले ही पारस्परिक अविश्वास और संदेह में डूबे मगध साम्राज्य की राजधानी के सत्ता केन्द्र आपसी प्रतिहिंसा और विद्वेष में छिन्न-भिन्न कर दिये गये थे। वह भी विष्णु शर्मा ही था जिसने कौटल्य से निर्देश पाकर आखेटकों (शिकारियों) की सहायता से विन्ध्याचल की पहाड़ियों में छिपकर जीवन व्यतीत करते हुए चन्द्र गुप्त मौर्य का पता लगाया।

कौटल्य इस व्यक्ति के गुणों, विनय, सदाचार और प्रजाभक्ति पर अत्यधिक प्रसन्न थे। इसके अतिरिक्त वह तक्षशिला में उनका अन्तेवासी (अप्रेन्टिस) रह कर राजनीतिक शिक्षा और दीक्षा पा चुका था। कौटल्य एक विशाल भारतीय साम्राज्य के रूप में जैसे व्यक्तित्व की अपेक्षा करते थे, चन्द्रगुप्त मौर्य उन्हें उसके अनुरूप प्रतीत हुआ था। प्रारम्भ में वह यह आशा करते थे कि घनानन्द सम्राट के साम्राज्य का विध्वंस करने के लिए उन्हें उत्तर पश्चिमी साम्राज्य के सम्राट पौरष की सेनाओं के साथ पाटलिपुत्र पर आक्रमण करना पड़ेगा।

इसीलिए उससे यह सन्धि की गयी थी कि भारत का आधा साम्राज्य पौरष का और आधा चन्द्रगुप्त मौर्य का होगा। परन्तु विष्णु शर्मा के कूटनीतिक युद्धों से विध्वस्त मगध साम्राज्य पर ऐसे भीषण आक्रमण की आवश्यकता ही नहीं रह गयी थी।

अतः मगध साम्राज्य के पतन के पश्चात् लगभग दो वर्षों तक कौटल्य को एक नये कूटनीतिक युद्ध का आयोजन करना पड़ा। कौटल्य उत्तर पश्चिमी साम्राज्य को पौरष के हाथों में सौंपकर नित नये विदेशी आक्रमणों से मुक्ति नहीं पा सकते थे। इसके अतिरिक्त पौरष के प्रति उनके मन में अति तीव्र वितृष्णा और अरुचि भी थी। अतः अपने वादे से मुकरने के लिए और पूरे भारतीय साम्राज्य को चन्द्रगुप्त मौर्य के नेतृत्व में एक ही केन्द्र के अन्तर्गत स्थापित करने के लिए उन्होंने कामुक पौरष की एक विषकन्या द्वारा हत्या करा दी। इससे कुपित उसके पुत्र मलयकेतु ने जव अपनी विशाल सेना के साथ पाटलिपुत्र पर आक्रमण किया और नन्द साम्राज्य के निष्ठावान प्रधानमंत्री, राक्षस के संकेतों पर चलना प्रारम्भ किया तो उसकी विशाल सेना कौटल्य के विद्वान गुप्तचरों के कार्यकलापों से इस प्रकार विध्वस्त एवं प्रभावहीन हो गयी कि पाटलिपुत्र पहुँचने का उसका साहस ही नहीं हुआ।

इस प्रकार विश्व इतिहास में कौटल्य पहले राजनेता हैं जिन्होंने सैनिक युद्ध को गौण और कूटनीतिक युद्ध को प्रथम स्थान पर रखकर इतने विशाल साम्राज्य की स्थापना की।

इतिहासकारों का तो यह भी कहना है कि सैल्यूकस के आक्रमण के समय भी वह कौटल्य के कूटनीतिक युद्ध से इतना अभिभूत हो गया था कि उसकी चतुरंग सेना को देखकर युद्ध करने का साहस खो बैठा।

कौटल्य केवल राजनेता, लेखक, शास्त्रकार एवं सेनापति ही नहीं था। उसने चन्द्रगुप्त मौर्य के अनुरोध पर, अनिच्छापूर्वक ही सही, मौर्य के जीवनकाल तक साम्राज्य का प्रधानमंत्री पद सँभाला। तिब्बती लामा तारानाथ ने एक स्थान पर लिखा है कि मौर्य की मृत्यु के पश्चात् उसके पुत्र बिन्दुसार ने भी कौटल्य से प्रधानमंत्री बने रहने की प्रार्थना की थी जिसे उन्होंने स्वीकार कर लिया।

कौटल्य किसी भी समय इस पद से मुक्त होने के लिए लालायित रहते थे। जब बिन्दुसार नहीं माना तो उन्होंने अपनी उत्तरावस्था में सुवन्धु नामक विद्वान को बिन्दुसार का प्रधानमंत्री बनवा दिया। बिन्दुसार ने उनका यह आदेश स्वीकार भी कर लिया। परन्तु सुबन्धु ने साम्राज्य को उन सब नीतियों, आदर्शों तथा परम्पराओं से विमुख करना प्रारम्भ कर दिया जिनका कौटल्य ने सूत्रपात किया था। बिन्दुसार को यह बात समुचित नहीं लगी और सुबन्धु प्रधानमंत्री पद से हटा दिये गये।

कौटल्य की स्वाभाविक रुचि त्याग, अध्यापन, लेखन और आध्यात्मिकता में थी। परन्तु सामाजिक उत्थान और सुरक्षा के लिए विष्णुगुप्त अपनी स्वाभाविक इच्छाओं और रुचियों पर भी अंकुश लगाने में सक्षम थे।

कौटल्य यवन देश के अरस्तू और सुकरात के समकालीन थे। उन्हीं की ही भाँति दार्शनिक भी थे। परन्तु भारतीय समाज पर उनके विचारों तथा व्यक्तित्व की छाप अरस्तू और सुकरात की तुलना में अधिक प्रभावशाली, अग्रगामी और रचनात्मक रही है।

राजतंत्र तो पहले भी थे। वे प्रायः निरंकुश तथा स्वेच्छाचारी होते थे। परन्तु कौटल्य उसके नये सिद्धान्तकार के रूप में स्थान ग्रहण करते हैं। उनकी राय में राज्य की सामाजिक प्रगति, लोक कल्याण, आर्थिक शक्तियों के विकास और न्याय तथा सामाजिक शान्ति के लिए कार्य करना चाहिए। कौटल्य की सम्पत्ति के अनुसार जो राजा अपने इन दायित्वों का निर्वहन नहीं करता उसका पतन अनिवार्य है।

कौटल्य का राजतंत्र वास्तव में भारतीय सामन्तवाद के उत्थान की वेला का सूचक है। इसमें नयी बस्तियाँ बसाने, जिन्हें कौटल्य नवोपनिवेश कहते थे, जंगल काटने, कृषिकारों और कृषि में लगे नागरिकों के विविध कर्त्तव्यों तथा अधिकारों की परिधि सुनिश्चित करने, उत्पादन में लगे नागरिकों को विविध सुविधाएँ तथा संरक्षण प्रदान करने, आन्तरिक तथा बाहरी प्रकोपों से राष्ट्र की रक्षा करने का दायित्व राजतंत्र का था। बाहरी प्रकोप से कौटल्य का तात्पर्य भारत से बाहर के देशों का आक्रमण तथा पड़ोसी राजाओं की राज्य विस्तार की आकांक्षाओं से प्रेरित युद्धों से है। उस युग में ये युद्ध अनवरत चलते ही रहते थे।

इसके अलावा जैसे-जैसे खेती का विकास समाज का मुख्य जीविका साधन होता जाता था, वैसे-वैसे पशुपालन का महत्त्व बढ़ता जाता था और पशु दूध के रूप में जीविका का साधन बने रहने के साथ पशुचालित कृषि यन्त्रों के प्रयोग के लिए निर्णायक महत्त्व हो जाता था। खेती में पशुओं का प्रयोग करने से पहले तो मानव स्वयं ही यंत्र खींचता था और पशुओं का शक्ति के रूप में आविष्कार होते ही वह खेती सुविधा के साथ कर सका।

कौटल्य ने खेती के विकास और उसके नियमों का जिस रुचि और विस्तार से विवेचन किया है उससे यह निष्कर्ष निकलता है कि खेती जीविका का मुख्य साधन बन गयी थी और उसके कारण समाज का प्रस्थानवादी रूप बदल गया था और वह स्थायी रूप में कुछ ग्रामों या ग्रामसमूहों में परिवर्तित हो गया था।

परन्तु कौटल्य बाहरी प्रकोपों के अतिरिक्त एक आन्तरिक प्रकोप का भी विस्तार से उल्लेख करते हैं। जिससे प्रजाओं को मुक्ति दिलाना राजा या राजतंत्र का मुख्य कार्य कहा गया है। यह प्रकोप है व्यापारियों, शिल्पियों, शिल्पीसंघों, राजकर्मचारियों, अधिकारियों और राजा के निकट रहने वाले व्यक्तियों से प्रजा की रक्षा करना। भ्रष्टाचार दानव की भाँति मुँह फैला चुका था उसके रूपों का दिग्दर्शन कराकर तथा उनसे बचाव के उपायों का वर्णन करके कौटल्य ने यह दर्शाने का प्रयास किया है कि पूँजीवादी विकास के प्रथम चरणों का पदार्पण भी हो चुका था और इसीलिए राजकरों की चोरी, अधिकारियों के साथ मिलीभगत तथा सस्ता खरीदकर महंगा बेचने की प्रवृत्ति वेग से चल रही थी। मूलग्रन्थ का दिग्दर्शन कराते समय यह सब विस्तार के साथ दिखाया गया है।

कुल मिलाकर, कौटल्य का राजतंत्र ऐश्वर्यभोगी एवं उच्छृंखल नहीं था एवं निर्माण कार्यों में उन्नत तथा सुरक्षा प्रदान करने में तत्पर था। इस रचनात्मक योगदान के कारण ही भारतीय सामन्तवाद युगों-युगों के पश्चात् भी अपनी लोकप्रियता एवं जनाधार से वंचित नहीं हो पाया है।

सामन्तवाद की इस रचनात्मकता के कारण ही शेष संसार की तुलना में उसकी लोकप्रियता इतनी स्थायी रही है। कौटल्य ने एक ओर राजतंत्र की दृढ़ता के लिए भगीरथ प्रयास किये हैं और दूसरी ओर राजाओं की निरंकुशता एवं अत्याचारों के विरुद्ध प्रजाओं को अनवरत सावधान किया है।

कौटल्य पहले शास्त्रकार हैं जिन्होंने यह तो स्वीकार किया है कि राजा राजतंत्र की धुरी है तथा उसकी गुणवत्ता के आधार पर ही राजतंत्र की उपादेयता प्रतिष्ठित होती है, परन्तु वह उसे राज्य का सर्वस्व नहीं मानते। मंत्रिपरिषद्, पुरोहित, आर्थिक अधिकारी और सेनाध्यक्ष आदि के रूप में अधिकारियों को मिले विशेषाधिकारों के आधार पर ही वह राजतंत्र का संचालन आवश्यक मानते थे।

इसके अलावा, कौटल्य कालीन भारत में आर्थिक शाखाओं का इतना अगणित एवं जटिल विकास हो चुका था एवं प्रशासन इतना जटिल और विविधतापूर्ण हो चुका था कि एक ही राजा के लिए राजतंत्र का संचालन करना असंभव हो गया था, फिर भले ही कोई राजा अति प्रवीण एवं व्यवहार कुशल क्यों न हो। इसलिए, कौटल्य ने राजतंत्र को अंकुश में रखने तथा उसकी असंगतियों की रोकथाम करने के लिए अध्यक्षीय प्रणाली पर जोर दिया। उसका कहना है कि राजतंत्र राजकीय नियमों के अनुसार चलना चाहिए, न कि राजा की स्वेच्छाचारिता अथवा मात्र इच्छा के अनुसार। इस प्रकार राजा उन नियमों तथा शासकीय व्यवस्था का प्रतीक मात्र बना रहता है जिसका सृजन दीर्घकालीन अनुभवों के

उपरान्त होता है।

जैसा कि कहा जा चुका है कि वह राज्य प्रणाली और राजतंत्र के प्रबल समर्थक थे। राज्य विहीन समाज को वह अव्यवस्था और सामाजिक अन्याय का पर्यायवाची मात्र मानते थे। परन्तु निरंकुश राजसत्ता को भी वह अव्यवस्था और अराजकता ही कहते हैं। पूरा अर्थशास्त्र अथ से लेकर इति तक इसी मान्यता की पुष्टि के लिए लिखा गया प्रतीत होता है। कौटल्य यह स्वीकार करने को तैयार नहीं हैं कि राज्य सत्ता का उपयोग प्रजा की सेवा, रक्षा और राष्ट्र के आर्थिक विकास तथा सुरक्षा की अपेक्षा किसी व्यक्ति के निजी स्वार्थ की पूर्ति के लिए भी किया जा सकता है।

माना कि दूसरे आचार्यों की भाँति कौटल्य राज्य के संचालन और विशेष रूप से पर राष्ट्र नीति के सन्दर्भ में छलकपट और कूटनीति को वर्जित नहीं मानते, परन्तु ऐसा करना उनकी दृष्टि में कोई आदर्श व्यवहार एवं नीति नहीं है।

यही कारण है कि अपने सफल संघर्षों से भरे राजनीतिक जीवन में जहाँ कौटल्य ने भारत में पहली बार एक सार्वभौम चक्रवर्ती साम्राज्य की स्थापना की, वहाँ चन्द्रगुप्त मौर्य और उसके पुत्र बिन्दुसार को प्रजावत्सल सम्राटों के रूप में अनुशासित जीवन व्यतीत करने की भी शिक्षा दी। जिस तरह, वे सम्राटों को यह समझाने में सफल हो सके थे कि साम्राज्य की अपार शक्ति देश के आर्थिक विकास, सुरक्षा और प्रजा के कल्याण के लिए है, न कि उनके व्यक्तिगत ऐश्वर्यभोग के लिए है, उसी तरह, स्वयं भी प्रधानमंत्री एवं साम्राज्य के संस्थापक होते हुए भी, कौटल्य ने अकिंचन जैसा जीवन जी कर स्वयं को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया था।

कौटल्य के सम्बन्ध में यह विवेचन न तो किसी भावुकता पर आधारित है और न उन्हें कोई अवतार या अतिमानव मानकर अतिरंजन किया गया है। केवल टूटे हुए धागे यहाँ जोड़कर एक व्यवस्थित कथानक प्रस्तुत किया गया है जो अनेक पुराणों, स्मृतियों, नीतिशास्त्रों, जैन तथा बौद्धग्रन्थों और उनसे भी अधिक अपनी गुरुजन-परम्पराओं में हम सुनते आ रहे हैं।

यद्यपि राम, कृष्ण, बाल्मीकि, वेद, वेदव्यास, गौतमबुद्ध और अनेक युग-पुरुषों ने हमारे राष्ट्रीय चिन्तन को नया और आकर्षक मोड़ दिया है, परन्तु यह कहना अतिशयोक्ति नहीं है कि कौटल्य पहला राजनेता, महर्षि और विचारक है जिसने सबसे पहले हमें एक राष्ट्र के रूप में पिरोया और बाँधा है। कौटल्य के पदार्पण से पहले भारत कोई राष्ट्र ही नहीं था। यदि राष्ट्र ही नहीं था तो राष्ट्रीय चिन्तन और जीवन कहाँ से आता?

परन्तु प्रत्येक घटना और वस्तु अपने आपसे जुड़ी घटनाओं और वस्तुओं के स्वरूप से ही देखी समझी जा सकती है। कौटल्य के नेतृत्व में मौर्य साम्राज्य के उत्थान से जुड़ी महत्त्वपूर्ण घटना, अलक्षेन्द्र (सिकन्दर) महान् के भारत पर आक्रमण से जुड़ी हुई है। सिकन्दर का आक्रमण भी आकस्मिक एवं नवीन घटना नहीं थी। इसके पहले भी, भारत पर अनेक आक्रमण हो चुके थे और बाद में भी कुछ दिनों के पश्चात् यह परिपाटी चलती ही

रही।

परन्तु क्योंकि आक्रमण के समय विष्णु गुप्त कौटल्य युद्धस्थली के अत्यन्त समीप थे, तक्षशिला विद्यालय के अधिष्ठाता युवराज अम्भि का विश्वासघात अपनी आँखों से देख चुके थे और पोरस, (पर्वतक) जिसने सिकन्दर से युद्ध तो किया, पर बाद में उसकी अधीनता स्वीकार कर ली, ऐसे दृश्य थे जिनसे कौटल्य का मन तत्कालीन राजनीतिक संस्थाओं तथा उनकी परम्पराओं पर घृणा एवं क्रोध से भर उठा।

सिकन्दर के आक्रमण ने कौटल्य का चिन्तन झकझोर दिया। उसने सबसे पहले तो उत्तर पश्चिमी राज्यों का अस्तित्व मिटाया तथा पोरस के नेतृत्व में एक तिहाई भारत का शक्तिशाली साम्राज्य स्थापित किया और बाद में, इस साम्राज्य की सहायता और दबाव से ही उसने अत्याचारी नन्दों का उच्छेद करके अति विशाल मौर्य साम्राज्य की स्थापना की।

जिस युग में कौटल्य उत्पन्न हुए थे राष्ट्रवाद की आधुनिक चेतना का जन्म नहीं हुआ था और हो भी नहीं सकता था। उस समय तो छोटे-छोटे हजारों राजतंत्रों तथा गणतंत्री राज्यों में यह देश बिखरा हुआ था। प्रत्येक राजा स्वयं को चक्रवर्ती समझता था, और प्रजाजनों की दृष्टि राजनीतिक रूप में अत्यधिक संकीर्ण थी। भारत एक भूखण्ड मात्र था जो जम्बुद्वीप का एक भाग था। सबसे पहले कौटल्य ने राष्ट्र के रूप में इसकी न केवल कल्पना की बल्कि एक प्रभावशाली राजसत्ता के अन्तर्गत इसे लाकर एक राजनीतिक ईकाई का दर्शन भी कराया।

इसके दो निर्णायक कारण हो सकते हैं – एक तो यह कि यदि सिकन्दर के आक्रमण के समय स्वयं कौटल्य तक्षशिला में न होते, वहीं के रहने वाले न होते और अपने देश के युवराज अम्भि को देश डाह करते न देखते तो उनके मन में वह प्रबल भावना उत्पन्न न होती जिससे उन्हें पूरे देश के प्रचलित राजतंत्रों तथा संघराज्यों का उच्छेद करके एक विशाल साम्राज्य की रचना का स्वप्न साकार करने की प्रेरणा मिली।

परन्तु प्रेरणा तो अन्य व्यक्तियों को भी मिली होगी। वे साधनों तथा अनुकूल परिस्थितियों के अभाव में विवश होकर रह गये होंगे। परन्तु कौटल्य अति प्रभावशाली व्यक्ति थे और तक्षशिला विश्वविद्यालय के दस हजार छात्रों तथा अध्यापकों पर उनके व्यक्तित्व की बड़ी गहरी छाप थी। यह विश्वविद्यालय ही था जिसका निर्णायक सहयोग पाकर सबसे पहले वह अम्भि को पदच्युत करके तक्षशिला के राजतंत्र पर अधिकार जमा सके और पुनः उसी के आधार पर पूरे उत्तर पश्चिमी भारत पर छा गये।

इस प्रकार अलक्षेन्द्र के आक्रमण की ऐतिहासिक घटना ने भारत के राजनीतिक रूपान्तरण में ऐतिहासिक मोड़ ला दिया। इसके उपरान्त कभी भी और किसी अवसर पर राजनीतिक ईकाई के रूप में भारत का अस्तित्व आँखों से ओझल नहीं हुआ।

इस प्रकार, कौटल्य का यह स्वरूप परिचय उनकी ऐतिहासिक भूमिका का सही मूल्याँकन करके दिया गया है, न कि उन्हें अवतार मानकर अतिशयोक्तिपूर्ण चमत्कारों से परिचय कराया गया है। आधुनिक राष्ट्रवादी उस महान् राजनेता के प्रति कृतज्ञता प्रकट

करने से विमुख नहीं रह सकते जिसने सबसे पहले हिमालय से सागर तक एक विशाल भारत की राजनीतिक कल्पना साकार की थी।

जब भारत राजनीतिक दृष्टि से बिखरा हुआ था और सामाजिक रूप में टूटा था तथा उसकी प्रतिरोध शक्ति शून्य बिन्दु पर थी, ऐसे ही समय में ईसा पूर्व ३२७ में हिमालय का हिन्दुकश पर्वत पार करके सिकन्दर भारत के सीमान्त नगर निकाई में आ धमका जहाँ तक्षशिला के युवराज आम्भि ने बहुमूल्य रत्नों, मणियों, हीरक मुकुट और अपार धनवैभव के साथ उसका स्वागत किया। युवराज आम्भि यह आशा रखता था कि सिकन्दर तो आँधी और तूफान की तरह आकर तथा भारत के समस्त राजमुकुटों को एक ही झटके में रौंदकर असीमित वैभव लूटकर यवन देश चला जायेगा। उसके लौट जाने के बाद तक्षशिला भारत की राजधानी बन जायेगी तथा अम्भि भारत का महान् सम्राट बनकर उभरेगा।

भारत पर उसका आक्रमण वास्तव में ईरानी प्रभुत्व का अन्त करने वाला ही सिद्ध हुआ। इसलिए कि वह जहाँ-जहाँ भी गया वहाँ अधिकांश रूप में ईरानी (पारसीक) प्रभुत्व ही छाया हुआ था।

इससे पहले भी भारत पर अनेक आक्रमण हुए थे और वे प्रायः सभी हिमालय को पारकर तथा लांघकर ही हुए थे। युगों से हिमालय भारत का सन्तरी था। परन्तु अब यह सन्तरी सोया हुआ था और हमारे शत्रुओं का प्रवेश रोक पाने में असमर्थ था। हिमालय और भारतवर्ष एक दूसरे से अभिन्न हैं। भारत के विना हिमालय की और हिमालय के बिना भारत की कल्पना करना भी संभव नहीं है।

विश्व का यह सबसे लम्बा चौड़ा और ऊँचा पर्वत प्रकृति का एक चमत्कार ही है। भारत की हजारों लोककथाओं तथा काव्यों और महाकाव्यों में इसके रोमांचकारी कथानक भरे पड़े हैं। तिब्बत, कैलाश, मानसरोवर, गौरीशिखर, कश्मीर, गढ़वाल, अल्मोड़ा, दार्जीलिंग और न जाने कितने भू-क्षेत्र हिमालय के साथ जुड़े हुए हैं। यह लगभग २४०० किलोमीटर लम्बा, कहीं २४० और कहीं ३२० किलोमीटर चौड़ा और २६१४३ फुट तक ऊँचा पर्वतराज है। इसके सिर पर बारह महीने हिममुकुट चढ़ा रहता है और गंगा, यमुना आदि इसे पवित्र स्नान कराकर भारत की प्यास बुझाती हुई अन्त में महासागर में विलीन हो जाती हैं। इसने सदियों तक भारत की सुरक्षा के लिए ऊँची दीवार का काम किया है तथा सैकड़ों हजारों नदियों को जन्म देकर इस देश को धनधान्य का भण्डार बनाकर विश्व के लुटेरों को भारत की ओर दौड़ाया है।

ऐसा ही एक लुटेरा ईसापूर्व ३२७ में काम्भोज, गान्धार और पुष्पपुर (पेशावर) होता हुआ हिमालय पार करके भारत की ओर आया था।

परन्तु यह पहला आक्रमणकारी नहीं था। सिकन्दर से भी बहुत पहले से यह देश आक्रमणों का शिकार होता रहा है। हिमालय के प्रसिद्ध दर्रे अर्थात् गुहामार्ग-हिन्दुकुश, सुलेमान, किरथर, खेवन्द, बोलन, भिकराम और टॉची उन्हें मार्ग देते रहे हैं।

इन्हीं दर्रों के मार्ग से परसीक साम्राज्यवादी पुरुष ने ईसापूर्व ५५० में ईरान से

प्रस्थान करके भारत पर आक्रमण किया था। परन्तु सिन्धु नदी के तट पर भारतीयों ने उसकी पिटायी की और पारसीक देश की ओर ही वापस धकेल दिया। परन्तु वह शान्त नहीं बैठा। कुछ वर्ष बाद ही उसने पुनः आक्रमण करके अश्वकों तथा पक्तों (पश्तोभाषी) भारतीयों को अपने अधिकार में कर लिया तथा ईरानी साम्राज्य की सीमाएँ भारतीय सीमाओं तक ले आया।

तीसरा सबसे बड़ा आक्रमण ईसा पूर्व ४८५ में दारा प्रथम ने किया और भारत के गान्धार और कम्भोज क्षेत्रों के अलावा पंजाब तथा सिन्ध देश के भी कुछ भागों को ईरानी साम्राज्य के साथ मिला लिया।

दारा के पुत्र एवं उत्तराधिकारी सहयार्थ ने भी भारत पर आक्रमण जारी रखा। भारतीय प्रदेशों को पारसीक साम्राज्य का अंग बनाने को उनकी महत्त्वाकांक्षा कई सदियों तक बनी रही।

सिकन्दर के आक्रमण से भारत के वे ही प्रदेश अधिक प्रभावित हुए जिन पर पारसीक साम्राज्य का प्रभुत्व था।

यद्यपि यह सही है कि पोरस (पर्वतक) उससे बड़ी वीरता के साथ लड़ा और हार गया परन्तु उसकी वीरता उस समय केवल पाखण्ड एवं कायरता बनकर रह गयी जब उसने यवन देश लौटते सिकन्दर की अधीनता स्वीकार कर ली और उसका क्षत्रप (प्रतिनिधि) बनना अंगीकार कर लिया। सिकन्दर को विजय के लिए अन्य राजनीतिक कारणों के अलावा तक्षशिला के युवराज अम्भि के विश्वासघात के अलावा सन्निकट देश के राजा शशि गुप्त और अभिसार ने भी देशद्रोह करके सिकन्दर का साथ दिया।

माना कि मगध का विशाल साम्राज्य सिकन्दर के आक्रमण से प्रभावित नहीं हुआ था, परन्तु उत्तर पश्चिमी भारत के निम्नलिखित गणराज्यों को इस आक्रमण ने पूरी तरह हिला दिया था। वे थे अश्वक, गोर, नीस, ग्लुच, कायम, अद्रिज, कठ, सौभूति, शिवि (स्यालकोट), क्षुद्रक, मालव, भूसिक, पोरथ, साम्ब और अन्य। पश्चिमोत्तर भारत के इन गणराज्यों के नेताओं पर जनता का विश्वास नहीं रहा और उन्होंने यह मान लिया था कि यदि इन गणतंत्री राज्यों के मुखिया वीरता एवं साहस से काम लेते तो सिकन्दर इस प्रकार कदापि जीवित स्वदेश न लौट पाता।

बाद में विष्णु गुप्त कौटल्य ने इस व्यापक जन-असन्तोष का पूरा लाभ उठाया और नेतृत्व के विरुद्ध जनविद्रोह संगठित करके पर्वतक के नेतृत्व में एक अभूतपूर्व उत्तर पश्चिमी साम्राज्य की स्थापना कर दी।

जैसा कि कहा गया है कि तक्षशिला के युवराज अम्भि, झेलम प्रदेश के पर्वतीय राजा अभिसार ने देश के साथ जो विभीषण कार्य किया उसके विरुद्ध जनता में विशेष रोष व्याप्त था। चेनाब और झेलम के मध्यवर्ती क्षेत्रों के राजा पोरस के प्रति लोगों में श्रद्धा की भावनाएँ अवश्य थीं। इसका उसे फल भी मिला। परन्तु नये साम्राज्य के संस्थापक कौटल्य उस पर अधिक भरोसा करने को तैयार नहीं थे।

यह आश्चर्य ही है कि वह राजतंत्रों को ध्वस्त करने में सफल हो गया। परन्तु सिकन्दर कुल मिलाकर १६ महीने भारत में रहा और उसका पूरा समय युद्धों में ही व्यतीत हुआ। उसके सैनिक इन युद्धों में इतने व्याकुल हो चुके थे कि शीघ्रातिशीघ्र स्वदेश लौटने के लिए अधीर थे। जितने यूनान से चले थे, उनमें से आधे तो मौत के घाट उतर चुके थे और जो मार्ग में अन्य देशों की जनता में से भर्ती किये गये थे, उनके प्रति सिकन्दर का विश्वास अधूरा था।

अतः उसे भारत विजय और विश्वविजय के सपने अधूरे छोड़कर ही स्वदेश वापस लौटना पड़ा था।

भारत में उसे दो प्रकार की राजनीतिक शक्तियों के विरुद्ध लोहा लेना पड़ा। एक थे राजतंत्री देश जहाँ राज की इच्छा ही सर्वोपरि होती थी, और दूसरे थे गणतंत्री देश जहाँ मिलकर फैसले किये जाते थे और विशिष्ट अवसरों पर एक निश्चित अवधि के लिए गणसंघ के नेतृत्व करने के लिए विशिष्ट व्यक्ति अथवा व्यक्ति-समूह का चुनाव कर लिया जाता था। गणतंत्री प्रथा वास्तव में आर्यों के विभिन्न कुलों (कबीलों) की परम्पराएँ ध्यान में रखकर चलायी जाती थी। भारत के जिन प्रदेशों में आर्यों का प्रभुत्व था, वहाँ प्रायः गणतन्त्री प्रथा का प्रभुत्व था और जहाँ ऐसा नहीं था, वहाँ या तो राजतंत्र प्रचलित था और या दोनों व्यवस्थाएँ प्रचलित थीं।

सिकन्दर के आक्रमण के समय उत्तर-पश्चिमी भारत में विभिन्न आर्य कुलों के गणतन्त्री शासन अस्तित्व में थे। कुछ राजतंत्र भी थे जैसे झेलम और चेनाब के बीच का राजा पोरस या पर्वतक, तक्षशिला का नागवंशी युवराज अम्भि और वहीं एक भिन्न राजतंत्र के पर्वतीय राजा अभिसार तथा शशि गुप्त। यह दुर्भाग्य ही था कि पोरस के अलावा तीनों राजाओं ने देश को धोखा दिया तथा सिकन्दर की दलाली की। परन्तु वहीं गणतन्त्री राज्यों ने जमकर सिकन्दर से लोहा लिया और जब वे हार जाते थे तो दूसरे संघर्षरत गणतंत्र की भूमि में पहुँचकर सिकन्दर से युद्ध करने लगते थे।

इस प्रकार, सिकन्दर के विरुद्ध युद्ध में गणतन्त्री राज्यों ने अपनी देशभक्ति एवं बाहरी आक्रमणकारी के प्रति अपनी गहरी घृणा का परिचय दिया था।

ग्लुच निकाई, अद्रिज, कठ, शिवि (स्यालकोट) अलग, सोई शूद्रक और गालव आदि गणतन्त्रों ने सिकन्दर के विरुद्ध ऐसा भीषण युद्ध किया था कि वह विश्वविजय के सारे सपने भूल गया।

ये गणसंघी राज्य आर्यों की सभी जातियों के थे जिनमें क्षत्रिय, शूद्र और वैश्य तथा ब्राह्मण आदि सम्मिलित थे। कश्मीर और सिन्ध के गणतंत्री राज्यों का संचालन मुख्य रूप से ब्राह्मण करते थे। शूद्रक गणतंत्र में शूद्रों का, शिवि में क्षत्रियों का और गालव गणतंत्र में वैश्यों की प्रमुखता थी।

सिकन्दर के आक्रमण ने दोनों शासन प्रणालियों की सारहीनता का भाण्डा फोड़ दिया। राजतंत्री नरेश केवल अपने संकीर्ण स्वार्थों से प्रेरित होकर राज्य का संचालन करते

थे। देशहित एवं प्रजा-कल्याण की भावनाएँ उनके मानस में बहुत कम महत्त्व रखती थीं।

इसके अलावा ये नरेश इतनी संकीर्ण मनोवृत्ति के थे कि छोटी-छोटी बातों पर एक दूसरे से टकराते रहते थे। वे कभी मिलजुल कर किसी प्रश्न पर विचार कर ही नहीं सकते थे। अधिकतर उनकी रुचियाँ अपने रनवासों पर जुड़ी रहती थीं। किसके रनवास में कितनी अद्‌भुत सुन्दरियाँ हैं और कैसी भोग-विलास सामग्री उसके पास है, इसी में वे अपना चरम उत्कर्ष मानते थे। प्रायः एक दूसरे की स्त्रियों तथा कन्याओं का अपहरण करने में अपनी वीरता का बखान करते थे। प्रजाजनों में से भी किसी की सुन्दर कन्या को मेले में से उठा लेने में उन्हें संकोच नहीं होता था। वे अपनी वीरता का दम तो बहुत भरते थे, परन्तु शत्रु के विरुद्ध युद्धभूमि में नहीं, बल्कि अपने शयनकक्ष में चुरायी गयी परस्त्रियों के सामने। निःसन्देह कुछ नरेश प्रजा-वत्सल एवं धर्मप्राण भी होते थे। परन्तु दुर्भाग्य से सिकन्दर के आक्रमण के समय वे कहीं दृष्टिगोचर नहीं हुए।

जहाँ तक गणतंत्री राज्यों का सवाल है उन्होंने पारसीकों और यवनों के आक्रमणों के समय अपने युद्ध-कौशल, त्याग तथा वीरता का अच्छा परिचय दिया था। वे संगठित होकर बाहरी शत्रु के विरुद्ध वीरता से लड़े। कौटल्य ने अपने अर्थशास्त्र में इनकी भूरि-भूरि प्रशंसा भी की है। परन्तु गणतंत्री राज्य एक तो अपनी ही सीमाओं तक सीमित रहते थे, पूरे देश के सम्बन्ध में सोचने की उनकी क्षमताएँ शून्य के समान थी। वे प्रायः एक ही कुल या कबीले के परिवेश में सोचने के अभ्यस्त थे। दूसरे, गणतंत्र या कुल के साथ उनका स्वाभाविक विरोध इतना तीव्र होता था कि प्रयास करने पर भी उनके पूर्वाग्रहों से मुक्ति पाना असंभव हो जाता था। उत्तर पश्चिम भारत के जिन गणतंत्री राज्यों ने सिकन्दर से मोर्चा लिया और अन्त में उसे भारत से वापस चले जाने को विवश किया, यदि वे आपस में मिलकर सिकन्दर से युद्ध करते तो वह वापस न जा पाता। भारत में ही उसकी अग्नि-चिता जलती। परन्तु वे चाहते हुए भी ऐसा नहीं कर सके। और जब वे यह समझ पाये कि मिलकर युद्ध करने से ही विजय मिल सकती है तब वे इस योग्य ही नहीं रह गये थे। तब मिलते भी तो अर्थहीन होते।

इस प्रकार, सिकन्दर के आक्रमण ने भारत को जड़मूल से हिला दिया था। जो भावनाएँ पहले कभी मनों में नहीं उपजी थीं, वे जन-जन के मन में हिलोर मारने लगीं। इससे पहले भी विदेशी आक्रमणकारी आये थे और देश के महत्त्वपूर्ण भूभागों पर अधिकार जमाकर बैठ गये थे। देशवासियों ने यह अनुभव नहीं किया कि उनका ही एक भाग शत्रुओं ने छीन लिया है। वे तो बस ! यह सोचकर सन्तोष कर लेते थे कि अमुक राज्य अमुक भाग किसी ने छीन लिया है। परन्तु सिकन्दर के आक्रमण के प्रति लोगों के मनों में भिन्न भावनाएँ थीं। पहली बार देश में राष्ट्रवाद उभरा था और अलक्षेन्द्र को आक्रमणकारी के रूप में पूरे देश का सामान्य शत्रु माना था।

इतना ही नहीं, जिसने भी उससे समझौता किया या उसका साथ दिया उसे देशद्रोही समझा गया। उससे वार्ता करना तो दूर, उसका मुख देखना भी लोगों को रुचिकर नहीं था।

इसका एक उदाहरण देना सामयिक होगा।

यवन देश से प्रस्थान करते समय सिकन्दर के गुरु अरस्तू ने भारत में कुछ विद्वानों तथा साधुओं के नाम बताये थे। कहा था कि वह उनसे अवश्य मिले और संभव हो सके तो उन्हें यवन देश अपने साथ लाये। इनमें तक्षशिला के प्रसिद्ध विद्वान और आयुर्विज्ञान के अध्यापक सुश्रुत एवं तक्षशिला के विद्वान् साधु मुनि मन्दामिस भी थे। सिकन्दर ने अम्भि से कहा कि वह उनके निवास स्थान पर जाकर मिलना और अपने गुरु का सन्देश देना चाहता है। परन्तु अम्भि ने बदली हुई जनभावनाओं को न समझते हुए कहा कि वे मेरी प्रजा हैं और उन्हें यहीं आपके पास बुलवा देते हैं। यह कहकर उसने अपना एक अधिकारी साधु मन्दामिस के पास भेजा और कहलवाया कि युवराज अम्भि उसे सिकन्दर से मिलने के लिए बुला रहे हैं। साधु बड़ा ही स्वाभिमानी और देशभक्त था। सुनते ही उसने उत्तर दिया कौन अम्भि जिसने यवन की दासता स्वीकार कर ली है? और कौन सिकन्दर जिसने लाखों निर्दोष व्यक्तियों का रक्तपात किया है? उनसे कह दो कि साधु उनका मुँह भी देखना नहीं चाहता।

ऐसा ही उत्तर सुश्रुत ने भी दिया। सुश्रुत के सम्बन्ध में एक कथानक और भी गुरु परम्परा से सुनने में आता है। उन दिनों यूनानियों और भारतीयों में बौद्धिक प्रतिस्पर्द्धाएँ चला करती थीं। यूनानी हकीम लुकमान ने सुश्रुत की परीक्षा लेने के लिए एक हष्टपुष्ट यूनानी को चिकित्सा के लिए तक्षशिला भेजा। यूनानी ने लुकमान से कहा कि मैं हष्टपुष्ट हूँ, कोई बीमारी भी मुझमें नहीं है, फिर चिकित्सा के लिए तक्षशिला क्यों भेजते हैं। लुकमान ने कहा कि तुम बहुत बीमार हो। तक्षशिला जाओगे तो बीमारी का पता चल जायेगा।

हजारों किलोमीटर चलकर यवन तरुण तक्षशिला पहुँचा तो बहुत निर्वल एवं रोगी था। उसने वैद्य सुश्रुत को अपनी गाथा सुनायी। वैद्य ने पूछा कि तुम्हें क्या कष्ट है तरुण यवन ! उसने कहा कि हकीम लुकमान ने कहा था कि तक्षशिला पहुँचते-पहुँचते तुम गम्भीर रूप से रोगी हो चुकोगे। वैद्य सुश्रुत तुम्हारी चिकित्सा करेंगे। वैद्य समझ गये कि कुछ रहस्य है। पूछा क्या कुछ और भी कहा था? यवन ने कहा कि मार्ग में इमली के वृक्ष के नीचे रातें बिताने को कहा था और इमली का एक दो फल खाने को कहा था। वैद्य सुश्रुत सब समझ गये और बोले, युवक ! तुममें कोई रोग नहीं है। यहाँ से सीधे स्वदेश लौट जाओ और रास्ते में नीम के वृक्ष के नीचे रातें गुजारते जाओ। कभी-कभी एक दो निबोली भी खा लेना और गन्ने की एक दो पोरी चूस लेना। उसने ऐसा ही किया। लुकमान के पास पहुँचा तो वह हष्टपुष्ट नवयुवक बन गया था। हकीम लुकमान सारी स्थिति भाँप गये और हार मान गये।

यूनान और भारत के बुद्धिजीवियों में बड़ा व्यापक सम्पर्क रहता था। यूनान (यवन देश) पहला योरोपीय देश था जिसके माध्यम से योरोप तथा भारत के सबसे पहले सम्बन्ध जुड़े थे।

योरोप के इस नरसंहार ने देश में पहली बार राष्ट्रीय चेतना एवं राष्ट्रीय एकता को जन्म दिया था।

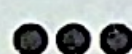
इसके अलावा, पहले से स्थापित पारसीक साम्राज्य की सीमाएँ ध्वस्त करके तथा

विदेशी साम्राज्यवाद के पंजों से भारतीय प्रदेशों को मुक्त करके और पश्चिमोत्तर भारत के ३० से अधिक गणतंत्री एवं राजतंत्री राज्यों को विध्वस्त करके सिकन्दर ने विष्णु गुप्त कौटल्य जैसे राजनेताओं का मार्ग प्रशस्त कर दिया जो छोटे-छोटे राज्यों के स्थान पर पश्चिमोत्तर भारत में बाहरी आक्रमणों से बचने के लिए एक विशाल साम्राज्य की स्थापना करना चाहते थे।

और आगे चलकर इसी साम्राज्य की स्थापना ने शक्तिशाली मौर्य-साम्राज्य की स्थापना का स्वप्न साकार किया था।

इससे पहले किसी को भी यह समझ पाना सरल नहीं था कि भारत में एक केन्द्रीय राजनीतिक सत्ता की आवश्यकता है और इसके लिए मगध की राजधानी पाटलिपुत्र ही एक आदर्श एवं उपयुक्त स्थान हो सकता है।

पश्चिमोत्तर भारत के प्रदेशों पर पहले पारसीक (ईरानी) और बाद में यवन सत्ता के स्थानान्तरण ने भारत के पूर्वी और पश्चिमी भागों में एकता की भावना को जन्म दिया। लोगों को यह समझने में देर नहीं लगी कि आज यदि गान्धार, काम्भोज, शिवि, शालक और शूद्रक राज्यों पर विदेशी प्रभुत्व स्थापित है, तो कल पूर्व के राज्यों तक भी उनका विस्तार हो सकता है।



अध्याय-पाँच

कौटल्य की सफलता के कारण

जैसा कि सभी जानते हैं और पुस्तक के पहले अध्याय में कहा भी जा चुका है कि तक्षशिला साम्राज्य की स्थापना और इसके बाद विशाल मौर्य साम्राज्य के उदय की कहानी महान राजनेता विष्णुगुप्त कौटल्य के उदय की ही कहानी है। यह विडम्बना ही समझनी चाहिए कि यवन देश का महान दार्शनिक अरस्तू अपने शिष्य सिकन्दर को रक्तपात करके विश्वविजय के अभियान पर निकलने से नहीं रोक सका। यही अरस्तू की सबसे बड़ी विफलता थी। इसके अलावा, वह सत्य की खोज करके जिस मार्ग पर यवन 'देश' को चलाना चाहता था, नहीं चला पाया। जिन सामाजिक शक्तियों के उत्थान के लिए वह प्रयत्नशील था और सच्चे लोकतंत्र के सपने देखता था, अन्त में प्रतिक्रियावादी शक्तियों ने उसे मिटा दिया और सिकन्दर भी अन्त में हताश शत्रुओं से घिरा हुआ अल्पायु में स्वर्ग सिधार गया था। वहाँ उसी युग में भारत की स्थिति भिन्न थी। अरस्तू की तुलना में महर्षि विष्णु गुप्त कौटल्य अपनी योजनाएँ कार्यान्वित करने में सफल रहे। उन्होंने जिन दो साम्राज्यों की स्थापना की, न केवल उनका स्वयं संचालन करते रहे बल्कि एक की तक्षशिला को, जो उनका अपना था, मगध साम्राज्य में मिलाकर भारत के एकीकरण का अभूतपूर्व अभियान भी चला सके। सभी पुराणों, नाटककारों, साहित्यकारों तथा इतिहासकारों ने एक स्वर से यह तो स्वीकार किया है कि विष्णु गुप्त कौटल्य ने नन्दवंश का उच्छेद किया तथा मौर्य साम्राज्य की स्थापना की परन्तु इन सभी ने प्रायः एक ही प्रकार की दो भूलें की हैं।

पुराणकारों ने यह तो स्वीकार कर लिया है कि वह तक्षशिला के रहने वाले थे, और प्रसिद्ध नागवंशी राजा तक्षक के नाम पर स्थापित तक्षशिला विश्वविद्यालय के ज्ञानकेन्द्र से उनका सीधा सम्बन्ध था, परन्तु वे यह बताने में असमर्थ हैं कि १६०० किलोमीटर दूर पाटलिपुत्र में नन्दों से संघर्ष करने या उनके श्राद्ध में भोजन करने के लिए इतनी दूर आने का या नन्दों के राजमहलों के बाहर कुशाएँ उखाड़ने तथा उनकी जड़ों पर मट्ठा डालने का उसका प्रसंग एवं सामयिकता क्या थी? दूसरे, कुछ इतिहासकार यह भी लिखते हैं कि सिकन्दर के आक्रमण के समय कौटल्य विश्वविद्यालय में ही थे और उत्तर पश्चिमी राज्यों की भूमिका पर उन्हें बड़ा रोष था। यह बात बहुत माथापच्ची की और सिर पर जोर डालने की नहीं है। ईसापूर्व ३२७ में जब सिकन्दर ने भारत भूमि पर आक्रमण किया था, इसके साथ ही मौर्य साम्राज्य की स्थापना एवं उसमें कौटल्य की महत्त्वपूर्ण भूमिका से यह तो स्पष्ट ही है कि सिकन्दर के आक्रमण और मौर्य साम्राज्य की स्थापना के बीच कोई महत्त्वपूर्ण सम्बन्ध है।

इसके अलावा, तक्षशिला का रहने वाला कौटल्य मौर्य साम्राज्य का संस्थापक एवं

प्रधानमंत्री बने, ये दोनों महत्त्वपूर्ण कार्य किसी जादू-टोने का चमत्कार नहीं हो सकते। किसी राजनीति-प्रक्रिया और संघर्ष के मध्य से निकलकर ही ये कार्य सम्पन्न हो सकते थे।

इसके अलावा, पुराणों और प्राचीन इतिहास तथा बौद्ध एवं जैन कथानकों से भी यह प्रकट है कि नन्दवंश के अधीन मगध साम्राज्य के सेनापति के रूप में जब चन्द्रगुप्त मौर्य ने पाटलिपुत्र में ही विद्रोह किया था तो उसे कुचल दिया गया था। अपनी भूल का उसे तब पता चला था जब भूमिगत रूप में रहते हुए उसने एक गृहिणी द्वारा अपने पुत्र को डांटते हुए यह सुना था कि तू तो रोटी को बीच से तोड़ता है किनारे से नहीं, तेरा हाथ क्यों नहीं जलेगा? चन्द्रगुप्त मौर्य ने भी तो सीमान्तों से हमला करने के स्थान पर नन्द साम्राज्य पर राजधानी के मध्यकेन्द्र से ही हमला किया था। मौर्य के लिए यह बहुत बड़ी शिक्षा थी। तभी से उसने विन्ध्याचल की पहाड़ियों में छिपकर सैनिक तैयारियाँ प्रारम्भ की थी।

परन्तु विष्णु गुप्त कौटल्य मौर्य नहीं थे। उनके सामने अपना निजी साम्राज्य स्थापित करने की लालसा भी नहीं थी। सिकन्दर के आक्रमण और देशवासियों के विश्वासघात एवं पराजय से तत्कालीन शासकों के विरुद्ध जनता में जो व्यापक रोष उत्पन्न हुआ था, उसका लाभ उठाने की योग्यता कौटल्य में अतिनिर्णायक थी।

इसके अलावा, उसके पास अपार विचार-शक्ति, प्रचार-साधन और संगठित शक्ति का स्रोत था। विश्वविद्यालय से प्रतिवर्ष हजारों विद्यार्थी उच्चशिक्षा पाकर देश के कोने-कोने में फैल जाते थे। कौटल्य ने सभी के साथ अपना सम्पर्क रखा था। फिर वह राजनीति का प्रकाण्ड पण्डित था। लोगों में भेद (फूट) डालना, मित्रों को जोड़ना तथा शत्रुओं को अलगाव में फेंक देना ऐसी कलाएँ थीं, जिनका वह विशेषज्ञ समझा जाता था।

सिकन्दर के जाते ही सबसे पहला काम उसने यह किया कि अभि, अभिसार और शशि गुप्त के राज्यों का तख्ता पलटकर हजारों किलोमीटर के क्षेत्र में एक नये प्रकार की स्थापना करा दी। जनता को यह समझा दिया गया कि इन राजाओं का तख्ता इसलिए पलट दिया गया है कि इन्होंने देश का विरोध तथा सिकन्दर का समर्थन किया था। यह तर्क बड़ी सरलता से लोगों की समझ में आ गया।

यद्यपि कौटल्य ने इस क्षेत्र का शासक प्रर्वतक को ही बनाया जिसने सिकन्दर से लोहा लिया था, परन्तु कौटल्य ने पोरस का अनुरोध स्वीकार न करके उसकी राजधानी को नहीं, बल्कि तक्षशिला को ही नये संघीय गणतंत्र की राजधानी बनाया। इसके उपरान्त उसने धीरे-धीरे पश्चिमोत्तर भारत के २० से अधिक गणतन्त्रों की स्वेच्छा से संघीय गणराज्य का सदस्य बना दिया। सदस्य गणतन्त्रों में प्रमुख थे गान्धार, काम्भोज ग्लुच (बल्लोचिस्तान का एक भाग) शिवि, शूद्रक, मालव, शालक (स्यालकोट) प्रकाण्ड, मद्रक मधुमन्त, अपोत वासत्ती, अश्वक और पक्तो (पश्तोभाषी) गणतन्त्र आदि।

ये गणतन्त्र आधा अफगानिस्तान, पूरे बलोचिस्तान, पूरे उत्तर-पश्चिमी सीमान्त राज्य, आधा पंजाब और कुछ सिन्ध तथा कश्मीर तक फैले हुए थे। सभी आर्य गणतन्त्र थे और विदेशी आक्रमणकारियों का प्रतिरोध करने की लालसा से प्रेरित थे। भारतीय इतिहास में

पहले कभी भी इतनी बड़ी संख्या में राजतंत्री या गणतंत्री राज्यों का स्वेच्छित संघ स्थापित नहीं हुआ था। इसकी स्थापना के मूलतः तीन प्रमुख कारण थे।

प्रथमतः इन सभी राज्यों पर तक्षशिला विश्वविद्यालय का बड़ा व्यापक प्रभाव था। इनके शासनतंत्रों तथा अन्य राजकीय कार्यों का संचालन प्रायः तक्षशिला विश्वविद्यालय के स्नातकों के हाथों में ही था। सभी स्नातक इस बात से भलीभाँति परिचित थे कि विश्वविद्यालय की विद्वत्परिषद क्या चाहती है और उसके फैसलों के अनुरूप आचरण करने से सभी राज्यों को क्या लाभ हो सकता है। दूसरे, यवन देशवासी अलक्षेन्द्र (सिकन्दर) ने सभी को पराजित एवं अपमानित किया था। वे यह सोचते थे कि सिकन्दर तो लौट गया है। भविष्य में दूसरा आक्रमणकारी उनके साथ और भी असहनीय दुर्व्यवहार कर सकता है जिसकी पुनरावृत्ति की कल्पना से भी वे चौंक पड़ते थे।

तीसरे, उनके पारस्परिक ऊहापोहों की रोकथाम करने तथा परस्पर सद्भावनाएँ उत्पन्न करने का एक भरोसेमन्द आधार उनके पास था। वह सभी को न्याय दिला सकता था और अन्याय रोक पाने में सक्षम था। यह विष्णु गुप्त कौटल्य था जिसका व्यक्तित्व एवं आदर्श पूरे विश्वविद्यालय पर छाये हुए थे। उसी के अनुरोध पर पश्चिमोत्तर भारत के समस्त गणतन्त्रों और राजतन्त्रों ने पर्वतक को अपना शासनाध्यक्ष स्वीकार कर लिया था और कौटल्य के कहने पर उन्होंने पर्वतक एवं उसके पुत्र दोनों को ही तक्षशिला एवं पाटलिपुत्र के एकीकरण में बाधक मानकर मार्ग से हटा दिया था। वास्तव में चन्द्र गुप्त मौर्य के अनुरोध पर नहीं, बल्कि पश्चिमोत्तर भारत के लगभग ५० से अधिक गणतन्त्रों एवं राजतन्त्रों के अनुरोध पर ही सुदूर पूर्व में आकर बसना और मौर्य साम्राज्य का प्रधानमंत्री बनना कौटल्य ने स्वीकार कर लिया था। उत्तर पश्चिमी भारत और पूर्वी तथा दक्षिणी भारत के बीच केवल कौटल्य ही सर्वमान्य व्यक्ति हो सकते थे और थे। भारत में एक केन्द्रीय विशाल सत्ता का निर्माण करने की तो कौटल्य की स्वाभाविक इच्छा थी और इस इच्छा तथा उद्देश्य की पूर्ति करने के लिए उन्होंने रक्त बहाये बिना ही जिस तरह एक-तिहाई भारत जोड़ा वह केवल उन्हीं के वश का था।

मौर्य के विजयी होते ही उनके हजारों प्रशिक्षित एवं दीक्षित छात्रगण कोसल, वत्स, लिच्छवि, मल्ल, शाक्य, मालव, विदेह और दूसरे पचासों गणसंघों तथा राजतन्त्रों में फैल गये। कौटल्य की दृष्टि में सर्वाधिक महत्त्व मगध या पाटलिपुत्र का था। इसके दो मुख्य कारण थे।

प्रथमतः नन्द सम्राट अत्यधिक निरंकुश, स्वेच्छाचारी और प्रजाविरोधी थे। वे एक ओर तो शक्टार को प्रधानमंत्री बनाने के लिए विवश थे और उसे अनेक बार कारागारों में भी निक्षिप्त कर चुके थे। शक्टार का अमात्य परिषद् एवं प्रजाओं पर व्यापक प्रभाव था। सन्निकट राज्यों, जिनमें अधिकतर गणतंत्री राज्य थे, और राजतंत्री राज्यों के साथ भी नन्दों के शत्रुता पूर्ण व्यवहार थे। एक बार शक्टार का और दूसरी बार चन्द्रगुप्त मौर्य का विद्रोह विफल हो जाने के बाद भी नन्द साम्राज्य की स्थिति दृढ़ नहीं हुई। विपरीत इसके, इन दोनों विद्रोहों ने नन्द साम्राज्य को अन्दर से खोखला कर दिया। सीमान्त देशों के साथ उसका

संघर्ष चलता रहता था और अन्दर ही अन्दर प्रजाजन उसके पतन के सपने सँजोते रहते थे।

ऐसे ही अवसर पर विष्णु शर्मा के नेतृत्व में तक्षशिला के हजारों शिक्षित एवं प्रदीक्षित विद्वान एवं छात्रगण मगध-साम्राज्य में फैल गये। कौटल्य स्वयं तक्षशिला में ही बैठा था। सभी नन्दों का प्रमुख सलाहकार कौटल्य का गुप्तचर था। प्रत्येक अधिकारी उसी के गुप्तचर की सलाह पर चलता था। पूरे मगध में हजारों सपेरे, ज्योतिषी, नर्त्तक, वादक, नट, कुशीलव, बन्दर नचाने वाले जादूगर, पशु चिकित्सक, गरल देने वाले, कथावाचक, बंसरी बजाने वाले और न जाने किस-किस भेष और पेशे में कौटल्य के आदेशों का पालन करते हुए मगध एवं पाटलिपुत्र में घुसपैठ कर गये।

यह राजनीतिक अभियान इतना व्यापक था कि पाटलिपुत्र और पूरे मगध में इसका जाल पूरा जा चुका था। यहाँ तक कि मगध पड़ोसी राज्यों में जहाँ विष्णु गुप्त कौटल्य के शिष्यों एवं समर्थकों का प्रभुत्व अतुलित था, यह आशा व्याप्त थी कि मगध साम्राज्य का पतन किसी भी समय हो सकता है। जिस व्यक्ति के हाथों में एक तिहाई भारत का विशाल साम्राज्य नाचता था वह मगध पर आक्रमण करके भी उसका विध्वंस कर सकता था। परन्तु कौटल्य ने कम से कम रक्त बहाकर तथा युद्ध की अपेक्षा कूट युद्ध का सहारा लेकर पहले तक्षशिला और अब बाद में मगध के पाटलिपुत्र में सत्ता का हस्तान्तरण आयोजित किया। पूरे मगध में पूर्वोक्त आजीवकों तथा पेशों के भेष में गुप्तचरों का जो जाल बिछा दिया था, उसमें अधिकांश सशस्त्र सैनिक थे और उनका निर्देशन राजनीतिक व्यक्तियों के हाथों में था। जिस रात मगध का पतन हुआ उसकी उसी प्रभात बेला में बड़ी धूम-धाम के साथ और विजेता के रूप में कौटल्य ने पाटलिपुत्र में प्रवेश किया। लोगों का यह सोचना स्वाभाविक था कि इस विशाल साम्राज्य के सम्राट स्वयं विष्णु गुप्त कौटल्य होंगे। परन्तु लोकाशाओं के विपरीत उन्होंने चन्द्र गुप्त मौर्य को उनकी अनुपस्थिति में ही सम्राट घोषित कर दिया। जातक कथाओं और जैनग्रन्थों में यह प्रसिद्ध है कि जंगली जातियों और शिकारियों की सहायता से उन्हें विन्ध्याचल की पहाड़ियों से ढूँढ़ कर लाया गया जबकि वह इससे पहले ही सम्राट घोषिट हो चुके थे।

मौर्य को जिस विश्वास के साथ कौटल्य ने सम्राट घोषित किया, उन आशाओं के विपरीत कभी आचरण नहीं किया। कौटल्य ऐसे सम्राट की कल्पना करते थे जो नाममात्र को सम्राट हो, अनुशासित जीवन व्यतीत करने को तैयार हो, जिसके हाथों में सत्ता नाममात्र को हो और जटिल राजकाज चलाने, नीति निर्धारण करने तथा जनसम्पर्क एवं सामाजिक न्याय की स्थापना के लिए राज्य व्यवस्था का संचालन योग्य व्यक्तियों द्वारा चलाना संभव हो। यदि कौटल्य सुख वैभव भोगना ही राज्य सत्ता का परम लक्ष्य मानते तो स्वयं सम्राट बनते। इसलिए कि तक्षशिला और पाटलिपुत्र के अर्थात् दोनों साम्राज्यों के वह एक मात्र संस्थापक थे और उन्होंने ही अन्त में तक्षशिला का सत्ता-केन्द्र मगध में विलीन कर दिया था।

दूसरी बात यह थी कि अर्थव्यवस्था में नये तत्वों एवं शाखाओं का उदय हो जाने

से समाज का ऊपरी ढाँचा बहुत बदल गया था और अति जटिल होता जा रहा था। आर्थिक, सामाजिक, न्यायिक और प्रशासनिक जटिलताएँ इतनी बढ़ गयी थीं कि किसी भी एक राजा या सम्राट के लिए उनका देखभाल एवं संचालन करना असंभव हो गया था। राजा या सम्राट चाहे जितना विद्वान, सक्षम और प्रतापी क्यों न हो, वह विशेषज्ञों द्वारा किये गये कार्यों का अकेला सम्पादन नहीं कर सकता था।

यही कारण है कि कौटल्य ने अपने शासन विधान में ऐसे १५ प्रमुख अध्यक्षों की व्यवस्था की जो १५ प्रकार की आर्थिक व सामाजिक शाखाओं का संचालन एवं दिशा-निर्देशन करते थे। आगे के अध्यायों में इनका विस्तार के साथ वर्णन किया गया है।

ऐसा उत्तरदायित्व पूर्ण सम्राट जो, मंत्रिपरिषद् और अध्यक्षों के साथ सहयोग करके राजकाज चलाता है, चन्द्र गुप्त मौर्य ही था और उसका चयन करके कौटल्य ने अपनी अद्भुत दूरदर्शिता का ही परिचय दिया था।

वास्तव में कौटल्य का उदय भारतीय इतिहास में नये युग का उदय है। समाज विकास एवं परिवर्तनों की ऐसी संक्रान्तियों के मध्य से गुजर रहा था जिनका सामना पुराने राजनीतिक ढाँचे से किया जाना संभव नहीं था। अतः बाहरी आक्रमणों तथा आन्तरिक परिवर्तनों की आवश्यकताओं पर विचार करके कौटल्य ने सत्ता और अर्थव्यवस्था का जो संतुलित ढाँचा खड़ा किया था, वही उन जटिलताओं का सामना कर सकता था जो उस समय मुँह बा कर समाज के सामने खड़ी थीं।

कौटल्य का उदय आकस्मिक घटना नहीं थी। वह युग और परिस्थितियों की माँग थी। तभी तो पूरे ८०० वर्षों तक वह अबाधगति से चलती रही। सम्राट आये ओर चले गये। परन्तु उस प्रशासनिक व्यवस्था का चौखटा नहीं तोड़ पाये जिसे कौटल्य ने बहुत सोच समझ कर तैयार किया था।

वाद की घटनाएँ यह दिखाती हैं कि कौटल्य द्वारा स्थापित राजतंत्र की मर्यादाओं का उल्लंघन करने पर राजतंत्रों के मुकुट धूल में मिल गये। उदाहरण के लिए, मौर्यवंश का अन्तिम सम्राट वृहद्रथ अपने प्रपितामह अशोक बिन्दुसार और चन्द्र गुप्त मौर्य का अनुशासित जीवन छोड़कर निरंकुश एवं भोगविलासी बन गया; राजतंत्र की मर्यादाएँ भार समझने लगा; विदेशी आक्रमणकारियों को भूल गया तथा प्रजा का कल्याण एवं सुव्यवस्था स्थापित करना उसके आदर्श नहीं रहे। ईसवी पूर्व १८५ में वह यवन नरेश मिलण्डेरे का सामना करने से बचने लगा और ऐसा लगता था जैसे भारत पराधीन हो जायेगा।

एक अन्य यवन नरेश डिमिट्रियस ने शालक (स्यालकोट) पर अधिकार कर लिया था और नयूक्रटा ईरोक नामक यवन राजा ने तक्षशिला पर शासन जमा लिया था जो कौटल्य के समय एक तिहाई भारत की राजधानी थी। सम्राट वृहद्रथ को सभी ने समझाया। उसने एक नहीं सुनी। अन्त में उसी के ब्राह्मण सेनापति पुष्पमित्र ने उसका वध कर दिया। उसने शुंगवंश का शासन चलाया जिसके चलते १५० वर्षों तक भारत ने वैसी ही उन्नति की जैसी मौर्यकाल में की थी।

परन्तु शुंगवंश के अन्तिम सम्राट वेदभूति वृहद्रथ के समान ही स्वेच्छाचारी, भोगविलासी निरंकुश तथा राजतंत्र को अपनी निजी सम्पत्ति मान बैठे। देश का पतन होने लगा। विदेशी आक्रमणों की बाढ़ आने लगी और राष्ट्र में अव्यवस्था एवं अराजकता फैलने लगी। उसी के प्रधान सेनापति और कण्ववंशी ब्राह्मण वासुदेव ने शस्त्र उठाये, उसका वध किया तथा लगभग १५० वर्षों तक इस वंश ने देश को सुशासन प्रदान किया। राजतंत्र और राजसत्ता को अपनी निजी सम्पत्ति या भोगविलास का साधन नहीं समझा। कण्वकाल में भारतीय सत्ता का उत्तर से दक्षिण की ओर विस्तार हुआ।

परन्तु इस वंश के भी अन्तिम सम्राट सुशर्मा स्वेच्छाचारी एवं भोगविलासी थे। उनकी भी अन्त में वही स्थिति हुई जो मौर्यवंशी वृहद्रथ तथा शुंगवंशी वेदभूति की हुई थी। उसे सातवाहन ब्राह्मणों ने ध्वस्त कर दिया तथा देश में पुनः सुशासन एवं सुव्यवस्था स्थापित की।

दक्षिण के आन्ध्र नरेशों ने भी कौटल्य के आदर्शों का पालन किया तथा ईसवी सन् के आस-पास उज्जैन के महाप्रतापी क्षत्रिय सम्राटों, समुद्र गुप्त एवं चन्द्र गुप्त विक्रमादित्य के राजनीतिक आदर्श भी वे ही थे जिनकी स्थापना अर्थशास्त्र में की गयी थी।

इस प्रकार, चन्द्र गुप्त मौर्य से लेकर विक्रमादित्य तक का शासनकाल लगभग ५०० वर्षों का है जिसमें आधुनिक भारत का राजनीतिक एकीकरण एवं रूपान्तरण हुआ था। इसी कला में उस संस्कृति और ज्ञान, विज्ञान तथा साहित्य एवं कला का विकास हुआ था जिसे संक्षेप में भारतीय संस्कृति के नाम से जाना जाता है। विष्णु गुप्त कौटल्य इसके संस्थापक एवं क्रान्तदर्शी हैं। महाकवि कालिदास इसके यौवन गीत हैं जिन्होंने मेघदूत में दक्षिणी भारत की ओर से मेघ द्वारा प्रेम सन्देश भेजा था। इससे पहले तो उत्तर की ओर से दक्षिण की ओर अभियान चलते थे।

आज राजनीतिक और सांस्कृतिक रूप में भारत का जो भी रूप दृष्टिगोचर होता है वह विष्णु गुप्त कौटल्य के उदय की कहानी मात्र है।

जब कौटल्य ने महान अभियान छेड़ा तो उसका समर्थन करने के लिए पहले से ही नवजागरण ने अनुकूल परिस्थितियाँ तैयार कर रखी थीं।

भारत पर आक्रमण तो ई.पू. ६०० वर्षों से हो रहे थे और उत्तरी भारत के अनेक गणतन्त्रों तथा राजतंत्री भूभागों पर उनका प्रभुत्व स्थापित हो चुका था। अफगानिस्तान जो भारत का ही एक अंग था, और वैदिक आर्य संस्कृति का सबसे बड़ा और विश्वस्त केन्द्र था २६०० साल पहले ही पारसीक साम्राज्य का अंग बनाया जा चुका था। फिर ई.पू. ३०० साल पहले जब अलक्षेन्द्र (सिकन्दर) ने भारत पर आक्रमण किया तो भारत में राष्ट्रवाद जैसे उबल पड़ा, जिसका सहारा लेकर कौटल्य ने इतने बड़े विशाल साम्राज्य की स्थापना कर दी और अन्त में तक्षशिला और पाटलिपुत्र का एकीकरण करके इस देश को विशाल भारत का रूप दे दिया।

अतः कौटल्य के विशाल व्यक्तित्व, प्रतिभा और प्रभाव का विवेचन करते समय यदि हम उपनिषद्कारों, गौतमबुद्ध और हजारों दार्शनिकों का योगदान स्मरण नहीं करते,

जिन्होंने १५०० सालों तक हजारों भागों में बिखरे भारत को विचारों एवं संस्कृति के मजबूत धागों में पहले ही बाँध दिया था तो हम विष्णुगुप्त कौटल्य द्वारा भारत को अविभाजित राजनैतिक ईकाई के रूप में संगठित करने का महत्त्व पूर्णतया नहीं समझ सकते। कौटल्य भारत के प्रथम राष्ट्रपिता कैसे बने और उनकी महती सफलताओं के क्या कारण थे, इन पर विचार करते समय भारत में पूरे १५०० वर्षों तक चलने वाले नवजागरण सम्बन्धी आन्दोलन को भुलाया नहीं जा सकता। उपनिषद्कार महर्षियों ने भारतवासियों का चिन्तन और दार्शनिक दृष्टिकोण इतना उदार एवं मानवतावादी बना दिया था कि आदमी को आदमी से और भारत के एक भाग को दूसरे भाग से जोड़ने में कौटल्य को कठिनाई नहीं हुई। इसी प्रकार गौतमबुद्ध के शक्तिशाली और व्यापक जनआन्दोलन ने सर्वसाधारण जनता में नवजागरण की ऐसी लहर उत्पन्न कर दी थी और मृतप्राय और चेतनाविहीन लोगों में ऐसा आत्मसम्मान उत्पन्न कर दिया था कि उन्हें किसी निश्चित उद्देश्य के लिए प्रेरित कर पाना तथा संघर्ष में लगाना संभव हो गया था।

इन दोनों महान विचारधाराओं के अलावा देश में छोटे बड़े लगभग पचासों विचारधाराओं के दार्शनिक हुए हैं जिनमें पूर्ण काश्यप और चार्वाक अति तेजस्वी आन्दोलनकारी हुए हैं। उन्होंने जन-जन को झकझोर दिया और नयी जीवन पद्धति चुनने के लिए विवश कर दिया।

इस नवजागरण काल ने पुरानी वैदिक आर्य पद्धति को आदर्श मानते हुए, पहले तो पुरोहितवाद के अन्धकार युग से देश को निकाला, परन्तु साथ ही वैदिक कालीन कबीला प्रथा को असामयिक समझकर नयी आर्थिक जीवन प्रणाली स्वीकार की, तथा तदनुरूप राजनैतिक सत्ता को जन्म देने के लिए अभियान चलाया।

तक्षशिला और पाटलिपुत्र का एकीकरण

मौर्य साम्राज्य की स्थापना और तक्षशिला तथा पाटलिपुत्र के एकीकरण के पीछे सिकन्दर के आक्रमण की नकारात्मक भूमिका ही महत्त्वपूर्ण नहीं है। जो लोग इस दृष्टि से विचार करते हैं वे भारत के आन्तरिक जीवन में कार्यरत प्रभावशाली सामाजिक शक्तियों और युगपुरुषों की ऐतिहासिक भूमिका से अनभिज्ञ हैं।

जिस युग में भारतीय समाज ने पाणिनि, कपिल, कणाद, कौटल्य, वराहमिहिर, चरक, सुश्रुत, कात्यायन, विष्णु शर्मा और गौतम बुद्ध जैसे विश्वविख्यात समाज-सुधारक, दार्शनिक, वैज्ञानिक, शास्त्रकार और राजनेता उत्पन्न किये हैं वह समाज कितना गतिशील एवं उन्मत्त होगा, यह तो आसानी से समझा ही जा सकता है।

इसके अलावा, तक्षशिला विश्वविद्यालय से उपशिक्षा प्राप्त करके प्रतिवर्ष हजारों विद्यार्थी पूरे देश में फैलते थे और नये विचारों का संचार करते थे। सिकन्दर के आक्रमण ने सबसे अधिक तक्षशिला को ही प्रभावित किया था। विश्वविद्यालय के अधिष्ठाता अम्भि ने देश-द्रोह करके और सिकन्दर का साथ देकर पूरा विश्वविद्यालय जड़मूल से हिला दिया था। उसे यह कहाँ पता था कि तक्षशिला ही उसका अस्तित्व मिटाकर जिस उत्तर पश्चिमी

संघ की स्थापना करेगा और उसके शत्रु पर्वतक या पोरस को शासनाध्यक्ष नियुक्त करेगा अन्त में परिवर्तनों की यह श्रृंखला ही एक नये भारत का शिलान्यास कर देगी।

ऐतिहासिक घटनाएँ अपने घटकों की इच्छाओं का अनुसरण नहीं करतीं, वे स्वयं एक शक्ति बन जाती हैं और स्वतंत्र रूप से कार्य करने लगती हैं। सिकन्दर जिस स्थल मार्ग से देशों को जीतता हुआ भारत पहुँचा था वह मार्ग भारतीयों के लिए नया नहीं था। सदियों से भारत का उससे सम्पर्क था एवं यातायात के अलावा व्यापारिक सार्थवाही (कारवां) भी लम्बे समय से उस मार्ग पर आते-जाते रहते थे। यवनों (यूनानियों) पारसीकों (ईरानियों) और अर्बुदों (अरबों) के साथ भारत के सदियों से सम्पर्क आ रहे थे। परन्तु सिकन्दर ने स्थल मार्ग के अलावा जलमार्ग से अपनी सेनाएँ यवन देश से भेजकर यातायात और व्यापार का जो नया मार्ग प्रशस्त किया उससे भारतीयों का अलगाव बड़े स्तर पर दूर हुआ और उसने हिन्द महासागर में प्रवेश करके अपना मानसिक क्षितिज और भी फैलाया था। छोटी-सी और एकाकी घटना ने भारत को संसार के महासागरों में उतार दिया। तक्षशिला से पाटलिपुत्र की तथा तक्षशिला से यवन देश की दूरी लगभग १६०० किलोमीटर थी। ये दूरियाँ सिकन्दर के आक्रमण से पहले बहुत लम्बी चौड़ी लगती थी। परन्तु तक्षशिला और पाटलिपुत्र के एकीकरण ने इन दूरियों को बहुत घटा दिया। प्रतिदिन ही एथेन्स से तक्षशिला तक और तक्षशिला से पाटलिपुत्र तक हजारों सार्थवाह विभिन्न पण्यों के साथ इधर से उधर आते-जाते थे। कौटल्य ने अपने अर्थशास्त्र में इन सार्थवाहों की रक्षा और उपयोगिता पर वहुत बल दिया है। उसने लिखा है कि दक्षिणापथ के देशों में कौन-सा पण्य (माल) मिलता है तथा उत्तरा-पथ के देशों में किस पण्य की आशा करनी चाहिए।

पहले तक्षशिला को उत्तर पश्चिमी भारत की राजधानी बनाकर केन्द्रीय सत्ता का स्थान बाद में पाटलिपुत्र को ही दिया गया। कौटल्य ने ऐसा क्यों किया, इस पर विचार करने से पहले पाटलिपुत्र की स्थिति समझना आवश्यक है।

पाटलिपुत्र (वर्तमान पटना नगर) भारत के इतिहास में अति महत्त्व का स्थान रहा है। दिल्ली की भाँति इस नगर ने भी अपने इतिहास में उत्थान और पतन की अनेक घड़ियाँ देखी हैं। चीनी यात्री फाहियान ने इसे ईसवी ३९९ में एक गौरवशाली महानगर लिखा था। परन्तु फाहियान के ३०० साल बाद आने वाले चीनी यात्री हेन सांग ने इसे खण्डहरों का नगर बताया है।

शिशुनागवंशी राजा उदयी ने गंगा के दक्षिणी तट पर इस ऐतिहासिक नगर की स्थापना की थी। पुष्पपुर, पुष्पनगर, पाटलिपुत्र और पटना इसके विभिन्न युगों में नाम रहे हैं।

मौर्य साम्राज्य की राजधानी के रूप में तक्षशिला निवासी विष्णु गुप्त कौटल्य ने जब इसे भारत की प्रथम राजधानी होने का गौरव प्रदान किया तो कौटल्य का राजनीतिक उद्देश्य अति दूरगामी था। वह सोचते थे कि उत्तर पश्चिमी सीमाओं से अनवरत आक्रमण हो रहे हैं तथा तक्षशिला सरलता से आक्रमणों का शिकार हो सकती है। इसलिए, भारत

के केन्द्र में स्थित पाटलिपुत्र देश की पहली केन्द्रीय राजसत्ता का पहला केन्द्र बनाया गया। कारण तो और भी थे। परन्तु मुख्य कारण यही था।

मौर्य साम्राज्य की राजधानी वनने से पहले पाटलिपुत्र नन्दवंशी शूद्र राजाओं की राजधानी था। यहाँ नौ नन्दों, अर्थात् एक घनानन्द और उसके ८ पुत्रों, ने सौ साल से अधिक समय तक राज्य किया। ये लोग अत्याचारी, निरंकुश और रंगरेलियों में डूबे रहने वाले क्रूरकर्मा राजा थे। इनका एक ब्राह्मण मंत्री था जिसका नाम शकटार था। शकटार के कारण प्रजाओं पर घोर अत्याचार नहीं हो पाते थे और शकटार प्रजा का उत्पीड़न रोकने में प्रायः सफल हो जाता था। प्रजाओं में उसकी प्रतिष्ठा थी पर राजा उसे हटाना चाहते थे। चन्द्र गुप्त मौर्य, जो कि नन्दवंशी राजा से शाक्यवंश की मरा नामक अविवाहिता रानी (रखेल) से उत्पन्न हुआ था, को शकटार बहुत पसन्द करते थे। वह बुद्धिमान, सुन्दर योद्धा और अश्वारोही राजकुमार था। चन्द्र गुप्त की हत्या के षड्यन्त्रों से रक्षा करने के लिए शकटार ने उच्च शिक्षा दिलाने का बहाना करके तक्षशिला विश्वविद्यालय में भिजवा दिया था। इससे दो लाभ हुए। एक तो चन्द्र गुप्त मौर्य का जीवन बच गया और दूसरे उसे उस युग के सबसे महान राजनेता कौटल्य के सम्पर्क में आने का सौभाग्य मिल गया। शकटार और विष्णु गुप्त दोनों पुराने मित्र तथा सहयोगी थे।

शकटार के गुप्त सहयोग से प्रजाओं ने अनेक बार अत्याचारी नन्दों के विरुद्ध विद्रोह किये। परन्तु वे हर बार बच जाते थे। अनेक बार उन्होंने शकटार को कारागार में भी डाला। परन्तु हर बार शकटार न केवल कारागार से निकल जाता या प्रत्युत अपना पुराना स्थान भी पा लेता था। विष्णु-पुराण और भविष्यपुराण आदि में इस प्रकार की अनेक अतिशयोक्तिपूर्ण कहानियाँ पढ़ने को मिलती हैं।

मगध राज्य का संस्थापक बृहद्रथ नामक राजा था। जिस युग की यह चर्चा है उस समय तक्षशिला और पाटलिपुत्र के अलावा, वैशाली, कौशाम्वी, उज्जयिनी, काशी, ताम्रपर्णी, वाराणसी आदि प्रमुख नगरियाँ थीं जिसका महत्त्व चिरकाल तक बना रहा। इनमें प्रेक्षागृह, रंगशालाएँ, नाट्यशालाएँ और अन्य प्रकार के शिक्षाप्रद तथा मनोरंजन-सभागार हुआ करते थे।

मौर्य साम्राज्य के पतन के पश्चात् भी पाटलिपुत्र का महत्त्व कम नहीं हुआ। मौर्यवंश के अन्तिम सम्राटों ने विष्णु गुप्त कौटल्य द्वारा स्थापित राजतंत्री परम्पराओं का परित्याग करके नन्दों की भाँति निरंकुश राज्य चलाना प्रारम्भ कर दिया था। तभी सम्राट के प्रधानमंत्री और सेनाध्यक्ष शुंगवंशीय ब्राह्मण अग्निमित्र ने विद्रोह करके मौर्य साम्राज्य का विध्वंस कर दिया। उसने पाटलिपुत्र का वैभव और भी बढ़ाया। शुंगों ने एक ओर तो कोसल, अवन्ति, वत्स आदि राज्यों पर विजय प्राप्त करके मगध साम्राज्य का विस्तार किया और दूसरी ओर यवनों तथा पारसीकों के आक्रमणों से बार-बार देश की रक्षा की। शुंगवंशी राजाओं ने कौटल्य के अर्थशास्त्र में प्रतिपादित मर्यादाओं का पालन किया तथा १५० वर्षों तक देश को अच्छा शासन प्रदान किया।

शुंगवंश के सर्वाधिक प्रतापी राजा अग्निमित्र, ज्येष्ठमित्र, वसुमित्र और औद्रक हुए हैं। इस वंश का अन्तिम सम्राट वेदभूति भोगलिप्सा में लिप्त बदनाम राजा था। अतः उसके कण्ववंशीय ब्राह्मण सेनाध्यक्ष ने विद्रोह करके पाटलिपुत्र पर अधिकार कर लिया।

कण्ववंशी सम्राटों ने भी कौटल्य द्वारा स्थापित परम्पराओं का निष्ठा के साथ पालन किया। देश को अच्छा शासन दिया। निरंकुशता और भोगविलास दोनों का परित्याग किया तथा मौर्य और शुंगों की भाँति भारत की गरिमा बढ़ायी। विदेशी आक्रमण विफल किये तथा विशाल निर्माण कार्यों में राजशक्ति एवं कोष का सदुपयोग किया।

कण्व राजाओं के शासनकाल में एक नयी समस्या और शक्ति का उदय हुआ। अब तक भारत और पाटलिपुत्र को सदैव उत्तर या उत्तर पश्चिम से आक्रमण का संकट उत्पन्न होता था। परन्तु कण्ववंशी राजाओं के शासनकाल में आर्यों और द्रविड़ों के सम्मिश्रण से एक नयी जाति का जन्म हुआ था, ये आन्ध्र थे। इनका सबसे पहला प्रतापी राजा सिन्धुक था। आन्ध्र नरेश सिन्धुक ने निर्वल कण्ववंशीय राजा सुशर्मा पर आक्रमण किया और पाटलिपुत्र की अजेयता ध्वस्त कर दी। उसने महाराष्ट्र पर विजय प्राप्त की और इस तरह, दक्षिण पर विजय प्राप्त की और एक नये सत्ता-केन्द्र की स्थापना की।

कृष्ण और शालपर्णा सर्वप्रमुख एवं प्रतापी आन्ध नरेश थे। ये आन्ध्र नरेश वैदिक धर्म के प्रबल अनुयायी और उसके पुनः संस्थापक थे। इन अर्थों में वे कौटल्य की परम्पराओं तथा मौर्यों, शुंगों और कण्वों से अधिक भिन्न नहीं थे। ये निरंकुशता और भोगविलास से दूर रहकर राजसत्ता का राष्ट्रहित में प्रयोग करते रहे।

इस प्रकार, तक्षशिला और मगध साम्राज्य की राजधानी पाटलिपुत्र का वैभव भारत के गौरव के समान उभरा तथा ये दोनों केन्द्र भारत की केन्द्रीय राजसत्ता के प्रतीक बन गये। तक्षशिला और पाटलिपुत्र का एकीकरण न तो आकस्मिक था और न केवल एक संयोग था। इन दो प्रमुख केन्द्रों को एक साथ जोड़कर ही केन्द्रीय सत्ता का उदय संभव हुआ था।

कौटल्य का व्यक्तित्व और उपलब्धियाँ

कौटल्य के व्यक्तिगत जीवन और राजनीतिक तथा सामाजिक उपलब्धियों के सम्बन्ध में जो कुछ भी यहाँ कहा गया है, वह अतिशयोक्ति नहीं है। परन्तु इस महान् राजनेता और प्रमाणित महर्षि के सम्बन्ध में हमारे देश एवं विदेशों में जो भ्रान्त धारणाएँ सदियों से फैलायी गयी हैं, हमारा मूल्याँकन उनके विपरीत परिणामों पर पहुँचता है। अतः यह आशंका होना स्वाभाविक है कि हमारे विरुद्ध झूठ बोलने का अथवा बढ़ा-चढ़ाकर बातें करने का आरोप लगाया जायेगा। कुछ यह भी कहेंगे, और विशेष रूप से विदेशी लेखक, कि हमने एक काल्पनिक नायक खड़ा किया है जो ढाई हजार वर्ष पहले भारत की राजनीतिक एकता की स्थापना एवं विदेशी आक्रमणकारियों के विरुद्ध संघर्ष करता दिखाया गया है।

उनके विचार से भारत की राजनीतिक एकता का स्वप्न अति अर्वाचीन है और विशेष

रूप से ब्रिटिश साम्राज्य के विरुद्ध स्वाधीनता आन्दोलन के युग में ही उसकी आधारशिला रखी गयी है। इस प्रकार, ये लोग राष्ट्रीय एकता के प्रश्न को अतिप्राचीन युग से वापस घसीट कर सौ साल पहले लाना तथा इसके लिए भी अप्रत्यक्ष रूप में ब्रिटिश साम्राज्य को ही श्रेय देना चाहते हैं। न ब्रिटिश साम्राज्य आता और न भारत की राजनीतिक एकता का स्वप्न उभरता एवं साकार होता।

ये लोग विष्ण गुप्त कौटल्य को मगध का ही रहने वाला और किसी व्यक्तिगत अपमान को लेकर नन्द सम्राटों के विरोध में चले जाने वाला तथा अपना क्रोध शान्त करने के लिए नन्दों का उच्छेद करने की प्रतिज्ञा लेने वाला मात्र कहते हैं। जब तक नन्दों का उच्छेद न हो जाये तब तक अपनी खुली शिखा में गाँठ न लगाने की प्रतिज्ञा करने वाला और अन्त में अभिसार एवं जादू-टोनों के चमत्कार से नन्दों का उच्छेद करने वाला क्रोधी व्यक्ति बताकर इस तरह का चरित्र गढ़ना चाहते हैं जैसे नन्द साम्राज्य के उच्छेद, मौर्य साम्राज्य की स्थापना और पूरे भारत को एक ही शासनतंत्र के आधीन स्थापित करने के कार्य केवल आकस्मिक एवं विना सोच-विचार के हो गये थे।

दुर्भाग्य से इस प्रकार के मनगढ़न्त और अनर्थकारी प्रलाप केवल विदेशियों ने ही नहीं प्रत्युत अज्ञान के कारण भारतीय लेखकों ने भी कम नहीं किये हैं।

उदाहरण के लिए, आज से करीब १६०० वर्ष पहले एक महान् राजनीतिक विद्वान एवं नीतिशास्त्र प्रणेता कामन्दक हुआ है। उसने एक रोचक एवं अति प्रभावशाली नीतिशास्त्र लिखा है और उसका नाम भी कामन्दक नीतिशास्त्र ही है। उसने संकल्प किया है कि अभिनन्दक नीतिशास्त्र में जो कुछ भी लिखा गया है, वह अर्थशास्त्र पर आधारित है तथा कौटल्य की मान्यताओं के विपरीत कुछ भी लिखा नहीं गया है। यद्यपि इस प्रसिद्ध पुस्तक से प्रामाणित होता है कि १६०० साल पहले भी इस महान राजनेता की समाज में कितनी महती प्रतिष्ठा थी; शास्त्रकार वार-वार विष्णु गुप्त कौटल्य को प्रणाम करता है और उन्हें स्वयं विधाता बताकर महिमा मण्डित करता है। परन्तु नन्द साम्राज्य का उच्छेद करने के कारणों पर प्रकाश डालते हुए कामन्दक नीतिशास्त्रकार कहता है कि –

यस्याभिचार वज्रेण वज्रज्वलनतेजसः।
पपात भूतले श्रीमान् सुपर्वानन्द पर्वतः।।
एकाकी मन्त्रशक्त्या यः शक्त्या शक्तिधरोत्तमः।
आजहार नृपचन्द्राय चन्द्रगुप्ताय मेदिनीम्।।
नीतिशास्त्रामृतं धीमानर्थशास्त्र महोदधेः।
समुदधत्रे नमस्तरस्मै विष्णुगुप्ताय वेधसे।।

अर्थात् विष्णुगुप्त कौटल्य ने अपने अभिचार मंत्रों, जादू-टोनों की शक्ति से अकेले ही पर्वत के समान नन्द सम्राट को धराशायी कर दिया।

उसने अकेले ही और अपनी मंत्रशक्ति का सहारा लेकर चन्द्र गुप्त मौर्य के लिए साम्राज्य की स्थापना की।

उस महान् व्यक्ति के अर्थशास्त्ररूपी महासागर के सार के रूप में इस नीतिशास्त्र की रचना की गयी है।

जिस व्यक्ति ने जादू-टोने से साम्राज्य का उच्छेद कर दिया हो, वह क्रोध के कारण ऐसा कर भी दे तो चन्द्र गुप्त मौर्य को अकेला ही सम्राट क्यों बनायेगा और राजतंत्रों का सन्तुलित संचालन के लिए अर्थशास्त्र की रचना क्यों करेगा जिसका सारांश सर्वसाधारण जनता तक पहुँचाने के लिए कामन्दक को नीतिशास्त्र की रचना करनी पड़ी? वास्तव में ये सभी अज्ञानमूलक पूर्व धारणाएँ हैं जिनका निराकरण करना आवश्यक है।

जरा सोचिये तो सही कि अपने महान ग्रन्थ अर्थशास्त्र में कौटल्य स्वयं अपने सम्बन्ध में कहते हैं – 'इस अर्थशास्त्र की रचना उस व्यक्ति ने की है जिसने जंग लगे हथियारों तथा केवल धार्मिक अनुष्ठानों में काम आने के कारण धुँधले पड़े शस्त्र-शास्त्रों तथा निरंकुश नन्द सम्राटों के बीच दबी धरती का केवल झटके में उद्धार कर दिया।'

इस प्रकार कौटल्य ने स्पष्ट कर दिया है कि नन्दों के उच्छेद तथा मौर्य साम्राज्य की स्थापना के संघर्ष में उसने शस्त्रों और कूटनीतिक विज्ञान दोनों का प्रयोग किया है। इससे प्रकट है कि कौटल्य ने नन्दों का उच्छेद और मौर्य साम्राज्य की स्थापना किसी सनक या व्यक्तिगत रागद्वेष के कारण नहीं की बल्कि इसका एक स्पष्ट राजनीतिक उद्देश्य था।

इसी प्रकार, अर्थशास्त्र की रचना भी उन्होंने अपनी सनक पूरी करने या पाण्डित्य का प्रदर्शन करने मात्र के लिए नहीं की थी। इसकी रचना का उद्देश्य उस साम्राज्य को दिशा देना था जिसकी स्थापना में उनका सर्वाधिक व्यक्तिगत योगदान था। कौटल्य स्वयं ही कहते हैं –

'सर्वशास्त्राण्यनुक्रम्य प्रयोगमुपलभ्य च।
कौटल्येन नरेन्द्राये शासनस्य विधिःकृतः।।'

अर्थात्-सभी नीतिशास्त्रों का अनुशीलन करके तथा सिद्धान्तों को व्यवहार की कसौटी पर कस कर कौटल्य ने चन्द्रगुप्त मौर्य के लिए यह शासन विधान तैयार किया है।

इन दोनों महत्त्वपूर्ण श्लोकों का केवल एक ही तात्पर्य हो सकता है कि कौटल्य ने साम, दाम, भेद और दण्ड का सहारा लेकर नन्द साम्राज्य का उच्छेद कर दिया। इसलिए कि वह निरंकुश और प्रजाशोषक एवं उत्पीड़क था। चन्द्र गुप्त मौर्य को उसने सम्राट इसलिए घोषित किया कि वह जानता था कि राजतंत्र की मर्यादाओं का पालन कराना उसके द्वारा संभव होगा। अर्थशास्त्र की रचना उसने इसलिए की कि राजतंत्र की मर्यादाओं तथा शासनविधान का कोई व्यवस्थित ग्रन्थ इससे पहले नहीं था जिससे समाज का विविधतापूर्ण मार्गनिर्देशन संभव हो सके। चौथी और महत्त्वपूर्ण बात यह है कि जो व्यक्ति साम्राज्य का संस्थापक है तथा उसका मार्गदर्शक है वह उसका सही संचालन करने के लिए प्रधानमंत्री बनना स्वीकार क्यों नहीं करेगा? कौटल्य ने वही किया।

इन सभी तथ्यों से यह प्रकट होता है कि कौटल्य ने किसी व्यक्तिगत अपमान का प्रतिशोध लेने के लिए नन्द साम्राज्य का उच्छेद नहीं किया, प्रत्युत यह उसका उद्देश्यपरक अभियान था। इसके पीछे यवनों की ओर से अनवरत होने वाले आक्रमणों की आशंका तथा बिखरे हुए भारत की ओर से उनका प्रतिशोध ले सकने की अक्षमता ने ही कौटल्य को पहले तक्षशिला की तथा तदुपरान्त मौर्य साम्राज्य की स्थापना का प्रयास करने की प्रेरणा दी थी।

अब यह सर्वविदित एवं सर्वमान्य तथ्य है कि वह तक्षशिला के नागवंशी ब्राह्मण थे; तो पाटलिपुत्र के बाहरी उपनगरों में कुशाओं से पाँव घायल हो जाने से विवाह-मण्डप पर न पहुँच पाने की विवशता एवं उससे क्रुद्ध होकर कुशाओं के उन्मूलन तथा उनकी जड़ों पर मट्ठा डालने की बालकथाएँ स्वमेव मूर्खतापूर्ण सिद्ध हो जाती हैं। यह तो वैसी ही मूर्खतापूर्ण बात हुई जैसे हवा में उड़ता तिनका आँखों में पड़ जाने पर कोई लाठी से हवा को पीटना प्रारम्भ कर दे। इतने महान् राजनेता और परम महर्षि के सम्बन्ध में जिन लोगों ने ऐसी दन्तकथाएँ प्रचलित की हैं वे या तो परम धूर्त थे और या वास्तविकता पर परदा डालना चाहते थे।

पीछे बताया जा चुका है कि विष्णु गुप्त कौटल्य मूलरूप से महर्षि और विचारदाता लेखक थे। परन्तु ऐतिहासिक विवशताओं के कारण ही वह सक्रिय राजनीति में उतरे और दो सम्राटों के सफल प्रधानमंत्री रहे। परन्तु बाद के भारतीय इतिहास में वह साम्राज्य के संस्थापक या प्रधानमंत्री के रूप में नहीं प्रत्युत विद्वान एवं दार्शनिक राजनेता और लेखक के रूप में ही प्रसिद्ध रहे हैं। वास्तव में यही उनका असली रूप भी था।

कुछ लोगों ने विष्णु गुप्त कौटल्य को अत्यधिक कुरूप, काला, टेढ़ा-मेढ़ा और काना व्यक्ति कहकर तुच्छ साबित किया है जो पूरे समाज में अनादृत था, जिसका विवाह तक नहीं हुआ था और जो स्वभाव से अत्यधिक क्रोधी था। पता नहीं, इतने महान् व्यक्तित्व को लांछित, अनादृत और कलंकित सिद्ध करने में कुछ अज्ञात बौनों की क्या रुचि और उद्देश्य था। इसके पीछे बौद्ध जैन लेखकों की द्वेषपूर्ण धारणाएँ ही मूल कारण हो सकती हैं। इसलिए कि भारतीय संस्कृति के तीनों पड़ाओं के व्यतीत हो जाने के पश्चात् कौटल्य ही ऐसे प्रभावशाली व्यक्ति उदित हुए थे जिन्होंने ब्राह्मणवाद को कर्मकाण्डवाद एवं अतिवाद से मुक्त किया था, जैनों और बौद्धों की अतिवादी अहिंसा के विरोध में भूले हुए शस्त्रास्त्रों की पूजा करनी सिखाई थी और जिसने शस्त्रों तथा शास्त्रों के बीच अटूट सम्बन्ध पुनः स्थापित करके भारत को नवजीवन प्रदान किया था। महाभारत में एक स्थान पर कुपित द्रोणाचार्य-पुत्र अश्वत्थामा ललकारते हुए कहता है कि –

'इदं शास्त्रमिदं शस्त्रं शापादपि शरादपि।'

अर्थात् 'मेरे पास शास्त्र भी है और शस्त्र भी है। तुझे शाप देकर मारूँ या बाण से मारूँ।' विष्णुगुप्त कौटल्य ऐसे ही उच्चकोटि के ब्राह्मण थे।

कौटल्य ने कर्मकाण्डों में लिप्त होकर मृतप्राय ब्राह्मणों को, राज्य के ऐश्वर्य भोग में बुझे हुए क्षत्रियों को तथा दलित जातिवाद में कुचले हुए बहुसंख्यक भारतीयों को नये

आक्रमणकारियों का प्रतिरोध करने के लिए जिस प्रकार ललकारा था, उससे समाज पर व्यापक रूप से छाया हुआ बौद्धों तथा जैनों का प्रभाव बुखार की भाँति उतर गया था। इसीलिए उसके सम्बन्ध में हर तरह की मनगढ़न्त कथाएँ प्रचारित करके उसे एक राजनेता एवं महर्षि के स्थान पर सनकी और उच्छृंखल व्यक्ति के रूप में चित्रित करने का प्रयास किया गया है।

नागवंशी ब्राह्मण अपनी सुशीलता, सुन्दरता एवं प्रतिभा के लिए विख्यात रहे हैं। कौटल्य के पिता, चणक कौटल्य, प्रसिद्ध नागवंशी विद्वान एवं ख्याति प्राप्त व्यक्ति थे। वह अपने त्याग और सादा जीवन के लिए इतने सर्वविदित थे कि लोग उन्हें कौटल्य (अनाज के कुठले वाला व्यक्ति) कहने लगे थे। विष्णु गुप्त के शैशवकाल में उनके पिता का निधन हो गया था। परन्तु उनकी माता द्रमिला, अत्यन्त सुन्दरी, विदुषी और प्रभावशाली महिला थी। उसी ने पुत्र को माता का प्यार और पिता का दिशा-निर्देशन देकर उसे तक्षशिला विश्वविद्यालय में प्रवेश दिलाया तथा भारत के सर्वाग्रणी विद्वानों की पंक्ति में प्रतिष्ठित किया। ऐसे माता-पिता की इकलौती सन्तान, विष्णु गुप्त कौटल्य को, काला-कलूटा, क्रोधी, सनकी और विवाह में बाधा पहुँचने के कारण उत्तेजित एवं नन्द की श्राद्ध सभा में तिरस्कार होने के कारण आगबबूला बताने वाले जैन विद्वान उस व्यक्ति के ऐतिहासिक कार्यों की उपेक्षा नहीं कर सके जिसने सबसे पहले इस विशाल भू-भाग को भारतवर्ष के नाम पर एक सूत्र में बाँधा था।

सैकड़ों विदेशी आक्रमणों तथा सदियों तक विदेशी प्रभुत्व में आक्रान्त रहने पर भी भारत ने अपना राष्ट्रीय स्वरूप कभी नहीं खोया और न उसका विशाल आकार ही कभी दृष्टि से ओझल हुआ है।

यदि अर्वाचीन भारत का राष्ट्रपिता मोहनदास कर्मचन्द गांधी है तो प्राचीन भारत का राष्ट्रपिता निःसन्देह विष्णु गुप्त कौटल्य ही है।

भारतीय महापुरुषों ने ऐतिहासिक कार्य किये हैं। परन्तु अपना व्यक्तित्व उजागर करने में उनकी रुचि सदैव न्यूनतम रही है। कौटल्य भी इसका अपवाद क्यों होते? फिर भी, भारत जो कुछ भी आज है, वह उनकी कल्पनाओं तथा संगठित प्रयासों की देन है। भारतवासी इनते कृतघ्न कैसे हो जायेंगे कि अपने राष्ट्रपिता को ही काला-कलूटा, सनकी, क्रोधी, उच्छृंखल जादू-टोनों वाला व्यक्ति बताकर अपना ही अपमान करेंगे।

यहाँ जो कुछ भी उनके व्यक्तित्व एवं कार्यों के सम्बन्ध में कहा गया है, वह उससे भिन्न नहीं है जो मत्स्यपुराण, भविष्यपुराण, विष्णुपुराण, ब्राह्मण ग्रन्थों; बौद्धजातक कथाओं, जैनग्रन्थों, कामन्दक नीतिशास्त्र, दशकुमार चरित, हर्षचरित, मुच्छकटिक, मुद्राराक्षस और सैकड़ों अन्य विश्वप्रसिद्ध पुस्तकों गुरु परम्पराओं, दन्तकथाओं और कथा-उपकथाओं में हम सदियों से सुनते और पढ़ते आ रहे हैं। लेखक ने केवल इतना ही किया है कि टूटे धागे आपस में जोड़ दिये हैं तथा असंगत एवं विद्रूप चर्चाओं को एक किनारे छोड़ दिया है। ऐसा इसलिए भी किया गया है कि वह एक निष्ठावान् भारतीय के नाते अपने महामहिम

पूर्वज और राष्ट्रपिता के प्रति सच्ची श्रद्धांजलि अर्पित करने के लिए इसे उचित अवसर मानता है। कुछ विद्वान यह कहकर आक्षेप करते हैं कि नवजागरण काल अधिक से अधिक तीन सौ या छह सौ साल पहले ही माना जा सकता है, जबकि कौटल्य का काल २३०० साल पुराना है। वह समय जागरण काल यद्यपि नहीं माना जा सकता और यदि मान भी लिया जाय तो उसका नेता विष्णु गुप्त कौटल्य नहीं प्रत्युत गौतमबुद्ध को ही माना जा सकता है। जन-जागरण की धाराएँ प्रवाहित करने वाले लोग प्रायः राजसत्ताओं से दूर रहकर और जनता के मध्य रहकर ही काम करते हैं। कौटल्य राजसत्ता के निर्माता एवं उसके केन्द्र थे जबकि गौतमबुद्ध सत्ता से दूर जनता के केन्द्र में स्थित थे।

स्वयं इतिहास ने इस काल्पनिक धारणा को अव्यावहारिक तथा असत्य सिद्ध कर दिया है। जब तक गौतमबुद्ध के समर्थन में सम्राट अशोक तथा उनके बाद अन्य सैकड़ों राजाओं ने अपने असीमित साधनों और प्रयासों से बौद्धधर्म को नहीं फैलाया तथा सब तरह का समर्थन प्रदान नहीं किया तब तक बौद्धधर्म संसार में नहीं फैलता। प्रत्येक आन्दोलन की सफलता के लिए जैसे आज साधन अनिवार्य हैं वैसे ही पहले भी थे।

यह बात दूसरी है कि राजतंत्रों ने बौद्ध धर्मावलम्बियों को इतने अधिक साधन प्रदान कर दिये थे कि भिक्षु संघ एवं भिक्षुणी संघ सुविधा भोगी बन गये और सर्वसाधारण की तरह भोग-विलास में लिप्त हो गये। स्पष्ट है कि तब तो बौद्ध-धर्म का ह्रास होना अनिवार्य हो गया था और भारत में उसका नामोनिशान मिट गया।

अति कुटिल बहस

इस अवसर पर कौटल्य की राजनीतिक उपलब्धियों तथा अर्थशास्त्र के अतिशय महत्त्व पर कीचड़ उछालने वालों की कुटिल बहस पर विचार करना भी अत्यावश्यक प्रतीत होता है।

वे इस बात से तो इन्कार नहीं कर सकते कि विष्णु गुप्त कौटल्य नामक कोई व्यक्ति हुआ है। परन्तु इस बात पर सन्देह प्रकट करते हैं कि अर्थशास्त्र उसी का लिखा हुआ है। उनका कहना है कि यह विशाल ग्रन्थ विभिन्न अवसरों पर विभिन्न विद्वानों ने लिखा है और वे विष्णु गुप्त कौटल्य के नाम से ही इसे प्रचारित करते रहे हैं।

वे इस बात पर सन्देह करते हैं कि मौर्य साम्राज्य की स्थापना में कौटल्य की कोई विशेष भूमिका है। कौटल्य का महत्त्व घटाने के अभियान में कुछ विदेशी और देशी विद्वान समान रूप से दोषी हैं।

कुछ कहते हैं कि अपने व्यक्तिगत अपमान से कुपित होकर उसने नन्द साम्राज्य का उच्छेद करने की प्रतिज्ञा की थी। ये सभी बचकाना दन्तकथाएँ हैं। नन्द साम्राज्य का उच्छेद कर देने के बाद उसकी प्रतिज्ञा पूरी हो गयी थी। फिर मौर्य को उसने सिंहासनारूढ़ क्यों किया तथा उसकी मृत्यु के पश्चात् बिन्दुसार के साम्राज्य का प्रधानमंत्री बना रहना स्वीकार क्यों किया?

इसी प्रकार, उत्तर पश्चिमी राज्यों का उच्छेद करके वहाँ एकछत्र साम्राज्य की स्थापना का क्या कारण था? वहाँ किस नन्द सम्राट ने उसका अपमान किया था जिसका बदला लेने के लिए वह ऐसा करता?

इसके अतिरिक्त, ईसा के प्रथम शताब्दी में लिखे गये मृच्छकटिक नाटक में विष्णु गुप्त कौटल्य की विद्वता एवं अर्थशास्त्र का वर्णन कैसे किया जाता यदि वह बाद की रचना होती? १४०० पहले लिखे गये मुद्राराक्षस नाटक में कौटल्य की राजनीतिक प्रतिभा और कूटनीति का विशद वर्णन किया गया है। कामन्दक ने अपने नीतिशास्त्र में कौटल्य के नीति-सूत्रों तथा अर्थशास्त्र की मान्यताओं के आधार पर एक विश्वस्त नीति शास्त्र की रचना की है।

कौटल्य की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में सन्देह प्रकट करने के लिए कुछ मूर्खतापूर्ण तर्क भी दिये जाते हैं। कहा जाता है कि अर्थशास्त्र में कहीं भी यह नहीं लिखा कि मैं विष्णु गुप्त कौटल्य ही इस ग्रन्थ का लेखक है वहाँ यही कहा जाता है कि यह ग्रन्थ विष्णु गुप्त कौटल्य का लिखा हुआ है। संस्कृत, अंग्रेजी और अन्य सभी भाषाओं में अपने लिए अन्यवाचक पद्धति में उल्लेख करने की सामान्य परम्परा है। कौटल्य ने इसी परम्परा का ग्रन्थ में पालन किया है।

एक स्थान पर वह अपने सम्बन्ध में लिखते हैं जैसा कि पीछे कहा जा चुका है।

इन स्पष्ट उल्लेखों के पश्चात् भी यह अनर्गल प्रलाप करना असंगत है कि अर्थशास्त्र का लेखक कोई अन्य व्यक्ति है तथा इसे प्रामाणिकता प्रदान कराने के लिए ही उसका लेखक कौटल्य कह दिया गया है।

यह तर्क दो युक्तियों के आधार पर असंगत हैं। पहला तो यह कि वे कौन से ऐतिहासिक कार्य थे जिन्होंने कौटल्य की प्रामाणिकता इतनी सर्वमान्य कर दी थी कि उनके द्वारा न लिखा गया ग्रन्थ भी सर्वमान्य हो गया। इसके केवल तीन कारण हो सकते हैं और वे ही हो भी सकते हैं। पहला तो यह कि कौटल्य ने निरंकुश राजतंत्रों और संघ राज्यों का उच्छेद किया था। दूसरे, आर्थिक विकास, राष्ट्रीय सुरक्षा और राष्ट्रनिर्माण के लिए मौर्य साम्राज्य की स्थापना की और तीसरे तथा अन्तिम रूप में उन्होंने राजतंत्रों के सफल एवं अनुशासित संचालन के लिए अर्थशास्त्र की रचना की।

यदि ये तीनों ही कार्य उन्होंने नहीं किये हैं तो वे अन्य कारण कौन से हो सकते हैं जो उनके द्वारा न लिखी गयी किसी अप्रमाणित पुस्तक को भी प्रमाणिकता प्रदान कर सकते हैं?

ऐसे लोगों का मुख्य उद्देश्य एक गम्भीर राजनेता एवं दार्शनिक के रूप में उभरे कौटल्य के चित्र पर कीचड़ उछालना मात्र है।

ये विद्वान मूर्ख यह तो नहीं मानते कि कौटल्य नाग देश (तक्षशिला) का रहने वाला था, विश्वविद्यालय में उसकी महती प्रतिष्ठा थी और सिकन्दर द्वारा भारतीयों के नरसंहार का प्रतिशोध लेने के लिए वह अत्यधिक व्याकुल था। नहीं, वे तो उसे मगध का ही रहने

वाला, कालाकलूटा, काणा, क्रोधी और कुरूप ब्राह्मण मानते हैं जो श्राद्ध में भाग लेने लायक न होते हुए भी मंत्री शकटार द्वारा आमंत्रित कर दिया गया तथा नन्द सम्राट का अपमान न सह कर क्रोध में उसके उच्छेद करने की प्रतिज्ञा कर लेता है।

यदि यह बचकाना कथानक सही है तो कौटल्य के अनेक नामों में एक नाम नागमल्ल भी है, इसका क्या तात्पर्य हो सकता है? दूसरे इस कथानक से जुड़ा हुआ अन्य कथानक भी है। कौटल्य राजमहल के निकट उपजी कुशाएँ खोद-खोद कर उनमें मट्ठा डाल रहा था ताकि वे दस-बीस वर्षों तक भविष्य में भी उत्पन्न न हों। शकटार ने कारण पूछा तो उसने बताया कि इन कुशाओं से लहूलुहान होने के कारण वह विवाह मण्डप में भाग नहीं ले सका और उसके विवाह में विघ्न उत्पन्न कर देने के कारण ही वह सदा के लिए कुशाओं का उच्छेद करके रहेगा। कुछ स्थानों पर यह भी लिखा है कि कौटल्य ने यह बात शकटार से नहीं प्रत्युत, स्वयं चन्द्र गुप्त मौर्य से कही थी। जो भी हो कथा आगे बढ़ती है कि उन्होंने श्राद्ध भोजन के लिए नन्द सम्राट की यज्ञशाला में आमंत्रित कर दिया। उसकी कूरूपता को देखकर सम्राट ने उसे श्राद्ध मण्डप से धक्के देकर निकलवा दिया जिससे उसकी शिखा के वाल बिखर गये। वहीं उसने प्रतिज्ञा कर ली कि 'नन्द साम्राज्य का उच्छेद करके ही शिखा बाँधूगा।'

इस कथानक में विष्णु गुप्त कौटल्य का व्यक्तित्व एक सनकी, असन्तुष्ट, दिशाहीन और क्रोधी क्षुद्रपुरुष का प्रतीत होता है। ऐसे व्यक्ति को भारत के प्रथम राष्ट्र निर्माता के रूप में कौन मान्यता प्रदान कर सकता है? ये सभी कथानक मनगढ़न्त हैं और महान दार्शनिक राजनेता की महती प्रतिष्ठा के विपरीत हैं। यदि विवाह में विघ्न डाल देने के कारण वह कुशाओं पर इतना क्रुद्ध था तो वाद में आजीवन अविवाहित क्यों रहा? और यदि नन्द साम्राज्य का उच्छेद करने के अभियान में गिरफ्तार होने पर कारागार से भागने में वाधा मानकर वह कुशाओं का उन्मूलन कर रहा था तो पूछने पर शकटार अथवा मौर्य को यह कैसे बता देता कि नन्दवंश का विनाश करने की योजना का ही यह एक भाग है? अपने मन की गूढ़ योजना अपरिचित व्यक्तियों पर प्रकट कर देने वाला व्यक्ति विष्णु गुप्त कौटल्य कदापि नहीं हो सकता। ऐसा तो केवल छिछला व्यक्ति ही कर सकता है और वह स्थापित साम्राज्यों का उन्मूलन तथा अनुशासित साम्राज्य का संस्थापक नहीं हो सकता।

कुछ ब्रिटिश इतिहासकारों ने न तो कौटल्य को मौर्य साम्राज्य का संस्थापक माना है और न उसका समकालीन। उन्होंने भारतीय इतिहास के बीहड़ जंगलों में उसे इस प्रकार विलीन कर दिया है कि वह एक भटका हुआ जंगली व्यक्ति प्रतीत होता है जिसकी भारतीय इतिहास में न तो कोई भूमिका है और न कोई छाप। ब्रिटिश लेखकों में हमें अपने महिमामण्डित इतिहासकारों और राष्ट्रनिर्माताओं से बड़ी कुटिलता के साथ दूर करने का प्रयास किया है। उनका यह प्रयास भी है कि कौटल्य को तीसरी सदी का एक साधारण लेखक सिद्ध कर दिया जाये, जबकि वास्तविकता यह है कि वह हमारी सम्पूर्ण भारतीय राजनीतिक परम्पराओं के संस्थापक हैं। उनसे अधिक प्रतिष्ठा प्राप्त किसी अन्य पुराने राजनेता का नाम उनके समकक्ष रख पाना किसी के लिए भी संभव नहीं है।

उनका नाम विकृत करके भी उन्हें कलंकित किया जाता है। इसमें विदेशी इतिहासकारों की टोली में कुछ प्राचीन और अर्वाचीन विद्वान भी समवेत स्वर में विकृत-गान करते हैं। पीछे बताया गया है कि विष्णु गुप्त कौटल्य अनाज का कुठला भरकर सम्पूर्ण वर्ष व्यतीत करते थे और इस सादा जीवन के कारण ही उनका एक नाम कौटल्य भी पड़ गया था। परन्तु कौटल्य नाम का सही अर्थ समझ पाने में असमर्थ इन लोगों ने कुटिल शब्द से कौटिल्य बना दिया है जबकि उनका नाम कौटिल्य नहीं प्रत्युत कौटल्य है। पता नहीं यह अनर्थ अज्ञान मूलक है या कुटिलता-प्रेरित है। ये लोग उनके नाम के साथ कुटिल विशेषण लगाकर महर्षि कौटल्य को परमधूर्त, पाखण्डी, अनैतिक और कुटिल राजनेता के रूप में चित्रित करते हैं।

फिर भी हम उन्हें कोई अवतार या धार्मिक व्यक्ति के रूप में यहाँ चित्रित करने का प्रयास नहीं कर रहे हैं। हम केवल यह दिखाना चाहते हैं कि जिन ऐतिहासिक परिस्थितियों में महात्मा कौटल्य ने जन्म लिया था वे न केवल भारत में प्रत्युत सम्पूर्ण विश्व में अत्यधिक गतिशील एवं परिवर्तनशील थीं। पूरे संसार के प्रमुख विकसित देशों में नयी वैचारिक क्रान्तियों की लहरें उठ रही थीं और उन लहरों पर तैरते उछलते अनेक विश्वविख्यात युग पुरुषों के नाम मानव-जाति को गौरवान्वित करते मिलते हैं। विश्व के अन्य महात्माओं के व्यक्तित्व एवं उपदेशों के सम्बन्ध में शायद ही कभी सन्देह प्रकट किया जाता है। परन्तु जिस भारत देश ने विश्व सभ्यता के विकास में सर्वाधिक योगदान किया है और जिसने पूरी मानव जाति को अपना परिवार समझने की उदारता प्रदान की है, उस देश के महात्माओं तथा विचारकों को संकीर्ण मनोवृत्ति के विदेशियों ने सदैव या तो अस्वीकार किया है या उनका गौरव गिराया है और या फिर उनकी ऐतिहासिक गरिमाओं को सन्देहों की धूल से धूसरित किया है।

महान राजनेता विचारक और महर्षि विष्णु गुप्त कौटल्य ऐसी ही कुटिलताओं से पीड़ित रहे हैं। नीचे के पृष्ठों में कौटल्य कालीन विश्व इतिहास की एक झलक दी जा रही है।

कल्पनाशील कौटल्य

पिछले अध्यायों में अति संक्षेप के साथ कौटल्य के उदय से पहले की भारतीय परिस्थितियों का संक्षिप्त मूल्याँकन किया गया है। वैदिक कालीन भारत यद्यपि बहुत छोटा था और उसकी सीमाएँ एक चौथाई भारत की परिधि तक सीमित थीं, फिर भी भारतीय संस्कृति और सभ्यता के विकास में इसका योगदान सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण और निर्णायक रहा है। इस आदिम मानव सभ्यता काल में जिस प्रकार का भाई-चारा, विश्व-बंधुत्व, आमोद-प्रमोद और सुखी जीवन की धाराएँ ओत-प्रोत थीं वैसी धाराओं के लिए मानव जीवन हजारों वर्षों से तरसता आ रहा है।

हमने विस्तारपूर्वक बताया है कि वैदिक आर्यों और स्थानीय असुरों के बीच करीब डेढ़ दो हजार वर्ष तक जो अनवरत युद्ध चले थे, वह केवल दो जातियों अथवा बाहरी

आगंतुकों और स्थानीय निवासियों के बीच टकराव ही नहीं था बल्कि दो जीवन पद्धतियों और समाज व्यवस्थाओं के बीच अनिवार्य संघर्ष भी था। इस संघर्ष में असुरों की प्रारम्भिक कृषि व्यवस्था जो किरीत दासों, उदर दासों और विभिन्न प्रकार के करीब २५ श्रेणियों के दासों की उत्पादन क्षमता पर निर्भर थी, आर्यों की कबीला अर्थव्यवस्था की तुलना में उन्नत थी और इसीलिए असुर विजयी रहे।

परन्तु असुर व्यवस्था सामाजिक उत्पीड़न और शोषण पर आधारित थी जबकि वैदिक सभ्यता विश्वबंधुत्व और मानवीय समानता पर टिकी हुई थी। अतः पराजित हो जाने के उपरान्त भी समाज के मनों में उसके प्रति आकर्षण बना रहा। जैसे-जैसे वे उत्पीड़ित और शोषित होते थे वैसे-वैसे उनके मनों में वैदिक काल की ओर वापस लौट चलने की लालसा बलवती हो उठती थी। परन्तु जो व्यवस्था बीत चुकी है वह अपनी सामाजिक उपयोगिता मिटा देती है और वापस नहीं लौट पाती। नयी व्यवस्था को लोग आशंकाओं के साथ देखते अवश्य हैं परन्तु इच्छा या अनिच्छापूर्वक उसका अनुकरण करने के लिए विवश होते हैं।

इसीलिए करीब डेढ़ हजार वर्षों तक देवासुर संग्रामों के उपरान्त समन्वित संस्कृति और अर्थव्यवस्था का उदय होने के पश्चात् जिस अर्थव्यवस्था और नवसंस्कृति ने जन्म लिया उसमें पुरोहितवाद का एक छत्र प्रभुत्व था। नये दास स्वामियों, छुट-पुट राजाओं और पुरोहितों के बीच अपवित्र एवं कुटिल गठबंधन ने समाज में जिस करुण क्रंदन की सृष्टि की थी, उसका उल्लेख विस्तारपूर्वक पीछे किया जा चुका है।

उस समय पूरा भारतीय समाज ऐसी जकड़बंदियों में फँसा हुआ था कि यह विश्वास करना भी कठिन था कि पुरोहितों, राजतंत्रों, उनकी दण्ड व्यवस्था और उनके साथ जुड़ी निरंकुशता से मानव समाज को कभी मुक्ति मिलेगी। इनमें सबसे भयावह एवं वीभत्स भूमिका यज्ञों और कर्मकाण्डों की थी, जिनमें हजारों पशुओं की बलि दी जाती थी और कर्मकाण्डी पुरोहितों की स्थिति हत्यारे कसाइयों से भिन्न नहीं थी।

यह पीछे बताया जा चुका है कि इस कुचक्र ने समाज को सदियों पीछे धकेल दिया और उसे यातना शिविर में डाल दिया।

परन्तु निरंकुश राजसत्ता भी चाहे वह धार्मिक उन्माद के साथ ही क्यों न जुड़ी हो सदा-सर्वदा के लिए मानव जाति को दास बनाकर नहीं रख सकती। यही कारण है कि उपनिषद्कार महर्षियों ने तपोवनों में सर्वसाधारण जनता के साथ बैठकर न केवल ज्ञान और विज्ञान की चर्चाएँ की बल्कि कर्मकाण्ड की तुलना में मानव जीवन को संकटों से मुक्ति दिलाने के लिए ज्ञानकाण्ड को अतिश्रेष्ठ माध्यम बताया। ये उपनिषद्कार महर्षि करीब-करीब एक हजार वर्ष तक अर्थात ईसवी पूर्व ५०० वर्ष से लेकर १५०० वर्ष तक कर्मकाण्ड की असारता और ज्ञान काण्ड की श्रेष्ठता सिद्ध करने के अभियान में जुटे रहे।

फिर भी उनका यह आन्दोलन केवल बुद्धिजीवी समाज तक सीमित था। ईसा-पूर्व ५०० वर्ष पहले जब महात्मा गौतमबुद्ध ने उपनिषद्कारों तथा वैदिक आर्यों की सामाजिक मान्यताओं को अग्रसारित करते हुए यज्ञों में पशुहिंसा का विरोध किया तथा बहुजन के सुख तथा बहुजन के हित के लिए देशव्यापी जनान्दोलन छेड़ा तो देश के दार्शनिक चिंतन और

सामाजिक जीवन में नवीन प्रकार का मोड़ आ गया। यह मोड़ लाने में और भी अनेक दार्शनिकों तथा चार्वाक का विशेष महत्त्व है जिनका पीछे उल्लेख किया जा चुका है।

माना कि बौद्धिक और सांस्कृतिक क्षेत्र में इन व्यापक जनान्दोलनों के कारण पूरे भारतवर्ष में सांस्कृतिक एवं धार्मिक एकता पहले ही स्थापित हो चुकी थी। परन्तु इन सभी उपलब्धियों को एक दूसरे में पिरोकर तथा हजारों खण्डों में बँटे भारत को एक राजनैतिक सूत्र में बाँधकर देश को एक महाशक्ति के रूप में संगठित करने का काम अभी बहुत अधूरा था और असम्भव प्रतीत हो रहा था। परन्तु ईसा पूर्व ३२७ में महान सिकन्दर के आक्रमण ने राष्ट्रवाद की जो लहर उत्पन्न की उसका लाभ उठाते हुए महर्षि विष्णु गुप्त कौटल्य ने पहले दो साम्राज्यों की और बाद में दोनों का एक में विलीनीकरण करके जिस विशाल मौर्य साम्राज्य की स्थापना की उसका उद्‌देश्य किसी व्यक्ति विशेष का ऐश्वर्य बढ़ाना अथवा सुख वैभव में लिप्त होकर रहना नहीं था।

जब कोई समाज व्यवस्था अथवा अर्थव्यवस्था अपने विकास के प्रथम चरणों में होती है तो उसे बड़ी-बड़ी परीक्षाओं से गुजरना पड़ता है। रचनात्मक कार्यों तथा बलिदानों के बिना वह व्यवस्था अपने विकास के धर्म बिन्दुओं तक नहीं पहुँच पाती।

इस दृष्टि से विचार करने पर कौटल्य कालीन भारत महान रचनात्मक कार्यों का अनुष्ठान करता हुआ तथा स्वयं राजा अमात्य परिषद और अध्यक्ष मंडल को नवनिर्माण के अनवरत अभियानों में जुटाता हुआ दिखाई पड़ता है। कौटल्य के राजा और राजतन्त्र उन राजा तथा राजतंत्रों से सर्वथा भिन्न प्रकार के हैं जिनके सम्बन्ध में यह धारणा प्रचलित है कि उन राजाओं का आदेश ही कानून होता था और सारा राजपाट तथा राजकोष उनके ऐश्वर्यभोग के लिए खुला रहता था।

नहीं, कौटल्य का राजतंत्र ऐसा नहीं है। वह उदीयमान सामन्ती व्यवस्था की प्रबन्ध समिति है और राजा उसका एकमात्र प्रमुख व्यक्ति भर है। कौटल्य ने उसके सोने, जगने-बैठने, वार्तालाप करने, राजसभा में आने, गुप्तचरों से चर्चा करने और रनवास में रानियों के साथ रंगरेलियाँ करने के काम को भी इस प्रकार विभाजित किया है कि कौटल्य का राजा और राजतंत्र चाहते हुए भी निरंकुश नहीं हो सकते हैं।

उन्होंने ऐसे अनेक राजाओं के वर्णन किये हैं जो प्रजा और राज के प्रति अपने कर्त्तव्यों को भूल गये और विद्रोही जनता के हाथों अकाल मौत मारे गये। यहाँ संक्षेप में यह दोहराना भी उचित समझते हैं कि कौटल्य ने राजतंत्र के लिए जो शासन विधान तैयार किया था और जिसकी रूपरेखा दूसरे भाग में विस्तारपूर्वक दी जा रही है उसका अक्षुण प्रभाव भारतीय राजनीति पर लगभग सात सौ वर्षों तक रहा है। जिस राजा ने भी इन मर्यादाओं का उल्लंघन किया वे राज सिंहासन खो बैठे। अंतिम मौर्य सम्राट वृहद्रथ, शुंगवंश के अन्तिम सम्राट वेदभूति और कण्व वंश के अंतिम सम्राट सुशर्मा अपनी निरंकुशता और अपनी प्रजाओं के साथ अभद्र व्यवहार करने के कारण ही न केवल राज सिंहासनों से उतार कर फेंक दिये गये प्रत्युत उन्हें अपने प्राणों से भी हाथ धोना पड़ा।

इतिहास में कहा गया है कि कण्व वंश के बाद सातवाहन ब्राह्मणों और आन्ध्र नरेशों

ने करीब १३० वर्षों तक कौटल्य द्वारा स्थापित शासन विधान का मर्यादापूर्वक पालन किया और वैदिक धर्म के सुखद सपनों को स्मरण कराते रहने का प्रयास किया।

संक्षेप में यह कहना उचित होगा कि कौटल्य ने भारत का एकीकरण करके और नवजागरण की उपलब्धियों को साकार करते हुए तथा राजतंत्रों को अतिशय नियन्त्रण में रखते हुए भारत के नवनिर्माण में जो योगदान किया उसी के परिणामस्वरूप शुंग एवं कण्व वंशी ब्राह्मण राजाओं ने सम्राट अशोक की देखा-देखी और उनकी बौद्ध संगीतियों को महत्त्वहीन करते हुए हजारों विद्वानों को विद्वत परिषदों में संगठित करके रामायण और महाभारत लिखवाई, अनेक अमर काव्यों की रचनाएँ कराकर तपोवनों, वर्णआश्रम व्यवस्था और वैदिक धर्म को पुनजीर्वित करने का प्रयास किया। इन शुंगों और कण्वों ने ही सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक और वेदान्त तथा मीमांसा दर्शनों की रचना कराकर बौद्ध दार्शनिकों को मुँहतोड़ जवाब दिये।

यहाँ सांख्य, वैशेषिक, न्याय शास्त्र और वेदान्त के सम्वन्ध में कुछ लिखने का प्रसंग नहीं है किन्तु यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी कि शुंग शासनकाल में ही भारत में एक ऐसा दार्शनिक भी हुआ था, जिसे कणाद कहते हैं। उसने विश्व में सवसे पहले परमाणु की कल्पना की थी। और कण्व काल में आर्यभट्ट ऐसे अद्भुत खगोल शास्त्री एवं भूगोल वेत्ता हुए हैं जिन्होंने सर्वप्रथम धरती को गोल कहा था और इसीलिए उसके विज्ञान का नाम भूगोल पड़ा। उसी ने और वराहमिहिर ने विश्व में सबसे पहले नक्षत्रों को गतिशील बताया था और उनकी गति का मापन करके यह सिद्ध कर दिया था कि सूर्य ग्रहण या चन्द्र ग्रहण किस माह की किस तिथि में होंगे। कण्व वंश के तुरन्त उपरान्त परमवीर विक्रमादित्य ने भी कौटल्य के शासन विधान को ही अपने शासन का आदर्श माना था। इससे राष्ट्र में जो शान्ति और व्यवस्था स्थापित हुई, उसने कृषि, उद्योगों तथा वाणिज्य का असीमित विस्तार करने के साथ-साथ भारत का अपार वैभव वढ़ाया तथा कालीदास, भवभूति, अश्वघोष तथा अन्य हजारों महाकवि तथा लेखक उत्पन्न किये जिन्होंने देश की गरिमा में चार चाँद लगाये।

अतः इस ऐतिहासिक विवेचना के उपरान्त पाठकों में यह स्वभाविक रुचि उत्पन्न हो जाती है कि कौटल्य का वह शासन विधान क्या होगा जिसने हजारों टुकड़ों में विखरे भारत को एक सूत्र में जोड़ा, एक छत्र साम्राज्य की स्थापना की और सामन्तवाद के अभ्युत्थान के लिए ऐसे कार्यक्रम प्रस्तुत किये जिनके कार्यान्वयन से यह देश ढाई हजार वर्ष पहले ही विश्व का अग्रणीतम राष्ट्र बन गया था।

अगले भाग में कौटल्य के अर्थशास्त्र पर आधारित उसके शासन विधान की संक्षिप्त रूपरेखा प्रस्तुत की जा रही है।



द्वितीय भाग

कौटल्य के सपनों का भारत

अध्याय-छः

समाज का आर्थिक ढाँचा

अन्य शास्त्रों से अर्थशास्त्र का भेद

आचार्य विष्णु गुप्त कौटल्य ने जिस समाज में बैठकर प्रसिद्ध 'अर्थशास्त्र' की रचना की थी, उसमें सामन्ती अर्थ-व्यवस्था के सभी रूपों का पूर्ण विकास हो रहा था और समाज का आर्थिक जीवन प्राकृतिक उत्पादन प्रणाली के संकुचित चौखटे से निकलकर उत्पादन एवं वितरण के निखरे हुए नियमों में बँधता जा रहा था। इसी के अनुरूप समाज में आर्थिक मान्यताएँ एवं धारणाएँ भी प्रचलित हो गयी थीं।

कौटल्य से पहले के प्राचीन आचार्य इस शास्त्र को वार्त्ताशास्त्र के नाम से पुकारते थे। सबसे पहले कौटल्य ने इस शास्त्र का नाम अर्थशास्त्र रखा था। परन्तु अन्तर केवल नाम का ही नहीं है। वार्त्ताशास्त्र के मुख्य अंग-कृषि, पशुपालन तथा वाणिज्य थे। यद्यपि कौटल्य ने अपने अर्थशास्त्र में इन तीनों ही अंगों की विवेचना की है, परन्तु फिर भी कौटल्य ने जिस अंग पर सबसे अधिक बल दिया है वह कृषि है, और तत्कालीन भारत का मुख्य आर्थिक आधार खेती ही थी।

उस समय पशुपालन भूतकालीन अर्थव्यवस्था का प्रभावशाली अवशेष मात्र था और वाणिज्य के अंगों का सर्वांगीण विकास न होने के कारण वह भी समाज की जीविका का निर्णायक साधन नहीं था। कौटल्य कालीन भारत में खेती जीविका का मुख्य साधन बन चुकी थी। खेती का विकास प्रबल वेग से चल रहा था और जैसे-जैसे उसका विस्तार होता जाता था, वाणिज्य अपने प्रथम चरणों से निकल कर प्रौढ़ कदम बढ़ाने पर अग्रसर हो रहा था।

ऐसा लगता है कि वार्त्ताशास्त्रकार प्रकृति से परम्परा से उपलब्ध जीविका साधनों को, जिनमें कृषि, पशुपालन और वाणिज्य सम्मिलित थे, प्रकृति प्रदत्त जीविका साधनों के रूप में अंगीकार करते थे और वे मानव समाज को जिस रूप में भी उपलब्ध है उसी रूप में उनका लाभ उठाने की चेष्टा करते थे।

परन्तु कौटल्य का अर्थशास्त्र इससे भिन्न मार्ग अपनाता है। वह पहले आचार्यों की भाँति इन साधनों की विवेचना तो करता ही है और पूरा लाभ भी उठाता है परन्तु उन्हें जीवन की आवश्यकताओं के अनुसार ढालने का, उनमें विकास करने का तथा आवश्यकता पड़ने पर पूर्णतया रूपान्तरण करने का प्रयास भी करता है।

इसीलिए कौटल्य का अर्थशास्त्र वार्ताशास्त्र की भाँति केवल विवेचनात्मक या व्याख्यात्मक ही नहीं है, बल्कि वह उनमें मूल परिवर्तन लाने का भी प्रयास करता है। अर्थशास्त्र सामाजिक जीवन की पूर्ण पद्धति का दर्शन है, किसी एकांगी जीवन का

नहीं है।

अपनी अर्थशास्त्र सम्बन्धी विवेचना करते समय कौटल्य स्वयं इन शब्दों में अपने मत का प्रतिपादन करते हैं –

'मनुष्यों की जीविका का साधन अर्थ है। मनुष्यों की आबादी से परिपूर्ण भूमि ही अर्थ है। इस भूमि की प्राप्ति एवं रक्षा के साधन जिस शास्त्र में बताये जाते हैं, वह अर्थशास्त्र है। इस उद्‌देश्य की प्राप्ति के लिए पूर्वाचार्यों ने जितने भी शास्त्रों की रचना की है, यह अर्थशास्त्र उन सभी के अन्तिम निष्कर्षों से सम्पन्न है।'

(मनुष्याणां वृत्तिरर्थः मनुष्यवती भूमिरित्यर्थ। नस्यः पृथिव्या लाभ पालनोपायः शास्त्रमर्थशास्त्रम्। पृथिव्या लाभे पालने च पावन्त्यर्थशास्त्राणि पूर्वाचार्यैः प्रस्तावितााणि प्रायशस्तानि संहृत्येकमिदमर्थशास्त्रं कृतमिति, अधि. १५, अध्याय।)

कौटल्य का यह एक मौलिक चिंतन है कि वह उस भूमि को ही अर्थ मानते हैं जहाँ जनसंख्या रहती है और भूमि पर श्रम करती है। मानव रहित भूमि, जहाँ श्रम करना सम्भव नहीं है, को कौटल्य अर्थ की संज्ञा नहीं देते। इस परिभाषा का गूढ़ार्थ इसके अलावा और क्या हो सकता है कि श्रम ही वास्तविक अर्थ है और अर्थोत्पत्ति श्रम के विविध स्तरों पर आधारित होती है। जैसे-जैसे श्रम की उत्पादकता बढ़ती है वैसे-वैसे आर्थिक साधन भी विकसित होते हैं। कौटल्य का यह सिद्धान्त सर्वदा नवीनतम है।

कौटल्य की पूरी अर्थनीति और राजनीति का मूल आधार यह आर्थिक दृष्टिकोण ही था और सभी बातों में यह इस तरह छाया हुआ था कि शेष सभी सिद्धान्त एवं सामाजिक रीति-नीति आर्थिक हितों के आधार पर तय की जाती थी। समाज का बौद्धिक धरातल इतना ऊँचा उठ गया था कि पुराने अन्धविश्वास नयी धारणाओं तथा मान्यताओं से टकराकर चकनाचूर हो रहे थे। समाज ऐसे लोगों का परिहास करने लगा था जो अपना सुख एवं वैभव बढ़ाने के लिए अपने प्रयत्नों पर नहीं बल्कि भाग्य पर भरोसा करते थे। 'जो वार-वार ग्रहों और नक्षत्रों को पूछता है उस मूर्ख को कभी आर्थिक प्राप्तियाँ नहीं होतीं। अर्थ का ग्रह तो अर्थ है इसमें तारे क्या कर सकते हैं? साधनहीन व्यक्ति सौ प्रतिशत प्रयत्न करके भी पैसा नहीं पाते। पैसा पैसे को बाँधता है जैसे हाथी-हाथी को।'

इस आर्थिक दृष्टिकोण से प्रभावित कौटल्य कालीन भारत सामन्तवाद के चरम उत्कर्ष के युग से पार हो रहा था और खेती को मूलाधार मानकर आर्थिक पुनर्निर्माण के अभियान में लगा हुआ था। वहाँ कहीं जंगल काटे जा रहे थे, कहीं नये उपनिवेश बसाये जा रहे थे, कहीं खेती तथा उद्योगों का विकास हो रहा था और कहीं विशाल युद्धों की तैयारियाँ हो रही थीं तथा कहीं सामाजिक सुधार के प्रभावशाली एवं निर्णायक कदम उठाये जा रहे थे। यदि समाज का अपनी समस्याओं के प्रति यह आर्थिक दृष्टिकोण न होता, तो इस महान सामाजिक क्रान्ति के सफल होने की कोई सम्भावना नहीं थी।

सामन्तवाद और कृषि व्यवस्था के विकास एवं निखार के साथ ही बौद्धिक क्षेत्र में आम व्यावहारिक सिद्धान्त सामने आ रहे थे। इससे पहले के कौटुम्बिक या कबीला समाज

में जब जीविका के साधन स्पष्ट एवं सुनिश्चित नहीं थे, तब आर्थिक दृष्टिकोण भी बहुत धुँधला, अस्पष्ट एवं रहस्यपूर्ण बना हुआ था। जैसे प्रकृति अस्पष्ट थी, उसी भाँति प्राकृतिक अर्थव्यवस्था के सिद्धान्त भी अस्पष्ट थे। परन्तु बीज बोने से जैसे फसलों की पैदावार स्पष्ट हो गयी वैसे ही जीविका के साधन भी स्पष्ट हो गये और तदनुरूप अर्थशास्त्र के नियम एवं मान्यताएँ भी स्पष्ट होकर समाज के सामने आयीं। अर्थशास्त्र का यह वस्तुवादी रूप पूरे समाज में मान्य ठहराया जा चुका था जिसका दिग्दर्शन ऊपर के श्लोकों में स्पष्ट है।

नये उपनिवेशों की स्थापना

आर्थिक दृष्टि से दास प्रथा एवं पशुपालन का युग समाप्त होने के बाद भारतवर्ष यद्यपि सामन्ती अर्थ व्यवस्था के सर्वांगीण विकास के राजमार्ग पर अग्रसर था परन्तु इस मार्ग के एकदम नवीन होने के कारण यह आशंकाओं से भरा हुआ था। उस पर स्वयं प्रेरित ढंग से नहीं चला जा सकता था। उस पर सुनियोजित रूपरेखा का अनुसरण करके ही चलना संभव था, जिसमें राजतंत्र महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा रहा था। आगे के अध्यायों में यह सुस्पष्ट हो जायेगा कि किस प्रकार राजतंत्र छोटे से छोटे एवं बड़े से बड़े निर्माण कार्य में सीधा एवं प्रत्यक्ष हाथ बँटाता था एवं उस पर नियंत्रण रखता था। सामाजिक अर्थतंत्र की उन्नति का महत्त्वपूर्ण कार्य केवल भाग्य के भरोसे और कुछ व्यक्तियों की शुभेच्छाओं पर नहीं छोड़ दिया गया था।

सबसे अधिक महत्त्व की घटना राज्य की ओर से नित्य नये उपनिवेशों की स्थापना तथा पुराने उपनिवेशों का विकास करते रहना थी। कौटल्य ने अपने अर्थशास्त्र में रचनात्मक कार्यों में सबसे पहला स्थान इन्हीं दो घटनाओं – नये उपनिवेशों की स्थापना एवं पुराने उपनिवेशों के विकास को दिया है। इस महत्त्वपूर्ण रचना में आने वाली कठिनाइयों के जो समाधान प्रस्तुत किये गये हैं तथा राज्य की ओर से नव उपनिवेश निवासियों को सुविधाएँ देने के जो आदेश दिये गये हैं उन्हें पढ़कर ऐसा प्रतीत होता है जैसे कि आज के युग में बैठकर कौटल्य ने इस महान ग्रन्थ की रचना की हो (भूतपूर्वमभूतपूर्व वा जनपदं परदेशायवाह्नेन स्वदेशाभिस्पन्दवमनेन या निवेशयेत्)।

इसमें 'भूतपूर्व' शब्द से एक विशेष अर्थ की अभिव्यक्ति भी होती है। ये नये उपनिवेश प्रायः उजड़ जाते थे, या कठिनाई से चल पाते थे। परन्तु फिर भी, उनकी उपेक्षा नहीं की जाती थी और उन्हें बार-बार आबाद किया जाता था। इसी प्रकार, दूसरी बड़ी बाधा इन उपनिवेशों में आकर बसने वालों की कमी थी। देश में जनसंख्या कम थी और स्थान-स्थान पर नये उपनिवेश बसाये जा रहे थे जिससे जनसंख्या की कमी और भी गम्भीर हो उठती थी। इसीलिए, कौटल्य ने सुझाव दिया था कि दूसरे देशों को जीतकर एवं वहाँ की जनसंख्या से ये उपनिवेश बसाये जायँ तथा ऐसा करना संभव न हो तो अपने ही देश की जनसंख्या बढ़ाकर इन्हें आबाद करना चाहिए।

ज़नपदों की स्थापना एवं नये उपनिवेशों की रूपरेखा तैयार होने के बाद उन्हें गाँवों में विभक्त किया जाता था और प्रत्येक गाँव की जनसंख्या सौ परिवारों से लेकर पाँच सौ

परिवारों तक रखी जाती थी। उनकी आपसी दूरी एक कोस से दो कोस की थी ताकि आवश्यकता पड़ने पर वे एक दूसरे की रक्षा में हाथ बँटा सकें। (कुलेशतावरं पंचशतकुलपरं ग्रामे क्रोश द्विक्रोश सीमानमन्योन्यारक्षे निवेशयेत्)।

इन गाँवों में आपसी सद्भाव रखने तथा आकस्मिक विवादों के उठ खड़े होने की संभावना को रोकने के लिए दो गाँवों के बीच में नदी, पहाड़ी, जंगल, बेरी, खाई, सेतुबन्ध, सिंभल के वृक्ष, शमा और अन्य झाड़ी आदि के रूप में सीमा का निर्धारण कर दिया जाता था।

आठ सौ गाँवों के बीच में एक 'स्थानीय' चार सौ गाँवों के बीच में एक 'द्रोणमुख' दो सौ गाँवों के केन्द्र में एक 'खार्वटिक' और दस गाँवों के बीच में एक 'संग्रहण' नामक संगठन कायम किया जाता था। खार्वटिक आजकल भी पश्चिमी उत्तर प्रदेश में 'खाप' नाम से पुकारा जाता है। (अष्टशत ग्राम्या मध्ये स्थानीयं चतुःशत ग्राम्या द्रोणमुखं द्विशत ग्राम्या खार्वटिकं दशग्रामी संग्रहेण संग्रहण स्थापयेत्। अन्तेष्वन्तपाल दुर्गाणि)।

राजतंत्र जिस प्रकार अपने सम्पूर्ण राज्य की रक्षा के लिए प्रयत्न करता था, उसी प्रकार इसकी सुरक्षा के लिए सीमाओं पर दुर्ग बनाये जाते थे एवं अन्तपाल (सीमा रक्षक) नामक बड़े अधिकारी की देखरेख में उनकी सुरक्षा का हर संभव प्रयत्न किया जाता था।

यह बात नहीं है कि इन उपनिवेशों में केवल शूद्रों तथा किसानों को ही बसाया जाता था। ऋत्विक्, आचार्य, पुरोहित एवं राज्य तथा समाज के प्रतिष्ठित महानुभावों को यहाँ बसने के लिए स्थान एवं सुविधाएँ दी जाती थीं। ब्राह्मणों को दी जाने वाली भूमि कर से मुक्त रखी जाती थी और शेष अधिकारियों को दी गयी भूमि पर कर लिया जाता था एवं उन्हें अपनी भूमि बेचने, गिरवी रखने और नष्ट करने का अधिकार नहीं था। (अध्यक्ष संख्ययिका दिभ्यो गोपस्थानिकानीकस्थ चिकित्साश्वदमक जंघाकरिकेभ्यश्च विक्रयाधानवर्जम्)।

लगान पर जिन किसानों को भूमि दी जाती थी वह उनके पास उनके जीवन काल तक ही रहती थी। उनकी मृत्यु के उपरान्त राज्य का भूमि पर अधिकार हो जाता था। परन्तु यदि वे बंजर भूमि तोड़ कर तथा अपने ही परिश्रम एवं लागत से भूमि कृषि योग्य बनाते थे तो उनके उत्तराधिकारियों को वह उत्तराधिकार में मिल जाती थी और यदि वे इस भूमि को भी परती या बंजर पड़ी रहने देते थे, तो राज्य को यह अधिकार था कि भूमि उनसे लेकर दूसरे परिश्रमी किसानों को दे दे। राज्य उस भूमि को मुखिया अथवा वैदेहक (वैश्यों) को भी उठा देता था।

(अकृषतामाच्छिद्यान्येभ्यः प्रयच्छेत्। ग्राम भृतकवैदेहका वा कृषेयुः)

जो किसान खेती करने का वादा करके भूमि ले लेते थे और फिर खेती नहीं करते थे उन्हें हर्जाना (अपहीन) अदा करना पड़ता था। नये जनपद में खेती प्रारम्भ करने वाले किसानों को राज्य की ओर से पशु, बीज, धन और दूसरी सुविधाएँ दी जाती थीं जिन्हें वे अपनी सुविधा के अनुसार धीरे-धीरे लौटा देते थे। नये उपनिवेश में आकर बसने वाले किसानों का स्वास्थ्य आमतौर पर अच्छा नहीं रहता था। इसलिए राज्य की ओर से उनके

स्वास्थ्य की रक्षा एवं चिकित्सा के लिए अनुग्रह एवं परिहार नामक विशेष आर्थिक सहायताएँ दी जाती थीं।

(धान्य पशुहिरण्यैश्चैनाननुगृह्लीयात् तान्युनुसखेन दद्युः। अनुग्रह-परिहारौ चैभ्यः कौशवृद्धिकरौ दद्यात्)

किसानों के स्वास्थ्य की सुरक्षा एवं क्षतिपूर्ति के लिए जो सहायता दी जाती थी वह प्रायः वापस नहीं ली जाती थी। इस पर जो खर्च होता था उसे राजकोष की हानि नहीं समझा जाता था। परन्तु यदि अनुग्रह तथा परिहार से राजकोष पर आवश्यकता से अधिक भार पड़ता था तो वह बन्द कर दिया जाता था, इसलिए कि राजकोष खाली होने पर न तो उपनिवेश बसाये जा सकते थे और न जनपदों का हित-साधन संभव था। विपरीत इसके कोष क्षीण होने पर राजा नागरिकों तथा जनपद निवासियों का ही शोषण करता था।

परन्तु फिर भी यह अनिवार्य माना जाता था कि उनके बिगड़ते स्वास्थ्य की रक्षा के लिए राज्य अनुग्रह नहीं तो परिहार (स्वास्थ्य की क्षतिपूर्ति) पर धन अवश्य व्यय करे और यदि वे परिहार लौटा देते थे तो राज्य की ओर से उन्हें फिर से संरक्षण दिया जाता था।

खनिज पदार्थों के विक्रय स्थानों, द्रव्य वनों (मूल्यवान् लकड़ी के जंगलों) हस्तिवनों, चरागाहों तथा स्थल और जल मार्गों से आयात-निर्यात व्यापार की व्यवस्था की जाती थी। इन नये जनपद निवेशों में सेतुबन्ध बाँधने की ऐसी व्यवस्था की जाती थी जिनमें सदा जल भरा रहता था या जो केवल अस्थायी कार्य की पूर्ति के लिए बनाये जाते थे। यदि प्रजाजन अपने प्रयासों से सेतुबन्ध आदि की व्यवस्था करते थे तो राज्य की ओर से उन्हें भूमि, मार्ग, लकड़ी तथा अन्य आवश्यक सामग्री देकर प्रोत्साहन दिया जाता था। देवालय, विद्यालय आदि सार्वजनिक उपयोग के स्थानों के लिए भी निःशुल्क भूमि आदि की सुविधा दी जाती थी।

इन जनपदों में रहने वालों को यह अधिकार नहीं था कि यदि सेतुबन्ध आदि बनाया जा रहा हो तो वे काम से अनुपस्थित रह सकें। विशेष असमर्थता होने पर भी उन्हें अपने स्थान पर मजदूर (कर्मकार), अपने बैल तथा आवश्यक साधन देने पड़ते थे। कार्य समाप्त हो जाने के उपरान्त उन्हें लाभ उठाने से वंचित कर दिया जाता था। यदि किसी मालिक के दास, आहितिक (धरोहर रखे व्यक्ति) बन्धु और पुत्र आदि सार्वजनिक कार्य करने में अपने मालिक की आज्ञाओं का उल्लंघन करते थे तो राजदण्ड के भागीदार समझे जाते थे।

बालक, बूढ़े, रोगी, दुखी और अनाथ व्यक्तियों को राज्य की ओर से विशेष सहायता दी जाती थी एवं अनाथ तथा बंध्या स्त्री को विशेष संरक्षण मिलता था।

भारतीय सामंतवाद ने केवल प्रचलित खेती और उससे होने वाले लाभों को बटोर कर राजवैभव बढ़ाने की चेष्टा ही नहीं की। कौटल्य के नेतृत्व में मौर्य साम्राज्य ने गैर आवाद भू-भागों को उपनिवेश बसाने की योजनाओं के अन्तर्गत लाकर उनकी उत्पादकता में असीमित विस्तार किया था। ऐसा किये बिना न केवल उत्पादकता और उत्पादन न बढ़ते बल्कि देश का बहुत बड़ा भाग सभ्यता की परिधि से बाहर पड़ा रहता।

अतः पूरे देश में उन्होंने छोटे और बड़े उपनिवेश बसाये, जनसंख्या को यथा सम्भव अधिक से अधिक सुविधाएँ प्रदान की और भूतपूर्व उपनिवेशों को भी यह सोच कर त्याग दिया कि इनका विकास करना सम्भव नहीं है। इस प्रकार उस युग में नव उपनिवेशों की स्थापना करना सामन्ती राजसत्ता का सर्वोच्च एवं प्राथमिक कर्तव्य बन गया।

इन उपनिवेशों में रहने वालों के लिए कुछ विशेष सामाजिक नियम तथा प्रतिबन्ध बने हुए थे। प्रत्येक व्यक्ति के लिए यह अनिवार्य था कि वह अपने पुत्रों, पत्नियों, माता-पिता, नाबालिग (अप्राप्त व्यवहार) भाई और अविवाहित या विधवा बहन का भरण-पोषण करे। यदि ये लोग समाज से बहिष्कृत हो जाते थे तो सम्बद्ध व्यक्ति का यह उत्तरदायित्व समाप्त समझा जाता था। परन्तु माता यदि समाज से पतित भी हो जाती थी तो भरण-पोषण का उत्तरदायित्व निभाना पड़ता था। पुत्र और पत्नी का समुचित प्रबन्ध किये बिना किसी भी व्यक्ति को सन्यास लेने का अधिकार नहीं था। वह अपनी पत्नी को भी सन्यासिनी नहीं बनवा सकता था। जिसकी इन्द्रियाँ शिथिल हो जाती थीं, वही व्यक्ति धर्मालय की स्वीकृति से सन्यास ग्रहण कर सकता था। इसका उल्लंघन करने पर कारागार का दण्ड मिलता था।

कौटल्य ने बौद्धों, जैनों तथा अन्य दार्शनिकों के प्रचार में आकर भारतीय समाज में बड़े स्तर पर जो वैराग्य भावनाएँ उत्पन्न हो रही थीं, लाखों लोग देश में भिक्षु, भिक्षुणी और सन्यासी बनकर जिस अकर्मण्यता तथा सामाजिक जीवन के प्रति उदासीनता का अभिशाप उत्पन्न कर रहे थे, कौटल्य ने उस पर प्रतिबन्ध तो नहीं लगाया परन्तु ऐसी-ऐसी शर्तें अवश्य लागू कर दीं जिन्हें पूरा किये बिना कोई व्यक्ति भिक्षु, भिक्षुणी या सन्यासी नहीं बन सकता था, राष्ट्र के प्रति अपने कर्तव्यों का पालन करना कौटल्य ने प्रथम नागरिक दायित्व स्थापित किया था।

वानप्रस्थ से कोई सन्यासी इस उपनिवेश में आकर नहीं बस सकता था। यहाँ नाट्यशाला तथा मनोरंजन केन्द्रों की स्थापना करना वर्जित था। नट, नर्त्तक, वादक, गायक, कथावाचक, नक्काल और इनकी मण्डलियाँ समय नष्ट करने वाली समझी जाती थीं, जिनसे खेती के विकास में बाधा आती थी। दण्ड, विष्टि (सरचार्ज) और करों के अतिभार का दबाव खेती पर राज्य नहीं पड़ने देता था एवं चोरों, हिंसक प्राणियों, विष-प्रयोग तथा व्याधियों से पशु-धन की निरन्तर रक्षा की जाती थी।

(सहोदक महायोदकं वा सेतुं बन्धयेत्। अन्येषां वा वध्नतां भूमि, मार्ग, वृक्षोपकरणानुग्रहेणानुग्रहे कुर्यात्। पुण्यस्नानारामाणां च। संभूय सेतु बन्धास्य क्रामतः कर्मकर बली वर्दाः कर्म कुर्यः। व्यय कर्मणि च भागी स्यात्। न चांशं लभते। न च तत्रारामविहदार्थाः शालाः स्युः। नट, नर्त्तक, गायन वादन वगजीवन कशीतता व न कर्म विघ्नं कुर्युः)

यह सोचना कौटल्य के साथ अन्याय करना होगा कि वह नई बस्तियों या नव उपनिवेशों में रंगशाला नाट्यशाला या गायन-वादन का विरोध करके नागरिकों के मनोरंजन के प्रति उदासीन थे। इसलिए कि एक स्थान पर उन्होंने स्वयं लिखा है कि व्यक्ति को अपना जीवन सुख विहीन और दुखों में डुबोकर नहीं रखना चाहिए। परन्तु उन दिनों यूनान देश

की नाट्य मंडलियों के भेष में गुप्तचर गिरोह तथा भिक्षु-भिक्षुणियों के भेष में बौद्ध साधु एवं साधुनियाँ इतनी संख्या में विचरण किया करती थीं कि इन नव उपनिवेशों की स्थापना का मूल उद्देश्य अर्थात् उनका आर्थिक उत्पादन ही संदेहास्पद हो जाता था। अतः इन नाटक मंडलियों पर प्रतिबन्ध लगाना सर्वथा स्वाभाविक हो गया था।

इन उपनिवेशों के सभी जलाशयों, उनकी भूमि, मत्स्य तथा फल आदि पर राज्य का ही अधिकार माना जाता था।

नीचे लिखे व्यक्तियों पर यह प्रतिबन्ध रहता था कि वे नये जनपदों या उपनिवेशों में हस्तक्षेप करके निर्माण कार्यों को क्षति न पहुँचावें। इनमें व्यापार तथा व्यापारी मार्गों की सुरक्षा की व्यवस्था करना अत्यन्त अनिवार्य समझा जाता था। खुशामदी राजकर का संग्रह करने वाले समाहर्त्ता के कर्मचारी, चोर, सीमा रक्षक और हिंसक पशु, इनका प्रवेश करना वर्जित था।

इसके अलावा, नये निर्माण कार्यों को पूरा करना ही पर्याप्त नहीं समझा जाता था बल्कि पुराने, अधूरे एवं क्षतिग्रस्त कार्यों का पूरा कराना एवं उनकी मरम्मत करवाते रहना भी आवश्यक समझा जाता था।

दण्डविष्टिकराबाधै रक्षेदुपहतां कृषिम्।
स्तेन व्याल विषग्राहैर्व्याधिभिश्च पशुव्रजमम्।
बल्लभैः कार्मिकैः स्तेनेस्तपार्लेश्च पीडितम्।
शोधयेत् पशुसंघैश्च क्षीयमाणं पणिक्यथम्।
एवं द्रव्य द्विपवनं सेतुबन्धमधाकरान्।
रक्षोपूर्वकृतान् राजा नवांश्चाभि प्रवर्त्तयेत्।।

(अधि. २, अध्याय १)

देश के विशाल जंगलों, रुद्ध मार्गों, हिंसक पशुओं से परिपूर्ण वनों, चोरों तथा दस्युओं से भरी झाड़ियों तथा राजा-विहीन, अनुशासन-विहीन भारत में सामन्तवाद आर्थिक विकास के लिए सैकड़ों-हज़ारों नये जनपदों की स्थापना कर रहा था और राजनीतिक तथा सामाजिक चेतना मनुष्यों को एक अनुशासन में बाँध रही थी। नये जनपदों की स्थापना तत्कालीन भारत में सबसे बड़ा आर्थिक अभियान समझा जाता था।

घरों के निर्माण, रहन-सहन के नियम एवं व्यवस्था

देश में मकान बनाने और रहन-सहन के नियम उच्चकोटि के थे। नगरपालिका एवं जनपदों में रहते समय लोगों को इन नियमों का कठोरता से पालन करना पड़ता था एवं इतनी स्वतंत्रता उन्हें नहीं थी कि वे अपने मनमाने व्यवहार से पड़ोसियों को असुविधा में डाल सकें। जब पड़ोसियों में उनके घरों की बनावट एवं सुविधा-असुविधाओं के सम्बन्ध में विवाद खड़े हो जाते थे तो स्वेच्छित ढंग से विवाद चलने नहीं दिये जाते थे। मान्य नागरिक तथा प्रतिष्ठित सामन्त उनका निपटारा करते थे। (सामन्तप्रत्यया वास्तुविवादाः) इन प्रचलित

मान्यताओं के आधार पर विवाद शान्त किये जाते थे। मकान, खेत, बाग, सीमा और सेतुबन्ध वास्तु कहलाते थे। मकान मालिकों को अपने घरों के चारों कोनों पर लोहे की छड़ लगाकर दो मकानों की सीमा निर्धारित करनी पड़ती थी। किसी को यह अधिकार नहीं था कि वह अपनी भूमि से अधिक भूमि को अपने मकान की सीमा में घेर सके। दूसरे की दीवार के सहारे तभी मकान बनवाया जा सकता था जब स्वामी से उसकी स्वीकृति ले ली गयी हो तथा दीवार के खर्चे का निश्चित व्यय दे दिया गया हो। (यथासेतु भोग वेश्म कारयेत्। अंभूत या परकृडयादविक्रम्य)। दो मकानों के बीच में कम से कम सवा फुट या तीन कदम (पद) का व्यवधान रखना पड़ता था। मकान की नींव जरूर पक्की बनानी पड़ती थी। (द्वावरत्नों त्रिपदों वा देशबन्धं कारयेत्।)

दस दिन के लिए बनाये गये सूतिका गृह को छोड़कर प्रत्येक मकान में अनिवार्य रूप से शौचालय, जल निकलने की नाली, कुआँ, पाठशाला और भोजनशाला बनवायी जाती थी। भोजन पकाने तथा बैठकर खाने का स्थान पृथक्-पृथक् रखा जाता था। इसके सम्बन्ध में नियम इतने कठोर थे कि उल्लंघन करने वालों को पूर्व साहस दण्ड दिया जाता था।

(अवस्कर भ्रम मुदपानं पानगृहोचितंमन्यत्र सूतिका वक्यादनिर्दशाहारिति। तस्यातिक्रमे पूर्वः साहस दण्डः)

इसी प्रकार बरसाती पानी के निकास के लिए परनाले और रोक के लिए छज्जे बनवाये जाते थे। इस नियम का पालन और भी कठोरता से किया जाता था। प्रत्येक घर में आटा पीसने की चक्की, धान कूटने की मशीन और एक किनारे पर अनिवार्य रूप से आग रखने की व्यवस्था होती थी। छज्जों तथा उसारों के बीच में भी फासला रखा जाता था। प्रकाश तथा वायु के प्रवेश के लिए मकानों में खिड़कियों तथा झरोखों के रखने की व्यवस्था थी।

नागरिकों को यह अधिकार भी था कि नये मकान बनाते समय वे आपस में मिलकर समझौता कर सकते थे एवं एक दूसरे की सुविधा को ध्यान में रखते हुए प्रचलित नियमों में थोड़ा हेर-फेर भी कर सकते थे। (संभूय वा गृहस्वामिनी यथेष्ट कारयेयुरनिष्टं वारयेयुः)

मकान की छत पर बरसाती बनाने की परिपाटी एवं नियम था। किसी को यह अधिकार भी नहीं था कि राजपथ एवं सरकारी गली के अलावा किसी की निजी गली की ओर अपने मकान का दरवाजा या खिड़की खुलवा सके। जो लोग दूसरों के घरों की ओर दरवाजा बनवाते या खिड़की खुलवाते थे। उन्हें प्रथम साहस दण्ड दिया जाता था। (प्रतिलोम द्वार वातायन बाधायां पूर्वः साहस दण्डः) जो लोग दूसरों का पाखाना, पानी, पेशाब की नाली और रास्ते रोकते थे उन्हें कठोर राजदण्ड मिलता था। किसी की दीवार के नीचे से पानी ले जाना वर्जित था।

विशेष रूप से बरसात में नाली रोकने पर कठोर दण्ड मिलता था। (प्रणाली मोक्षे वर्षति)।

मकानों का निर्माण विशाल स्तर पर होने लगा था। किराये पर भी मकान उठाये जाने

लगे थे और मकान मालिक एवं किरायेदारों के लिए समाज में विशेष नियम प्रचलित हो गये थे। जो किरायेदार बिना किराया दिये तथा मकान मालिक की इच्छा के विरुद्ध मकान में रहता था उसे मकान खाली करना पड़ता था, पूरा किराया देना पड़ता था और १२ पण दण्ड भी। इसी प्रकार, जो मकान मालिक किराया लेकर भी किरायेदार को परेशान करता था उसे १६ पण दण्ड देना पड़ता था। कुल मिलाकर सामाजिक कानून की तुला मकान मालिक की ओर झुकी हुई थी।

(प्रतिषिद्धस्य च बसतो निरस्यतश्चावक्रयणम्)

यदि किरायेदार अपने आप मकान खाली करता था तो उसे साल भर का किराया और देना पड़ता था। (स्वयमभिप्रस्थितो वर्षावक्रयशेषं दद्यात्)

जो लोग सार्वजनिक उपयोग के स्थानों-पुण्य स्थान, देवालय तथा धर्मशाला आदि के निर्माण में सहायता नहीं देते थे और हानि पहुँचाते थे वे दण्डनीय समझे जाते थे। परन्तु व्यक्तिगत घरों में भी व्यक्तिगत उपयोग के लिए बनाये गये कूप, कुट्टनशाला एवं अग्निशाला का उपयोग करने से कोई किसी को नहीं रोक सकता था।

कोष्ठकांगण वर्जानामग्नि कुट्टनशालयोः।
विवृत्तानां च सर्वेषां सामान्ये भोग इष्यते।।

मकान तथा खेत आदि मालिकों की निजी सम्पत्ति थे और उनके बेचने तथा खरीदने का उन्हें पूरा अधिकार था। इसके सम्बन्ध में विशेष नियम बने हुए थे।

जब कोई मकान या खेत आदि बेचा जाता था, उस समय बेचने एवं खरीदने वाला चुपचाप सौदा करके बिना किसी को बताये ऐसा नहीं कर सकता था। उसके कुटुम्बियों, ग्राम मुख्य तथा पड़ोस के धनी लोगों को वस्तु खरीदने की प्राथमिकता दी जाती थी और उनके मना करने पर ही कोई दूसरा व्यक्ति सौदा कर सकता था। बेचने वाला अपने चालीस कुलों तक को इसकी सूचना भेजता था। प्रतिष्ठित व्यक्तियों की उपस्थिति में बोली बुलती थी और वह भी तीव्र ध्वनि में तथा तीन बार। बोली बोलते समय खरीददारों की स्पर्धा के कारण वस्तु के दाम चढ़ जाते थे तो चढ़ा दाम मालिक को नहीं मिलता था बल्कि राजकोष में चला जाता था। वस्तु की प्रत्येक बोली एवं बिक्री पर सरकार को शुल्क के रूप में बिक्रीकर अनिवार्य रूप से देना पड़ता था और यदि मालिक की अनुपस्थिति में कोई किसी की वस्तु की बोली बोल देता था तो उसे कठोर राजदण्ड मिलता था। व्यक्तिगत सम्पत्ति पर स्वामित्व के अधिकार की रक्षा राज्य की ओर से बड़ी तत्परता के साथ की जाती थी।

(ज्ञाति सामन्त धनिकाः क्रमेण भूमि परिग्रहान् क्रेतुमभ्याभवेयुः। ततो अन्ये बाह्याः सामन्तचत्वारिशत्कल्पा गृहपति मुखे वेश्मश्रावयेयुः।)

बाहरी लोगों में भी उन्हीं को सम्पत्ति खरीदने का अधिकार था जो सामन्त हों या आर्थिक दृष्टि से समाज में विशेष स्थान रखते हों।

जिनकी सम्पत्ति की नीलामी किसी कर्ज आदि के भुगतान के फलस्वरूप की जाती थी,

उसके लिए मालिक को सात दिन का अवसर दिया जाता था। इससे पहले की गयी नीलामी गैरकानूनी समझी जाती थी। परन्तु प्रत्येक नीलामी से पहले मुनादी करना अनिवार्य था।

बोली बोल देने के बाद वस्तु न खरीदने वाले को सौ पण दण्ड भरना पड़ता था।

इस प्रकार अचल सम्पत्ति के खरीदने तथा बेचने के सम्बन्ध में विशेष नियम बने हुए थे। (अधि. ३, अध्याय ६)

राजकीय कृषि फार्म और खेती के नियम

खेती यद्यपि जीविका का मुख्य साधन बन चुकी थी, परन्तु फिर भी उसके विकास के लिए राजकीय प्रयास अनिवार्य थे। खेती का मुख्य विकास राजकीय क्षेत्र में हो रहा था और उसके लिए विशेष योग्यता प्राप्त अधिकारी की नियुक्ति की जाती थी जिसे सीताध्यक्ष कहते थे। सीताध्यक्ष कृषि-शास्त्र, शुल्बशास्त्र (भूमि के गुण-दोष बताने वाला शास्त्र) तथा वृक्षायुर्वेद एवं वनस्पति विज्ञान में विशेष योग्यता रखता था और इन योग्यताओं से सम्पन्न अधिकारी उसके सहायक होते थे।

(सीताध्यक्षः कृषि तंत्र शुल्ब वृक्षायुर्वेदज्ञ स्तज्श सखोवा सर्वे धान्य पुष्पफल शाक कन्द मूल याल्लिकयक्षौम कार्यास बीजानि यथाकाले गृहणीयात्)

सीताध्यक्ष की देखरेख में सभी खाद्य पदार्थों की वनस्पतियों के उत्कृष्ट बीजों का समय पर संग्रह किया जाता था।

राजकीय कृषि फार्मों में जिन व्यक्तियों से काम लिया जाता था वे थे दास (उदरदास और क्रीतदास आदि) कर्मकर (नियत वेतन पर कार्य करने वाले मजदूर) और कारागार के बन्दी। इन लोगों से केवल कार्य कराया जाता था, परन्तु कृषि यन्त्रों एवं साधनों का प्रबन्ध इन्हें नहीं सौंपा जाता था। इनसे कटाई और बुवाई का काम भी लिया जाता था, परन्तु जुताई का महत्त्वपूर्ण कार्य इनसे नहीं कराया जाता था। जोतने का कार्य राज कर्मचारी ही करते थे।

(बहुज वरिकृष्टायां भूमौ दास कर्मकर दण्ड-सति कर्तृभिर्वापयेत्। कषेणयन्त्रोपकरण बलीवदेश्चैषामसेगं कारयेत्)

बढ़ई, लुहार आदि शिल्पी, जमीन खोदने वाले, रस्सी बँटने वाले तथा सपेरे आदि भी खेती की जिम्मेदारियों से अलग रखे जाते थे, हाँ उनसे मोटा-मोटा और केवल बताया हुआ काम करवा लिया जाता था। जो कृषि कर्मचारी खेती में लाभ की अपेक्षा हानि अधिक करते थे उनसे हानि का हर्जाना वसूल किया जाता था।

(तेषां कर्मफलविनिपाते तत्फलहानं दण्डः)

सूखे प्रदेशों में १६ द्रोण और नमी के प्रदेशों में २४ द्रोण वर्षा पर्याप्त समझी जाती थी। पथरीली भूमि के प्रदेशों में (अश्मकेषु) १३ द्रोण, मालवा प्रदेश में २३ द्रोण, कान्धार आदि अपरान्त प्रदेशों में जितनी भी हो जाये और हिमालय के प्रदेशों में तथा जहाँ नहरें

हों (कल्पावायानाम) समय-समय पर साधारण वर्षा भी खेती के लिए सन्तोषजनक समझी जाती थी।

यद्यपि कहीं-कहीं कुएँ, रहट एवं नहरें तथा जलाशय भी थे जिनसे खेत सींचे जाते थे - फिर भी सम्पूर्ण देश की खेती दैवमातृक अर्थात् ऋतुओं के अधीन थी। दैवमातृक की तुलना में अदैवमातृक (सिंचाई में आत्मनिर्भर) खेती का प्रतिशत बहुत कम था। इसीलिए, वर्षा के सम्बन्ध में किसान और शास्त्रकार सभी समान रूप से चिन्तित रहते थे और उनमें दैवाधीनता की निराशा के भाव व्याप्त रहते थे। वर्षा के प्रश्न को लेकर भविष्यवाणियाँ करने वालों तथा नक्षत्रों एवं ग्रहों की गति नापकर उसकी मात्रा बताने वालों की पाँचों अँगुलियाँ घी में थीं और लोग ऐसे व्यक्तियों के चारों ओर मँडराते रहते थे जो उन्हें अच्छी वर्षा होने की शुभ भविष्यवाणी से निश्चिन्त कर सकें। आमतौर पर निम्नलिखित लक्षणों से अच्छे सम्वत्सर का अनुमान लगाया जाता था -

यदि वृहस्पति, मेष आदि राशियों पर स्थित होकर वृष आदि राशियों पर संचरण करे, मृगशिरा आदि में भारी मात्रा में तुषार पड़े तथा शुक्र का उदय और अस्त एवं आषाढ़ महीने की पंचमी आदि नौ तिथियों में सूर्य के चारों ओर संचार तथा कुण्डलादि के कारण वह धुँधला-सा हो तो वर्षा का अच्छा योग समझा जाता था।

कौटल्य एवं दूसरे शास्त्रकार इतना विज्ञान समझ गये थे कि पौधों में बीजों का पड़ना और पकना सभी कुछ सूर्य के कारण संभव होता है। वृहस्पति को धान्य वृद्धि का कारण माना जाता था और शुक्र की गति से वृष्टि संभव मानी जाती थी।

(सूर्याद् बीज सिद्धि। वृहस्पतेः शस्यानां स्तम्बकरिता। शुक्राद् वृष्टिरिति)

वर्षा पर आधारित खेती वाला भारत बादलों के बरसने, गरजने, मँडराने और उमड़ने तथा हवाओं के हेर-फेर का बड़ी मात्रा में विवेचन करता था और उनसे परिणाम निकालता था।

पूर्वोक्त प्रमाणों से वर्षा की मात्रा का बोध करके भारतवासी यह निर्णय करते थे कि इस वर्ष उन्हें कौन-सी फसल बोनी चाहिए।

साठी (शाली) मोरा नादन, कोदों, तिल, कंगनी और लोभिया आदि वर्षा के पहले दिनों में बोये जाते थे। मूँग, उड़द और छीमों बीच में। कुसुम्भी, मसूर, कुल्थी, जौ, गेहूँ, मटर, अलसी तथा सरसों आदि वर्षा के अन्त में बोये जाते थे। इस प्रसंग में दो बातें विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। एक तो कौटल्य के समय तक रबी तथा खरीफ के रूप में फसलों का विभाजन नहीं हुआ था और दूसरे कौटल्य के अर्थशास्त्र में चने की पैदावार तथा उपयोग के सम्बन्ध में कहीं उल्लेख नहीं मिलता। यद्यपि दूसरे प्रमाणों से यह सिद्ध हो जाता है कि उस समय भी चने की पैदावार होती थी और स्वयं विष्णु गुप्त कौटल्य का एक नाम चाणक्य था जो कि चणक शब्द से सम्बन्ध रखता है, परन्तु फिर भी पूरे अर्थशास्त्र में और यहाँ तक कि जहाँ घोड़े-खच्चर आदि पशुओं के राशन के सम्बन्ध में कौटल्य ने विस्तार के साथ विचार किया है, वहाँ चणक (चना) का उल्लेख न होना विचारणीय प्रतीत होता है। इस

सम्बन्ध में तीसरी विशेष बात यह भी है कि फसलों की अदला-बदली का व्यवहार तब तक समाज में प्रचलित रूप ग्रहण नहीं कर सका था। इसीलिए पूरे अर्थशास्त्र में इस सम्बन्ध में कहीं भी विचार नहीं किया गया है जबकि उन्नत खेती के लिए फसलों की अदला-बदली का सिद्धान्त बहुत महत्त्वपूर्ण होता है।

जो राजकीय खेत समय पर नहीं जोते-बोये जाते थे उन्हें परती छोड़ देने की प्रथा नहीं थी। ऐसे खेत अधबटाई पर दूसरों को दे दिये जाते थे एवं बटाई पर खेत देने की प्रथा राजकीय क्षेत्र के साथ-साथ निजी क्षेत्र में भी थी। ऐसा न हो पाने पर ऐसे साझियों (स्ववीर्योपजीविनः) को वह भूमि दे दी जाती थी जिनके पास खेती के साधनों का अभाव होता था और जो केवल अपना शारीरिक परिश्रम करके पैदावार करते थे। इन्हें पैदावार का चौथा या पाँचवाँ हिस्सा दिया जाता था। इस सम्बन्ध में जी के साझियों के प्रति काफी नरमी का व्यवहार किया जाता था और आश्चर्य है कि ढाई हजार वर्ष बीत जाने के बाद भी आज तक पश्चिमी उत्तर प्रदेश एवं भारत के बहुत से प्रदेशों में जी के साझियों को पैदावार का इतना ही हिस्सा दिया जाता है जो कौटल्य के समय पर निश्चित हो गया था।

(स्ववीर्योपजीविनो वा चतुर्थ पंथ भागिका यथेष्टमनवीसतं भागं दद्युरन्यत्र कृच्छेभ्यः)।

यदि किसान सरकारी जमीन में निजी तालाबों से हाथों से पानी ढो-ढो कर खेत सींचते थे तो पैदावार का पाँचवाँ भाग सिंचाई कर के रूप में देते थे एवं जो कंधों पर पानी ढोते थे तो चौथा एवं छोटी नालियाँ तथा नहर आदि बनाकर खेत सींचते थे तो पैदावार का तीसरा भाग देते थे। इसी प्रकार, जो किसान प्राकृतिक नदियों, सरोवरों तथा छोटे तालाबों एवं कुओं से रहट आदि यन्त्रों द्वारा खेत सींचते थे वे पैदावार का चौथा भाग राज्य को देते थे।

(स्वसेतुभ्यः हस्त प्रावीर्तिमुदक भागं पंचमं दद्युः। स्कन्ध प्रावर्त्तिमं चतुर्धम्। स्त्रोतोयन्त्र प्रावर्त्तिमं च तृतीयम् चतुर्थ नदी सरस्तराक कूपोद्घाटम्)

उन दिनों धान की खेती सर्वश्रेष्ठ, केले आदि की मध्यम तथा गन्ने की खेती नीच समझी जाती थी जिसमें सौ प्रकार की बाधाएँ, भारी खर्च तथा हानि उठानी पड़ती थी। गन्ना आमतौर पर नदियों के उन तटों पर बोया जाता था जहाँ वर्ष में एक बार पानी चढ़ या भर आता हो।

(शाल्यादि ज्येष्ठम्। षण्डो मध्यमः इक्षुः प्रत्यवरः। इक्षवोहि बह्माबाधा व्ययग्राहिण्श्च)

बोने से पहले बीजों का संस्कार करने की परिपाटी चालू हो चुकी थी और किसान आमतौर पर इसमें शिथिलता नहीं करते थे। राजकीय कृषि फार्मों के अलावा किसानों की खेती बहुत छोटी थी और चारों ओर घने जंगलों का जाल बिछा रहता था जिनसे निकल-निकल कर जानवर खेती में अपूरणीय क्षति पहुँचाते थे। पक्षियों से भी भारी हानि होती थी। दीमक और चींटी आदि से बीजों की रक्षा करने के लिए बीज गोबर, सेन्ध तथा आखे के दूध आदि जहरीले पदार्थों से भिगो कर एवं संस्कृत करके बोया जाता था। छोटे अंकुरों पर जब तक सेंध आखे आदि का जहरीला दूध या दूसरे पदार्थ नहीं लगाये जाते

थे तब तक उनकी रक्षा होना संभव नहीं था। यह खेती इतनी कष्ट साध्य थी कि अपने एक-एक बच्चे की तरह किसान को एक-एक पौधे की रक्षा करनी पड़ती थी।

खेतों में सर्प का भय निवारण करने के लिए उसकी केंचुली तथा बिनौला मिलाकर खेत में फेंका जाता था जिसके धुएँ तथा गन्ध से साँप खेत छोड़ देते थे। खेतों की रक्षा के लिए किसान आपस में मिलकर रक्षक (रखवाले) रखते थे और मिलकर उनका वेतन देते थे। उनका वेतन भोजन के अलावा सवा पण प्रति माह था। दूसरे कारीगरों का वेतन उनकी योग्यता एवं काम के आधार पर तय होता था। वृक्षों से स्वयं हवा में गिरे फल तथा अपने आप पौधों से गिरी बालें वेदपाठियों की समझी जाती थीं एवं खलिहान से रास उठाने के बाद बचे बिखरे दानों पर सिला चुगने वालों का अधिकार माना जाता था। (अधि. २, अध्याय २४)

व्यक्तिगत खेती के लिए कुछ विशेष नियम

व्यक्तिगत खेती में सभी आपसी एवं सम्पत्ति सम्बन्धी विवादों का निबटारा सामन्त करते थे। (सर्व एव विवादाः सामन्त प्रत्ययाः) चारागाह क्यारियाँ, खलिहान, मकान और घुड़साल के सम्बन्ध में पहले की अपेक्षा अगले को गौण स्थान दिया जाता था।

ब्रह्मारण्य, सोमारण्य, देवस्थान, यज्ञस्थान और अन्य पवित्र स्थानों के अलावा खेती के लिए भूमि छोड़ने या देने में सबसे अधिक प्राथमिकता बरती जाती थी। खेती की उन्नति तथा उत्पादन वृद्धि के प्रति राज्य एवं समाज इतना सचेत था कि यदि किसी किसान का पानी टूट जाने से अथवा उसकी अन्य किसी लापरवाही से दूसरे किसान की फसल खराब हो जाती थी तो उसे राज्य की ओर से दण्ड का भागी समझा जाता था। यदि एक-दूसरे को हानि पहुँचाने के लिए वे आपस के खेतों में नुकसान करते थे तो राज्य हस्तक्षेप करता था एवं दोनों पक्ष से हानि से दुगना हर्जाना वसूल किया जाता था।

(केदाराराम सेतुबन्धानां परस्पर हिंसायां हिंसा द्विगुणों दण्डः)

इस प्रकार, राज्य नयी उदीययान एवं कल्याणकारी खेती का तत्परता के साथ भरण-पोषण एवं संरक्षण कर रहा था।

सिंचाई का प्रबन्ध यद्यपि नाम मात्र का एवं बहुत प्राकृतिक था और सब कुछ प्रकृति पर निर्भर करता था, परन्तु फिर भी कुछ नियम बनाये गये थे और राज्य कठोरता के साथ उनका पालन करवाता था। उदाहरण के लिए, पीछे बने हुए नीचे के तालाब से जो खेत सींचे जा सकते थे उन्हें ऊपर के तालाब से सींचना वर्जित था। ऊपर के तालाब से नीचे के तालाब में आता हुआ पानी नहीं रोका जा सकता था बशर्ते कि नीचे का तालाब तीन साल से बेकार न पड़ा हुआ हो। किसान अपने व्यक्तिगत खेत सींचने के लिए तालाब बनवाते थे और उन पर उन्हीं का व्यक्तिगत अधिकार माना जाता था। परन्तु इसके बावजूद उन्हें अपना तालाब बेकार कर देने का अधिकार नहीं था। ऐसा कर देने पर और पाँच वर्ष तक उसके बेकार पड़े रहने पर मालिक की मिल्कियत नष्ट हो जाती थी। अपनी निजी

तालाबों तथा कूप आदि को गिरी-पड़ी हालत में रखने का अधिकार किसानों को नहीं था। यदि वे मरम्मत नहीं करते थे तो राज्य को यह अधिकार था कि उनसे लेकर दूसरे परिश्रमी किसानों को दे दे।

(पंचवर्षोपरतकर्मणः सेतुबन्धस्य स्वाम्ये लुप्येतान्यत्रापद्रभ्य:)

यदि किसान अपने उपयोग के लिए तालाब और बाँध आदि बिल्कुल नये बनाते थे तो पाँच वर्ष तक उनसे किसी प्रकार का सिंचाई कर नहीं लिया जाता था। (तटाक सेतु बन्धानां नव प्रवर्तने पाँचवार्षिकः परिहार:) यदि दूसरों के टूटे-फूटे तालाब आदि का पुनः निर्माण करते थे, तो चार वर्ष तक छूट दी जाती थी। किसानों से आमतौर पर जो सिंचाई कर लिया जाता था वह भूमि कर की तुलना में बहत हल्का होता था। किसान ऐसे रहट भी बनाने लगे थे जो हवा से चलते थे एवं नदी तथा तालाब का पानी उठाकर खेत सींचते थे। (वात्प्रवृत्तिम्)

जो किसान तालाब तथा सेतुबन्ध आदि के स्वामी नहीं थे वे भी मालिकों को पानी का शुल्क देकर अपने खेतों को सींच सकते थे। इस प्रकार, सिंचाई का क्षेत्र व्यापारिक दृष्टिकोण में आने लगा था। परन्तु ऐसा करते समय किसानों को मिलकर सिंचाई साधनों की मरम्मत करवानी पड़ती थी एवं मूल्य का भुगतान वे नगद सिक्कों, फसलाने एवं पैदावार के एक निश्चित भाग के रूप में अदा कर सकते थे।

(प्रक्रयावक्रयाधिभाग भोग निसृष्टोपभोक्तारश्चैषां प्रतिकुर्यः। अप्रतीकारे हीन द्विगुणों दण्डः)

पानी के बँटवारे के सम्बन्ध में नियम इतने कठोर थे कि जो किसान अपना ओसरा न होने पर पानी लेता था अथवा अपने ओसरे का पानी लेते किसान को रोकता था, उसे राज्य की ओर से आर्थिक दण्ड मिलता था।

सेतुभ्यों मुंचतस्तोयेमपारे षट्पणौ दमः।
पारें वा तोयमन्येषां प्रमादेनो पेपरुन्धतः।।

(अधि. ३, अध्याय ६)

ऊपर के उद्धरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि कृषि का विकास प्राकृतिक उत्पादन स्तर से बाहर निकल आया था। इसका आर्थिक तात्पर्य यही है कि किसान केवल अपने परिवार की आवश्यकताएँ पूरी करने के लिए कृषि कार्य में संलग्न नहीं था। वह अतिरिक्त उत्पादन करता था जिसे दूसरे को देकर वह उससे अन्य प्रकार का जीवनोपयोगी सामान लेता था और या फिर ऐसे व्यक्ति को मुद्रा के रूप में मूल्य लेकर बेच देता था जिसे वह दूसरे जरूरतमंद व्यक्ति को देकर मुद्रा का संचय करता था। इस प्रकार खेती के विकास ने आर्थिक क्षेत्र में ऐसे बिचौलिए वर्ग को जन्म दे दिया था जो फालतू सामान खरीदकर जरूरतमंद को देता था और प्रारम्भिक अवस्थाओं में उत्पादन से उसका कोई सरोकार नहीं था।

यहीं से सामन्तवादी अर्थव्यवस्था के गर्भ से सामन्तों के चाहे या अनचाहे इस नये वर्ग ने जन्म लिया था जिसका नाम वणिक था और जिसका धंधा वाणिज्य था।

खेती के अयोग्य भूमि का सदुपयोग

भूमि का महत्त्व आर्थिक दृष्टि से सर्वोपरि हो गया था। भूमि का सबसे प्राथमिक उपेयाग खेती के लिए था। परन्तु जिस भूमि पर खेती का होना संभव नहीं था उसे भी परती एवं बंजर रूप में छोड़ रखना राज्य को स्वीकार नहीं था। ऐसी भूमि में चारागाह बनाये जाते थे। चार कोस लम्बे चौड़े क्षेत्र में ब्राह्मणों के लिए तपोवन बसाया जाता था। जहाँ उनके अध्ययन केन्द्र चलते थे वहाँ जंगली जानवरों की हत्या पर प्रतिबन्ध लगा रहता था। चार कोस लम्बा-चौड़ा क्रीड़ा क्षेत्र या शिकारगाह होता था जहाँ स्वादिष्ट फलों से लदे वृक्ष एवं लताएँ होती थीं, जहाँ मनुष्यों से परिचित हिरण आदि मृग घूमते रहते थे और शिकार योग्य दूसरे प्राणी भी। ऐसे क्षेत्रों में मूल्यवान् लकड़ी के वन खड़े किये जाते थे। वहाँ हाथियों का वध करने वालों को प्राण दण्ड मिलता था।

ऐसे वनों में जंगली जानवरों की गणना रखी जाती थी और उनके झुण्डों, नर-मादा आदि की विशेषता का पूरा विवरण रखा जाता था। सुन्दर हाथी पकड़ कर राजा की सवारी में प्रस्तुत किये जाते थे एवं विशालकाय हाथी सेना में लाये जाते थे जो शत्रु सेना एवं दुर्गम दुर्गों का संहार करते थे।

(अदृष्यायां भूमौ पशुभ्यो विवीतानि प्रयच्छेत्)

मिली-जुली खेती और व्यापार

खेती और व्यापार का विकास साथ-साथ या थोड़ा आगे-पीछे हुआ है। ये प्रायः व्यक्तिगत प्रयासों एवं साधनों से चलते थे। इन दोनों क्षेत्रों में राज्य का हस्तक्षेप था एवं स्वयं राज्य सबसे बड़ा किसान एवं व्यापारी था। परन्तु साथ ही एक छोटी सी आर्थिक शाखा तीसरी भी थी जिसे मिली-जुली खेती एवं मिला-जुला व्यापार या व्यापारी संघ कहा जाता था। नयी भूमि तोड़ने या खेती के ऐसे काम जो व्यक्तिगत प्रयासों से पूरे नहीं हो सकते थे, किसान मिल-जुल कर पूरे करते थे एवं जो व्यापारिक कार्य अधिक पूँजी आदि तथा दूसरी बाधाओं के कारण व्यक्तिगत प्रयासों तथा साधनों से नहीं चल पाते थे वे मिल-जुल कर चलाये जाते थे। जब समाज में एक अर्थव्यवस्था एवं सामाजिक प्रथा चालू हो जाती है तो उसके लिए नियम बनने भी स्वाभाविक थे।

जो नियम संघीय कर्मकरों पर लागू होते थे प्रायः उनसे मिलते-जुलते नियम संघ के सदस्यों पर लागू होते थे। संघीय व्यापारी एवं संघीय किसान अपनी आय का हिसाब-किताब तभी लगा सकते थे जब एक सत्र के प्रारम्भ से अन्त तक का हिसाब देखा जा चुका हो और इस बीच खरीदे या पैदा किये गये माल की पूरी बिक्री एवं फसल का पूरा माल हाथ में आने के बाद ब्योरा देखा जा चुका हो। अन्तिम आय देखकर ही मिली-जुली खेती एवं व्यापार में सम्मिलित किसानों तथा व्यापारियों को आय का अंश दिया जाता था। यदि कोई

संघीय सदस्य अपने स्थान पर काम करने के लिए अपना कर्मकर अथवा अन्य व्यक्ति भेज देता था तो इतने मात्र से उसका अंश मारा नहीं जाता था।

(कर्शक वैदेहका वा सस्य पण्यारंभपर्यवसानान्तरे सन्नस्य यथाकृतस्य कर्मणाः प्रत्यंशं दद्युः। पुरुषोपस्थाने समग्रमशं दद्युः) (अधि. ३, अध्याय १४)

काम पूरा होते ही और पूरा लाभ हाथ में आते ही हिस्सेदारों का हिस्सा तुरन्त दे दिया जाता था। ऐसा करके वे अगले कार्य की सफलता का ही बीजारोपण करते थे। यदि कोई स्वस्थ व्यक्ति बीच में काम छोड़ कर बैठ जाता था तो संघीय नियमों के अनुसार अपराधी माना जाता था। संघ का सदस्य बन जाने के बाद काम से बैठ जाने की स्वतंत्रता किसी को नहीं थी।

(संसिद्धे तूद्धृतपण्ये सन्नस्यतदानीमेव प्रत्यंशं दद्युः। सामान्या हि पथि सिद्धिश्चामिद्धिश्च। प्रक्रान्ते तु कर्मणि स्वस्थस्यापक्रामतो द्वादशपणों दण्डः। न च प्रकाम्यमपक्रमणे) (अधि. ३, अध्याय १४)

यद्यपि मूलरूप में सहकारी या मिली-जुली खेती के बीच सामंती समाज के उदय काल में पड़ चुके थे, परन्तु यह बहुत सीमित था और सामाजिक अर्थतंत्र पर उसकी विशेष छाप नहीं थी। केवल विशेष परिस्थितियों में मिल कर किसान सहकारी खेती के काम पूरे करते थे। एक बार उसमें सम्मिलित होने या आंशिक लाभ उठाने के बाद किसी को यह स्वतंत्रता नहीं थी कि अपने दूसरे सहयोगियों के मत एवं हितों की उपेक्षा करके वह मनमाना व्यवहार कर सके।

चारागाह और पशुपालन

यद्यपि अर्थव्यवस्था पर भूमि एवं कृषि के प्रभुत्व की स्थापना होती जा रही थी, फिर भी अनेक कारणों से पशुपालन मनुष्यों की जीविका का महत्त्वपूर्ण साधन था और विशाल जंगलों में चारागाहों की उसी प्रकार योजना बनाकर स्थापना की जाती थी जैसे आजकल उद्योगों तथा कारखानों की की जाती है। चारागाह पशुपालन के लिए अनिवार्य थे और पशुपालन को खेती के लिए आधार तैयार करके उसके विकास के लिए साधन मोहय्या किये जाते थे। पशुपालन के बिना किसी भी समाज में खेती का प्रारम्भ और विकास नहीं हो सकता। चारागाह और पशुपालन राज की आय के भी मुख्य साधन समझे जाते थे। कृषि फार्मों की भाँति ही राजकीय क्षेत्र में बड़े-बड़े चारागाह थे जहाँ राजकीय पशुधन का पालन होता था। वहाँ दूसरे व्यक्तियों के पशु भी चरते थे जिनसे राज्य को किराया मिलता था। राज्य की ओर से एक बड़ा अधिकारी पशुपालन की व्यवस्था करता था जिसे गोअध्यक्ष कहते थे और पशुपालन के निम्नलिखित आठ मुख्य प्रकार थे जो राज्य की ओर से अपनाये जाते थे और जिनमें से आज भी कुछ का पश्चिमी उत्तर प्रदेश, राजस्थान एवं पंजाब आदि में अनुसरण किया जाता है।

वेतनोपग्राहिक – पशुपालन का वह तरीका था जिसमें राज्य के पशुपालन का कार्य

ऐसे व्यक्तियों से करवाया जाता था जिन्हें नियमित वेतन मिलता था। पशुओं के दूध एवं घी में उनका कोई हिस्सा नहीं समझा जाता था। ऐसा न करने पर वे इसके लोभ में बछड़ों का पेट काट सकते थे जो कि राजकीय आय के साधन थे। इस प्रणाली में पशुपालन का यह तरीका था कि गोपालक और पिण्डारक (भैंस पालने वाले) दोहक (दोहने वाले) (मन्थक) (दही से घी निकालने वाले) और लुब्धक (जंगली जानवरों से उनकी रक्षा करने वाले) सौ गौ तथा सौ भैंस पालते थे जिनके फलस्वरूप राज्य की ओर से वेतन मिलता था।

(गोपालक पिण्डारक दोहक मन्थक लुब्धकाः शत शतं धनेना हिर यभृताः पालयेयुः। क्षीरघृतभृताहि वत्सानुपहन्युरिति वेतनोपग्राहिकम्)

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि भारत में आज से ढाई तीन हजार वर्ष पहले जब खेती और पशुपालन का उत्थान हुआ था तो उसके लिए सहकारिता को मूलाधार बनाया गया था और इसमें विशेष महत्त्वपूर्ण बात यह है कि यह व्यक्तिगत प्रयासों पर आधारित न होकर राजतंत्र के सक्रिय सहयोग और प्रबन्ध व्यवस्था पर आधारित था।

कौटल्य ने पशुपालन को भी व्यक्तिगत पशुपालन की परिधि से निकाल कर, जिसमें कोई व्यक्ति एक या दो गुजारे लायक पशु रखकर उन्हें अपने निर्वाह का साधन बनाया करते थे, उसके स्थान पर विशाल स्तर पर पशुपालन प्रारम्भ कराया। इसमें सबसे बड़ा पशुपालक राज्य होता था जिसके कई-कई सौ किलोमीटर के चारागाह होते थे जहाँ हजारों पशु पाले जाते थे और राजकीय कर्मचारी ही उनकी रखवाली करते थे। व्यक्तिगत क्षेत्र में भी पशुपालन प्राकृतिक पशुपालन की परिधि से बाहर निकल चुका था। वह व्यावसायिक दृष्टिकोण से चलाया जाता था जहाँ पशु खरीदे और बेचे जाते थे।

कर प्रतिकर – प्रणाली में पशुपालन इस प्रकार से होता था कि किसी व्यक्ति को पाँच प्रकार की गाय और भैंस मिलाकर सौ की संख्या में दी जाती थीं जिनमें कुछ पूरा दूध देने वाली, ग्याभन, पठोरी और वात्सरी (जिसने अभी-अभी दूध चूँधना छोड़ा हो) सम्मिलित होती थीं। ऐसे व्यक्ति वर्ष में सौ वारक घी, एक पण प्रतिपशु और एक चमड़ा वर्ष भर में राज्य को देते थे और घी दूध आदि से जो आय होती थी उसका शेष भाग उन्हीं का समझा जांता था।

भग्नोत्सृष्टक – ऐसे व्यक्ति को पाँच प्रकार की निम्नलिखित गायें और भैंसें सौ की संख्या में दी जाती थीं जो बीमार, अंगदिकल, अनन्य द्रोही (हाथड़ जिसे दूसरा व्यक्ति दोह न सके) दुर्दोहा (कठिनता से दोही जाने वाली) और पुत्रध्नी (जिसके बच्चे मर जाते हों) थीं। वह व्यक्ति कर प्रतिकर से आधा या तिहाई दूध आदि देकर शेष आय अपने लिए रख लेता था।

भागानुप्रविष्टक – पशुपालन की वह प्रणाली थी जिसमें शत्रुओं के अपहरण तथा पशुचोरों के भय से गोपालक आदि अपने पशु सरकारी चारागाह में छोड़ देते थे और अपनी आय का दसवाँ भाग चारागाह कर के रूप में राज्य को देते थे।

व्रजपर्यग्र – प्रणाली वह थी जिसमें राज्य के प्रत्येक पशु का विवरण – उसकी आयु,

लिंग, काम तथा शेष सभी ब्योरे रखे जाते थे ताकि राज्य के सभी पशुओं की संख्या एवं विवरण ज्ञात होता रहे।

नष्ट - वे पशु होते थे जिन्हें चोर ले गये हों, या जो दूसरे झुण्डों में जा मिले हों, अपने झुण्ड से बिछड़ गये हों और फिर उन्हें सुरक्षित लौटाने का प्रयत्न किया जाता था।

विनष्ट - वे थे जो दलदल में फँस जाते थे, कगार आदि से गिर जाते थे, बीमार, बूढ़े, जल की धारा में बहे हुए, वृक्ष, कगार, लकड़ी तथा शिला आदि के गिर जाने से घायल हों, बिजली गिर जाने, हिंसक जानवरों की चपेट में आ जाने तथा साँप-नाकू और जंगली जानवरों से सताये हुए हों। उनका उपचार करना पशुपालन की अनिवार्य शाखा मानी जाती थी।

क्षीरधृत संजात - इस प्रणाली में गौ और भैसें किसी व्यक्ति को हिस्से पर पालने के लिए दी जाती थीं। जब दूध कम होने लगता था और गाय-भैंस ग्याभन हो जाती थीं तो बच्चा पैदा होने तक रक्षक दूध-घी का मालिक होता था और बाद में गाय-भैंस के मूल्य के हिस्से लगा दिये जाते थे और आपसी समझौते से पशु मालिक या रक्षक के पास चला जाता था।

जो ग्वाला पशुओं की हत्या कर देता था, दूसरे को ऐसा करने के लिए उकसाता था, स्वयं अपहरण कर लेता था या दूसरे को ऐसा करने की प्रेरणा देता था उसे मृत्यु दण्ड दिया जाता था। उन दिनों पशु व्यक्ति एवं राज्य की मुख्य सम्पत्ति समझे जाते थे और चोरी, डाके, अपहरण आदि की सभी घटनाएँ प्रायः पशुओं से सम्बन्धित होती थीं। अतः ऐसे कठोर नियमों का होना अनिवार्य माना जाता था। जैसे कौटल्य कालीन भारत में दो राज्यों के बीच युद्ध का एकमात्र कारण एक दूसरे की भूमि का छीनना माना जाता था, इससे पहले के काल में ये युद्ध एक दूसरे के चारागाह तथा पशुओं का अपहरण करने के लिए होते थे। इस अराजकता पर रोकथाम लगाने के लिए राज्य में इसके विरुद्ध कठोरतम दण्ड की व्यवस्था थी। जो राजकर्मचारी गैरसरकारी पशुओं पर राजचिह्न अंकित करके उन्हें राजकीय चारागाह में दाखिल कर देता था या राजकीय चिह्न मिटा कर उन्हें निजी पशु की तरह चारागाह से बाहर लाता था, उसे भी कठोर दण्ड दिया जाता था।

चोरी गये पशुओं का पता बताने वालों को भारी पुरस्कार दिये जाते थे। विदेशी पशुओं का अपहरण करके राज्य में लाने वाले व्यक्तियों को राज्य की ओर से आधा हिस्सा पुरस्कार में दे दिया जाता था। इस प्रकार, अपने राज्य में पशुओं की चोरी, हत्या एवं अपहरण आदि पर जो प्रतिबन्ध थे, वे ही दूसरे राज्य के सम्बन्ध में छूट के रूप में बदल जाते थे।

बियाबान जंगलों में पशुओं का पालन खतरे से खाली नहीं था। इसीलिए जिन जंगलों में शिकारी और कुत्ते पालने वाले घूमते रहते थे, जहाँ चोरों, हिंसक पशुओं तथा शत्रु राज्य के लोगों का भय नहीं रहता था ऐसे जंगलों में गोपालक पशु पालते थे। राज्य की ओर से राजकीय एवं निजी पशुओं के संरक्षण की पूरी व्यवस्था की जाती थी। सर्प तथा हिंसक

प्राणियों को पशुओं से दूर रखने के लिए उनकी गर्दनों में घंटियाँ तथा घंटे बाँधे जाते थे। इनकी आवाज से उनके चरने और घूमने के स्थान एवं गतिविधि का बोध भी होता रहता था।

चारागाह के अध्यक्ष के अधिकार

जो अधिकारी विशेष रूप से चारागाह, उनके मार्गों तथा पशुओं की रक्षा का कार्य करवाया करता था उसे विवीताध्यक्ष या चारागाह का अध्यक्ष कहते थे। उसके अधिकार पर्याप्त रूप से व्यापक थे।

आम एवं प्रचलित मार्गों से न चलकर जो लोग अटपटे मार्गों से चलते थे विवीत (चारागाह) का अध्यक्ष उनकी मोहर देखा करता था। जिन स्थानों पर पशुओं के चोरों तथा शत्रुओं के भेदियों का प्रकोप रहता था वहाँ विवीत की स्थापना करके सुरक्षा की व्यवस्था की जाती थी। चोर तथा हिंसक जन्तु आमतौर पर ऊँचे-नीचे स्थानों पर रहते थे। राज्य की ओर से ऐसे स्थानों की छानवीन करने की प्रथा थी। रेगिस्तानी क्षेत्रों में राज्य की ओर से मार्गों पर कुएँ खुदवाये जाते थे, तालाव बनवाये जाते थे और फल तथा फूल से लदे छायादार वृक्ष लगवाये जाते थे। जंगलों में राज्य की ओर से शिकारी एवं शिकारी कुत्तों वाले आदमी लगातार चक्कर काटते रहते थे ताकि आने-जाने वालों को आकस्मिक संकट का सामना न करना पड़े।

इन सब संरक्षणों के बावजूद जंगलों एवं जनपदों में चोरों, दस्युओं तथा शत्रुओं के गिरोह घूमा करते थे। उनके आगमन की सूचना शंख तथा ढोल बजाकर, पहाड़ तथा ऊँचे वृक्षों पर चढ़े आदमी आवाज देकर एवं तेज गति के घोड़े आदि की सवारी से दौड़कर राज रक्षकों को दी जाती थी। पूरे देश में यद्यपि शान्ति एवं व्यवस्था का राज्य कायम करने के प्रयत्न किये जा रहे थे, फिर भी जन-जीवन असुरक्षित था, एक दूसरे जनपद एवं राज्य के आक्रमण का आतंक हर समय लोगों के मनों पर छाया रहता था और जब जंगलों में शत्रुओं के प्रबल गिरोह उतर आते थे तो राजा की मोहर से युक्त पत्र सन्देश पालतू कबूतर से अथवा एक के बाद दूसरे आदमी से कहलवा कर राजा तक पहुँचाया जाता था।

(विवीताध्यक्षों मुद्रां पश्येत्। भयान्तरेषु च विवीतं स्थोपयेत्। चोर-व्याल भयान्निम्नारण्यानि शोधयेत्। अनुदके कूप सेतुबन्धोत्सान् स्थापयेत् पुण्यफल वाटांश्च। लुब्धक श्वगणिनः परिव्रजेपुरण्यानि। तस्करामित्राभ्यागमे शंख दुन्दुभि शब्दमग्राह्याः कुर्युः शैलवृक्ष विरूढा वा शीघ्रवाहना वा। अमित्राटवी संचारं च राज्ञो गृहकपोतैर्मुद्रायुक्तैहरियेयुः धूमाग्नि परम्पराया वा)

राजकीय चारागाहों के गोपालकों के लिए यह आवश्यक समझा जाता था कि वे प्रत्येक मरे हुए पशु की सूचना तुरन्त गोअध्यक्ष को दें। ऐसा न करने पर उनसे हर्जाना माँगा जाता था। परन्तु केवल सूचना देना ही पर्याप्त नहीं था। इसे प्रमाणित करने के लिए उन्हें राजचिन्ह से अंकित गाय, भैंस और दूसरे पशुओं का चमड़ा पेश करना पड़ता था और वकरी तथा भेड़ आदि छोटे पशुओं के राजचिन्हित कान जमा करने पड़ते थे। मरे हुए पशु

के मांस, अस्थि, पित्ता, स्नायु (आँत) दाँत और खुर एवं सींग आदि पर गोपालक का नहीं बल्कि राज्य का ही अधिकार माना जाता था और वे जमा करने पड़ते थे।

पशुओं के व्यापारी पशुओं की बिक्री पर पौन पण बिक्री कर देते थे। अर्थशास्त्र पढ़ने से प्रतीत होता है कि उस युग में गाय और भैंस की भाँति बकरी तथा भेंड़ का दूध एवं घी आम व्यवहार में लाया जाता था। गाय और भैंस, साण्डों तथा भैंसों के साथ खिलवाड़ करना, उन्हें आपस में लड़ा कर मनोरंजन करना अपराध समझा जाता था। उनकी हत्या करने पर उत्तम साहस दण्ड दिया जाता था एवं भेंड़ों तथा बकरियों की ऊन प्रत्येक छमाही में उतार ली जाती थी।

(स्वयं हन्ता घातयिता हर्त्ता हारयिता च वध्यः। परपशूनां राजाङ्केन परिवर्त्तयिता रूपस्य पूर्व साहस दण्डं दद्यात्। स्वदेशीयानां चोरहृतं प्रत्यानीय पणिकं रूपं हरेत्। परदेशीयानां मोक्षयिताऽर्ध हरेत्। कारणमृतस्य गोमहिषस्य कर्ण लक्षणमजाविकानां पुच्छमंकचर्म चाश्चखरोष्ट्राणां बालचर्म वस्ति पित्त स्नायु दन्त खुर शृंगास्थीनि चाहरेयुः।)

गौ-भैंस की भाँति ही घोड़े, खच्चर, हाथी एवं दूसरे प्राणियों के पालने की एवं उनसे विभिन्न कार्य लेने की विशाल स्तर पर समाज में प्रथा प्रचलित थी और उसके लिए विभिन्न व्यापक नियम बने हुए थे।

भूमि सम्बन्धों में वर्गीय आर्थिक स्थिति

जो किसान दूसरों के चारागाहों और साधारण कर्मक्षेत्रों का मार्ग रोकते थे उन्हें अपराधी माना जाता था। दूसरों की भूमि का अपहरण करने के लिए उसकी भूमि पर देवालय आदि पवित्र स्थान बनवाना भी दण्डनीय समझा जाता था। परन्तु ग्रामवासियों को यह अधिकार था कि यदि देवालय आदि पवित्र स्थानों का मालिक छोड़कर चला गया हो और वे भग्न अवस्था में हों तो मिलकर मरम्मत कर लें और सामूहिक उपयोग में ले आवें। जो सामूहिक उपयोग के लिए बने मार्गों को हानि पहुँचाते थे, वे भी अपराधी माने जाते थे।

राज्य की ओर से प्रत्येक स्थान को आने-जाने वाले मार्गों की केवल व्यवस्था ही नहीं थी बल्कि यह नियम था कि पैदल, गाड़ी, रथ और घोड़ा आदि के लिए कितना मार्ग छोड़ना आवश्यक है। प्रत्येक को उतना मार्ग अवश्य छोड़ना पड़ता था और बने हुए मार्गों को रोकना विशेष अपराध माना जाता था।

किसानों को अपने व्यक्तिगत खेत भी परती या बंजर छोड़ने का एवं इस प्रकार खेती की पैदावार में हानि पहुँचाने का अधिकार नहीं था। लगान देने वाले किसानों को अपनी भूमि बेचने या गिरवी रखने का अधिकार था। परन्तु वे उन्हीं किसानों के हाथों अपनी भूमि बेच या गिरवी रख सकते थे जो राज्य को लगान देते हों।

(करदाः करदेष्वाधानं विक्रयं वा कुर्यः)

हाँ, जो लोग लगान नहीं देते थे वे केवल लगान न देने वाले लोगों को ही अपनी भूमि बेच या गिरवी रख सकते थे।

(ब्रह्म देयिका ब्रह्मदेयिकेषु)

किसी किसान को यह अधिकार भी नहीं था कि वह लगान से बचने के लिए लगान देने वाले गाँव का रहना छोड़कर लगान न देने वाले गाँव में जाकर रहने लगे। हाँ, यदि वह पुराना गाँव छोड़कर किसी ऐसे गाँव में जाकर रहना चाहे जहाँ लगान दिया जाता हो तो राज्य को कोई आपत्ति नहीं थी।

(करदस्य वाऽकरदग्रामं प्रविशशतः। करदं तु प्रविशतः सर्वद्रव्येषु प्राकाम्यं स्यात्)

जो किसान अपनी भूमि नहीं जोतता था उसके पड़ोसी किसान को यह अधिकार था कि पाँच साल तक उसकी भूमि जोतता रहे। पाँच साल वाद छोड़ते समय उसे यह अधिकार था कि भूमि के सुधार में आयी अपनी लागत वसूल कर ले।

(अनादेयमकृषतोऽन्यः पञ्चवर्षाण्युपभुज्य प्रयास निष्क्रयेण दद्यात्)

लगान मुक्त किसान दूसरे गाँव में रहते हुए भी अपनी भूमि के मालिक बने रहते थे। परन्तु लगान देने वाले किसानों को उसी गाँव में रहकर खेती करनी पड़ती थी, अन्यथा भूमि पर मिल्कियत के अधिकार छिन जाते थे। इस प्रकार, भूमि सम्वन्धों में एक ऐसे वर्ग का जन्म हो रहा था जिसे विशेष अधिकार प्राप्त थे और जो खेती से अनुपस्थित रहकर भी कृषि भूमि का स्वामी माना जाता था। जैसे-जैसे समय बीता, इस वर्ग के अधिकारों में वृद्धि होती चली गयी।

(अकरदाः परत्र वसन्तो भोगमुपजीवेयुः)

गाँव के किसी कार्य से जब ग्रामिक (ग्राम मुख्य) कहीं बाहर जाता था तो ग्रामवासियों में से कुछ को अनिवार्य रूप से उसके साथ जाना पड़ता था। इसके लिए वह किन्हीं विशेष व्यक्तियों को बाध्य कर सकता था और वे उसकी आज्ञा का उल्लंघन नहीं कर सकते थे। इस व्यवस्था ने ग्राम-मुख्य के चारों ओर खुशामदियों की भीड़ इकट्ठी कर दी और उसे प्रसन्न रखना आवश्यक समझने लगे। इससे राजतंत्र के प्रतिनिधि ग्राम-मुख्य का प्रभाव बढ़ा। यदि कर मुक्त कृषि भूमि ने आर्थिक विशेषाधिकार प्राप्त वर्ग को जन्म दिया तो इस व्यवस्था ने राजनैतिक विशेषाधिकार प्राप्त वर्ग को जन्म दिया।

(ग्रामार्धेन ग्रामिकं व्रजन्तमुपवासाः पर्यायेणानुगच्छेपुरननु गच्छन्तः पणार्धपणिक योजनं दधुः)

यद्यपि ग्राम-मुख्य पर प्रतिबन्ध लगाने तथा मनमानी रोकने के लिए यह व्यवस्था की गयी थी कि वह बारी-बारी से लोगों को साथ ले जा सकता था। फिर भी एक बार यदि किसी वर्ग एवं व्यक्ति का विशेषाधिकार समाज में चालू हो जाता है तो प्रतिबन्ध अधिक प्रभावशाली सिद्ध नहीं होते।

राजतंत्र की ओर से ग्राम-मुख्य पर कुछ दूसरे प्रतिवन्ध भी थे। वह चोरों तथा अपराधियों से भिन्न किसी व्यक्ति को गाँव से बाहर नहीं निकाल सकता था और यदि मुखिया पूरे गाँव को अपने साथ लेकर किसी निर्दोष व्यक्ति को देश से निकाल देता था तो पूरे गाँव पर उत्तम साहस (एक हजार पण तक) आर्थिक दण्ड लगाया जा सकता था। इस

प्रकार, सामन्तवाद ने सामूहिक जुरमानों की प्रथा का सूत्रपात कर दिया था जिसे साम्राज्यवादियों ने अन्त तक भारत पर लागू रखा था।

इसमें ग्राम मुख्य को २४ पण दण्ड पृथक् से दिया जाता था।

(ग्रामिकस्य ग्रामदस्तेन पारदारिकं निरस्यतश्चतुर्विंशति पर्णो दण्डः। ग्रामत्योत्तमः निरस्यतः प्रवेशों ह्यधिगमेनव्याख्यातः)

गाँव के समीप ही चारों ओर से घिरा हुआ एक बाड़ा बनाया जाता था जिसमें गाँव के सभी पशु रात्रि में विश्राम करते थे। प्रत्येक गाँव के सन्निकट राजकीय चारागाह होते थे जहाँ किराया देकर जनपद निवासी पशु चराते थे। यदि वे रात में भी वहीं विश्राम करते थे तो किराया अधिक देना पड़ता था। सभी पशुओं के किराये की विभिन्न दरें तय थीं।

(स्तम्भैः समन्ततो ग्रामद् धनुः शतापकृष्ट मुपशालं कारयेत् पशु प्रचारार्थ विवीतमाल वनेनोपजीवेयुः)

बड़े नगरों तथा दुर्गों का निर्माण कार्य

कौटल्य कालीन भारत का सामन्तवाद वास्तव में एक महान निर्माणकर्ता के रूप में कार्य कर रहा था।

चारों दिशाओं में देश की सीमाओं पर युद्ध के लिए स्वाभाविक रूप से उपयोगी स्थानों पर दुर्गो का निर्माण करवाया जा रहा था। दुर्ग मुख्यतः चार प्रकार के होते थे। औदक, पार्वत, धान्वन और वनदुर्ग। इनमें प्रत्येक भेद के दो रूप रूप होते थे और इस प्रकार कुल मिलाकर ८ प्रकार के दुर्ग बनाये जाते थे। औदक दुर्ग चारों ओर नदियों से घिरा हुआ या विशाल जलाशय में टापू के समान बना हुआ रहता था। पार्वत दुर्ग बड़े-बड़े पत्थरों तथा प्रस्तर दीवारों का बना हुआ अथवा स्वाभाविक रूप से किसी पर्वत की कन्दराओं में बनाया जाता था। धान्वन दुर्ग ऐसे स्थान पर बनाया जाता था जिसके चारों ओर दूर-दूर तक पानी एवं घास तथा छाया का अभाव हो और शत्रु सेना को जल पीने आदि की कहीं सुविधा प्राप्त न हो। वनदुर्ग चारों ओर से झाड़ियों तथा वृक्षों से घिरा रहता था और या फिर उसके चारों ओर विशाल दलदल होता था जिससे शत्रु सेना के लिए घेरा डालना कठिन होता था।

नदी दुर्ग और पर्वत दुर्ग संकट के समय जनपद की रक्षा के लिए विश्वसनीय साधन समझे जाते थे। धान्वन एवं वन दुर्ग आटविकों की रक्षा के लिए लाभदायक माने जाते थे। विशेष आपत्तियों के समय राजा भी इनमें शरण लेता था।

इन दुर्गों के बीच में जनपदों (ग्राम समुदायों) तथा स्थानीयों (स्थानीय निकायों, बड़े शहरों) की स्थापना की जाती थी जिससे कि आर्थिक विकास एवं आदान-प्रदान की सुविधा हो। स्थानीय निकायों का निर्माण विशेष योजना के अनुसार किया जाता था और उनके भू-भागों की योजना पहले से तैयार कर ली जाती थी।

किसी भी स्थानीय निकाय की स्थापना से पहले वास्तु विद्या में विशारद शिल्पी भूमि

की परीक्षा करते थे, वहाँ के जल की परीक्षा की जाती थी और विशेष रूप से बड़ी नदियों के किनारे एवं बड़े जलाशयों के तट देखकर स्थानीय निकायों का नक्शा तैयार किया जाता था।

(स द्वाद्वस द्वारो युक्तोदकभूमिच्छन्नपथः)

दुर्गों तथा स्थानीय निकायों का आकार भूमि के आकार के आधार पर गोल या चौकोर रखा जाता था। स्थानीय निकायों में नगरों के जल की व्यवस्था की जाती थी। वहाँ हर प्रकार के पण्य (विक्रय माल) के लिए हाटकों (बाजारों) की रचना की जाती थी और यह प्रयत्न किया जाता था कि प्रत्येक पण्य हाटक में अवश्य मिल सके। स्थानीय निकायों में पण्य लाने और ले जाने के लिए स्थल एवं जल दोनों प्रकार के मार्गों की व्यवस्था की जाती थी।

इन दुर्गों तथा नगरों के चारों ओर एक-एक दण्ड (चार हाथ का एक दण्ड) के फासले से चार खाइयाँ खोदी जाती थीं। ये खाइयाँ क्रमशः चौदह, बारह और दस दण्ड चौड़ी रखी जाती थीं। चौड़ाई का तीसरा हिस्सा गहराई रखी जाती थी। खाई का फर्श समतल एवं पथरीला रखा जाता था। दीवारें पक्की रखी जाती थीं। पत्थर न मिलने पर पक्की ईंटों से किनारे मजबूत बनाये जाते थे। दीवारें चिकनी और मजबूत होती थी। कहीं-कहीं खाई इतनी गहरी खोदी जाती थी कि नीचे का पानी निरन्तर ऊपर बहता रहता था। खाइयाँ नदियों के पानी से भरी जाती थीं। इनके पानी की निकासी का प्रबन्ध रहता था और कमल आदि पौधे एवं मगरमच्छ आदि जीव-जन्तु जल में रखे जाते थे।

खाई (परिखा) से चार दण्ड के अन्तराल पर छः दण्ड ऊँचा और इतना ही गहरा तथा चिकना सफील (वप्र) बनाया जाता था। खाई खोदने से जो मिट्टी निकलती थी वही प्रयोग में लायी जाती थी। वप्र तीन प्रकार के होते थे – ऊर्ध्वचय (ऊपर से चौड़ा और नीचे से नेड़ा), कम्भचय (नीचे तथा ऊपर से नेड़ा एवं बीच में चौड़ा), मंचपृष्ठ (ऊपर तथा नीचे से एक समान चौड़ा) वप्र बनने के वाद पशुओं के झुण्ड ऊपर से गुजारे जाते थे ताकि जमीन पक्की हो जाये और जहरीले पौधे उगाये जाते थे। वप्र के ऊपर एक प्रकार की दीवार सी खड़ी की जाती थी जो अधिक से अधिक चौबीस हाथ ऊँची होती थी। इसके ऊपर से आसानी से रथ गुजर जाता था। प्राकार लकड़ी का कभी नहीं बनाया जाता था, जो अपने गर्भ में आग छिपाये रहता हो। केवल पत्थर और ईंट का चूरा ही काम में लाया जाता था। इन प्राकारों पर बहुत ऊँचे अट्टालक बनाये जाते थे जिनके बीच में थोड़ा फासला रखा जाता था। इनसे थोड़ा आगे की ओर प्रतोली बनायी जाती थी, जिनमें एक-एक में कई-कई धनुर्धर बैठकर दूर से बाहर की ओर शत्रु पर बाण-वृष्टि कर सकते थे। दुर्गों में देवपथ (गुप्त मार्ग) भी बनाये जाते थे जो प्रायः संकटकाल में प्रयोग में लाये जाते थे।

स्थानीय निकायों के घरों के सामने चबूतरे, वापी (बावड़ी) शाला और सीमागृह बनाये जाते थे और ऊपर की ओर चोटियों पर बुर्जों का बनाना आवश्यक था। हम्य (मकान की दूसरी मंजिल) की ऊँचाई पहली मंजिल से आधी रखी जाती थी और उसकी छत के नीचे

खम्भों का सहारा आवश्यक समझा जाता था। इसी प्रकार तीसरी और चौथी मंजिल आदि की ऊँचाई पहली से कम होती जाती थी।

तीन राजमार्ग पश्चिम तथा पूर्व की ओर तीन-तीन उत्तर तथा दक्षिण दिशा की ओर रखे जाते थे। इस प्रकार १२ राजमार्ग रखे जाते थे। चार दण्ड रथ्या (गली) की चौड़ाई रखी जाती थी। इसी प्रकार, द्रोणमुख, स्थानीय, राष्ट्र चारागाह, संपातीय (मण्डी) आदि के प्रमुख केन्द्रों के लिए जाने वाले मार्ग की निश्चित चौड़ाई रखी जाती थी। जिन मार्गों से सेना गुजरती थीं या जो शमशान घाट तक अथवा एक गाँव को दूसरे गाँव से जोड़ते थे उनकी चौड़ाई भी सभी स्थानों पर समान रूप से निश्चित होती थी।

स्थानीय निकायों तथा दुर्गों में खाली पड़े छोटे-छोटे कोने भी बेकार नहीं रहने दिये जाते थे। जो व्यक्ति नगरों के मान्य नियमों का तिरस्कार करते थे उन्हें कठोर दण्ड दिया जाता था। नगर में रहने वाले व्यक्तियों को मनचाहे स्थानों पर मकान बनाने तथा बसने का अधिकार नहीं था। उन्हें अपने ही समान व्यवसाय के व्यक्तियों के मुहल्लों में रहना पड़ता था। नगर में खाली पड़ी भूमि में गन्दगी रहती है, इसीलिए वहाँ शाक-सब्जी, फल एवं फूल आदि लगाकर नगर की शोभा बढ़ाई जाती थी। दैनिक उपयोग की सामग्री का पूरा भण्डार इनमें सदा ही रखा जाता था, ताकि आकस्मिक विपत्ति के समय निर्वाह होता रहे।

नट, नर्त्तक, वादक आदि को नगर के बाहर बसाया जाता था, जिनके सम्बन्ध में यह धारणा प्रचलित थी वे प्रजा को कुमार्गों की ओर अग्रसर करते हैं।

(चतुद्रण्डान्तरा रथ्याः। राजमार्ग द्रोणमुख स्थानीय राष्ट्र विवीतपथः संपातीय व्यूह श्मशात ग्रामपथाश्चाष्ट दण्डाः)

न च वाहिरिकान् कुर्यात पुरराष्ट्रोपधातकान्।
क्षिपेज्जनपदस्यान्ते सर्वान्वा दापयेत्करान्।।

(अधि. २, अध्याय ४)

आयात निर्यात एवं आन्तरिक व्यापार

खेती, पशुपालन के साथ-साथ वाणिज्य प्रारम्भिक अवस्था से निकलकर विकास की मध्यम अवस्था में पहुँच रहा था और उसके लिए समाज में विस्तृत नियम प्रचलित थे।

व्यापार आमतौर पर तीन प्रकार का समझा जाता था। बाह्य, आभ्यन्तर और आतिथ्य। इन तीनों प्रकार के व्यापारों पर दो प्रकार का शुल्क (चुंगी) लिया जाता था - निष्क्राम्य और प्रवेश्य। निर्यात व्यापार पर लिया जाने वाला कर निष्क्राम्य तथा आयातित पण्य पर लिया जाने वाला शुल्क प्रवेश्य कहलाता था। अपने ही देश में राजधानी तथा दुर्ग से भिन्न स्थानों पर उत्पन्न पण्य बाह्य कहलाता था एवं राजधानी तथा दुर्ग में उत्पन्न पण्य को आभ्यन्तर कहते थे। विदेशों से आयातित पण्य आतिथ्य अथवा निर्यातित कहलाता था।

(शुल्क व्यवहारो बाह्यमाभ्यन्तरं चातिथ्यम्। निष्क्राम्यं प्रवेश्यञ्च शुल्कम्)

शुल्क (चुंगी) की दरें प्रत्येक प्रकार के पण्य एवं व्यापार के लिए भिन्न-भिन्न थीं। बाहर से आने वाले पण्यों पर मूल्य का पाँचवाँ भाग प्रवेश शुल्क लिया जाता था। प्रत्येक पण्य के मूल्य के आधार पर उसकी सूची बनाकर प्रवेश शुल्क लेने की व्यवस्था प्रचलित थी। राजधानी में विदेशी माल के प्रवेश पर विशेष शुल्क लेने की प्रथा थी और विदेशी माल के मुकाबिले स्वदेशी माल को प्रोत्साहन दिया जाता था।

(द्वारादेयं शुल्कं पंच भागम्, आनुग्राहिके वा यथादेशोपकारं स्थापयेत्। जाति भूमिषु च पण्यानामविक्रयः)

जिन प्रदेशों में जो माल बहुतायत से पैदा होता था उसे दूसरे प्रदेशों में बेचना अधिक लाभदायक माना जाता था। परन्तु खानों में से निकाले हुए कच्चे माल के बेचने तथा खरीदने पर कठोर प्रतिबन्ध लगा हुआ था। जिस खेत, बाग या स्थान में जो सामान पैदा होता था उसको वहीं बेचने पर भी कड़ा प्रतिबन्ध था।

किसी भी स्थिति में चुंगी का चुराना राज्य के प्रति घोर अपराध था।

(अधि. २, अध्याय २२)

जल मार्गों की स्थापना

जैसा कि आगे बताया गया है कि कौटल्य कालीन भारत में राज्य की छत्रछाया में व्यापार का प्रसार हो रहा था और राज्य स्वयं भी सबसे बड़ा व्यापारी था। इसके लिए व्यापार मार्गों का विकास एवं उनकी सुरक्षा सर्वोपरि समझी जाती थी। भारत का, स्थल मार्ग से जहाँ उत्तरापथ में ईरान एवं यूनान (यवन देश) तक व्यापार था, वहाँ समुद्र मार्ग से पूरे दक्षिणी एवं दक्षिण पूर्वी एशिया के देशों के साथ गहरा आर्थिक सम्बन्ध था। यदि राज्य स्वयं इस दिशा में पहल अपने हाथ में न लेता तो कठिन जलमार्गों तथा अत्यन्त असुरक्षित स्थल मार्गों का विकास करना संभव नहीं था।

राज्य की ओर से समुद्र तथा नदी संगमों, समुद्रों, महानदियों के व्यापारमार्गों, विशाल सरोवरों, मध्यम सरोवरों, छोटी नदियों के सरोवरों तथा तटों पर स्थानीयों (नगरों) की स्थापना की जाती थी और राज्य की ओर से नौकाध्यक्ष जलमार्गों तथा तत्सम्बन्धी व्यापार की व्यवस्था करता था। जलमार्गों से होने वाली राज की आय का भी वही संग्रह करता था। इनके तटों पर रहने वाले ग्रामवासी 'क्लृप्त' (फुसलाने) के रूप में राज कर देते थे जिनकी देखादेखी आगन्तुकों से कर लेना आसान होता था।

राज्य की ओर से बड़ी-बड़ी नावें तथा डोंगियाँ किराये पर चलती थीं। मछुवे भी इन नौकाओं पर समुद्र तथा नदियों में मछली मारा करते थे एवं उनकी आय का छठा भाग राज्य को मत्स्यकर के रूप में मिलता था। इसी में नाव का किराया भी सम्मिलित था। पत्तनों (समुद्रतटीय नगरों) में प्रचलित प्रथाओं के अनुसार बनियें अपनी आय का पाँचवाँ या छठा भाग राज्य कर में देते थे। परन्तु सरकारी नावों से माल ढोने का किराया पृथक् देना पड़ता था।

(नौकाध्यक्षः समुद्र संयान नदी मुखतर प्रचारान् देवसरो विसरो नदीतरांश्च स्थानीयेष्ववेक्षेत। तद्बे लाकूल ग्रामाः क्लृप्तं दद्युः। यात्रावेतनं राजनौभिः संपतन्तः शंखमुक्ताग्राहिणों नौकाभाटकं दद्युः। स्वनौभिर्वा तरेयुः)

पत्तनाध्यक्ष दोनों प्रकार के आयात एवं निर्यात, व्यापार के लिए विशेष नियम बनाता था और नौकाध्यक्ष, जिसके अंकुश में व्यापारी रहते थे, उन नियमों का उनसे पालन करवाता था। यदि व्यापारी समुद्र में दिशा भूल जाते थे (मूढानाम्) तथा तूफानों में उनकी नाव फँस जाती थी तो राज्य की ओर से मौके पर संरक्षण दिया जाता था। जो पण्य (माल) पानी में खराब हो जाता था उस पर शुल्क आधा कर दिया जाता था या पूरी छूट दे दी जाती थी। ऐसी विपत्तिग्रस्त नौकाओं के बारे में राज्य की ओर से पण्यपत्तन को स्पष्ट आदेश भेज दिया जाता था।

जो नौकाएँ पण्य पत्तन पर पहुँचती थीं सबसे पहले उनसे राज्य कर लिया जाता था। दस्युओं तथा चोरों की नौकाओं का पीछा करके नष्ट कर दिया जाता था। ऐसी नावें भी नष्ट कर दी जाती थीं जो शत्रुदेर्श की ओर से आ रही हों या जिन्होंने राज्य के नियमों का खुला उल्लंघन किया हो।

(पत्तनाध्यक्ष निबन्धं पण्यपत्तन चारित्रं नौकाध्यक्षः पालयेत्। मूढवाता हतानां पितेवानुगृह्लीयात् उदकप्राप्तं पण्यमशुल्कमर्धशुल्कं वा कुर्यात्। यथा निर्दिष्टाश्चेताः पण्यपत्तन यात्राकालेषु प्रेष्येत् संपान्तीनोवः क्षेत्रानुगताः शुल्कं याचेत् हिंस्रिका निर्घातयेत्। अभित्राविपयातिऽगाः पण्यपत्तन चारित्रोपघातिकाश्च)

महानौकाओं में अग्रलिखित अधिकारियों तथा कर्मचारियों का रहना अनिवार्य समझा जाता था –

शासक – जिसके आदेश से नाव चलती और रुकती थी – कप्तान।

नियामक – जो नाव का संचालन (रेगुलेशन) करता था।

दात्रग्राहक – लकड़ी आदि काटने का हथियार हाथ में रखने वाला।

रश्मिग्राहक – पतवार एवं मस्तूल की रस्सी हाथ में रखने वाला।

उत्सेचक – नाव में आये पानी की निकासी करने वाला।

सिन्धु आदि महानदियों तथा समुद्रों में पूरे अधिकारियों एवं साधनों के साथ ही नौका उतारने की परम्परा थी। छोटी नावें छोटी नदियों में उतारी जा सकती थीं। जहाँ ये महानावें आकर रुकती थीं वहाँ पक्के स्थान बनाये जाते थे (बद्धतीर्था) इससे राजद्रोहियों के आने-जाने पर भी प्रतिबन्ध लगता था।

(बद्धतीर्थाश्चैताः कार्या राजद्विष्टकारिणां तरणभयात्। अकालेऽतीथे च तरतः पूर्वः साहस दण्डः)

महानदियों तथा समुद्रों के मार्गों की व्यवस्था एवं सुरक्षा के अलावा छोटी बड़ी नदियों के पार उतरने के लिए जो घाट बनाये जाते थे उनके लिए भी नियम थे। इस प्रकार घाट भी राज्य के आय के एक साधन थे। बिना समय और बिना घाट के जो व्यक्ति नदी पार

करता था उसे कठोर दण्ड मिलता था। ठीक समय पर तथा घाट से पार होने के लिए भी राज्य की ओर से नियुक्त व्यक्ति की स्वीकृति अनिवार्य मानी जाती थी।

हाँ, मछली मारने वाले और केवट आदि के लिए अपवाद था। पैदल यात्री से लेकर बड़ी-बड़ी सवारियों के साथ पार होने वालों के लिए पार होने के विभिन्न शुल्क निर्धारित थे। महानदियों को पार करने का शुल्क दुगना होता था और इन करों का संग्रह करने में पूरी कठोरता से काम लिया जाता था।

यदि नौकाध्यक्ष की अव्यवस्था से अर्थात् राजकीय नौका की खराबी के कारण व्यापारियों का पण्य खराव या नष्ट हो जाता था या किसी की मृत्यु हो जाती थी तो राज्य की ओर से स्पष्ट आदेश थे कि नौकाध्यक्ष उनकी पूरी क्षतिपूर्ति करे।

(पुरुषोपकरणहीनायामसंस्कृतायां वा नावि विपन्नायां नौकाध्यक्षो नष्टं विनष्टं वभ्यावहेत्) (अधि. २, अध्याय २८)

राज्य और राजकीय व्यापार

जैसे सामाजिक जीविका के दो अन्य मुख्य साधनों - खेती और पशुपालन में राज्य का प्रभावशाली हस्तक्षेप था इसी प्रकार, व्यापार के क्षेत्र में राज्य का भाग न केवल महत्त्वपूर्ण था प्रत्युत उसका वड़ा भाग राजकीय क्षेत्र में था और राज्य स्वयं भी सवसे बड़ी व्यापारिक संस्था थी। यहाँ तक कि निजी क्षेत्र के व्यापारी भी राज्य में अनुमति लेकर तथा उसके संरक्षण में अपना कारोबार चलाते थे। कौटल्य की परिभाषा मे पण्य उस माल का नाम था जो केवल बाजार के लिए तैयार किया जाता था अथवा वह माल पण्य था जो बाजार में बिक्री के लिए लाया जाता था। इस प्रकार पण्य शब्द अंग्रेजी भाषा के कम्मोडिटी शब्द का पूर्ण पर्यायवाची है। राज्य की ओर से जो सबसे बड़ा अधिकारी राजकीय व्यापार की देख-रेख करता था एवं निजी व्यापारियों को पण्य अनुमति (लाइसेंस) देता था उसे पण्याध्यक्ष कहते थे। पण्याध्यक्ष अपनी ओर से प्रत्येक बड़ी मण्डी में प्रतिनिधि नियुक्त करता था जो संस्थाध्यक्ष कहलाता था और उसी की देखरेख में व्यक्तिगत व्यापारी बाजारों (हाटकेषु) में अपना व्यापारिक कारोबार चलाते थे। उसके अधिकार बहुत व्यापक एवं विस्तृत थे। वह राजकीय क्षेत्र में उत्पन्न पण्य के विक्रय की व्यवस्था करता था और व्यापारिक क्षेत्र में होने वाली आय के लिए सीधा राज्य के प्रति उत्तरदायी होता था।

पण्याध्यक्ष स्थल तथा जल में पैदा होने वाले पण्य पदार्थों, उनके गुण-दोषों, लाने ले जाने वाले मार्गों तथा साधनों, विभिन्न देशों तथा समयों-जहाँ और जब वे पण्य उत्पन्न होते थे, उनके मूल्यों के अन्तर तथा उनकी लोकप्रियता एवं अप्रियता का पूरा विवरण रखता था। उसे यह पता भी रखना पड़ता था कि किस काल और देश में पण्य का अधिक संग्रह करे तथा कब और कहाँ उसे तुरन्त निकाल दे।

व्यापार के क्षेत्र में एकाधिकारी प्रवृत्ति सिर उठा चुकी थी। यद्यपि वह एकाधिकारी प्रवृत्ति आधुनिक पूँजीवाद की श्रेणी में नहीं थी, फिर भी एकाधिकार प्रथा पूँजीवाद के जन्म

तथा विकास के साथ अनिवार्य रूप से जुड़ी हुई रहती है और वह कौटल्य कालीन भारत में प्रत्यक्ष रूप से अनुभव की जा सकती थी। कौटल्य पण्याध्यक्ष को सलाह देते हैं कि जब पण्य की अधिकता के कारण बाजार में उसका मूल्य गिर जाये तो आस-पास का सारा पण्य अपने अधिकार में कर लिया जाये और बनावटी कमी पैदा करके मूल्य बढ़ा देना चाहिए। ज्यों ही अर्ध्य (उत्पादन-मूल्य) लौट आवे त्यों ही पुनः दाम गिरा कर सस्ता वेच देना चाहिए। यहाँ अर्थशास्त्र के सिद्धान्त की सूक्षमता विचारणीय है कि अर्ध्य तथा मूल्य के अन्तर को अर्थशास्त्र ने ग्रहण कर लिया था। मूल्य का अर्थ बाजार भाव था और अर्ध्य का अर्थ पैदावार का लागत खर्च था।

(यच्च पण्यं प्रचुरं स्यात्तदेकीकृत्यार्धमारोपयेत्। प्राप्तेऽर्धे वार्थान्तरे कारयेत्। स्वभूमिजानां राज्यपण्यानामेकमुखं व्यवहारे स्थापयेत्। परभूमि-जानामनेक मुखम्। उभयं न प्रजानामनुग्रहेण विक्रापयेत्। स्थूलमपि न लाभं जानामौपघातिकं वारयेत्)

इसका अर्थ हुआ कि अपने और पराये राज्य में उत्पन्न माल के हानि-लाभ का पूँजीवादी ढंग से विचार किया जाने लगा था। इसीलिए, अपने राज्य में उत्पन्न माल का मूल्य ऊँचा रखने के लिए एक मुश्त से (एक ही ठेकेदार या व्यापारी से) पण्य बेचने की व्यवस्था की जाती थी ताकि आपसी स्पर्द्धा में उसका मूल्य नीचा न गिरे। राज्य केवल पण्य के व्यवहार में ही दिलचस्पी नहीं रखता था बल्कि उसका उत्पादन संगठित करता था जो कि 'राजपण्यानाम्' शब्द से स्पष्ट है।

परन्तु राजकीय व्यापार एकाधिकारी नहीं था जिसने निजी व्यापार क्षेत्र का गला घोंट दिया हो। आर्थिक लाभ पर सबसे अधिक बल देने वाले कौटल्य ने राज्य को सलाह दी है कि पण्य चाहे देशी हो या विदेशी, चाहे राजकीय संस्थाओं में बेचा जाता हो या निजी संस्थानों में, प्रजाजनों का हित सर्वोपरि रखा जाना चाहिए तथा अतिशय लाभ के लिए प्रजा का निर्मम शोषण करना वर्जित था। यह सलाह जोरदार शब्दों में - 'स्थूलमपि च लाभम्' के रूप में कही गयी है।

जो माल जल्दी खराव हो जाने वाला होता था उसे जल्दी निकालने की कोशिश की जाती थी और बार-बार ठेका बदलने पर प्रतिबन्ध लगाया जाता था (संकुल दोषम्) को बुरा माना जाता था। यदि स्पर्द्धा अधिक हो और राज्यपण्य के बाजार में रुके रहने की संभावना हो तो बहुत से वैदेहकों (व्यापारियों) द्वारा राज्यपण्य बेचे जाते थे, परन्तु उन्हें एक ही मूल्य पर वह पण्य बेचना पड़ता था। (बहुर्मुखं वा राजपण्यं वैदेहकाः कृवार्ध विक्रीणीरन्)

ऐसी स्थिति में राज्य अपने नियत करों के अलावा व्यापार कर भी लेता था। जो पण्य माप कर बेचे जाते थे उनके मूल्य का १६वाँ भाग, तौल कर बेचे जाने वाले पण्यों का बीसवाँ तथा गिन कर बेचे जाने वाले पण्यों पर ग्यारहवाँ भाग राज्य कर लिया जाता था। यह विक्रय कर कहलाता था।

परन्तु राजकीय पण्यों के वारे में थोड़ा संकुचित दृष्टिकोण रहते हुए भी आम रीति यही थी कि विदेशी माल को प्रोत्साहन दिया जाता और यह प्रयत्न किया जाता था कि

विदेशी सौदागर बार-बार अपने देश में आवें तथा देशी सौदागर विदेशों में पहुँचे। इसीलिए, कौटल्य ने कहा है कि विदेशी माल को प्रोत्साहन देना चाहिए और नाव का किराया तथा कारवाँ (सार्थवाह) के संरक्षण का व्यय जहाँ तक सम्भव हो न लिया जाय। इसके अलावा, उन्हें आश्वासन दिया जाता था कि भविष्य में भी उन्हें ऐसी ही सुविधाएँ प्राप्त होती रहेंगी।

(परभूमिझं पण्यमनुग्रहेणावाहयेत्। नाविकं सार्थवाहेभ्यश्च परिहार मायतिक्षमं दद्यात्)

विदेशी व्यापारियों के कर्ज की अदायगी सख्ती के साथ वसूल नहीं की जाती थी। परन्तु विदेशी व्यापार में सहयोग करने वालों का ही यदि विदेशी व्यापारियों से विवाद होता था तो वह आसानी से और यथासंभव शीघ्र सुलझा लिया जाता था।

(अनभियोगश्चार्थेष्वागन्तूनामन्यत्र सभ्योपकारिभ्य:)

विदेशी व्यापारियों को प्रोत्साहन देकर कौटल्य भारत को पूरे संसार का व्यापारिक केन्द्र बनाने के स्वप्न देखते थे।

कौटल्य कालीन भारत में राज्य राजकीय व्यापार में कितनी दिलचस्पी रखता था। यह इसी से प्रकट है कि उन्होंने विस्तार के साथ उन बही खातों और हिसाब रखने की विधि तक का वर्णन किया है जिनसे उच्च अधिकारी राजकीय एवं निजी क्षेत्र के व्यापारियों की देखभाल, निरीक्षा एवं संचालन करते थे। जहाँ विशेष रूप से राज्य द्वारा निर्मित पण्यों का क्रय-विक्रय होता था उन स्थानों की विशेष निरीक्षा की जाती थी।

माल का निर्यात करने के लिए भी विशेष आर्थिक कारणों का तुलनात्मक विवेचन किया जाता था। केवल यह जान लेना पर्याप्त नहीं था कि निर्यातित पण्य का निर्यातित देश में अपेक्षाकृत मूल्य क्या है, प्रत्युत इसकी विवेचना करना भी आवश्यक समझा जाता था कि वहाँ क्या शुल्क देना होगा, वर्तनी अर्थात् सार्थवाह (कारवाँ) के मार्ग में संरक्षण का कितना व्यय अदा करना होगा, गुल्मदेय (जंगलों से पार होते समय जंगल रक्षक सेना) का भुगतान कितना करना होगा तरदेय (नौका आदि का किराया तथा घाट का शुल्क) भक्त (मार्ग में भोजन व्यय) और भाटक (किराया) क्या होगा आदि। यदि इन सभी खर्चों को निकाल कर आर्थिक लाभ होता था तो पण्य का निर्यात किया जाता था अन्यथा नहीं।

(परविषये तु पण्यप्रतिपण्ययोरर्धमूल्यं चागम्य शुल्क वर्तन्यातिवाहिक गुल्म तरदेय भक्त भाटक व्ययशुद्धमुदयं पश्येत्। असत्युदये भाण्ड निर्वहणेन पण्यपूर्ति पण्यार्धेन वा लाभं पश्येत्। ततः सारपादेन स्थलव्यवहारमध्वना क्षेमेण प्रयोज्येत्)

इस प्रकार, इन खर्चों को काट कर यदि निर्यात लाभदायक होता था तो दिया जाता था और यदि पहले ही वहाँ कुछ माल जा चुकता था तो माल रोककर अनुकूल समय की प्रतीक्षा की जाती थी कि जब पण्य के मूल्य उठ जाते थे तो बेच दिया जाय। यह आवश्यक नहीं था कि व्यापार जल मार्ग से ही किया जाये। परन्तु उसे सस्ता एवं लाभदायक माना जाता था। सुरक्षित स्थल मार्ग भी अपनाये जाते थे।

व्यापार के सम्बन्ध में विचार करते समय कौटल्य बार-बार सुरक्षा एवं संरक्षण के

साधनों की चर्चा करते हैं। प्रतीत होता है कि उस समय भारतीय व्यापार के प्रसार में सबसे बड़ी बाधा दस्युकों का बाहुल्य था जो स्थान-स्थान पर गिरोह बनाकर जमे रहते थे और राज्य की ओर से समुचित संरक्षण में शिथिलता आते ही उत्पात मचा देते थे। यही कारण था कि सार्थवाहों को अपनी निजी संरक्षणों की भी व्यवस्था करनी पड़ती थी। वे केवल राजकीय संरक्षण का भरोसा नहीं करते थे। इससे व्यापार सूखता रहता था, जिसका उन्मूलन करने के लिए कौटल्य ने अफगानिस्तान से बर्मा और लंका तक चक्रवर्ती राज्य की स्थापना के स्वप्न देखे थे, जिससे स्थान-स्थान पर संरक्षण एवं शुल्कदान से मुक्ति मिलती थी। दस्युयों तथा चोरों का कितना आतंक था यह इस बात से भी प्रकट होता है कि कौटल्य ने अपने अर्थशास्त्र में वैदेहकों को सलाह दी है कि वे सीमा रक्षकों, अरण्यपाल, अटवीपाल एवं दूसरी सुरक्षा संस्थाओं के उच्च अधिकारियों के साथ सदा गठबन्धन एवं मित्रता कायम रखें। उन्हें यह भी सलाह दी गयी है कि जिस देश में वे व्यापार कर रहे हों वहाँ के राज्य के सभी देयांश पूरे तौर पर तथा समय पर देते रहें ताकि आकस्मिक राजकोप का सामना न करना पड़े।

(अटत्यन्तपाल मुख्येश्च प्रति संसर्ग गच्छेदनुग्रहार्थम्)

व्यापारियों को और अधिक सावधान करते हुए कौटल्य कहते हैं कि समुद्रीय व्यापार मार्ग से व्यापारिक यात्रा करते समय यानभाटक (जहाज का किराया) पथ्यदन (मार्ग भोजन) पण्य प्रतिपण्यार्थ (निर्यातित एवं आयातित पण्य की मूल्य विवेचना) यात्राकाल, भय प्रतीकार (समुद्रीय दस्युयों का प्रतीकार) पण्यपत्तन (किस बन्दरगाह पर कितने समय रुकना है आदि) और वहाँ के आचार-विचार आदि का ज्ञान रखना चाहिए।

(वारिपथे च यानभाटकं पथ्यदन, पण्यप्रतिपण्यार्थ प्रमाण यात्राकाल भयप्रतीकार पण्यपत्तन चारित्राण्युपलमेत)

समुद्रीय मार्ग की अपेक्षा महानदियों का मार्ग व्यापार के लिए अधिक लाभदायक माना जाता था। इसमें देश-देशान्तरों के आचार-विचार का विशेष ध्यान रखा जाता था। व्यापार का मुख्य उद्‌देश्य लाभ प्राप्त करना एवं घाटे से दूर रहना था।

(यतो लाभस्ततो गच्छेदलाभं परिवर्जयेत्) (अधि. २, अध्याय १७)

वित्त कार्यालय के कार्यकलाप

राजकीय धन के आय-व्यय का लेखा जिस कार्यालय में होता था उसे अक्षपटल या वित्तकार्यालय कहते थे और महालेखाधिकारी अक्षपटलाध्यक्ष कहलाता था, जिसके अधीन बहुत से संस्थापक एवं गाणनिक कर्मचारी कार्य करते थे।

अक्षपटल यद्यपि राजकोश या खजाना नहीं था और उसमें केवल आय-व्यय का ब्यौरा रखा जाता था, परन्तु फिर भी उस कार्यालय का अतिशय महत्त्व समझा जाता था, और उसके भवन का निर्माण विशेष योजना एवं लागत से कराया जाता था। उसमें अनेक उप विभाग होते थे जिनके भिन्न-भिन्न उपाध्यक्ष एवं गाणनिक कर्मचारी रखे जाते थे। वित्त

कार्यालय में वास्तव में केवल बही खाता नहीं प्रत्युत पूरा राजकीय अर्थ-विवरण उदाहरणस्वरूप रखा जाता था।

द्रव्यों के उत्पत्ति स्थान, जनपद विशेष में उत्पन्न होने वाला पण्य विशेष, खान, अक्ष (विभिन्न वित्त विभागों में नियुक्त कर्मचारी) वित्तीय व्यवस्था पर व्यय, प्रयाम (जो पण्य बाजार के लिए बिलकुल तैयार हो) व्याजी (कर विशेष) योग (अच्छे और बुरे माल की मिलावट) विष्ट (बेगार कहाँ कितनी मिल सकती है) रत्नसार, फल्गु और कुप्य पदार्थों के मूल्य, प्रत्येक वस्तु का गुण-तोल-लम्बाई-ऊँचाई और चौड़ाई, देश-काल-ग्राम जाति-कुल तथा सभा के धर्म व्यवहार तथा विशेष परिस्थितियाँ आदि।

(ततः सर्वाधिकरणानां करणीयं सिद्धं शेषमायव्ययौ नीवीमुपस्थानं प्रचार चरित्र संस्थानं च निबन्धेन प्रयच्छेत्। उत्तममध्यमावरेषु च कर्मसु तज्जातिकमध्यक्षं कुर्यात्)

अर्थात् ऊपर लिखी व्यवस्था के वाद सव अधिकरणों के करणीय, सिद्ध, शेष आय, व्यय, नीवी, उपस्थान, प्रचार, चरित्र तथा संस्थान आदि लेखा विभाग लिखकर तैयार करता था। सामुदायिक रूप से जो कार्य किये जाते थे उनका उत्तरदायित्व उस व्यक्ति पर छोड़ा जाता था जो समुदाय में योग्यतम हो। परन्तु ब्राह्मण ऐसे कार्यों का अधिकारी कभी नहीं बनाया जाता था, इसलिए कि राज की आय का अपहरण ये अधिकारी अनिवार्य रूप से करते थे और ब्राह्मण को कठोर दण्ड देना धर्म विरुद्ध समझा जाता था। यदि अपहृत धन को ये अधिकारी वापस नहीं कर पाते थे तो उनके सहग्राही (साथ काम करने वाले) जामिन (प्रतिभू) कर्मोपजीवी (मातहती में काम करने वाले) बेटे, भाई और पत्नी आदि उसे भरते थे।

सभी गणनाधिकारी जो राज्य के छोटे कार्यालयों में काम करते थे आषाढ़ महीने में वर्ष भर का कार्य दिखाने के लिए अक्षपटल में आते थे। उन्हें तव तक एक दूसरे से मिलने एवं मंत्रणा करने का अवसर नहीं दिया जाता था जब तक उनकी पुस्तकें (रजिस्टर) और बना हुआ धन हस्तगत नहीं कर लिया जाता था। यदि समय पर अध्यक्ष पुस्तक के साथ मुख्य कार्यालय में उपस्थित नहीं होता था तो अपने दिये धन का दस गुना आर्थिक दण्ड भरता था। यदि कार्मिक (वित्त विभाग का मुख्य लेखाधिकारी) कार्यालय में उपस्थित हो जाता था एवं किसी अध्यक्ष को लेखा दिखाने के लिए आमंत्रित किये जाने पर वह हिसाब नहीं दिखाता था तो उसे प्रथम साहस दण्ड दिया जाता था और यदि कार्मिक अपने आदेश के अनुसार अध्यक्ष के उपस्थित होने पर लेखा निरीक्षा नहीं करता था तो उसे दुगना प्रथम साहस दण्ड दिया जाता था। पुस्तक में लेखा का रेखांकन इस प्रकार से होता था कि प्रत्येक व्यक्ति लेखा से सम्बन्धित स्थान, आगत का विवरण और सब तथ्य भली-भाँति जान सकता था।

पुस्तक में सही तथ्य लिखना ही पर्याप्त नहीं था बल्कि क्रम के साथ लिखना भी अनिवार्य था। क्रम विरुद्ध लिखना अपराध समझा जाता था।

अध्यक्ष का पहला एवं थोड़ा अपराध सहन कर लिया जाता था। यदि वह पहले वर्षों

की तुलना में राज की आय बढ़ाता था तो वह सन्तुष्ट किया जाता था।

राजकीय आय के स्रोत

राजकीय करों को समय पर तथा उचित मात्रा में इकट्ठा करने और उनको नियमित रखने पर राज्य शासन बहुत बल देता था। राज्य की ओर से जो सर्वोच्च अधिकारी कर संग्रह एवं कर नियमन का कार्य करता था उसे समाहर्त्ता कहते थे। उसके अधिकार कलक्टर तथा मैजिस्ट्रेट (न्यायालय) दोनों के थे। परन्तु उसका अधिकार क्षेत्र अधिक विस्तृत होने से तथा एक पूरे राज्य में एक ही समाहर्त्ता होने के कारण अधिक व्यापक थे।

समाहर्त्ता निम्नलिखित करों का संग्रह और उनकी व्यवस्था करता था जो कि राज्य के मुख्य आयस्रोत थे :-

दुर्ग, राष्ट्र, खानि, सेतु, वन, ब्रज तथा व्यापारी मार्ग।

निम्नलिखित कर दुर्ग के नाम से पुकारे जाते थे –

शुल्क (चुंगी) दण्ड (आर्थिक जुर्माना) पौतव (बटखरे तथा गज आदि की अनियमितता का दण्ड एवं कर) नगर व्यवस्थापक, लक्षणाध्यक्ष (भूमि नापने और उसका विवरण रखने वाला राजस्व अधिकारी) मुद्राध्यक्ष (टकसाल से) सुरा (मदिरा के ठेके से) सूना (वधशाला से) सूत्र (सूत्र बाँटने वालों से) तेल, घी और क्षार बेचने वालों से, सौवर्णिक (सर्राफा से) पण्य संस्था (थोक माल के व्यापारियों से) देश्या, जुवा, शिल्पी, बढ़ई, लुहार तथा पुजारी आदि से जो कर संग्रह किया जाता था वह दुर्ग श्रेणी में आता था। यह दुर्ग इसीलिए है कि इसका संग्रह करने में अधिकारियों को कठिनाई होती थी।

नीचे लिखे कर राष्ट्र के नाम से पुकारे जाते थे –

सीता (कृषि कर) भाग (पैदावार का हिस्सा) बलि (उपहार) कर, वणिक् और घाट कर, नौका, चारागाह, वर्तनी (सड़क कर) रज्जू (भूमि मापने का कर) और चोर रज्जू (चोर पकड़ने का धन)।

खनिकर निम्नलिखित होता था –

सुवर्ण, चाँदी, हीरा, मरकत, आदि मणि, मोती, मूँगा, शंख, लोहा, लवण, भूमि, पत्थर तथा रस धातु आदि। यह भी राजकीय आय का मुख्य स्रोत था।

सेतु निम्नलिखित था –

फल फूल के बाग, केला, सुपारी आदि के खेत, अदरक और हल्दी आदि सेतु होते हैं जो नमी की भूमि में पैदा होते हैं तथा पशु, मृग, द्रव्य हस्ति एवं लकड़ी आदि वन कहलाते थे। इसी प्रकार, गौ, भैंस, बकरी, भेड़ तथा ऊँट, घोड़ा, खच्चर (अश्वतर) आदि व्रज एवं स्थल पथ तथा वारिपथ आदि राजकीय आय के मुख्य स्रोत समझे जाते थे।

इनमें भी राजकीय आय के निम्नलिखित साधन प्रमुख कहे गये हैं –

मूल – पण्य बेच कर प्राप्त किया धन।

भाग - अन्न की पैदावार का छठा भाग।

ब्याजी - बिक्री कर आदि से मिला धन।

क्लृप्त - फसलाना या नियत कर।

रूपिक - नमक कर।

अत्यय - न्यायाधिकरण द्वारा किये गये जुरमाने का धन।

इसी प्रकार, राजकीय व्यय के मुख्य द्वार निम्नलिखित थे - देवपूजा, पितृ पूजा, दान, स्वस्तिवाचन, अन्तःपुर, महानस (सार्वजनिक भोजनालय) राजदूत प्रेषण, कोष्ठागार, आयुधागार, पण्यगृह, कर्मान्त (कारखाने) विष्टि (बेगार) पैदल सेना, अश्वसेना, रथसेना, हस्तिसेना, गौ, भैंस, वकरी आदि जंगली पशु, लकड़ी और इर्सी प्रकार के दूसरे कारोबार एवं व्यवस्थाएँ।

हिसाब रखते समय समाहर्ता को निम्नलिखित पाँच बातों पर विशेष ध्यान देना पड़ता था - करणीय, सिद्ध, शेष, आय, व्यय और नीवी।

करणीय छः प्रकार का होता था।

संस्थान - स्थान विशेष से मिले धन की राशि।

प्रचार - आय के स्थान का विवरण।

शरीरावस्थापन - कितनी आय जनपदों से और कितनी नगरों से।

आदान - कितना मिल चुका है।

सर्वसमुदयपिण्ड - इकट्ठा किया गया धन जहाँ जमा किया गया हो।

जंजात - जिस उपाय से जो साधन इकट्ठा किया गया हो।

सिद्ध भी छः प्रकार का होता था -

कोषार्पित - जो खजाने में जमा किया जा चुका हो।

राजहार - जिसे राजा अपने लिए मँगवा लेता था।

पुरव्यय - जो नगर की व्यवस्था पर खर्च कर दिया गया हो।

परमसम्वत्सरानुवृत्त - पिछले साल की बकाया सूलयावी जो अभी तक न जमा की गयी हो और जो धन राजा या नगर के खर्च में आया हो।

शासनमुक्त - जिसके सम्बन्ध में राज्य का आदेश न मिला हो।

मुखाज्ञप्त - जिसके सम्बन्ध में राजा का केवल मौखिक आदेश मिला हो।

इनमें पहले तीन प्रविष्ट एवं बाद के तीन आयतनीय कहलाते थे।

शेष भी छः प्रकार का होता था -

सिद्धिप्रक्रम योग - करदाताओं के तैयार रहने पर भी कर का संग्रह न करना।

दण्डशेष - सेना के उपयोग से बचा धन। (ये दोनों सुखपूर्वक संग्रह योग्य होने के कारण आहारणीय कहलाते थे।)

बलात्कृत प्रतिस्तब्ध - राजा के मुँह लगे व्यक्तियों द्वारा समाहर्ता को न दिया गया और बलपूर्वक रोका हुआ धन।

अवसृष्ट - बार-बार टालमटोल करके प्रभावशाली व्यक्तियों द्वारा रोका गया धन।

असार - जिसका संग्रह करने में आय के समान व्यय हो गया हो।

अल्पसार - जिसका संग्रह करने में हुए खर्च के मुकाबिले बहुत कम बचत होती हो।

आय - तीन प्रकार की होती थी - वर्ममान, पर्युषित और अन्य जात। दैनिक आय को वर्तमान कहते थे। पर्युषित धन वह था जो पिछले साल के खर्च से बच गया हो, या पिछले वर्ष का बकाया वसूल हो गया हो, अथवा पहले अध्यक्ष के सम्मुख घोटाले में फँसा धन ज़ो साफ हो गया हो तथा मिल गया हो अथवा शत्रु के हाथ से निकला धन।

आय-व्यय के स्रोतों एवं करों के सम्बन्ध में विस्तृत विवेचना करने का उद्देश्य केवल यही है कि सरकार का वित्त विभाग, उसके करों की व्यवस्था एवं वसूलयाबी के प्रकार उन्नत थे एवं उनकी विस्तृत रूपरेखा सामने आ चुकी थी।

फुटकर व्यापार और दुकानदारी

कौटल्यकालीन भारत में व्यापार तथा वाणिज्य तीन प्रकार से चलता था। राजकीय वाणिज्य, थोक व्यापार एवं फुटकर दुकानदारी। फुटकर वाणिज्य करने वाले दुकानदार या तो एक ही स्थान या संस्था में बैठकर व्यापार करते थे या घूम-घूम कर एवं फेरी देकर। परन्तु वे राजकीय क्षेत्र या थोक व्यापारियों से पण्य लेकर वाणिज्य करते थे। थोक व्यापारी या तो राजकीय क्षेत्र का पण्य ठेके के रूप में लेते थे या फिर देश-देशान्तरों से माल इकट्ठा करते थे जिसका उल्लेख किया जा चुका है। परन्तु फुटकर व्यापारी सबसे कड़ा शोषण करते थे। इसीलिए छूट (कमीशन) की दरें तय होती थीं और उनका उल्लंघन करने पर कड़ी सजा मिलती थी।

फुटकर व्यापारी देश-काल के अनुसार अपने माल के दाम वसूल करके थोक व्यापारियों के माल का मूल्य और सूद दोनों अदा करते थे, जबकि वह माल उन्हें बिना अग्रिम मूल्य दिये मिल जाता था। परन्तु पण्य का मूल्य गिर जाने पर उसका मूल्य और सूद दोनों उसी अनुपात से कम हो जाते थे। ऐसा केवल इसीलिए किया जाता था जिससे फुटकर व्यापारियों का योगक्षेम चलता रहे। परन्तु यदि यह तय हो जाता था कि माल के दाम गिरने और बढ़ने पर उसी अनुपात से मूल्य गिरा कर या बढ़ाकर व्यापारी थोक व्यापारी का भुगतान कर रहे हैं तो सूद देना अनिवार्य नहीं समझा जाता था। इसका अर्थ हुआ कि फुटकर व्यापारी जब किसी थोकदार या राजकीय क्षेत्र से पण्य लेते थे तो वे केवल पण्य के मूल्य का भुगतान करने के ही उत्तरदायी नहीं होते थे, बल्कि उतनी अग्रिम राशि के धन का सूद अलग से देते थे जितने मूल्य का वह पण्य होता था।

इस प्रकार, यह देखा जा सकता है कि थोक व्यापारियों से माल के रूप में धन लेने पर भी सूद लेने की प्रथा चालू हो गयी थी और इस तरह, आधुनिक पूँजीवाद का दृढ़

बीजारोपण किया जा रहा था।

आमतौर पर कुल मिलाकर छोटे और फुटकर व्यापारियों के लिए राज्य में सहानुभूति पूर्ण नियम प्रचलित थे। कारणवश माल के दाम एकदम गिर जाने पर थोक व्यापारी उसे भुगतान के लिए बाध्य नहीं कर सकता था। परन्तु इस सुविधा का अनुचित लाभ उठाने नहीं दिया जाता था। छोटे व्यापारियों को यह सुविधा भी थी कि वे पण्य का छीजन निकाल कर मूल्य अदा कर दें।

राजकीय भण्डारों की व्यवस्था

राजकीय अर्थ व्यवस्था में स्थायित्व के लिए राज्य की देख-रेख में आवश्यक वस्तुओं का संग्रह करने की प्रथा चल पड़ी थी। परन्तु ये उपयोगी साधन सामग्रियाँ राजकीय भण्डारों के बिना कैसे सुरक्षित रहती और कहाँ रखी जाती? इसीलिए बड़े-बड़े राजकीय भण्डार बनाये जाते थे जहाँ ये सामग्रियाँ सुरक्षित रखी जाती थीं। विभिन्न वस्तुओं के गुण-दोष आकार-प्रकार एवं स्वभाव के अनुसार विभिन्न प्रकार के भण्डारागार बनाये जाते थे। सन्निधाता नामक अध्यक्ष की देखरेख से कम से कम छः प्रकार के भण्डारागार बनवाये जाते थे और वही उनकी देखभाल किया करता था। वे थे कोषगृह, कोष्ठागार, कुप्पगृह, आयुधागार और बन्धनागार।

कोषगृह चारों ओर से सुरक्षित एवं भीड़ भड़क्के के सन्निकट पक्की ईंटों तथा पत्थरों से बनवाया जाता था, जिसे तोड़ना कठिन था और जहाँ दीमक तथा नमी का प्रभाव नहीं होता था। उसमें ध्रुवनिधि (स्थायी कोष) जो, घोर संकट के समय में ही काम में लाया जा सकता था, साधारण कर्मकरों से नहीं बल्कि ऐसे योग्य कारीगरों से बनवाया जाता था, जिन्हें राज्य की ओर से मृत्यु दण्ड मिल चुका हो तथा निर्माण के पश्चात् जिन्हें मरवा दिया जाता था। ऐसा करने से ध्रुवनिधि के रहस्यों का ज्ञान किसी बाहरी व्यक्ति को नहीं हो पाता था।

पण्यगृह के चारों ओर खुले मकान तथा बरामदे होते थे, उसमें अनेक कोठरियाँ तथा मंजिलें होती थीं, चारों ओर खम्भों पर टिके चबूतरों से वह घिरा होता था और ऐसा हर संभव प्रयत्न किया जाता था जिससे कि चारों ओर की वायु प्रवेश कर सके तथा किसी प्रकार भी नमी का प्रभाव न हो। ऐसा ही कोष्ठागार होता था। कुप्पगृह भीतर की ओर बनाया जाता था जिसमें लम्बी-लम्बी शाखाएँ तथा कोठरियाँ होती थीं। तहखाने से युक्त कुप्पगृह ही आयुधागार हो जाता था जिसमें शस्त्र रखे जाते थे। बन्धनागार में धर्मस्थ (सामाजिक अपराध निर्णेता न्यायालय) और महामात्र (राजकीय अध्यक्षों की ओर से) दण्ड पाये अधिकारियों के लिए पृथक्-पृथक् स्थान रखे जाते थे। इनमें पुरुष एवं स्त्री अपराधियों को पृथक-पृथक रखा जाता था एवं प्रवेश द्वार पर विशेष नियंत्रण रखा जाता था।

इन छहों प्रमुख स्थानों की अग्नि, जल, प्राकृतिक प्रकोप तथा हानिप्रद कीट आदि क्षुद्र जन्तुओं से रक्षा का वैसा ही प्रबन्ध किया जाता था जैसा कि अन्तःपुर निवास स्थान का किया जाता था।

प्रत्येक कोष्ठागार में वृष्टिमापक यन्त्र रखा रहता था।

राजकीय भण्डारों में यों ही कूड़ा-करकट इकट्ठा नहीं किया जाता था बल्कि प्रत्येक पण्य के विशेषज्ञ व्यक्तियों द्वारा प्रमाणित पण्यों का संग्रह होता था।

जो भी व्यक्ति या अधिकारी इन भण्डारागारों से असली रत्न आदि पण्य हटाकर नकली रख देता था, अथवा असली के दाम देकर नकली खरीदवा कर जमा कर देता था, उत्तम पण्य के मूल में अधम पण्य का क्रय करता था उसे कड़े से कड़ा दण्ड दिया जाता था। यही नियम निकृष्ट शस्त्र आदि के सम्बन्ध में था।

जो कोषाधिकारी स्वयं या दूसरों से मिलकर तथा सुरंग आदि खुदवा कर कोष का अपहरण करते थे, उन्हें मृत्युदण्ड से कम दण्ड नहीं दिया जाता था। परन्तु उनके अधीनस्थ कर्मचारियों का यदि इसमें हाथ नहीं होता था तो वे आतंक का विषय नहीं बनते थे। यदि पेशेवर चोर राजकोष आदि भण्डारागारों में ऐसी हानि पहुँचाते थे तो तड़पा-तड़पा कर मारे जाते थे।

शुल्क (चुंगी) की व्यवस्था और विभिन्न मात्रा

राज्य ने शुल्क (चुंगी) के रूप में अपनी आय का एक विश्वनीय स्रोत निकाल लिया था। कौटल्य ने जिस विस्तार तथा दृढ़ता के साथ इसका प्रतिपादन किया है उससे प्रतीत होता है कि उनके बाद के राजतंत्रों ने इस स्रोत का और भी जमकर शोषण किया था और शुल्काध्यक्ष, जिसकी देखरेख में राज्य को शुल्क मिलता था, राज्य का वैसा ही प्रभावशाली अधिकारी माना जाता था जैसा समाहर्ता।

नगरों के सबसे प्रमुख प्रवेश द्वारा पर पूर्व या उत्तर दिशा में शुल्कशाला बनवायी जाती थी और उस पर एक ऊँची पताका लगायी जाती थी ताकि शुल्क देने वाले दूर से देख लें। वहाँ शुल्क लेने वाले पाँच बनिये बैठे रहते थे। जो पुस्तक में लिखते थे कि पण्य किसका है, कितना है, कहाँ आया है, कहाँ जाएगा तथा उस पर पिछले सरकारी स्थान की मोहर भी लगी है या नहीं आदि। जो पिछले स्थान पर मोहर नहीं लगवाते थे उन्हें दुगुना शुल्क देना पड़ता था और जाली मोहर लगा लेते थे तो आठ गुना दण्ड भरते थे। (कूटमुद्राणां शुल्काष्टगुणो दण्डः) जो लोग लगी मोहर तोड़ देते थे उन्हें चुंगी के खुले स्थान पर चार घड़ी तक खड़ा करके लज्जित किया जाता था। जब वे मोहर बदल देते थे या पण्य का नाम परिवर्तन कर देते थे तो सवा पंण आर्थिक दण्ड भुगतते थे।

चुंगीघर के पास ही व्यापारियों के माल की बोली लगा करती थी। इस प्रकार, चुंगीघर स्वयं में एक व्यापार केन्द्र भी था। यदि बोली में अधिक दाम लग जाते थे तो फालतू पैसा राजकोष में चला जाता था। आज की भाँति ही व्यापारी उस समय की चुंगी से सबसे अधिक घृणा करते थे एवं उससे बचने का हर समय प्रयास करते थे। परन्तु ऐसा करने पर उनका फालतू माल और पैसा जब्त कर लिया जाता था या उन्हें शुल्क का आठ गुना दण्ड भरना पड़ता था। यही दण्ड उन व्यापारियों को देना पड़ता था जो माल के बर्तन या

बोरी आदि के मुँह पर घटिया माल रखकर नीचे बहुमूल्य माल छिपा लेते थे। अपने प्रतिस्पर्द्धी व्यापारियों को नीचा दिखाने के लिए जब कोई व्यापारी पण्य का दाम बढ़ा कर बोली बोलता था तब बोली के फालतू दाम राज्य वसूल कर लेता था या उससे चुंगी वसूल की जाती थी। चुंगी दुगनी देनी पड़ती थी। यदि चुंगी अधिकारी ऐसा अपराध करता था तो वह आठ गुना दण्ड भरता था। इसीलिए चुंगी लेने से पहले पण्यों के तोलने, नापने और मापने तथा गिनने की परिपाटी चालू थी। केवल व्यापारी द्वारा दी गयी सूचना पर्याप्त नहीं समझी जाती थी। हाँ, कम मूल्य के पण्यों का शुल्क अनुमान से भी लिया जा सकता था। जो व्यापारी कर से बचकर निकलने की कोशिश करते थे उनसे आठ गुना शुल्क लिया जाता था। चुंगी के मामले में यद्यपि राज्यतंत्र अत्यधिक कठोर था और निर्दयता से शुल्क का संग्रह करता था परन्तु फिर भी निम्नलिखित अवसरों तथा पण्यों पर शुल्क नहीं लिया जाता था – विवाह सम्बन्धी सामग्री, गौना, यज्ञोपवीत, यज्ञकार्य, प्रसव कार्य, देव पूजा और इसी प्रकार के अन्य धार्मिक कार्यकलाप। परन्तु यदि कोई व्यक्ति इनका झूठा नाम लेकर शुल्क से बचने का प्रयत्न करता था तो उसे चोरी का दण्ड भुगतना पड़ता था।

जो लोग चुंगी दिये हुए माल के साथ बिना चुंगी दिया माल ले जाते थे तथा एक माल के लिए लगायी गयी मोहर की ओट में बिना मोहर लगा माल ले जाते थे उन पर चुंगी जितना ही दण्ड फालतू लिया जाता था और बिना चुंगी का माल जब्त कर लिया जाता था।

जिन वस्तुओं के राज्य से बाहर ले जाने या लाने पर प्रतिबन्ध हो और जिनके सम्बन्ध में स्पष्ट आदेश हो चुके हों, फिर भी यदि कोई इन आदेशों का उल्लंघन करता था तो कठोर दण्ड का भागी समझा जाता था। इस प्रकार राज्य न केवल व्यापार करने की अनुमति ही देता था बल्कि वह व्यापार विशेष पर प्रतिबन्ध भी लगा सकता था।

इसके अलावा राज्य से सम्बन्धित दूसरे मालों पर भी राज्य अपना अंश लेता था। जैसे माल ढोने वाले लोग प्रत्येक गाड़ी पर सवा पण वर्तनी (मार्ग रक्षा व्यय) कर देते थे। बैल आदि पर आधा और बकरी आदि क्षुद्र पशुओं से सामान ढोने वाले चौथाई पण वर्त्तनी का भुगतान करते थे। इसके बदले में राज्य अपना यह कर्त्तव्य समझता था कि मार्ग में दस्यु आदि के प्रकोप का निराकरण करें।

विदेशों से आने वाले व्यापारियों के बहुमूल्य सामान पर मोहर लगाकर और एक सूची बनाकर अन्तपाल चुंगी अधिकारियों के पास भेजता था। इन व्यापारियों के कारवाँ (सार्थवाहों) में राजा के गुप्तचर रहते थे जो व्यापारियों की सम्पूर्ण आर्थिक स्थिति का बोध रखते थे।

परन्तु आदर्श राजा आय में दिलचस्पी रखते हुए भी ऐसे पण्यों के आयात की स्वीकृति नहीं देते थे जिनसे प्रजा को हानि हो, वे व्यसनों में फँस कर नष्ट होते हों तथा उनके नैतिक मनोबल का पतन होता हो। ऐसे पण्य के आयात पर विशेष बल दिया जाता था, जिनसे राज्य की समृद्धि बढ़ती हो। खाद्य पदार्थों के उन्नत बीजों का आयात करने को

राज्य सदा प्रोत्साहन देता था। ऐसे सामानों पर शुल्क भी नहीं लिया जाता था।

राष्ट्रपीडाकरं भाण्डं मुच्छिद्यदफलं च यत्।
महोपकारमुच्छुल्कं कुर्याद् बीजं तु दुर्लभम्।।

(अधि. २, अध्याय २१)

सूत कातने तथा बुनने का राजकीय उद्योग

राज्य के उपयोग एवं व्यापार दोनों के लिए राजकीय क्षेत्र में वस्त्र उद्योग चलाया जाता था और इसके लिए पृथक् राजकीय विभाग था जिसका मुख्य अधिकारी सूत्राध्यक्ष था।

सूत कातने का काम आमतौर पर स्त्रियाँ करती थीं और वे राजकीय कर्मान्तों (उद्योगशालाओं) के अलावा अपने घरों पर भी यह कार्य करती थीं। विधवा, अंगविकल स्त्रियाँ जिनका विवाह होना कठिन हो, कन्या (अविवाहिता स्त्रियाँ), अपराधिनी (जिन्हें कारावास का दण्ड मिल चुका हो) बूढ़ी, राजदासी, वेश्याओं की वृद्धा माताएँ, बूढ़ी वेश्याएँ और देवदासियाँ, जो देवालयों के लिए अनुपयोगी हो गयी हों, सूत कातने का काम उद्योगशाला में या घरों पर करती थीं।

(विधवान्यंगका, कन्या, प्रव्रजिता दण्डप्रतीकारिणी रूपाजीवामातृकाभि वृद्धराजदासीभिर्व्युपरतोपस्थानदेवदासीभिश्च कारयेत्)

कौटल्य कालीन भारत में वेश्याओं के बिना कोई सभ्य सभा अलंकृत नहीं होती थी और किसी मन्दिर या देवालय का काम देवदासी (जो कि वेश्या ही थी) के बिना अधूरा बना रहता था।

सूत की बारीकी, मोटापन, चिकनापन तथा परिमाण देखकर इनका वेतन तय किया जाता था और विशेष कार्य करने वाली स्त्रियों को प्रोत्साहन देने के लिए तेल, उबटन आदि देकर अनुगृहीत किया जाता था। यह काम दैनिक वेतन के आधार पर तय होता था। कम काम करने पर वेतन से कटौती की जाती थी।

इसके अलावा, वेतन तय करके पुरुषों से भी यह कार्य करवाया जाता था।

कते हुए इस सूत से राजकीय कर्मान्तों में वस्त्र तथा कवच आदि का निर्माण कराया जाता था।

जो स्त्रियाँ घर से बाहर न निकलने वाली होती थीं, जिनके पति परदेश गये होते थे, अंगविकल एवं अविवाहिता होती थीं एवं परदे में रहकर अपनी आजीविका चलाती थीं, उनके पास दासियों द्वारा रुई कपास आदि भेजकर घर पर ही सूत कतवाया जाता था। जो स्वयं सूत्रशाला में आकर काम लेती थी उन्हें अन्धेरे में ही प्रातःकाल काम दे दिया जाता था और दीपक के लिए उतना ही तेल दिया जाता था जितने से धागा भर दिख सके। जो कर्मचारी इनका मुख देखता था एवं अनावश्यक बात करता था उसे पूर्वसाहस दण्ड दिया

जाता था। समय पर वेतन न देने और काम न करने पर भी वेतन दे देने पर यही दण्ड दिया जाता था।

जो स्त्री वेतन लेकर काम नहीं करती थी उसका अँगूठा कटवा लिया जाता था और जो सरकारी माल खा जाती या अपहरण कर लेती थी या छिपकर भाग जाती थी उसका भी। कर्मचारियों को भी अपराध के अनुसार दण्ड दिया जाता था।

शिल्पियों की कमी थी। इसीलिए उनके प्रति थोड़ा नरमी का व्यवहार रखा जाता था।

सिक्के और नमक कानून

यदि किसी खान के खोदने में अधिक व्यय होता था और राज्य के अलावा दूसरे व्यक्तियों का धन भी उसमें लगाया जाता था तो ऐसी बहुव्यय साध्य खान का खर्चा इस तरह चुकाया जाता था कि जो सोना, चाँदी आदि पैदा होता था उसे बेचकर पहले व्यक्तिगत आदमियों का भुगतान कर दिया जाता था अथवा राजा ही उसका एक अंश खरीद कर राजकोष में से धन दे देता था ताकि उनका पैसा लौटा दिया जाय। इस प्रकार बहुत खर्चीली खानों का खोदा जाना राज्य पूँजी एवं निजी पूँजी के गठबन्धन से होता था और कम खर्चीली खानों का खोदने आदि का प्रवन्ध स्वयं राज्य अपने ही खर्च से कर लेता था।

(व्ययक्रिया भारिकमाकरं भागेन प्रक्रयेण वा दद्यात्। लाघविकमात्मना कारयेत्)

लक्षणाध्यक्ष (सिक्कों के निर्माण तथा परीक्षा का अधिकारी) अपनी देख-रेख में राजकीय सिक्कों का निर्माण करवाता था।

चाँदी का सिक्का चार प्रकार का होता था – पण, अर्द्धपण, पादपण तथा अष्टभाग पण। पण में १६ मासा भार होता था जिसमें ११ मासा चाँदी ४ मासा ताँबा और शेष एक मासा लोहा, राँगा, सीसा और अंजन में से एक होता था। इसी मात्रा में अर्द्धपण, पादपण और अष्टभाग पण बनाया जाता था।

पण के चौथे हिस्से का व्यवहार करने के लिए ताँबे का अलग से भी एक सिक्का बनाया जाता था। इसमें ११ मासा, ताँबा, ४ मासा चाँदी और एक मासा लोहा, राँगा, सीसा एवं अंजन में से कोई एक होता था। इसी सिक्के का नाम माषक होता था और इसका भार भी १६ मासा होता था। यह भी चार प्रकार का होता था – माषक, अर्द्धमाषक, पादमाषक और अष्टभाग माषक। पादमाषक एवं अष्टभाग माषक के लिए काकणी एवं अर्द्धकादणी सिक्के बनाये जाते थे।

रूपदर्शक (सिक्कों का परीक्षक) अधिकारी इस बात का निर्णय करता था कि कौन से सिक्के चलने लायक है और कौन से कोष में जमा कर देना चाहिए।

सौ पण आठ पण राज्य का लाभांश समझा जाता था जिसे रूपिक कहते थे। सौ पण पर पाँच पण का लाभांश ब्याजी और सौ पण के आठवें भाग को पारीक्षिक कहते थे। यदि कोई व्यक्ति जाली सिक्के बनाता था या उन्हें दूसरों के व्यवहार में लाता था तो प्रत्येक पण

पर २५ पण अत्यय (हर्जाना) भरना पड़ता था। परन्तु सिक्के बनाने, बेचने, खरीदने और परीक्षा करने का अधिकार जिन्हें राज्य की ओर से मिला हुआ था उन पर यह हर्जाना लागू नहीं होता था।

लवणाध्यक्ष राज्य में तैयार किये गये एवं खान से निकाले गये नमक का समय पर संग्रह करता था। नमक के व्यापारियों से नमक मूल्य के अलावा, रूप तथा ब्याजी करों का संग्रह करता था जो कि क्रमशः ८ प्रतिशत एवं ५ प्रतिशत होता था। दूसरे देश के नमक बेचने वाले व्यापारी नमक के कुल मूल्य का छठा भाग राज्य कर में देते थे। परन्तु इस राज्यांश से भिन्न ८ प्रतिशत रूप, ५ प्रतिशत ब्याजी के रूप में उन्हें कर भी देना पड़ता था।

उस माल को खरीदने वाला व्यापारी नियमानुसार बिक्री कर (विक्रय-शुल्क) देता था और छीजन के अनुसार वैधरण (बाजार शुल्क) भी देता था। परन्तु राजकीय बाजार के अलावा दूसरे स्थानों से पण्य खरीदने पर व्यापारी को छः प्रतिशत हर्जाना भी भरना पड़ता था।

नमक के सम्बन्ध में कड़े राज दण्ड प्रचलित थे। घटिया अथवा मिलावटी नमक बेचने वाले को उत्तम साहस दण्ड दिया जाता था। यही दण्ड उसे दिया जाता था जो राज्य से आज्ञा पत्र लिये बिना नमक का व्यापार करता था या बनाता था। केवल वानप्रस्थों पर यह दंड नहीं था। वेदपाठी, तपस्वी और विष्टि (बेगारी) केवल अपने उपयोग के लिए निःशुल्क लवण ले जा सकते थे।

'खान से राजकोष जन्म लेता है।
कोष से सेना शक्तिशाली होती है।
कोष और सेना से राज्य चलता है।
कोष ही राज्य का भूषण है।'

आकर प्रभवः कोषः
कोषाद् दण्डः प्रजायते।
पृथिवी कोष दण्डाभ्यां
प्राप्यते कोषभूषणा।

सरकार का वन विभाग

कौटल्य के भारत में अन्य विभागों की भाँति वन विभाग भी राज्य का अनिवार्य अंग था जो राजकीय आय का महत्त्वपूर्ण हिस्सा था। इसका सर्वोच्च अधिकारी कुप्याध्यक्ष के नाम से पुकारा जाता था। राज्य का यह अनिवार्य कर्त्तव्य समझा जाता था कि अपने वन में देश-देशान्तरों से लाकर सर्वश्रेष्ठ लकड़ियों के वन खड़े करे और लकड़ियों के निर्माण कार्य के लिए कर्मान्तों (उद्योगशालाओं) की स्थापना करे। इन जंगलों से वे ही व्यक्ति लकड़ी

काट सकते थे जिन्हें राज्य की ओर से आज्ञा मिल जाती थी और इनका वेतन पहले से नियत कर दिया जाता था।

राजकीय वनों में जिन वृक्षों का लगाया जाना श्रेष्ठ समझा जाता था उनके नाम निम्नलिखित हैं –

शाक (सागोन) तिनिश (तुण पहाड़ी भाषा में) धन्वन (पीपल) अर्जुन, मधूक (महुआ) तिलक (फराश साल) शीशम, अरिमेद (खैर) एजादन (खिरनी) खदिर, सरल (युकलिप्टिस) ताल, सर्ज (पीले रंग का साल) अश्वर्ण (साल का एक भेद-तरन) सोमवल्क (सफ़ेद ख़ैर) कश (बबूल) आम (पियक कदम्ब) धव (गूलर) और इमली आदि।

सूदखोरी और महाजनी का नागपाश

सामन्तवाद के उदय के साथ-साथ सूदखोरी और महाजनी पूँजी पाँव फैलाती है। पूरे संसार का यही अनुभव है। कौटल्य कालीन भारत में सामन्तवाद के उन्नत विकास के साथ ही सूदखोरी तथा महाजनी का क्रूर नागपाश फैला। सूदखोरी के आतंक से पूरा समाज त्राहि-त्राहि कर रहा था और ऋण लेने वालों का वे मनमाने ढंग से शोषण करते थे। पीड़ितों के लिए समाज में कोई कानूनी संरक्षण भी नहीं था। इसीलिए कौटल्य ने सूदखोरों पर अंकुश लगाते हुए कुछ नियम बनाये थे। कौटल्य ने कहा है कि 'सवापण प्रतिशत से अधिक सूद धर्म्य नहीं होता। जो सूद पर रुपया लेकर लेन-देन का व्यापार करते हैं उनसे पाँच प्रतिशत तक लिया जा सकता है। जंगली जानवरों तथा लकड़ियों का व्यापार करने वालों से दस प्रतिशत तक और सामुद्रिक व्यापार करने वालों से बीस प्रतिशत तक। इससे अधिक सूद लेने वालों को प्रथम साहस दण्ड दिया जाय।' इनके गवाहों को भी दण्ड भरना पड़ता था। राज्य उनके व्यवहार की पूरी देखभाल करता था ताकि वे उसके देयांश का अपहरण न कर लें।

अन्न सम्बन्धी व्यापार के लिए ऋण लेने पर विशेष प्रतिवन्ध थे। वह संग्रहणीय अन्न के कुल मूल्य की अपेक्षा आधे से अधिक नहीं हो सकता था। इसी तरह, गोदामों में इकट्ठे किये गये अनाज के मूल्य की तुलना में भी। अनाज के व्यापार से होने वाले लाभ का आधा हिस्सा सूद के रूप में ऋणदाता को मिलता था। परन्तु यदि व्यापारी की लापरवाही से माल समय पर नहीं निकल पाता था तो ऋणदाता घाटे में नहीं रखा जाता था।

प्रतीत होता है कि ऋणदाताओं में यह प्रवृत्ति पैदा हो चली थी कि वे अग्रिम सूद की रकम को मूलधन में जोड़कर लिखने लगे थे एवं ब्याज देने की अवधि पूरी होने से पहले ही ऋण लेने वालों को तंग करने लगे थे, जैसा कि आजकल करते हैं। कौटल्य ने ऐसी प्रवृत्तियों पर कड़ा प्रतिवन्ध लगाया है।

(अकृत्वा वृद्धि साधयतो वर्द्धयतो वा मूल्यं वा वृद्धिमारोप्य श्रावयतो वन्ध-चतुर्गुणो दण्डः)

ऐसे सूदखोरों पर माँगे गये धन का चौगुना आर्थिक दण्ड होता था। सूदखोरों पर अंकुश लगाते हुए कहा गया है कि जो सूदखोर कम देकर अधिक बतावे और इसके लिए साक्षियों को सहमत करना चाहे उससे तीन गुना और जो ऋण लेने वाला उसके सामने झुक कर उसकी हाँ में हाँ मिलावे उन दोनों को उस रकम के समान आर्थिक दण्ड दिया जाये जो माँगी जा रही हो। इस प्रकार दोनों पर अंकुश लगाकर सूदखोरी प्रवृत्ति पर प्रतिबन्ध लगाया जा रहा था। निम्नलिखित व्यक्तियों से केवल मूलधन लिया जा सकता था, सूद नहीं - यज्ञ में घिरा व्यक्ति, व्याधिग्रस्त, गुरुकुल में अध्ययनार्थ गया हुआ, बालक एवं शक्तिहीन पुरुष।

यदि कोई ऋणदाता दस साल के अन्दर अपना ऋण वसूल कर लेता था तो इसके बाद न्यायाधिकरण में दावा नहीं कर सकता था। परन्तु बालक वृद्ध, बीमार, आपद्ग्रस्त, परदेश गये, देशत्यागी एवं राजकीय कार्यों से बाहर गये व्यक्तियों पर यह नियम लागू नहीं होता था।

मृत व्यक्ति का ऋण उसके बेटे चुकाते थे। उसकी त्यागी सम्पत्ति के दाय-भागी, साथ काम करने वाले, उसके प्रतिभू भी ऋण अदा करने के लिए बाध्य किये जा सकते थे। बालक किसी भी दशा में प्रतिभू नहीं बनाया जा सकता था।

इसी प्रकार, बहुत से सूदखोर एक ही समय किसी व्यक्ति से अपने कर्ज की वसूलयाबी के लिए धावा बोलते थे ताकि घबरा कर वह अपनी चल और अचल सम्पत्ति उन्हें सौंप दे। इस पर रोक लगाने के लिए व्यवस्था की गयी थी कि सिवाय ऐसे व्यक्ति के जो विदेश को प्रस्थान कर रहा हो। किसी भी व्यक्ति से एक ही समय पर अनेक ऋणदाता वसूलयाबी का दबाव नहीं डाल सकते। न्यायाधिकरण भी अनेक अभियोग एक साथ किसी व्यक्ति के विरुद्ध स्वीकार नहीं कर सकते थे और यदि अधिकरण सभी के अभियोग स्वीकार भी कर लेता था तो एक साथ सबकी वसूलयाबी नियम-वर्जित थी। पहला पहले और बाद का बाद में वसूल होता था। हाँ, राजा और ब्राह्मण का ऋण सबसे पहले भुगतान किया जाता था।

किसान और राजकर्मचारी जो राजसेवा एवं फसल के मौके पर खेती के कार्य में व्यस्त हों, उन्हें कोई भी ऋणदाता गिरफ्तार नहीं करवा सकता था।

(अग्राह्याः कर्मकालेषु कृषका राजपुरुषाश्च)

समाज में राज कर्मचारियों तथा ब्राह्मणों का प्रत्येक क्षेत्र में विशेष स्थान था। अपने पेशे के बढ़ते हुए प्रभाव एवं गौरव तथा सामाजिक उपयोगिता के कारण किसान भी समाज में विशेष स्थान ग्रहण करते जा रहे थे।

यदि कोई पत्नी अपने पति द्वारा लिये गये ऋण का भुगतान करना स्वयं स्वीकार नहीं करती थी तो समाज एवं न्यायाधिकरण उसे अदा करने के लिए बाध्य नहीं कर सकते थे। परन्तु गोपालक और अर्द्धसीतिक लोग जिनकी स्त्रियाँ जीविकोपार्जन में प्रत्यक्ष सहयोग

करती थीं, उन्हें बाध्य किया जा सकता था। हाँ, पत्नी द्वारा लिये गये ऋण के लिए पति को अवश्य बाध्य किया जा सकता था।

(सपादपणा धर्म्या वृद्धिःपणशतत्य। पंचपणा व्यावहारिकी। दशपणा कान्तारकाणाम्। विंशतिपणा सामुदायाणाम्। ततः परं कर्त्तुः कारयितुश्च पूर्वः साहसदण्डः श्रोतृणामेकैकं प्रत्यर्थदण्डः। राजन्य योगक्षेमवहे तु धनिक धारणि-कयोश्चरित्रपेक्षेत्।)

धान्यवृद्धि सस्यनिष्पत्तावुपार्धानां मूल्यकृता वर्धेत्। प्रक्षेप वृद्धिरुदयार्थ संनिधानसन्ना वार्षिकी देया। स्त्री चाप्रतिश्राविणी पतिकृतमृणमन्यत्र गोपाल-कार्द्धसीतिकेभ्यः। पतिस्तु ग्राह्य। (अधि. ३, अध्याय ११) नुवर्ण का कारोबार एवं आभूषण आदि।

सुवर्ण का व्यापार, कारोबार, निकासी तथा आभूषण आदि का निर्माण राजकीय नियंत्रण में होता था और जो लोग व्यक्तिगत रूप में यह कारोबार चलाते थे उन्हें राज्यतंत्र से स्वीकृति लेनी पड़ती थी। ऐसा कारोबार करने वाला व्यक्ति सौवर्णिक कहलाता था। सुनारों (हेमकारों) द्वारा सौवर्णिक (सर्राफ) ही नागरिकों, जनपद निवासियों तथा अन्य व्यक्तियों के लिए सोने-चाँदी के आभूषण बनवाता था। समाज में स्त्री-पुरुष दोनों ही आभूषण पहनने के शौकीन थे। सौवर्णिकों तथा सुवर्णकारों, दोनों के लिए राज्य की ओर से विशेष नियम प्रचलित थे। उन्हें समय पर और अपने वायदे के अनुसार काम करना पड़ता था। आजकल की भाँति कौटल्यकालीन भारत में भी दस्तकारी में बहाने करने तथा बातों को खटाई में डालने की आदतें पड़ चुकी थीं। इस प्रवृत्ति पर रोक लगाने के लिए राज्य की ओर से बहुत कड़े नियम काम में लाये जाते थे। काम विगाड़ देने या जैसा कहा गया हो वैसा न करने और समय पर सामान न देने पर उन दोनों से कड़ा दण्ड वसूल किया जाता था एवं वेतन (मजदूरी) काट लिया जाता था।

सोना-चाँदी के सम्बन्ध में जो अनियमितताएँ, विषमताएँ तथा भ्रष्टाचार आज देखने को मिलता है, उस समय वह सभी कुछ विद्यमान था। इसीलिए विस्तार के साथ कौटल्य ने अपने अर्थशास्त्र में इन दोनों का निरूपण किया है तथा उसके प्रतीकारों पर प्रकाश डाला है।

मदिरा के निर्माण तथा व्यापार के सम्बन्ध में राजकीय नीति

यद्यपि समाज का ऊपरी ढाँचा देखने में बहुत नीरस प्रतीत होता था, और उसे देखकर कोई भी बाहरी व्यक्ति यही आभास कर लेता कि समाज में पूजा-पाठ, कर्मकाण्ड तथा बाहरी आडम्बर के अलावा, मनोरंजन एवं उल्लास का स्थान ही कहाँ है? परन्तु वास्तविकता इसके बिल्कुल विपरीत थी। जिनके पास साधन थे वे पूरे मनोरंजन तथा उल्लास का जीवन व्यतीत करते थे और जिनके पास ऐसे साधनों का अभाव था वे दूसरों के लिए विलास सामग्री का काम करते थे। मदिरा एवं वेश्या तत्कालीन भारत के सबसे बड़े मनोरंजन तथा विलासिता के साधन थे जिनमें एक के सम्बन्ध में यहाँ विचार करते हैं।

इसके अलावा, बहुत से अन्य आय स्रोतों की तरह मदिरा भी राज्य की आमदनी का

एक बड़ा साधन था। मदिरा गुड़, मधु तथा पिट्ठी से बनायी जाती थी। इसके निर्माण तथा व्यापार पर राज्य का एकाधिकार था। राज्य की ओर से सबसे बड़ा अधिकारी सुराध्यक्ष कहा जाता था। सुराध्यक्ष मदिरा के निर्माण तथा वितरण की व्यवस्था दुर्ग, जनपदों तथा छावनियों (स्कन्धावारों) में सुविधा के अनुसार करता था और मदिरा के व्यापारियों को या तो वह खुदरा रूप में अलग-अलग देता था और या फिर एक ही बड़े ठेकेदार को मदिरा देकर उसके द्वारा दूसरे व्यापारियों से मदिरा बिकवाता था। (एकमुखमनेकमुखं वा विक्रय-क्रयवशेन वा)

जो लोग नियत स्थानों के अलावा चोरी से मदिरा बनाते थे उन्हें भारी आर्थिक दण्ड भरना पड़ता था जो कि ६०० पण तक होता था। शराबियों पर यह पाबन्दी थी कि वे मदिरा पीकर सार्वजनिक स्थानों पर नहीं जा सकते थे जिसने आर्यों (श्रेष्ठ पुरुषों) की मर्यादा भंग न हो तथा शराब के नशे में साहसी व्यक्ति शस्त्रादि का प्रयोग करके प्रजा को पीड़ा न पहुँचावे।

(मर्यादातिक्रमण भयादार्याणामुत्साहभयाच्च तीक्ष्णानाम्)

राजकीय मोहर से अंकित पात्र में यदि कोई व्यक्ति अपने घर में मदिरा ले जाना चाहे तो अनुमति दी जा सकती थी। परन्तु वह एक कुडव एवं आधा या एक प्रस्थ से अधिक नहीं हो सकती थी। ऐसी अनुमति केवल विशेष रूप से दी जाती थी। आमतौर पर लोग पानागार में ही मदिरा पीते थे और उन्हें पीकर घूमने-फिरने की आजादी नहीं थी। (असंचारिणः)

इन पानगारों के चारों ओर प्रायः गुप्तचरों का जाल फैला रहता था और नशे में धुत्त सामाजिक एवं राजनीतिक अपराधी यहाँ आसानी से पकड़े जाते थे।

उत्तम श्रेणी की मदिरा किसी भी शर्त पर उधार नहीं बेची जाती थी। केवल घटिया मदिरा उधार दी जा सकती थी। उत्तम श्रेणी की मदिरा जहाँ बेची जाती थी। वहाँ घटिया मदिरा बेचना वर्जित था। उसके लिए पृथक पानागार होते थे। दासों तथा निकृष्ट कर्म के कर्मचारियों को घटिया मदिरा वेतन के रूप में भी दी जाती थी। परन्तु सुअर तथा बैल आदि पालने वालों को ही मदिरा के रूप में वेतन दिया जा सकता था, अन्यों को नहीं।

कौटल्य कालीन भारत के पानागार बहुत वैभवशाली, ऐश्वर्यपूर्ण, बहुत सी कक्षाओं तथा गैलरियों वाले अनेक प्रांगणों तथा कमरों से सुसज्जित और सोने, विश्राम करने एवं गप्प मारने के ठिकानों से परिपूर्ण होते थे। इनमें सभी ऋतुओं में सुख मिल सकता था। वे फूलमालाओं तथा वन्दनवारों से सजे रहते थे। गुप्तचर आगन्तुकों की गतिविधि की जाँच रखते थे। खरीददारों के आभूषणों तथा नगदी माल की निगरानी करना शौण्डिक का प्रधान कर्तव्य समझ जाता था। उन्हें हानि का दुगना दण्ड भरना पड़ता था। यहाँ सुन्दर स्त्रियों द्वारा भी आगन्तुकों के आचरण की देखभाल की जाती थी और जो ऊपर से भले होते थे उनकी असलियत का यहाँ पता चल जाता था।

(दास कर्मकरेभ्यो वा वेतनं दद्यात्। वाहनप्रतिपाने शूकरपोषणं वा दद्यात्।

पानागाराण्यनेककक्ष्याणि विभक्तशयनांसनयन्ति पानोद्देशानि गन्धमाल्योदकवन्त्यृतु सुखानि कारयेत्। तत्रस्था प्रकृत्योत्पत्तिकौ व्ययौ गूढा विद्युरागन्तूंश्च। क्रितृणां मत्तसुप्तानामलंकाराच्छदिन हिरण्यानि च विद्युः तन्नाशे वणिजस्तच्च तावच्च दण्डं दद्युः। वणिजस्तु संवृतेषु कक्ष्या विभागेषु स्वदासिभिः पेशलरूपाभिरागन्तूनां वास्तस्यानां चार्यरूपाणां मत्तसृप्तानां भावं विद्युः।)

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि ये मदिरालय बहुत कुछ राजनीतिक अखाड़े थे जहाँ राजा के पक्ष में षड्यन्त्र होते थे और राजा के विरोध में चलने वाले षडयन्त्रों का भण्डाफोड़ होता था। ठेकेदार अपनी सुन्दर दासियों से गुप्त कमरों में सोये आगन्तुकों के साथ केलि करवा कर, उनकी असलियत का पता लगाते थे और इस प्रकार इन पानागारों का प्रतिष्ठित नागरिकों पर अवश्य ही आतंकपूर्ण प्रभाव रहा होगा।

मेदक, प्रसन्न, अरिष्ट, मैरेय तथा मधु ये छः प्रकार की मदिराएँ थीं। मदिरा निर्माण में राज्य का एकाधिकार होते हुए भी कुछ लोगों को सुराध्यक्ष यह स्वीकृति दे देता था कि वे अपनी बनायी हुई मदिरा स्वयं पी सकते थे और दूसरों को बेच सकते थे। यदि वे राज्य की मदिरा नहीं बेचना चाहते थे तो राज्य की स्वीकृति के वाद ऐसा भी कर सकते थे। तब उन्हें पौन प्रतिशत शुल्क देना पड़ता था।

केवल निजी उपयोग के लिए विशेष अवसरों पर घटिया श्रेणी की मदिरा बनाने की छूट राज्य की ओर से मिल जाती थी जिसके लिए भारी शुल्क देना पड़ता था। (अधि. २, अध्याय २५)

वेतनजीवी मजदूरों की स्थिति

विशेषाधिकार प्राप्त वर्गों की आर्थिक स्थिति का विश्लेषण करने के बाद आर्थिक दृष्टि से शोषित वर्गों में से एक की विशेष स्थिति पर विचार करते हैं।

समाज में दासों का स्थान गौण होता जा रहा था। समाज ने दास प्रथा को लाभहीन समझ कर हटाना शुरू कर दिया था हालांकि समाज में अब भी दासों की अन्तहीन सेना विद्यमान थी। दासों के स्थान पर सम्पत्तिधारी लोग वेतनजीवी मजदूरों से काम लेना अधिक पसन्द करते थे जिन्हें कर्मकर कहा जाता था। सैकड़ों, हजारों वर्णसंकर जातियाँ पैदा होती जा रही थीं जिनकी संख्या व्यवस्था के संकुचित घेरे से निकल-निकल कर एक ऐसे वर्णहीन समाज की रचना कर ही रही थी जिनमें द्विज या सवर्ण जातियाँ अल्पसंख्या में बदल रही थीं, और जिनके पास पशु, भूमि, वाणिज्य एवं दूसरे ढंग की व्यक्तिगत सम्पत्ति का सर्वथा अभाव था। इन लोगों के लिए अपनी श्रम शक्ति बेचने के अलावा जीवन निर्वाह करने का दूसरा कोई साधन एवं रास्ता ही नहीं था। पहले के युग में दासों के साथ जो आर्थिक अन्याय होता था वही अन्याय अब इनके साथ होता था। परन्तु इन्हें बेचा, खरीदा या कत्ल नहीं किया जा सकता था और न दासों की तरह गिरवी रखा जा सकता था। इन्हें अकारण शरीरी दण्ड भी नहीं दिया जा सकता था। फिर भी इनसे काम लेने के नियम इतने कड़े थे और सम्पत्तिधारियों के पक्ष में कानून इतना सक्रिय था कि इनकी सामाजिक एवं आर्थिक

स्थिति दासों से अधिक भिन्न नहीं थी।

जो कर्मकर वेतन लेकर काम नहीं करता था वह आर्थिक दण्ड का भागीदार था। बिना कारण बताये काम न करने पर उसे कारागार तक में डाला जा सकता था। हाँ, बीमारी या पारिवारिक संकट की स्थिति में मालिक उसे कार्य करने को बाध्य नहीं कर सकता था। उसे मल-मूत्र उठाने या दूसरे किसी गन्दे कार्य करने के लिए भी मजबूर नहीं किया जा सकता था। वह अपने काम से अधिक वेतन की माँग नहीं कर सकता था।

काम के सम्बन्ध में आपसी समझौता हो जाने पर मालिक न तो उस कर्मकर को काम करने से मना कर सकता था और न कर्मकर ही काम छोड़ कर जा सकता था।

(भर्त्ता वा करयितुंनान्यस्त्वया कारयितव्यो मय वानान्यस्य कर्त्तव्यमितित्यवरोधे भर्त्तुरकारयतो भृतृंकस्याकवेतो वा द्वादशपणो दण्डः) मालिक एवं कर्मकर जो भी इस समझौते का उल्लंघन करता था उसे १२ पण दण्ड मिलता था। हाँ, पहले मालिक का काम पूरा करके कर्मकर दूसरे मालिक से वेतन लेकर उसका काम कर सकता था।

इस सम्बन्ध में कुछ आचार्य इतने दयालु थे कि काम न करवाने पर भी यदि मालिक ने कर्मकर को काम पर बुला लिया है तो वह वेतन पाने का अधिकारी हो जाता है। परन्तु कौटल्य ने व्यवस्था दी है कि 'वेतन काम का है, उपस्थित होने का नहीं। काम करने पर ही वेतन मिल सकता है।'

(उपस्थितमकारयतः कृतमेव विद्यादित्याचार्याः नेति कौटल्यः। कृतस्य वेतनमस्ति नाकृतस्यास्ति)

हाँ, थोड़ा काम करवा कर यदि वह बीच में रोक दे तो वेतन पूरा देना पड़ता था। जो कर्मकर ठीक समय पर एवं स्थान पर तथा जैसा करना चाहिए था वैसा काम नहीं करता था, उसे वेतन नहीं दिया जाता था। मालिक के कहने से अधिक काम करने वाला अधिक वेतन पाने का अधिकारी नहीं माना जाता था। जो नियम व्यक्तिगत मालिकों के लिए थे, वे ही संघीय अथवा कम्पनियों के मालिकों के लिए भी थे।

(तेन संघभृता व्याख्याताः)

आमतौर पर कर्मकरों का सात दिन का वेतन रोक कर रखा जाता था।

(तेषामाधिः सप्तरात्रमासीत्)

जो कर्मकर सामुदायिक कम्पनियों में काम करते थे तथा जितना वेतन काम के आधार पर सामूहिक रूप से ठेके पर तय होता था, वे अपनी आमदनी को काम के अनुसार आपस में बाँट लेते थे।

(संघभृता भूयसमुत्यातारो वा यथासंभाषितं वेतनं समं वा विभजेरन्)

सारांश

कौटल्य की अर्थव्यवस्था के सम्बन्ध में इस विस्तृत विवेचना का विशेष महत्त्व है।

पुस्तक के पहले भाग में भारत की विखरी हुई राजनीतिक स्थिति का उल्लेख किया गया है। परन्तु राजनीतिक एकता के रूप में पुनर्गठित भारत जब तक आर्थिक दृष्टि से साधन-सम्पन्न एवं समृद्ध नहीं होता तब तक राजनीतिक केन्द्र की स्थापना अर्थहीन है। यही सोच कर कौटल्य ने राजनीतिक सत्ता-केन्द्र को अति समृद्ध करने के उपायों पर विस्तार से विचार किया है।

आधुनिक युग में राज्य सत्ता के आर्थिक साधनों का विस्तार मुख्यतः आयकर एवं आयात-निर्यात प्रणाली के स्वीकृत शुल्क होते हैं। परन्तु यह व्यवस्था विकसित पूँजीवादी आर्थिक प्रणाली में ही संभव है। कौटल्य कालीन भारत में वाणिज्य एवं व्यवसाय अति प्रारंभिक अवस्था में थे। उनका निर्णायक आर्थिक महत्त्व नहीं था। दूर देशान्तरों से सीमित जलमार्गों तथा स्थल मार्गों से अति सीमित मात्रा में जो पण्य विक्रय के लिए आते और जाते थे, उनके संरक्षण पर ही राज्य का इतना प्रशासनिक व्यय हो जाता था कि उनसे होने वाली आय नगण्य ही रह जाती थी। केन्द्रीय सत्ता की स्थापना से पहले समुद्री डाकुओं, स्थल डाकुओं और चोरों के इतने शक्तिशाली गिरोह कार्यरत रहते थे कि छोटे-छोटे राज्यों के लिए उन पर नियंत्रण पा सकना संभव ही नहीं था। इसके अलावा प्रत्येक देश में वर्तनी देय देना पड़ता था। यह एक प्रकार की सुरक्षा चुंगी धनराशि थी। इसे देने के बाद सार्थवाह (कारवां) जनों के पास लाभांश इतना कम रह जाता था कि देश देशान्तरों से सार्थवाहों का आना-जाना प्रायः अवरुद्ध सा हो गया था। परन्तु मौर्य साम्राज्य की स्थापना के उपरान्त कौटल्य ने अटवीपाल अन्तपाल, स्थल व्यापार रक्षक, दुर्गरक्षक और जलयान रक्षक आदि के रूप में देश की व्यापारिक एवं जनसुरक्षा व्यवस्था को करीब ५ भागों में विभक्त करके न केवल अराजकता पर रोक लगायी प्रत्युत व्यापारिक एवं वाणिज्यिक व्यवस्था का नये सिरे से पुनर्गठन भी कर दिया।

यही कारण है कि एक ओर तो यवन देश, पारसीक और अर्बद देशों की ओर से भारत की ओर व्यापारिक काफिलों (सार्थवाहों) की अटूट पंक्तियाँ भारत में भ्रमण करती फिरती थीं और दूसरी ओर दक्षिणी दिशाओं में समुद्री मार्गों से बाह्य देश, श्रीलंका, जावा, सुमात्रा और वियतनाम में तथा अन्य सुदूर देशों में भारत के समुद्र-यान घूमा करते थे।

कौटल्य ने विस्तारपूर्वक लिखा है कि किस देश में कौन सा मूल्यवान पण्य अधिक मात्रा में मिलता है और उसकी खपत कहाँ होती है।

परन्तु इस व्यापारिक व्यवस्था और सुरक्षा से भी केन्द्रीय सत्ता के भारी व्ययों का प्रबन्ध होना संभव नहीं था। अतः कौटल्य ने केन्द्रीय सत्ता के दो समान महत्त्व के दायित्वों की व्यवस्था की। पहला दायित्व व्यापारियों, वणिजों तथा यातायात मार्गों को पूर्ण सुरक्षा प्रदान करना था ताकि भारत जैसा विशाल देश अपनी भयातुर अव्यवस्थाओं से मुक्त होकर आर्थिक व सामाजिक विकास के कार्यों में अपनी शक्तियों तथा साधनों का सदुपयोग कर सके।

परन्तु इतना ही पर्याप्त नहीं था। कौटल्य ने मौर्य साम्राज्य को सबसे बड़ा पशुपाल,

सबसे बड़ा किसान, सबसे बड़ा व्यावसायिक उत्पादक, उद्योगपति और सवसे बड़ा किसान भी बनाया है।

पशुपालन मौर्य साम्राज्य की स्थापना से पहले भी था। परन्तु वह केवल कौटुम्बिक व्यवस्था का था और किसी कबीला विशेष के आर्थिक जीवन मात्र को प्रभावित करता था। फिर रात दिन यज्ञों में होने वाली पशु हिंसा का पशुपालन पर बड़ा विपरीत प्रभाव भी पड़ता था। उपनिषदकारों गौतमबुद्ध, अन्य दार्शनिकों तथा चार्वाक ने जहाँ पशु हिंसा को अनैतिक सिद्ध किया वहीं कौटल्य ने उसे विधान के विरुद्ध भी बनाया। अर्थशास्त्र में उन्होंने विभिन्न पशुओं की हिंसा करने पर विभिन्न दण्डों, मृत्यु दण्ड तक की व्यवस्था की है। कुछ पशुओं जैसे– गाय, घोड़ा, हाथी, बैल और नील गाय आदि को पूर्णतया अवध्य घोषित कर दिया है।

परन्तु इतना करना अपर्याप्त था। कौटल्य ने बताया है कि कई-कई सौ किलोमीटर लम्बे चौड़े चारागाहों की स्थापना करके विविताध्यक्ष की देखरेख में राज्य को एक-एक फार्म में हजारों पशुओं का पालन करना और उनसे आय का स्रोत प्राप्त करना चाहिए।

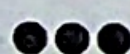
यही स्थिति कृषि की है। कौटल्य यह मानने को तैयार नहीं हैं कि जहाँ लाखों किलोमीटर तक घने जंगल खड़े हैं, हिंसक पशुओं की बहुतायत है और जंगलों को काटना, जुताई-बुवाई करना या बीज का प्रबन्ध करना कुछ व्यक्तियों तथा व्यक्ति समूहों के लिए सर्वथा असंभव है, वहाँ खेती की लाभदायक व्यवस्था का सूत्रपात किया जा सकता है।

इसीलिए, कौटल्य ने मौर्य साम्राज्य की स्थापना केवल शासन चलाने के लिए नहीं प्रत्युत पशुपालन के साथ-साथ खेती करने और उसका विकास करने के लिए भी की थी। इस अध्याय में विस्तार के साथ यह बताया गया है।

जो नियम पशुपालन और खेती पर लागू होते हैं, वे ही नियम अन्य औद्योगिक एवं व्यावसायिक उत्पादन केन्द्रों तथा व्यापार पर भी लागू होते हैं।

सर्वसाधारण पाठकों का यह भ्रम दूर हो जाना चाहिए कि कौटल्य द्वारा स्थापित राजसत्ता का उद्देश्य केवल भारत का एकीकरण था। न ही कौटल्य यह जानते थे कि जब तक राजकीय क्षेत्र में विभिन्न आर्थिक शाखाओं का विकास नहीं होगा और जब तक केन्द्र राज्यसत्ता के साथ-साथ आर्थिक सत्ता का भी निर्णायककर्ता एवं ध्रुव बिन्दु नहीं होगा, तब तक न तो भारत का आर्थिक विकास हो सकता है और न केन्द्रीय राजसत्ता अजेय रह सकती है।

इस अध्याय का अध्ययन केवल इसी दृष्टि से किया जाना चाहिए।



अध्याय-सात

समाज का ऊपरी ढाँचा

वर्णाश्रम व्यवस्था और श्रम का विभाजन

कौटल्य दृढ़ता के साथ वर्णाश्रम व्यवस्था की पैरवी करते हैं और वेदशास्त्र को आधार मानकर वे समाज के लिए यह धर्म निश्चित करते हैं कि वह कठोरता के साथ इस सामाजिक ढाँचे की रक्षा करे। यद्यपि इस प्रसंग में कौटल्य ने सर्वत्र धर्म शब्द का ही प्रयोग किया है और उसके लिए त्रयी-वेदशास्त्र की प्रामाणिकता का ही आधार बनाया है, परन्तु फिर भी जिस विस्तार के साथ उन्होंने वर्णों तथा आश्रमों के कार्यों का निरूपण किया है, उसमें धर्म शब्द सामाजिक कर्तव्य का पर्यायवाची बनकर रह जाता है और इसी से यह भी प्रकट होता है कि वे परम्परावादी या रूढ़िवादी नहीं थे। कौटल्य ऐसे समाज की कल्पना मात्र से चौक जाते हैं जिसमें समाज के विभिन्न व्यक्ति और समुदाय अपने सम्पूर्ण जीवन की योजना न बनाये और वे समाज के लिए हित का कार्य न करें। कौटल्य की वर्णव्यवस्था काम के बँटवारे के अलावा कुछ नहीं थी और आश्रम व्यवस्था में व्यक्ति अपने व्यक्तिगत जीवन का सुनियोजित ढंग से संचालन करने का प्रयत्न करता था।

कौटल्य कालीन भारत में वर्णव्यवस्था के रूप में सामाजिक श्रम एवं उत्तरदायित्वों का बँटवारा इतना सर्वमान्य था कि इनकी उपादेयता के सम्बन्ध में किसी को शंका नहीं थी और सभी लोग यह मानते थे कि जिस समाज में वर्ण-व्यवस्था नहीं रहेगी वह अराजकता की ओर अग्रसर होकर अपने भयानक पतन में जा गिरेगा। कौटल्य ने समाज में परम्परागत रूप से आ रहे इस सामाजिक संगठन को केवल मान्यता ही नहीं दी बल्कि राज्य शक्ति के नियंत्रण में लाकर इसे राजतंत्र की दृढ़ शक्ति का सामाजिक आधार भी प्रदान किया। वर्ण-व्यवस्था भारतीय सामन्तवाद का एक विशेष एवं उत्कृष्ट कोटि का सामाजिक शोषण रहा है जिसके रहते हुए सामन्तवाद अपने आपको अजेय समझता था।

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चार वर्णव्यवस्था के मुख्य अंग थे और यह प्रयत्न किया जाता था कि पूरे समाज को बन्धनों में जकड़ कर इन्हीं वर्णों में कायम रखा जाय। संभव है कि एक लम्बे समय तक समाज पर राजतंत्र का यह बन्धन प्रभावशाली भी रहा हो। परन्तु कौटल्य कालीन भारत में ये बन्धन पूरी तरह टूट चुके थे और उनका केवल आडम्बरपूर्ण बाहरी ढाँचा भर रह गया था। सैकड़ों-हजारों प्रकार की वर्णसंकर जातियाँ समाज में सिर उठा रही थीं और प्रतिदिन बढ़ती जा रही थीं जिन्हें वर्ण-व्यवस्था के संकुचित ढाँचे में बन्दी बनाकर रख सकना न केवल कठिन था बल्कि असंभव हो रहा था। कुछ सदियों तक तो इन वर्णसंकर जातियों को मुख्य जातियों की अवान्तर जातियाँ कहकर पुकारा गया और इस प्रकार वर्णव्यवस्था का संकुचित ढाँचा कायम रखने का प्रयत्न किया गया।

बाद में सभी अवान्तर जातियों को शूद्रों की श्रेणी में रखकर समन्वय करने के प्रयत्न किये गये। परन्तु कालान्तर में जब वर्णसंकर जातियों की संख्या मुख्य वर्णों की अपेक्षा कई गुना अधिक हो गयी और ब्राह्मणों तथा क्षत्रियों के रक्त से उत्पन्न वर्णसंकर जातियों को दबाकर शूद्रों की श्रेणी में रखना असम्भव हो गया तो वर्णशंकर जातियों की विस्तृत विवेचना करके उनकी विभिन्न सामाजिक तालिका तैयार की गयी और उन्हें पाँचवें वर्ण के रूप में प्रस्तुत किया गया। कौटल्य ने जिस गम्भीरता के साथ वर्णसंकर पुत्रों तथा जातियों की विवेचना की है, उससे यही प्रतीत होता है कि उस समय भारत में वर्णव्यवस्था के लिए इन वर्णसंकर जातियों ने गंभीर संकट पैदा कर दिया था और राजतंत्र एवं धर्मशास्त्र इसकी रक्षा के लिए कठोर एवं विफल संघर्ष कर रहे थे। इस प्रश्न पर इसी अध्याय में अगले पृष्ठों पर विस्तार से विवेचना की गयी है। आशा है पाठक इसे ध्यान से देखेंगे।

कौटल्य द्वारा प्रतिपादित वर्णाव्यवस्था में सबसे विचारणीय विषय शूद्रों के लिए जीविका के विशाल साधनों का प्राविधान है। परम्परावादी शास्त्रकारों की भाँति कौटल्य ने शूद्रों का धर्म केवल द्विजों की सेवा करना और उसके पुरस्कारस्वरूप जीविका का साधन प्राप्त करना ही नहीं है बल्कि कृषि, पशुपालन और वाणिज्य को, जो उस समय के मुख्य जीविका साधन थे, शूद्रों के लिए मुक्त रखा है इसके अलावा दस्तकारी, मनोरंजन और आधुनिक भाषा में सांस्कृतिक कार्यों पर उनका एकछत्र अधिकार समझा जाता था।

शूद्रस्य द्विजातिशुश्रुषा वार्ता कारुकुशीव कर्म च। (अधि. १, अध्याय २)

इस सम्बन्ध में एक आपत्ति यह की जा सकती है कि शूद्रों को कौटल्य ने पशुपालन, वाणिज्य तथा खेती करने का वैसा ही अधिकार नहीं दिया है जैसा वैश्यों तथा दूसरे सवर्णों को दिया है। उन्हें सीमित अधिकार दिये हैं तथा ब्राह्मणों एवं क्षत्रियों को विशेषाधिकार भी दिये हैं, जब कि शूद्रों को दिये गये अधिकार सीमित थे। परन्तु ये काल्पनिक सीमाएँ, जो आगे चलकर पाबन्दियों में बदल गयीं, अर्थशास्त्र में देखने को नहीं मिलतीं। विपरीत इसके, जैसे-जैसे शस्त्रधारी जातियों के हाथों में शक्ति संचय होता गया वैसे-वैसे पैदावार के सभी साधन उनके हाथों में सिमटते चले गये। क्षत्रियों के लिए जीविका का मुख्य साधन शास्त्र धारण करना बताया गया था और सभी पुराने शास्त्रकारों की ऐसी ही मान्यताएँ थीं, एवं कृषि करना वैश्यों का मुख्य धन्धा बताया गया था। परन्तु बाद में पूरी कृषि योग्य भूमि क्षत्रियों के अधिकार में चली गयी तथा शूद्रों के हाथों में जो कुछ था वह भी छिनता चला गया। परन्तु कौटल्य काल तक शूद्र, इतने साधनहीन नहीं थे जैसा कि कालान्तर में सामन्तवाद का विकास एवं शक्तिसंचय होते-होते देखने को मिलता है। कौटल्य ने शूद्रों का उल्लेख केवल सेवक के रूप में नहीं किया है, बल्कि उन्हें मुख्य श्रमजीवी वर्ग समझा है जिनका पैदावार तथा उसके साधनों से घनिष्ठ सम्बन्ध था।

वर्णव्यवस्था के रूप में सामाजिक जीवन को चार भागों में विभक्त करके कौटल्य कालीन भारत आश्रम व्यवस्था के रूप में व्यक्तिगत जीवन को भी चार भागों में विभक्त करके उसे व्यवस्थित और नियमित करने का प्रयत्न करता था। ब्रह्मचर्याश्रम, गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थाश्रम और सन्यासाश्रम ये चार आश्रम थे। कौटल्य ने विस्तार के साथ इन आश्रमों

के धर्मों अर्थात् कर्त्तव्यों का निरूपण किया है।

यद्यपि यह सही है कि वर्णों तथा आश्रमों की परम्परागत व्यवस्था को कौटल्य ने स्वीकार करके अपने अर्थशास्त्र में उनकी पैरवी की है परन्तु कौटल्य ने इन आदर्शों को किसी अन्धविश्वास के रूप में स्वीकार नहीं किया है, जैसा कि पहले बताया जा चुका है। कौटल्य की धारणा थी कि एक बार वर्णों तथा आश्रमों के धर्मों के उलट-पुलट हो जाने पर समाज में ऐसी अराजकता फैल सकती है जिसमें उसका सर्वनाश हो सकता है।

(तस्यातिक्रमे लोकः संकरादच्छिद्येत) (पूर्वोवत)

इसीलिए, कौटल्य ने समाज के नियामक राजा का आस्वान करते हुए कहा है कि –

जिस राज्य में सामाजिक मर्यादाओं की रक्षा होती है, जहाँ वर्णों तथा आश्रमों के धर्मों का उल्लंघन नहीं होता, और इस प्रकार, वेदधर्म का पालन होता है, वह समाज सुखी रहता है और कभी नष्ट नहीं होता।

व्यवस्थितार्यमर्यादः कृतवर्णाश्रमस्थितिः।
त्रयया हि रक्षितो लोकः प्रसीदति न सीदति।।

पूरे समाज तथा व्यक्तियों पर विभिन्न नियंत्रणों की पैरवी करने वाले कौटल्य ने राजतंत्र को भी मनमानियों तथा स्वेच्छाचारिता से दूर रखने का भगीरथ प्रयत्न किया है। इसकी विवेचना आगे की गयी है। राजतंत्र की निरंकुशता का निवारण करके उसे नियंत्रित एवं परिपक्व करना ही कौटल्य की नीति एवं राजनीति थी। यह भेद ही कौटल्य को दूसरे आचार्यों से पृथक् करता है।

कौटल्य राजा को समाज की मुख्य नियामक शक्ति के रूप में देखते और मानते हैं और उसे ही सबकी प्रेरणा, सुरक्षा एवं जीविका का स्रोत कहते हैं। अर्थशास्त्र ऐसे सभी समाजों को हीन, निकृष्ट एवं अराजकतापूर्ण मानता है जिसमें राजा सबसे ऊँचे आसन पर विराजमान न हो। वे ऐसे समाज की कल्पना तक नहीं करते जिसमें राजा न हो और फिर भी समाज के सारे काम व्यवस्थित ढंग से चलते हों। परन्तु इस सैद्धान्तिक धारणा के बावजूद वे राजा को सर्वेसर्वा तथा निरंकुश तानाशाह के रूप में मानने से इन्कार करते हैं। वे राजा पर भी नियंत्रण रखना चाहते हैं। परन्तु राजा का नियंत्रण कौन करे! जो सर्वशक्तिमान है। कौटल्य इस प्रश्न पर मौन नहीं हैं। अग्रिम पृष्ठों में इसकी भी विवेचना की गयी है।

कौटल्य अपने ग्रंथ में जब स्थान-स्थान पर वर्णाश्रम धर्मों का उल्लेख करते हैं तो उनका आशय केवल उपदेश देना भर नहीं है, बल्कि ठोस व्यावहारिक प्रश्नों की ओर समाज का ध्यान खींचना है। इनका उल्लेख करते समय वे प्रत्येक वर्ण तथा आश्रम के जीविका-साधनों एवं उपायों की विवेचना सबसे पहले करते हैं। वास्तव में देखा जाय तो कौटल्य का अर्थशास्त्र पूरा धार्मिक एवं सामाजिक शास्त्र रहते हुए भी इसी आर्थिक दृष्टिकोण के कारण अर्थशास्त्र है।

न्यायपालिका - व्यक्तियों के कानूनी अधिकार तथा साम्पत्तिक सम्बन्ध और बँटवारे के सिद्धान्त

समाज में साधारण साम्पत्तिक विवादों एवं साहस (फौजदारी) सम्बन्धी विवादों का निर्णय स्थानीय स्तर पर हो जाता था। परन्तु यह पद्धति परम्परागत ढंग से चली आ रही थी जिसे कौटल्य ने सम्पूर्ण रूप में मान्यता दी थी और उसका निराकरण नहीं किया था। फिर भी, विवादों के निबटारे के लिए पहले की अपेक्षा कौटल्य कालीन भारत में एक परिष्कृत व्यवस्था की स्थापना हो चुकी थी। न्यायाधिकरण कायम किये जाते थे और उसमें बैठकर विवादों का निर्णय करने वाले अधिकारी धर्मस्थ होते थे। धर्मस्थ नाम न्यायाधीश का भी था और न्यायाधिकरण का भी। राज्य की ओर से चार प्रकार के धर्मस्थ या न्यायाधिकरणों की स्थापना की जाती थी। ये न्यायाधिकरण दो जनपदों के सन्धि-स्थानों, दस ग्रामों के केन्द्रभूत संग्रहों, चार सौ गाँवों के केन्द्र भूत द्रोणमुखों और आठ सौ गाँवों के केन्द्रभूत स्थानियों पर स्थापित किये जाते थे। इन अधिकरणों के सदस्यों की योग्यता अमात्यों के समान होती थी जिनकी देखरेख में सामाजिक एवं कानूनी व्यवहार, इकरारनामें आदि किये जाते थे एवं छिपकर कपटपूर्वक तथा एकान्त में किये गये व्यवहार तथा इकरारनामें प्रामाणिक नहीं माने जाते थे।

धर्मस्था स्त्रयोअमात्या जनपदसन्धिसंग्रहण द्रोणमुख स्थानीयेषु व्यावहारिकानर्थान् कुर्यु। तिरोहितान्तर गारनक्तारण्योंपध्युपहर कृतोश्च व्यवहरान प्रतिषेधयेयु।

न्यायाधिकरण के सदस्य भी राज्य द्वारा निर्धारित स्थानों पर बैठकर जो निर्णय करते थे वे ही मान्य समझे जाते थे। अन्यत्र बैठकर किये गये उनके निर्णयों को राजकीय मान्यता प्राप्त नहीं होती थी। न्यायाधिकरण की उपेक्षा करके व्यवहार तथा इकरारनामों के करने पर कठोर आर्थिक दण्ड देने की प्रथा प्रचलित थी। इसका अर्थ हुआ कि न्यायाधिकरण या अदालतें समाज के व्यावहारिक जीवन में महत्त्वपूर्ण स्थान ग्रहण कर चुकी थीं।

निम्नलिखित व्यक्तियों के व्यवहार न्यायाधिकरण के सम्मुख भी तब तक मान्य नहीं ठहराये जा सकते थे जब तक राजा की विशेष स्वीकृति न ले ली गयी हो - निराश्रित व्यक्ति, जिसका पिता जीवित हो, जिसका पुत्र जीवित हो, दास, नाबालिग (अप्राप्त व्यवहार) बहुत वृद्ध, समाज में निन्दित, सन्यासी, लूला लँगड़ा और कठोर रोग से पीड़ित व्यक्ति। इसका अर्थ यह हुआ कि न्यायाधिकरण के कार्य राज्य की प्रत्यक्ष देखरेख में चलते थे और न्यायाधिकरण के फैसलों के विरोध में अन्तिम अपील स्वयं राजा से की जा सकती थी।

क्रोधी, दुखी, उन्मत्त (उन्माद रोग से पीड़ित तथा जनूनी) (अपगृहीत) व्यक्तियों के व्यवहार भी मान्य नहीं थे। ऐसा व्यवहार करने और करवाने वालों तथा साक्षियों को पृथक्-पृथक् दण्ड दिया जाता था।

यह परिपाटी चली आ रही थी कि लोग व्यवहार करते समय अपने वर्ग, जाति, देश और काल आदि की परीक्षा करके व्यवहार करते थे और कोई भी व्यवहार (लेन-देन) तभी मान्य ठहराया जा सकता था जब उसका विस्तृत विवरण कागज पर अंकित कर दिया गया

हो। इन सब कठिन पाबन्दियों के रहते हुए भी लोगों के व्यवहार सरलता के साथ अस्वीकार कर समाज में अव्यवस्था एवं असन्तोष नहीं फैलने दिया जाता था।

न्यायाधिकरण में किस प्रकार के विवाद लाये जा सकते थे, उनका संक्षिप्त उल्लेख पहले किया जा चुका है। परन्तु न्यायाधिकरण में अपना पक्ष किस प्रकार प्रस्तुत किया जाये, वे प्रतिवादी किस प्रकार अपने ऊपर लगाये गये अभियोगों का प्रतिकार करें, इसके लिए भी समाज में विस्तृत नियम प्रचलित थे। अभियोक्ता का अस्पष्ट अभियोग न्यायाधिकरण में नहीं चल सकता था। इसके लिए उसे अभियुक्त के देश, जाति, ग्राम, गोत्र, नाम और व्यवसाय आदि का स्पष्ट उल्लेख करना पड़ता था और यह भी कि जब ऋण आदि लिया गया था, कौन-सा महीना एवं ऋतु थी और पक्ष, दिन स्थान तथा साक्षी आदि कौन थे। पहले अभियोग में ही ये सब विवरण देने पड़ते थे। विशेष परिस्थितियों में ही अभियोग पत्रों में संशोधन करने की सुविधा अभियोक्ता को मिलती थी। इस विस्तृत विवरण से न्यायाधिकरण को विवाद का वास्तविक रूप समझने में सुविधा होती थी।

न्यायाधिकरण निम्नलिखित परिस्थितियों से अभियोक्ता या अभियुक्त के निर्बल पक्ष का आभास पा लेते थे –

जो व्यक्ति अप्रासंगिक बातें करता हो, जिसकी पहली बात का दूसरी बात से समर्थन नही होता हो, जो पूर्वापर सम्बन्ध विहीन अनर्गल बातें करता हो, जो विरोधी की किसी गलत बात को ही पकड़ कर बैठ जाना चाहता हो, सूचना देने की प्रतिज्ञा करके बार-बार पूछे जाने पर भी सूचना नहीं देता हो, बहकाने के लिए किसी साधारण स्थान का नाम ले लेता हो या बताता ही न हो, असली स्थान के बदले किसी अन्य स्थान का नाम ले लेता हो, स्थान का नाम ठीक बताकर व्यवहार का निषेध कर देता हो, जिसे साक्षियों का बोलना अच्छा नहीं लगता हो और जो साक्षियों से ऐसे स्थान एवं समय पर बात करता हो जिससे सन्देह उत्पन्न हो आदि।

स्वे स्वे तु वर्गे देशे काले च स्वकरण्कृताः सपूर्णनरा शुद्धदेशा दृष्टरूपलक्षण प्रमाण गुणाः। सर्वव्यवहाराः सिद्धध्येयुः।

(निबद्ध पादमुत्सृज्यान्यं पादं संक्रामति। पूर्वोक्तं पश्चिमेनार्थन नाभिसंघते। परवाक्य मनभिग्राह्यवतिष्ठते। प्रतिरूप देशं निर्दिशेत्युक्ते न निर्दिशति। हीन-देशमदेशं वा निर्दिशति। निर्दिष्टोद्देशादन्यं देशमुपस्थापयति। उपस्थिते देशे अर्थवचनं नैव मित्यपव्यथते। साक्षिभिरवधृतं नेच्छति। असंभाष्ये देशे साविभिर्मिथः संभाषते। इति परोक्तहेतवः) (अधि. ३, अध्याय।)

विवाद का निर्णय करते समय धर्मस्थ के सदस्य इस बात का ध्यान रखते थे कि अभियुक्त तथा अभियोक्ता का काम चाल-चलन कैसा है? यदि वह विवादों के सम्बन्ध में स्वयं सत्य का प्रतिपादन करता रहता था तो देय धन का केवल दसवाँ भाग दण्ड भरता था और अन्त तक दुराग्रह करते रहने पर पाँचवाँ भाग।

विजयी अभियुक्त को पराजित अभियोक्ता पर उल्टा अभियोग चलाने का अधिकार

नहीं था। परन्तु कलह (फौजदारी) साहस (डाका) एवं मारधाड़ आदि, एवं सार्थ (कारवाँ) और समवाय (कम्पनियों अथवा व्यापार संघों) के विवादों में विजयी अभियुक्त पराजित अभियोक्ता पर उल्टा दावा कर सकते थे। अभियुक्त पर भी एक ही विवाद को लेकर बार-बार अभियोग नहीं चलाये जा सकते थे।

(अभियुक्तो न प्रत्यभियुअजीत। अन्यत्र कलहसाहससार्थसमवायेभ्यः। न चाभियुक्ते अभियोगीक्ति)

सार्थवाहों (कारवाँ) और समवायों (कम्पनियों) का अस्तित्व आर्थिक क्षेत्र में इतनी प्रमुखता लेता जा रहा था कि उनके लिए राज्य को पृथक से नियम बनाने की आवश्यकता अनुभव हो रही थी।

ये न्यायाधिकरण आमतौर पर अभियोक्ता की अपेक्षा अभियुक्त को अधिक सुविधा एवं प्राथमिकता देते थे। किसी विशेष जानकारी की माँग करने पर यदि वह समय पर उत्तर नहीं दे पाता था तो पराजित समझ लिया जाता था, इसलिए कि अभियोक्ता आगे पीछे की सब बातों पर सोच-विचार करने के बाद ही धर्मस्थ के पास आता था। इसलिए समय देने की विशेष माँग करने पर ही सूचना के लिए तीन से सात रात दिन तक समय दिया जाता था। न्यायाधिकरण की कार्यवाहियाँ आमतौर पर रात के समय होती थीं। इसीलिए कौटल्य ने समय देने की माँग का समर्थन करते हुए तीन से सात दिन की बात नहीं कहीं बल्कि तीन या सात रात की बात कही है। इसके बाद भी उत्तर न देने पर यह मान लिया जाता था कि अभियुक्त को केवल तंग करने के लिए ही अभियोक्ता ने उस पर अभियोग लगाया है।

(अभियोक्ता चेत्युत्युक्त सादहो व न प्रतिबूयात् परोक्तः स्यात्। कृतकार्यविनिश्चयो ह्यभियोक्ता नाभियुक्तः। तप्याप्रति हुवतस्त्रिरात्रं सप्त रात्रमिति)

इस प्रकार यदि अभियोक्ता विजयी भी होता था तो अपने अभियोग के भुगतान स्वरूप अभियुक्त का सर्वस्व नहीं ले सकता था जिससे उसके जीवन निर्वाह का सहारा ही छिन जाय।

देश में मुकदमेबाजी को प्रोत्साहन देने की प्रथा नहीं थी। अभियोक्ता के लिए इतनी कठोर पाबन्दियाँ थीं कि वह मनचाहे ढंग से न्यायाधिकरण के द्वार नहीं खटखटा सकता था। उदाहरण के लिए – अभियुक्त के मर जाने या आपद्ग्रस्त हो जाने अथवा अन्य अनिवार्य कारणों से अनुपस्थित होने पर भी अभियोक्ता को अपने अभियोग के समर्थन के लिए पूरे प्रमाण प्रस्तुत करने पड़ते थे और न्यायाधिकरण को यह अधिकार था कि वह अभियुक्त के पक्ष समर्थक की भाँति कार्य कर सके। पराजित अभियोक्ता से दण्ड का संग्रह करके न्यायाधिकरण अभियुक्त को दे सकता था अथवा अभियोक्ता को ब्राह्मणों के यज्ञ आदि कार्यों में विघ्न डालने वाले तत्वों के निराकरण में लगाया जा सकता था। केवल अभियोक्ता ब्राह्मणों को यह दण्ड नहीं दिया जा सकता था और प्राणसंकट कार्यों में नहीं लगाया जा सकता था।

(प्रतप्य व्यसनिनों वा साक्षीवचनमसारमभियोक्तारं दण्डयित्वा कर्म कारयेत्। अधिवासकर्म प्रवेशयेत्। रक्षोघ्नरक्षितं वा कर्मणा प्रतिपादयेत्। अन्यत्र ब्राह्मण दिति)

प्रत्येक न्यायाधिकरण की अन्तिम अपील राजा के यहाँ होती थी और राजा की आज्ञा अन्तिम शासनादेश समझी जाती थी।

तत्र सत्ये स्थितो धर्मों व्यवहारस्तु साक्षिषु।
चरित्रं संग्रहे पुसां राजाज्ञा तु शासनम्।।

कानून बहुत उलझे हुए नहीं थे। और न्यायाधिकरण आमतौर पर जटिलताओं में न फँसकर प्राकृतिक न्याय की भावना से प्रेरित होकर कार्य करते थे। यह समझा जाता था कि जिस बात में चरित्र तथा लोकाचार का धर्मशास्त्र से विरोध हो, वहाँ लोकाचार के मुकाबिले धर्मशास्त्र को ही प्रमाण माना जाता था। परन्तु यदि कहीं धर्मशास्त्र एवं राजाज्ञा में विरोध होता था। तो न्यायाधिकरण राजाज्ञा का अनुसरण करते थे।

संस्थया धर्मशास्त्रेण शास्त्रं वा व्यावहारिकम्।
यस्मिन्नर्थ विरुध्येत धर्मेणार्थ विनिर्णयेत।
शास्त्रं विप्रतिपद्येत् धर्मन्यापेन के चित्।
न्यायस्तत्र प्रमाणं स्यात् तत्र पाठो हिन्श्यति।।

निम्नलिखित पाँच बातों पर न्यायाधिकरण विवाद का निर्णय करते समय विशेष ध्यान रखते थे –

१. जिसका अपराध पहले भी देखा जा चुका हो।
२. जिसने स्वयं अपना अपराध स्वीकार कर लिया हो।
३. जो प्रश्नों का उत्तर सरलता के साथ देता हो।
४. जो कारणों-प्रमाणों को सम्पूर्ण रूप से उपस्थित करता हो। और
५. जिसने शपथ खाई हो।

दृष्टदोषः स्वयंवादः स्वपक्षपरपक्षयोः।
अनु योगार्जवं हेतु शपथश्चार्यसाधकः।।

अभियोगों में आजकल पूरे संसार में कसम खाने की प्रथा चली हुई है। कौटल्य कालीन भारत के न्यायाधिकरणों में शपथ खाने की प्रथा ने प्रमुखता प्राप्त कर ली थी। साक्षियों की गवाही तथा गुप्तचर विभाग की जाँच रिपोर्टों को न्यायाधिकरण के कार्यों में विशेष स्थान प्राप्त हो चुका था। जब अभियुक्त एवं अभियोक्ता समान रूप से प्रमाण प्रस्तुत करते थे तो उनकी बातों पर ध्यान न देकर न्यायाधिकरण साक्षियों से जिरह करके सच्चाई का पता लगाते थे या फिर गुप्तचरों द्वारा विवादास्पद तथ्य की वास्तविकता का ज्ञान प्राप्त करते थे।

पूर्वोनारार्थ व्याधाते साक्षि वक्तव्यकारणे।
चारहस्ताच्च निष्पाते प्रदेष्टव्यः प्रदेष्टव्यः पराजय।।

(अधि. ३, अध्याय)

गवाहों की योग्यता और व्यवहार के सम्बन्ध में

न्यायाधिकरण के कार्यकलाप में साक्षियों की स्थिति बहुत महत्त्वपूर्ण हो गयी थी। समाज में मुकदमेबाजी ने सिर उठा लिया था और एक दूसरे के प्रति विरोध की भावनाओं से प्रेरित व्यक्ति भी न्यायाधिकरण की शरण लेने गये थे। उनके मिथ्या अभियोग भी नियमों के अन्तर्गत रहने के कारण न्यायाधिकरण के लिए जटिल परिस्थिति पैदा करते थे, जिससे साक्षियों की आवश्यकता कदम-कदम पर अनुभव होती थी। प्रत्येक विवाद का आमतौर पर और ऋण सम्बन्धी विवादों का विशेष रूप में निबटारा साक्षियों की गवाही के आधार पर होता था। उस समय तक यह संभव नहीं हो पाया था कि प्रत्येक विवाद का लिखित रूप प्रस्तुत किया जा सके। परन्तु साक्षी ऐसे व्यक्ति ही रखे जाते थे जो समाज में प्रतिष्ठित स्थान रखते हों, पवित्र आचरण के हों और यथा संभव दोनों पक्षों के लिए मान्य हों। केवल एक साक्षी पर्याप्त नहीं समझा जाता था। निम्नलिखित व्यक्ति साक्षी नहीं हो सकते थे –

अभियोगी तथा अभियुक्त का साला, सहायक, आबद्ध (दूसरे पर आश्रित) ऋण लेने और देने वाला, अत्यधिक कर्ज से दबा हुआ, शत्रु, अंगहीन तथा राज्य की ओर से दण्डित।

निम्नलिखित व्यक्ति अपने ही जैसे के साक्षी हो सकते थे, सर्वसाधारण के नहीं- राजा, वेदपाठी ब्राह्मण, गाँव का मुखिया, कोढ़ी पतित, चाण्डाल, नीच कर्म करने वाला, अन्धा, बहरा, गूँगा, अहंकारी, स्त्री और राजकर्मचारी। परन्तु शारीरिक दण्ड, चोरी और व्यभिचार के मामलों के अलावा, शत्रु, साला, और सहायक को छोड़कर शेष लोग साक्षी हो सकते थे। छिपे हुए गुप्त मामलों के अभियोगों में स्त्री, राजा और तपस्वी छोड़कर बाकी लोग अकेले-अकेले भी गवाह हो सकते थे, यदि उन्होंने स्वयं अपराध देखा या सुना हो।

मालिक नौकरों के, आचार्य शिष्यों के, माता-पिता अपने पुत्रों के और इसी प्रकार नौकर मालिक के, शिष्य आचार्य के तथा पुत्र अपने माता-पिता के गवाह नहीं हो सकते थे।

साक्षी यदि ब्राह्मण होता था तो उसके हाथ में जलपूर्ण घड़ा देकर अथवा अग्नि के पास उसे खड़ा करके शपथ दिलाई जाती थी - जो कुछ कहूँगा सच-सच कहूँगा।

(तत्र ब्राह्मणं बूयात्-सत्यं ब्रूहीति)

साक्षी यदि क्षत्रिय एवं वैश्य होते थे तो उनसे शपथ में कहलाया जाता था कि – 'मैं सत्य न कहूँ तो मेरे समस्त यज्ञों तथा सभी पुण्य कार्यों का फल नष्ट हो जाय, शत्रु सेना मुझे पराजित कर दे और मैं भिक्षा पात्र लेकर भीख माँगता फिरूँ।'

(राजन्यं वैश्यं वा मातवेष्टा पूर्त्त फल कपालहस्तः शत्रुबलं भिक्षार्थी गच्छेरिति)

शूद्र साक्षी से शपथ दिलाई जाती थी कि –

'असत्य कहने पर मेरे जन्म-'जन्मान्तरों के सुकर्मों का फल राजा को मिले और उसके बुरे कर्मों का फल मैं भोगूँ। झूठ बोलने पर मुझे दण्ड भी मिले और जेल भी भेजा जाय। बाद में सारी बातें तो मालूम हो ही जाएँगी और फिर भी मैं सच न कहूँ तो पूरा

दण्ड दिया जाये।'

गवाहों में मतभेद होने पर न्यायाधिकरण जिसे न्यायसंगत, सत्यवादी एवं पवित्र आचरण का समझता था उसी की गवाही पर फैसला दे देता था। गवाहों के अल्पमत एवं बहुमत को भी ध्यान में रखा जाता था।

अभियोक्ता यदि मूर्ख हो और उसकी मूर्खता के कारण अभियोग में त्रुटि रह जाती थी तो न्यायाधिकरण साक्षियों के मत के आधार पर भी विवाद का निर्णय कर सकता था।

(बालिश्यादभियोक्तुर्वा दुःश्रृतं दुर्लिखितं प्रेताभिनिवेशं वा समीक्ष्य साक्षि प्रत्ययमेव स्यात्)

मिथ्यावादी साक्षियों को उनके अपराध के अनुसार कड़े से कड़ा आर्थिक दण्ड दिया जाता था। शुक्राचार्य के अनुयायियों का यही मत था। मनु के अनुयायियों का भी यही मत था और आचार्य वृहस्पति के अनुयायी कूट साक्षियों को तड़पा-तड़पा कर मारने की पैरवी करते थे। परन्तु आचार्य कौटल्य इस प्रकार के कठिन दण्डों का विरोध करते थे। उनका तर्क था कि 'कोई भी साक्षी पूरी बात जानता हो, यह कैसे संभव हो सकता है? जितना जानते हैं न्यायाधिकरण की सहायता के लिए बताते हैं। उनकी बात सुनकर सत्य का अंश स्वीकार कर लेना चाहिए। हाँ, यदि वे जानबूझकर सत्य पर आवरण डालते हों तो दण्डनीय है।'

साक्षी आमतौर पर ऐसे व्यक्ति रखे जाते थे जो सम्बद्ध घटना के समीपस्थ हों। परन्तु न्यायाधिकरण को यह अधिकार था कि वह दूर गये साक्षियों को भी बुला सकता था और इसके लिए राज्य के आदेश का सहारा लिया जा सकता था।

देशकालाविदूरस्थात् साक्षिणः प्रतिपादयेत्।
दूरस्थानप्रसादान्वा स्वामिवाक्येन साधयेत।।

न्यायाधिकरण को अपनी ओर से समन (आदेश) निकाल कर साक्षियों को बुलाने का अधिकार नहीं था।

विशेष रूप से आर्थिक विवादों का निबटारा केवल साक्षियों की गवाही पर निर्भर करता था। इसीलिए समाज में यह प्रथा प्रचलित थी कि प्रत्येक व्यवहार साक्षियों की देखरेख में होता था और उसमें देशकाल तथा साक्षियों आदि का स्पष्ट एवं पूर्ण उल्लेख किया जाता था।

समाज में व्यक्तिगत सम्पत्ति और उसकी चेतना ने पूरी तरह पाँव पसार लिये थे और पूरे समाज के आर्थिक ढाँचे में कुटुम्बकालीन या दास प्रथाकालीन व्यवस्था के आर्थिक अवशेष केवल परिपाटी के रूप में कहीं-कहीं प्रचलित थे। ऋण लेने और देने के साथ-साथ अपनी सम्पत्ति गिरवी रखना, उसे किसी के यहाँ धरोहर के रूप में रखना या बन्धक रूप में उससे लाभ उठाना आदि समाज में इतने प्रबल वेग से प्रचलित था कि यही कार्य करने वाले लोगों का एक खासा वर्ग पैदा हो गया था, जिनकी जीविका का मुख्य साधन सूदखोरी

करना और बन्धक आदि रखना था। इसीलिए, कौटल्य ने अपने अर्थशास्त्र में विस्तार के साथ विचार किया है तथा सामाजिक नियम निर्धारित किये हैं।

व्यक्तिगत सम्पत्ति और उसके बँटवारे का सिद्धान्त

जिनके माता-पिता दोनों जीवित हों या केवल पिता जीवित हों, वे पुत्र सम्पत्ति के मालिक नहीं समझे जाते थे। पिता की मृत्यु के पश्चात् वे पैतृक सम्पत्ति का आपस में बँटवारा कर सकते थे। परन्तु यदि कोई भाई अपने ही द्वारा अर्जित धन से सम्पत्ति इकट्ठी करता था और इस कार्य में पैतृक धन का प्रयोग नहीं करता था तो अन्य भाइयों को उस सम्पत्ति का बँटवारा करके हिस्सा प्राप्त करने का अधिकार नहीं था। पिता की सम्पत्ति का आपस में बँटवारा न करके सामूहिक परिवार के रूप में रहने वाले भाई चार पीढ़ी तक भी यदि बँटवारा करना चाहते थे तो उन्हें सम्पत्ति में समान भाग मिलता था। परन्तु इसके बाद बँटवारा करने पर समानता के आधार पर नहीं प्रत्युत व्यक्तियों की संख्या के आधार पर सम्पत्ति का अंश मिलता था। पिता की सम्पत्ति न मिलने पर अथवा बँटवारे के बाद इकट्ठा काम करने वाले भाई अलग होते समय फिर से समान बँटवारे के हकदार समझे जाते थे। व्यक्तियों की योग्यता एवं कार्य-क्षमता को प्रोत्साहन देने के लिए अधिक कार्य करने वाले व्यक्ति को सम्पत्ति का थोड़ा हिस्सा अधिक दिया जाता था। पुत्रहीन व्यक्ति की सम्पत्ति उसके सगे भाई अथवा उसके साथ मिलकर कार्य करने वाले व्यक्तियों (सहजीविनः) को मिल जाती थी। पुत्रवान व्यक्तियों की सम्पत्ति उसके पुत्रों अथवा उन लड़कियों को मिल जाती थी जो पहले चार धार्मिक विवाहों से उत्पन्न हों। उनके अभाव में पिता मालिक समझा जाता था पिता के न होने पर उसके भाई एवं भतीजे मालिक थे।

एक सामाजिक प्रथा प्रचलित थी कि पिता की उपस्थिति में ही उसकी पत्नी से अनेक पुत्र दूसरे पिताओं से उत्पन्न हो सकते थे और उसका सम्पत्ति में अधिकार समझा जाता था। कौटल्य ने व्यवस्था दी है कि उनके मूल पिता को अपने जीवनकाल में ही पुत्रों में सम्पत्ति के बँटवारे की व्यवस्था कर देनी चाहिए, अन्यथा उपपिताओं से उत्पन्न सन्तानों को सम्पत्ति में भाग मिलना कठिन हो जाता था। जो पिता पुत्रों में किसी एक के प्रति पक्षपात करता था उसे बुरी दृष्टि से देखा जाता था। वह अकारण किसी पुत्र का भाग भी नहीं मार सकता था। पिता के न रहने पर बड़े भाई का यही कर्तव्य समझा जाता था कि वह छोटों को समान हिस्सा दे, उनकी देखभाल करे और यदि वे असन्मार्ग का अनुसरण करते हों, तो रोक दे।

बालिग (प्राप्त व्यवहार) होने पर ही सम्पत्ति में हिस्सा मिलता था। नाबालिग की सम्पत्ति के संरक्षक उसके मामा अथवा ग्राम-वृद्ध माने जाते थे और यही प्रथा उन लोगों के लिए भी थी जो परदेश चले जाते थे, विवाहित बड़े भाई अपने छोटे भाइयों के विवाह आदि का व्यय वहन करते थे। अविवाहित बहनों के विवाह तथा दहेज आदि का प्रबन्ध करते थे। ऋण तथा आभूषणों को भाइयों में समान मात्रा में बाँट देता था। इस सम्बन्ध में आचार्य कौटल्य ने व्यवस्था दी कि बँटवारा साक्षियों के सामने होना चाहिए, मनमाने रूप

में नहीं। एकान्त में किया गया बँटवारा छलमात्र समझा जाता था। यदि बँटवारे के बाद नयी सम्पत्ति का पता चलता था या बँटवारे में ही अन्याय हो जाता था तो पीड़ित व्यक्ति को दुबारा बँटवारा करवाने का अधिकार था।

समाज में गिरे हुए, या उनसे पैदा हुए और नपुंसकों को सम्पत्ति का भाग नहीं मिलता था। मन्द बुद्धि (जड़) उन्मत्त, अन्धे और कोढ़ियों को भी भाग नहीं मिलता था। परन्तु ऐसे अशक्त व्यक्तियों की स्त्रियों में यदि उनके बन्धु बान्धव सन्तान उत्पन्न कर देते थे तो सन्तानों को सम्पत्तियों में हिस्सा पाने का अधिकारी समझा जाता था।

तेषां च कृतदाराणां लुप्ते प्रजनने सति।
सृजेयुबन्धिवाः पुत्रां स्तेषामंशात् प्रकल्पयेत्।

(अध्याय ३, अध्याय ५)

सम्पत्ति के बँटवारे के सम्बन्ध में एक प्रथा यह भी प्रचलित थी कि यद्यपि पिता की सम्पत्ति के उत्तराधिकारी उसके सभी लड़के होते थे परन्तु फिर भी बड़े लड़के को सम्पत्ति का कुछ अधिक भाग दिया जाता था ताकि वह पिता के उन कर्त्तव्यों का पालन कर सके जिन्हें पिता जीवित होते तो कार्यान्वित करते।

इसी प्रकार ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य तथा शूद्र पत्नियों से उत्पन्न पुत्रों को क्रमशः न्यून होता हुआ भाग मिलता था। परन्तु ब्राह्मण के घर में यदि केवल ब्राह्मणी तथा क्षत्राणी, क्षत्रिय के घर में केवल क्षत्राणी तथा वैश्या और वैश्य के घर में केवल वैश्य तथा शूद्रा पत्नियाँ ही होती थीं तो उनकी संतानों को पिता की सम्पत्ति का भाग मिलता था।

फौजदारी सम्बन्धी कानून

सामन्तवाद अपने विकास के साथ-साथ समाज में अनुशासन कायम रखने का प्रयत्न कर रहा था और समाज को प्रत्येक क्रिया में नियमों का बन्धन डालकर उसे नियमन में रख रहा था। फौजदारी सम्बन्धी कुछ घटनाएँ और विवाद ऐसे थे जिनका सीधा सम्बन्ध व्यक्तिगत सम्पत्ति से था और कुछ घटनाएँ तथा विवाद ऐसे थे जिनका सीधा सम्बन्ध व्यक्तियों के स्वभाव से था। सामन्तवाद सभी को एक धारा में मोड़कर समाज में शान्ति एवं व्यवस्था की स्थापना कर रहा था और इसके लिए प्रत्येक अपराध की सामाजिक तथा धार्मिक विवेचना करके समाज को एक सूत्र में बाँध रहा था।

नीचे के अध्यायों में व्यक्तिगत सम्पत्ति तथा मानव स्वभाव सम्बन्धी सभी सामाजिक अपराधों के सम्बन्ध में जो प्रचलित नियम तथा दण्ड विधान थे उनकी संक्षिप्त रूपरेखा दी जा रही है –

१. डाका या साहस

खुले तौर पर और घोषणा करके किसी की सम्पत्ति का अपहरण करना साहस कहलाता था। छिपकर किसी वस्तु का अपहरण करना या लेकर मुकर जाना चोरी था।

इन अपराधों के सम्बन्ध में मनु के अनुयायियों का मत था कि साहस या चोरी में जितना माल गया हो उतना ही और दण्ड अपराधियों को दिया जाय। शुक्राचार्य के अनुयायी दुगना दण्ड देने की पैरवी करते थे। परन्तु आचार्य कौटल्य ने अपराध के अनुसार दण्ड देने की व्यवस्था दी है।

शाक, सब्जी और खाने-पीने की साधारण वस्तुओं का अपहरण करने वालों को १२ पण से २४ पण तक दण्ड दिया जाता था। लोहा लकड़ी, रस्सी आदि का अपहरण करने पर २४ से ४८ पण तक, ताँबा, पीतल, काँच और काँसे का अपहरण करने पर ४८ पण से ९६ पण तक, बड़े पशु, मनुष्य, खेत, मकान, हिरण्य और सुवर्ण आदि का अपहरण करने पर २०० पण से ५०० पण तक दण्ड दिया जाता था। पहला पूर्व साहस तथा यह दूसरा मध्यम साहस दण्ड कहलाता था।

इसी प्रकार, स्त्री या पुरुष को जबरदस्ती बाँधकर और उठाकर ले जाना, राजाज्ञा से बँधे किसी व्यक्ति को छुड़ा कर ले जाना ५०० से १००० पण का अपराध समझा जाता था। इसे उत्तम साहस दण्ड कहते थे।

जो व्यक्ति जानबूझकर और कहकर साहस कार्य करवाता था उसे करने वाले से दुगना दण्ड दिया जाता था। साहसी व्यक्तियों को हर प्रकार से सहायता संरक्षण एवं प्रोत्साहन देने वालों को अपराधियों की तुलना में चौगुना दण्ड दिया जाता था।

आमतौर पर ऐसे साहस कार्यों में, जहाँ व्यक्तियों की जान न गयी हो और केवल सम्पत्ति की ही हानि हुई हो अपराधियों से जो दण्ड वसूल किया जाता था वह पीड़ितों को दे दिया जाता था और राज्य केवल ब्याजी आदि के रूप में अपना कर मात्र वसूल करता था जो कि कुल मिलाकर १३ प्रतिशत से अधिक नहीं होता था।

परन्तु प्रजाओं में अपराध की मनोवृत्ति बढ़ जाने एवं राज्य की बेईमानी के कारण समाज में अव्यवस्था फैल जाने पर शास्त्रकारों की मर्यादा के अनुसार राज्य को यह कर वसूल करने का भी अधिकार नहीं था।

प्रजानां दोष बाहूल्याद्राज्ञां वा भाव दोषतः।
रूपव्याज्यवधर्मिष्ठ धर्म्यानुप्रकृतिः स्मृता।।

२. धमकाना और गाली देना

गाली देना, निन्दा करना और घुड़कना वाक्यारुष्य कहलाते थे। वाक्यारुष्य आमतौर पर पाँच बातों को लेकर चलते थे – किसी के शरीर में ऐब दिखाना, किसी की प्रकृति या ब्राह्मण आदि जाति पर आक्षेप करना, उसके जीविका साधनों को धिक्कारना, किसी के श्रुत अर्थात् पाण्डित्य की मिट्टी पीटना और किसी के देश की निन्दा करना।

(शरीर प्रकृति श्रुवृत्ति जनपदानां शरीरोपवादेन काणखजादिभिः)

किसी के शरीर की रचना पर आक्षेप करते हुए उसे गंजा, काना, लूला या लंगड़ा आदि कहकर गाली देना पहली श्रेणी का वाक्यारुष्य समझा जाता था और इसके लिए तीन

पण दण्ड लिया जाता था।

यदि कोई काना, गंजा आदि न हो और फिर भी उसे कहा जाता था तो दुगना दण्ड लिया जाता था। यदि कोई व्याजस्तुति से ऐसी निन्दा करता था, जैसे काने को समदर्शी और अन्धे को नयनसुख आदि तो उससे चौगुना दण्ड लिया जाता था। अपने से अधिक सम्मानित व्यक्तियों के साथ ऐसा व्यवहार करने पर दुगना दण्ड दिया जाता था। हीनों के साथ ऐसा व्यवहार करने पर आधा दूसरों की स्त्रियों के साथ ऐसा व्यवहार करने पर भी दण्ड दुगना ही दिया जाता था।

हाँ, यदि कोई प्रतिवाद करता था कि उसने सच्ची बात कही है तथा आक्षेप नहीं किया है तो उसके सम्बन्ध में विशेषज्ञों की सम्पत्ति ली जाती थी। कोढ़ी तथा उन्मादी कहने पर चिकित्सकों से पूछा जाता था। नपुंसक आदि कहने पर स्त्रियों से परीक्षा करवायी जाती थी और यदि ऐसा करना संभव न होता था तो उसके मलमूत्र में यह देखकर की फेन उठते हैं या नहीं तथा मल पानी में डूब जाता है या नहीं उसकी नपुंसकता की परीक्षा की जाती थी।

जाति को लेकर निन्दा करनें एवं गाली देने वालों को तीन से बारह पण तक दण्ड भरना पड़ता था। यदि ब्राह्मण का इस प्रकार तिरस्कार किया जाता था तो दण्ड अधिक मिलता था।

जो लोग गाने, बजाने, अध्ययन एवं इसी प्रकार के विद्या एवं ज्ञान सम्बन्धी कार्य करके जीविका चलाते थे उन्हें भी ऐसा ही दण्ड दिया जाता था। यदि कोई व्यक्ति केवल धमकाता था जैसे कि : मैं तेरे हाथ-पाँव तोड़ दूँगा, तेरा दिमाग दुरुस्त कर दूँगा-परन्तु उसे पीटे नहीं और न उसका सिर फोड़े तो उसे भी यही दण्ड दिया जाता था, एवं ऐसा करने में सर्वथा असमर्थ व्यक्ति यदि केवल क्रोध आदि के कारण कह भर देता था तो उसे भी यही दण्ड मिलता था।

हाँ, यदि कोई व्यक्ति पुरानी शत्रुता के कारण इस प्रकार की धमकी देता था और उसे कार्यान्वित करने की क्षमता भी रखता तो उसे आय के अनुसार अधिक दण्ड दिया जाता था।

यदि कोई व्यक्ति स्वयं ही अपने देश, जाति एवं कुल तथा ग्राम की निन्दा करता था तो वह प्रथम साहस दण्ड का भागी समझा जाता था। अपनी जाति एवं समाज की अनवरत निन्दा करने वाले को मध्यम साहस और देव मन्दिरों की निन्दा करने वालों को उत्तम साहस दण्ड दिया जाता था।

स्वदेश ग्रामयोः पूर्वः मध्यमं जाति संघयोः।
आक्रोशाद् देवचैत्यानामुत्तमे दण्ड मर्हति।।

(अधि., अध्याय १८)

३. मारपीट या दण्डपारुष्य

किसी को धक्का देना, डण्डा या हाथ उठाकर मारना अथवा मारने की धमकी देने

के लिए हाथ या डण्डा उठाना दण्डपारुष्य कहलाता था। नाभि के नीचे राख, कीचड एवं धूल आदि फेंक कर मारने पर तीन पण दण्ड मिलता था। किसी पर थूकना, धक्का देना, गन्दे हाथों या पाँवों से छूना ६ पण दण्ड का अपराध था। उल्टी, मल-मूत्र आदि फेंकने पर १२ पण। यदि ये ही अपराध नाभि से ऊपर किये जाते थे तो दुगना दण्ड मिलता था। सिर पर चौगुना, यदि पीड़ित व्यक्ति समान वर्ग तथा जाति का हो। परन्तु ये ही अपराध यदि सम्मानित व्यक्तियों के प्रति किये जाते थे तो दण्ड दुगना हो जाता था। नीच लोगों के प्रति आधा। दूसरे व्यक्ति की स्त्री के प्रति ऐसा अपराध करने पर भी दुगना दण्ड देना पड़ता था।

किसी को पकड़ कर मसलना, बाँहों में घोंटकर रगड़ना, मुँह काला करना, जमीन पर घसीटना और नीचे डालकर उसके ऊपर चढ़ बैठना प्रथम साहस दण्ड का अपराध था। इसका आधा भूमि पर गिराकर भाग जाने वाले को मिलता था। शूद्र जिस अंग से ब्राह्मण के प्रति अपराध करता था, वही अंग काट लिया जाता था।

यदि साधारण लोगों को वह हाथ से धकेलता था या झटका देता था तो तीन से बारह पण तक दण्ड भरता। पैर से अपराध करने पर दुगना। दुःखोत्पादक सुई आदि से ऐसा करने पर प्रथम साहस और प्राणों का भय उपस्थित करने वाले अपराध पर मध्यम साहस।

मार-पीट में खून न निकलने पर २४ पण दण्ड दिया जाता था। खून निकल आने पर ४८ पण। यदि बिना खून निकले ही गुप्त चोट से किसी को अधमरा कर दिया जाता था या उसके हाथ-पैर के जोड़ खोल दिये जाते थे तो प्रथम साहस दण्ड मिलता था। हाथ-पैर तोड़ देने पर या नाक और कान काट लेने पर भी यह दण्ड दिया जाता था। जो अपराधी किसी के ऐसे अंगों को भंग कर देता था जिनसे उसकी आजीविका चलती हो तो उसे मध्यम साहस दण्ड भरना पड़ता था और यदि बहुत से व्यक्ति मिलकर किसी के प्रति ऐसा अपराध करते थे तो सभी को दुगना दण्ड भरना पड़ता था।

कुछ आचार्यों का यह मत था कि पारुष्य (फौजदारी) के अभियोग में जो पक्ष न्यायाधिकरण में पहले आता था उसे पीड़ित समझा जाता; परन्तु आचार्य कौटल्य की व्यवस्था के अनुसार पहले आने मात्र से किसी को पीड़ित नहीं माना जा सकता। वे साक्षियों की गवाही के आधार पर ही सत्य-असत्य के निर्णय करने पर बल देते हैं। साक्षियों के न मिलने पर अन्य कारणों से अपराध का पता लगाया जाता था।

छोटे जानवरों को लकड़ी मारने पर एक से दो पण, खून निकल आने पर दो से चार पण, गाय-भैंस आदि बड़े पशुओं के प्रति ऐसा करने पर दुगना दण्ड दिया जाता था और चिकित्सा का खर्च भी लिया जाता था।

नगर के उपवनों तथा छायादार वृक्षों को हानि पहुँचाने पर ६ पण, छोटे पौधों को १२ पण, छोटी शाखाओं के काटने पर २४ पण, तना काटने पर प्रथम साहस और पेड़ को जड़ से काट देने पर मध्यम साहस दण्ड दिया जाता था। फल, फूल और छायावाली झाड़ियाँ नष्ट करने पर इसका आधा दण्ड और पवित्र स्थानों-देवताओं आदि के वृक्षों का विनाश करने पर भी वही दण्ड दिया जाता था।

निम्नलिखित वृक्षों को हानि पहुँचाना विशेष रूप से दण्डनीय समझा जाता था– सीमाओं के वृक्ष, मन्दिरों में खड़े वृक्ष, राज्य की ओर से सीमा संकेत के रूप में लगाये गये वृक्ष तथा सरकारी वन विभाग के वृक्ष।

सीमावृक्षेषु चैत्येषु दुमेष्वालक्षितेषु च।
त एव द्विगुणा दण्डाः कार्या राजवनेषु च।।

वनों में वृक्षारोपण का कार्य विशेष महत्त्व रखता था। राज्य की ओर से आजकल की भाँति ही सरकारी वृक्षों पर चिन्ह अंकित किये जाते थे जो कि 'आलक्षितेष' शब्द से प्रकट होता है।

४. फौजदारी के फुटकर अपराध

राज्य की ओर से नियत स्थान से भिन्न किसी स्थान पर जुआ खेलने पर १२ पण दण्ड मिलता था। यही दण्ड उन जुआड़ियों से लिया जाता था जो खेल में जीत हासिल करने के लिए तरह-तरह के छल-कपट करते थे।

यही नियम मुर्गा, तीतर और भेढ़े आदि जानवरों को आपस में लड़ाकर जुआ खेलने वाले व्यक्तियों से लिया जाता था – यदि वे राजकीय नियमों का उल्लंघन करते थे। परन्तु विद्या और शिल्प की होड़ से हार-जीत करने वालों को जुए की श्रेणी में नहीं रखा जाता था।

निम्नलिखित अपराध करने पर १२ पण दण्ड दिया जाता था –

यदि कोई व्यक्ति अपने यहाँ रखी धरोहर को समय पर न लौटाये, ब्राह्मण से नाव या घाट का किराया माँगे और अपने घर के समीपस्थ ब्राह्मण को छोड़कर दूरस्थ ब्राह्मण को निमंत्रण दे। नीचे लिखे अपराधों में ४८ पण दण्ड देना पड़ता था – जो प्रतिश्रुत धन न लौटाए, भाई की स्त्री को हाथ से पकड़े, दूसरे व्यक्ति द्वारा रोकी गयी वेश्या के साथ समागम करने की चेष्टा करे, दूसरे के द्वारा खरीदे हुए पण्य को दाम बढ़ा कर स्वयं खरीदे, राजचिन्हों से अंकित वस्तु पदार्थों को क्षति पहुँचाये और सामन्तों के चालीस कुलों तक के व्यक्तियों को कष्ट पहुँचाये। निम्नलिखित अपराधों में सौ पण दण्ड दिया जाता था।

वंश परम्परागत सम्पत्ति का अपव्यय करना, स्वतंत्र रूप से रहने वाली विधवा के साथ बलात्कार करना, चाण्डाल स्त्री का स्पर्श करना, पड़ोसी के ऊपर आपत्ति आने पर सुनते ही उसकी सहायता को न दौड़ना, पड़ोसी के यहाँ अकारण आना-जाना तथा यज्ञ एवं श्राद्ध आदि के अवसरों पर बौद्ध भिक्षुओं एवं शूद्र सन्यासिनियों को भोजनादि करवाना।

निम्नलिखित अपराधों पर प्रथम साहस दण्ड दिया जाता था।

जो न्यायाधिकरण की आज्ञा के बिना ही साक्षी के रूप में शपथ ले और फैसला करवाने का प्रयत्न करे, अनधिकारी को अधिकार दे, छोटे पशुओं का पुंसत्व नष्ट करे या उन्हें बध्यिा बनावे, दवा देकर दासी का गर्भ गिराये, पिता, पुत्र, पति-पत्नी, भाई-बहन, मामा-भांजा और गुरु-शिष्य, बिना पतित हुए एक दूसरे का परित्याग करे। व्यापारी संघ का

कारवाँ यदि बीमा साझी को मार्ग एवं बीच के गाँव में छोड़ दे। परन्तु यदि ऐसे व्यक्ति को जंगल में छोड़ दिया जाता था तो मध्यम साहस दण्ड दिया जाता था। रास्ते या जंगल में बीमार साझी का वध कर देने पर उत्तम साहस दण्ड मिलता था।

ऐसे व्यक्तियों को एक हजार पण दण्ड मिलता था जो निरपराध व्यक्तियों को गिरफ्तार करवाते थे, कैदी को लड़वाते थे और नाबालिग बच्चों को कारागार में डलवाते थे।

इस प्रकार के अपराधियों को दण्ड देते समय अनुग्रह किया जाता था – जो दानी, तपस्वी, बीमार, बुभुक्षित, प्यासा, मार्ग चलने से थका हुआ, परदेशी हो और जो अनेक बार दण्ड भुगत चुका हो तथा जो अकिंचन एवं साधनहीन हो गया हो।

न्यायाधिकरण का यह आवश्यक कर्त्तव्य समझा जाता था कि वह निम्नलिखित व्यक्तियों के हितों की स्वयं पैरवी करे तथा उन्हें संरक्षण दे –

देवसम्पत्ति, ब्राह्मण, तपस्वी, स्त्री, बालक, बूढ़ा, बीमार तथा वह व्यक्ति जो स्वयं न्यायाधिकरण में उपस्थित होकर अपने पक्ष का समर्थन करने में असमर्थ हो।

न्यायाधिकरण (धर्मस्थ) का यह कर्त्तव्य समझा जाता था कि वह छलकपट से रहित हो, निष्पक्ष भाव से सब के हितों का निरीक्षण करे, उसे प्रजा का विश्वास प्राप्त होना चाहिए एवं प्रजाओं में उसकी लोकप्रियता होनी चाहिए।

वर्ण व्यवस्था समाज को बन्धन में न डाल सकी

कौटल्य कालीन भारत में सामन्तवाद के उदय तथा विकास के साथ-साथ यद्यपि परम्परावादी शास्त्रकार एवं राजतंत्र समाज को वर्ण व्यवस्था के संकुचित बन्धन में डालने को हजार प्रयत्न करते थे, परन्तु फिर भी समाज अपनी ही गति से चल रहा था और इन बन्धनों की कदम-कदम पर उपेक्षा करता था। अन्त में समाज में इतनी बड़ी संख्या में अवान्तर जातियाँ एवं वर्णसंकर जातियाँ पैदा हो गयी थीं कि यह वर्णव्यवस्था के संकुचित सामाजिक चौखटे में उन्हें बाँधकर रखना सर्वथा असंभव हो गया था और वर्णसंकर जातियों को आर्थिक अधिकारों से वंचित रख सकना कठिन हो रहा था।

स्त्री पुरुष सम्बन्धों के बारे में जैसी धारणाएँ आजकल प्रचलित हैं वैसी कौटल्य कालीन भारत में नहीं थी। इसी प्रकार, पारिवारिक सम्पत्ति पर स्वामित्व की धारणाओं में भी अन्तर था और आज की भाँति केवल एक आध प्रकार के पुत्रों को ही पारिवारिक सम्पत्ति पर स्वामित्व का अधिकार नहीं मिलता था बल्कि इसके लिए अधिक व्यापक नियम प्रचलित थे।

विस्तृत परिचय देने से पहले पुत्रों की कुछ मुख्य-मुख्य श्रेणियों का नामोल्लेख करना अधिक सुविधाजनक होगा। पुत्रों की प्रमुख श्रेणियाँ निम्नलिखित थीं –

औरस, क्षेत्रज, द्विपितृक या द्विगोत्रक, गूढ़ज, कानीन, सहौढ, पौनर्भव, दायाद, दत्तक, उपगत, कृतक और क्रीत आदि।

ये भेद केवल समान वर्ण में उत्पन्न पुत्रों के हैं, परन्तु विभिन्न वर्णों में यानी भिन्न वर्ण की माता और भिन्न वर्ण के पिता के सम्पर्क से उत्पन्न पुत्रों के भेद अगणित हैं और उनमें परिवारिक सम्पत्ति के विभाजन सम्बन्धी नियम बहुत अधिक जटिल एवं समस्यापूर्ण थे।

उन दिनों इस प्रश्न पर बहुत विवाद था कि यदि पर पुरुष की पत्नी में किसी अन्य पुरुष के सम्पर्क से पुत्र हो जाता है तो वह किसकी सन्तान माना जाय और उसे किसकी सम्पत्ति में दायभाग मिलना चाहिए। इस सम्बन्ध में अधिकांश एवं प्राचीन आचार्यों का मत था कि जैसे दूसरे के खेत में बोई फसल का मालिक बोने वाला नहीं प्रत्युत खेत का मालिक होता है उसी प्रकार उस बच्चे का पिता नहीं बल्कि उसकी माता का पति ही उसका स्वामी माना जाना चाहिए तथा वह उसी की सम्पत्ति का अधिकारी माना जाय। परन्तु दूसरे और अर्वाचीन काल के आचार्यों को यह मत मान्य नहीं था। वे कहते थे कि यदि इस स्त्री के पति की प्रार्थना पर दूसरा पुरुष उसकी स्त्री के साथ सम्पर्क करता है तो उत्पन्न पुत्र स्त्री के पति का माना जा सकता है, अन्यथा वह उसी पुरुष का है जिसके सम्पर्क से उत्पन्न हुआ है।

वास्तव में देखा जाय तो इस विवाद के दो मुख्य कारण थे – एक तो इससे स्त्री और पुरुष के पारस्परिक सम्बन्धों की पवित्रता पर आघात लगता था और समाज में अभिसारिकावाद को भारी प्रोत्साहन मिलता था जिससे कि सामाजिक व्यभिचार को खुली छूट मिलती थी एवं दूसरी बड़ी आपत्ति थी पारिवारिक सम्पत्ति का बँटवारा। दूसरे पुरुष सम्पर्क से उसकी स्त्री में उत्पन्न बालक पहले सम्पत्ति का विभाजन न करके जिसकी स्त्री में उत्पन्न हुआ है उसी की सम्पत्ति का विभाजन करता था। इस सामाजिक परिपाटी पर प्रतिबन्ध लगाने के लिए यह आर्वाचीन आचार्य इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करते थे कि यद्यपि दूसरे की स्त्री से सम्पर्क करने के सिद्धान्त का निषेध नहीं किया जा सकता परन्तु बालक का स्वामी वही माना जाना चाहिए जिसके सम्पर्क से वह उत्पन्न हुआ है।

आगे चलकर इस विवाद ने उग्र रूप धारण किया और महामात्य कौटल्य ने इन दो परस्पर विरोधी सिद्धान्तों में सामंजस्य स्थापित करने का प्रयास किया। उन्होंने कहा कि – 'विद्यमानयुभर्यामिति कौटल्यः।' अर्थात् समाज में दोनों ही प्रकार की रीतियाँ चल रही हैं तथा परिस्थितियों के अनुसार बालक का स्वामी उसकी माँ का पति भी हो सकता है और वह परपुरुष भी जो वास्तव में बालक का पिता है।

परन्तु इससे भी असली विवाद का अन्त नहीं हो पाया। एक बात तो स्पष्ट ही है कि मध्यकालीन भारत में विवाह प्रणाली इतनी संकुचित एवं रूढ़िगत नहीं थी कि विशिष्ट पुरुष को किसी विशिष्ट नारी के साथ आधुनिक मान्यताओं की भाँति संयुक्त कर सके।

ऊपर वर्णित पुत्रों के भेदों के यदि वास्तविक अर्थों की विवेचना की जाय तो प्राचीन काल के स्त्री-पुरुष सम्बन्धों की आंशिक झलक तो मिल ही सकती है। उदाहरण के लिए अपनी विधिवत् विवाहित स्त्री में अपने ही द्वारा उत्पन्न पुत्र औरस कहलाता था।

परन्तु अपनी ही स्वीकृति या प्रार्थना पर अपनी स्त्री में अपने सगोत्र एवं विभिन्न गोत्र के किसी पुरुष द्वारा उत्पन्न कराया गया पुत्र क्षेत्रज कहलाता था और परिस्थितियों के अनुसार वह अपनी माता के पति की सम्पत्ति का स्वामी होता था।

(सगोत्रेणान्य गोत्रेण वा नियुक्तेन क्षेत्रजातः क्षेत्रजः पुत्रः)

यदि उत्पन्न करने वाले पुरुष का कोई दूसरा पुत्र नहीं होता था तो वह उसकी सम्पत्ति का स्वामी होता था और अपनी माता के पति की सम्पत्ति का भी वही स्वामी माना जाता था।

गूढज पुत्र वह कहलाता था जो अपने मातृकुल में रहती हुई माता में मातृकुल के ही किसी पुरुष के सम्पर्क से उत्पन्न हुआ हो। इस पुत्र को अच्छी दृष्टि से नहीं देखा जाता था और आमतौर पर मामा या छोटे नाना का पुत्र समझा जाता था। परन्तु वह सम्पत्ति से वंचित नहीं किया जाता था और उसका अधिकार पितृकुल की सम्पत्ति में नहीं बल्कि मातृकुल की सम्पत्ति में ही माना जाता था। वह बालक पालने के लिए प्रायः दूसरों को दे दिया जाता था और या फिर चुपके से देवालय में छोड़ दिया जाता था। ऐसी स्थिति में वहाँ से उठाकर जो उसका पालन-पोषण करता था उसी की सम्पत्ति का वह अधिकारी माना जाता था।

(तत्सधर्मा बन्धूनां गृहे गूढ जातस्तु गूढजः)

इसी प्रकार, जो लड़का अविवाहित कन्या, स्त्री के गर्भ से उत्पन्न होता था वह कानीन कहलाता था। वह उसी पुरुष की सम्पत्ति का भागीदार समझा जाता था जिसके सम्पर्क से वह जन्म लेता था।

(कन्यागर्भः कानीनः)

गर्भवती का विवाह होने पर जो बच्चा जन्म लेता उसे सहोढ (खड़ी बोली में कल्लड़) कहते थे और यद्यपि उसकी माता का पति उसका पिता नहीं होता था, फिर भी वह उसकी सम्पत्ति का अधिकारी माना जाता था।

जब एक विवाहित पुरुष से बच्चा न होने पर किसी स्त्री का पहले पति के रहते हुए दूसरे पुरुष के साथ विवाह कर दिया जाता था और इस प्रकार उसके दो पति हो जाते थे तो इस द्विपतिका स्त्री से उत्पन्न पुत्र पौनभेव कहलाता था। वह दोनों की सम्पत्ति का अंशभागी माना जाता था।

यदि कोई पिता, भाई अथवा चाचा अपनी लड़की, बहन या भतीजी में स्वयं पुत्र उत्पन्न करता था तो वह 'दायाद' कहलाता था और मातृकुल सम्पत्ति में वह उचित भाग का स्वामी माना जाता था।

(स्वयंजातः पितृबन्धूनां च दायदः)

इसी प्रकार, किसी बालक के माता-पिता हाथ में जल लेकर शास्त्रीय पद्धति से जब किसी दूसरे को उसे सौंप देते थे तो वह दत्तक कहलाता था एवं उसका अपने पिता की सम्पत्ति पर नहीं बल्कि लेने वाले की सम्पत्ति पर अधिकार माना जाता था।

जो स्वयं किसी को पिता के रूप में स्वीकार कर लेता था या उस बालक के वन्धु-बान्धव किसी विशेष परिस्थिति में उसे किसी के पास छोड़ जाते थे तो वह बालक 'उपगत' कहलाता था एवं उसका सम्पत्ति पर आंशिक अधिकार माना जाता था।

जिसे स्वयं पुत्र के रूप में स्वीकार कर लिया गया हो वह कृतक पुत्र एवं जिसे पैसा देकर खरीदा गया हो वह क्रीतपुत्र कहलाता था।

औरस पुत्र उत्पन्न हो जाने पर दूसरी सवर्ण स्त्री में उत्पन्न दूसरे पुत्रों को सम्पत्ति का केवल तीसरा भाग मिलता था और यदि वे बालक असवर्ण स्त्री में उत्पन्न हुए हों तो केवल भोजन-वस्त्र के भागीदार समझे जाते थे।

उस समय तक एक विचित्र सामाजिक प्रथा प्रचलित थी। यदि ब्राह्मण क्षत्राणी को, क्षत्रिय वैश्य स्त्री को और वैश्य शूद्रा को अपने घर में रख ले अर्थात् विवाह कर ले तो उससे उत्पन्न सन्तानें सवर्ण ही मानी जाती थीं और दायभाग में उनका समान हिस्सा समझा जाता था।

पूर्वोक्त पद्धति से सूत्रों के भेद तथा अवान्तर भेदों का निर्णय हो जाने के बाद भी तथा सम्पत्ति विभाजन के विस्तृत सिद्धान्तों की स्थापना के बाद भी कौटल्य कालीन भारत में ऐसे निर्विवाद और सर्वमान्य सिद्धान्तों की स्थापना नहीं हो पायी थी, जिनके आधार पर जटिल सम्पत्ति विभाजन के सभी विवादों का निवटारा किया जा सके। इसीलिए, अधिकांश विवादों का निर्णय ग्राम सामन्त एवं नगर श्रेष्ठी किया करते थे जो स्थानीय परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए ऐसा करते थे। उस समय के कुशल राजनेता और धर्मशास्त्री सभी जनपदों, जातियों और अवसरों पर सम्पत्ति विभाजन के एक ही नियम लागू करते हुए घबराते थे। इस सम्बन्ध में निर्णयकर्त्ताओं को काफी छूट एवं स्वतंत्रता दी जाती थी। इसीलिए कौटल्य ने व्यवस्था दी थी कि सम्पत्ति के विभाजन के प्रश्न बहुत जटिल एवं महत्त्वपूर्ण हैं और उनके विवाद का निबटारा उस देश, जाति, धर्म क्षेत्र या ग्राम में प्रचलित रीति-रिवाजों को ध्यान में रख कर करना चाहिए।

देशस्य जात्था संघस्य धर्मों ग्रामस्य वापि यः।
उचितस्तस्य तैनैव दायधर्म प्रकल्पयेत्।।

स्त्री-पुरुष के सामाजिक व पारिवारिक सम्बन्धों को लेकर आज समाज में जिन विश्वासों तथा धारणाओं को प्रश्रय मिला है वे बाद की ऐतिहासिक परिस्थितियों की देन हैं और जैसे-जैसे ऐतिहासिक परिस्थितियाँ बदली वैसे-वैसे व्यक्ति, परिवार तथा समाज की रचना सम्बन्धी धारणाओं तथा सामाजिक रूढ़ियों में परिवर्तन होता गया।

इस अवसर पर एक और भी महत्त्वपूर्ण सैद्धान्तिक प्रश्न उठता है। पुरानी वर्ण व्यवस्था के सिद्धान्तों के अनुसार अनुलोम विवाहों में उत्पन्न सन्तानों को सवर्ण ही माना जाता था एवं सम्पत्ति में अंश प्राप्त करने का उनका धर्मसम्मत अधिकार समझा जाता था। उदाहरण के लिए यह वताया जा चुका है कि यदि ब्राह्मणों के साथ क्षत्राणी विवाह कर ले, क्षत्रिय क्षत्राणी के साथ-साथ वैश्य स्त्री से विवाह कर ले और वैश्य शूद्रा से तो ये अनुलोम

विवाह माने जाते थे और उनके बच्चे पिता के सवर्ण या सजातीय माने जाते थे, बशर्ते कि वे एक वर्ण से नीचे की स्त्री के साथ न किये गये हों। परन्तु यदि प्रतिलोम विवाह होते थे, अर्थात् शूद्र वैश्य स्त्री से, वैश्य क्षत्राणी से और क्षत्रिय ब्राह्मणी से विवाह करता था तो ये विवाह शास्त्र-सम्मत नहीं माने जाते थे और उनकी सन्तानों को न तो सजातीय समझा जाता था और न उन्हें सम्पत्ति में अंश मिलता था। समाज में उन्हें अधिक्कृत स्थान प्राप्त होता था।

समाज में सम्मानित स्थानों से गिरे हुए एवं पारिवारिक सम्पत्तियों से वंचित ये लोग आगे चलकर समाज में विभिन्न प्रकार की जटिल सामाजिक समस्याओं को जन्म देते हैं और नट, नर्त्तक, वादक, कुशीलव और इसी प्रकार के सैकड़ों-हजारों वर्णों को समाज में उतार कर लाते हैं।

अनुलोम असवर्ण निम्नलिखित कहलाते थे-

ब्राह्मण या वैश्य स्त्री से उत्पन्न पुत्र अम्बष्ठ, शूद्रा से निषाद या पारशद और क्षत्रिय का शूद्रा में उत्पन्न पुत्र उग्र कहलाता था। कौटल्य ने इन सबके सम्बन्ध में विस्तार के साथ विचार किया है।

परन्तु प्रतिलोम विवाहों में उत्पन्न सन्तानें गर्हित समझी जाती थीं और यज्ञ, तप, अनुष्ठान एवं पवित्र कार्यों में हाथ डालने का उन्हें कोई अधिकार नहीं समझा जाता था।

शूद्र से ब्राह्मणी में उत्पन्न पुत्र चाण्डाल, क्षत्राणी में क्षत्ता एवं वैश्य स्त्री में अयोगव कहलाता था। इसी प्रकार, वैश्य से क्षत्राणी और ब्राह्मणों में उत्पन्न पुत्र सूत कहलाता था।

इसी प्रकार, उग्र दामक वर्णसंकर जाति के व्यक्ति से निषाद नामक वर्णसंकर जाति की स्त्री में उत्पन्न संतान कुक्कुट कहलाती थी और निषाद पुरुष के सम्पर्क से उग्र जाति की स्त्री में उत्पन्न सन्तान को पुल्कस कहा जाता था। अम्बष्ठ नामक वर्णसंकर जाति के पुरुष के सम्पर्क से वैदेहक जाति की स्त्री में उत्पन्न पुत्र वैण और अम्बष्ठ जाति की स्त्री में वैदेहक पुरुष के सम्पर्क से उत्पन्न पुत्र क़ुशीलव कहलाता था। उग्र नामक वर्णसंकर जाति के पुरुष के सम्पर्क से क्षत्ता जाति की स्त्री में उत्पन्न पुत्र श्वपाक कहलाते थे।

इन सभी वर्णसंकर जातियों को विशेष तप तथा अनुष्ठान आदि करने पर शूद्र जाति का सम्मानित सदस्य बनने का अधिकार मिल जाता था। परन्तु चाण्डाल का उद्धार किसी भाँति संभव नहीं था।

वास्तव में देखा जाये तो प्राचीन भारत में दास प्रथा की समाप्ति के बाद और सामन्तवादी अर्थव्यवस्था के अनुकूल वर्ण-व्यवस्था पर आधारित समाज रचना काल में इन वर्णसंकर जातियों के सामने नट, वादक, नर्त्तक और गायक आदि का कार्य करने के अलावा और ग्रामीण अर्थव्यवस्था के अनुरूप, चमड़ा, लकड़ी, लोहा एवं अन्य धातु सम्बन्धी और शिल्प कार्यों के अलावा जीविका का दूसरा साधन ही कहाँ रह गया था? समाज उन्हें तिरस्कार की दृष्टि से देखता था, व्यक्तिगत सम्पत्तियों के नाम पर उनके पास कुछ भी नहीं

था और विशाल सम्पत्तिधारी वर्गों के मनोरंजन एवं उत्पादन साधनों में नित्य नवीनता लाना उनके अस्तित्व के लिए अनिवार्य हो गया था।

ज्यों-ज्यों समाज में वर्णसंकर जातियों की संख्या बढ़ी, तत्कालीन भारत के धर्मशास्त्री कुछ समय तक तो उनकी विवेचना करते रहे और उन्हें नये नाम देकर ऐसा दिखाते रहे जैसे कि समाज वास्तव में उन्हीं के द्वारा निर्धारित पगडंडी का अनुसरण कर रहा है और जहाँ कहीं थोड़ा भटक जाता है वहाँ वे उसे अनुशासन में बाँध लेते हैं। परन्तु बाद के अनुभव ने उन्हें बता दिया कि यह उनकी आत्मवंचना सिद्ध हो रही है तथा वर्णव्यवस्था का कच्चा धागा सामाजिक जीवन के विशाल एवं उन्मत्त हाथी को बाँधकर रोक रखने में असमर्थ है। बाद में जब वर्णसंकर जातियों की संख्या गणना तथा विवेचना की शक्ति से बाहर जाने लगी तो इन धर्मशास्त्रियों के हाथ-पाँव फूल गये। वर्ण व्यवस्था की कच्ची दीवार इन वर्णसंकर जातियों के अनवरत भूकम्पों के सामने धराशायी होती चली गयी और धीरे-धीरे विस्मृति के अन्ध बहर में विलीन हो. गयी।

यद्यपि सामन्तवादी समाज ने वर्णसंकर जातियों का तिरस्कार एवं बहिष्कार ही किया था, परन्तु यह कठोर सत्य है कि सामन्ती समाज की सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था एवं सांस्कृतिक जीवन का अभ्युदय इन वर्णसंकरों के सहारे चल रहा था और पनप रहा था। इस कथन में अतिशयोक्ति नहीं होगी कि कादम्बरी और हर्षचरित के अमर गद्यकार बाणभट्ट शायद कहीं इस पदवी को प्राप्त न कर पाते यदि बचपन में आवारा होकर नट, नर्त्तक, वादक और कुशीलव मण्डली में भरती होकर देश-देशान्तरों का भ्रमण न करते। महाकवि दण्डी भी इसी सम्पर्क की देन हैं और सामन्तवाद का ही इसमें क्या दोष है कि जो वर्ग तथा व्यक्ति उसे समृद्ध कर रहे थे, उसकी अर्थव्यवस्था एवं सांस्कृतिक जीवन में चार चाँद लगा रहे थे उन ही वर्णसंकर जातियों के लोगों को उसने अपंग बना दिया था। यह बात तो उससे पहले की समाज-व्यवस्था-दास-प्रथा पर भी लागू होती है उसने दासों के क्रूर शोषण, क्रंदन तथा उत्पीड़न पर दास स्वामियों का वैभव बढ़ाया था। यही बात पूँजीवाद भी करता है। मजदूर वर्ग उसे समृद्ध तथा विकसित करता है, परन्तु वह अपनी प्रगति की मात्रा की न्यूनाधिकता के साथ ही मजदूर वर्ग का क्रूर से क्रूरतम शोषण करता है तथा समाज में उसे दयनीय दशा में डाल कर रखता है।

भारतीय वर्णव्यवस्था के अन्दर चार वर्णों से भिन्न अवान्तर भेदों की ये श्रेणियाँ भयंकर सामाजिक विषमता एवं उत्पीड़न का मूक क्रंदन कहती रही हैं। परन्तु यह सत्य सिद्धान्त स्वीकार करने में शायद किसी को साहस न हो कि भारतीय सामन्तवाद और संस्कृति ने जिन वर्णसंकर जातियों का तिरस्कार किया है, उन्हीं के बलिदानों और सुप्रयत्नों का फल भारत की सामन्ती अर्थव्यवस्था और संस्कृति का विकास है।

दास प्रथा अन्तिम साँस ले रही थी

कौटल्य कालीन भारत में दास प्रथा अन्तिम साँस ले रही थी। दासों का स्थान वर्णसंकर जातियों, स्वतंत्र पेशा दस्तकारों तथा वेतनजीवी मजदूरों ने लेना प्रारम्भ कर दिया

था। परन्तु दास प्रथा की इस अन्तिम अवस्था में भी उनकी दशा बहुत शोचनीय थी। वे बेचे जाते थे, गिरवी रखे जाते थे और उनकी हत्या की जा सकती थी। उनके प्रति अमानवीय व्यवहार किया जाता था और वे किसी न्यायाधिकरण में जाकर अपने लिए सामाजिक न्याय की याचना नहीं कर सकते थे। दास अपने स्वामी की व्यक्तिगत सम्पत्ति थे और प्रत्येक स्वामी को अपनी सम्पत्ति के साथ मनमाने ढंग से व्यवहार करने की स्वतंत्रता थी।

प्राचीन शास्त्रकारों में कदाचित् कौटल्य ही पहले शास्त्रकार हैं जिन्होंने दासों की दयनीय दशा पर सहानुभूति के साथ विचार किया है और डरते-डरते ही सही परन्तु दृढ़ संकल्प के साथ ऐसे सामाजिक नियमों की स्थापना की है जिनका आश्रय लेकर दास न्यायाधिकरणों में जाकर संरक्षण प्राप्त कर सकते थे और उन्हें व्यक्तिगत सम्पत्ति की परिभाषा से निकाल कर स्वतंत्र मानव का अधिकार प्रदान किया गया है।

परन्तु फिर भी प्रत्येक आर्य (स्वतंत्र) परिवार अपने यहाँ उदर दास अवश्य रखता था। कौटल्य ने उदर दास को आर्यों का प्राण बताया है (उदर दासमार्यप्राणम्)। इसे छोड़कर यदि कोई नाबालिग (अप्राप्त व्यवहार) शूद्र को किसी के यहाँ गिरवी रखता था, या बेचता था, अथवा बहका कर ले जाता था और ऐसा करने वाला व्यक्ति शूद्र ही हो तो १२ पण दण्ड पाता था। यदि वह वैश्य, क्षत्रिय तथा ब्राह्मण बालक को कहीं ले जाकर बेचता या गिरवी रखता था तो क्रमशः २४, ३६ तथा ४८ पण दण्ड का भागी समझा जाता था। समाज में दास प्रथा काल के ऐसे भयानक अवशेष थे कि बच्चों को उठाकर ले जाना और बेचना तथा गिरवी रख देना दैनिक जीवन की रीति बन गयी थी। इस पर कठोरता से प्रतिबन्ध लगाये जा रहे थे।

यदि कोई भिन्न जातीय व्यक्ति नाबालिग, शूद्र, वैश्य, क्षत्रिय तथा ब्राह्मण को बहका कर ले जाता था, बेचता या गिरवी रखता था तो उसे पूर्व, मध्यम तथा उत्तम साहस दण्ड मिलता था और यही दण्ड खरीददारों तथा साक्षियों को मिलता था। हाँ, म्लेच्छ जातियों को अपनी सन्तान बेचने या गिरवी रखने का अधिकार था। परन्तु स्वतंत्र व्यक्तियों को नये सिरे से किसी भी मूल्य पर दास नहीं बनाया जा सकता था।

(म्लेच्छानामदोषः पुत्रो विक्रतुमाधातुं वा। नत्वेवार्यस्य दासभीतः)

परन्तु इन बन्धनों के रहते हुए भी सामाजिक जीवन असुरक्षित था और आर्थिक परिस्थितियों से वाध्य होकर लोगों को दासता के बन्धन स्वीकार करने ही पड़ते थे। इसीलिए घोषणा की गयी थी कि यदि स्वतंत्र (आर्य) व्यक्तियों को बाध्य होकर स्वयं तथा अपना परिवार बेचना तथा गिरवी रखना पड़ता था तो उनके लिये नियम बनाया गया था कि वे विशेष परिस्थितियों में जब कुल पर संकट आ पड़ा हो तो ऐसा कर सकते हैं। परन्तु सबसे पहले नाबालिग बच्चों का निष्क्रय (छुटकारा) मूल्य देकर छुड़ाना चाहिए तथा बाद में धीरे-धीरे परिवार के दूसरे सदस्यों को।

(अथवार्यमाधाय कुलबन्धन आर्याणामापदि निष्क्रयं चाधिगम्य वालं साह्मायदातारं वा

पूर्व निष्क्रीणीरन्)

कितना बुरा एवं दुःखदायी समय होगा वह जब पूरा का पूरा स्वतंत्र परिवार ऋण आदि का भुगतान करने के लिए दूसरों की दासता स्वीकार करता होगा और जो एक बार दास बन जाता था उसे जीवन में आर्य (स्वतंत्र) बनने की कभी आशा नहीं रहती थी। परन्तु कौटल्य की पूर्वोक्त स्थापना में समाज के असंख्य व्यक्तियों की लुप्त स्वतंत्रता के वापस लौटने में असीम योगदान किया होगा।

फिर भी दासों को आसानी से छुटकारा नहीं मिलता था। दासों का जीवन इतना यातनामय था कि भाग जाने के अलावा उन्हें मुक्ति प्राप्त करने का दूसरा मार्ग ही नहीं मिलता था। परन्तु भागना और भी गम्भीर संकट लाने वाला था। राज्य भगोड़े दास का पीछा करता था और पकड़ कर वापस स्वामी को लौटाता था। जो व्यक्ति स्वयं अपने आपको किसी के यहाँ गिरवी रखता था, यदि घबरा कर भाग जाता था तो जीवन भर के लिए दास बना लिया जाता था। जिसे अन्य लोगों ने किसी के यहाँ गिरवी रखा हो वह दो बार भाग जाने पर जीवन भर के लिए दास बनाया जाता था।

(सकृदाधाता निष्पतितः सीदेत्। द्विरन्येनाहितकः)

परन्तु यदि ये दोनों प्रकार के दास एक बार भी भाग कर दूसरे देश में चले जाते थे तो आजीवन दास बना लिये जाते थे।

(सकृदुभौ पर विषयाभिमुखौ)

ये दास आर्यत्व प्राप्त करने के लिए पैसा जमा करते थे। परन्तु इसके केवल दो ही उपाय थे - चोरी करना या दूसरे स्वतंत्र व्यक्तियों को बहका कर किसी के यहाँ बेच देना। ऐसे अपराध करने पर उन्हें कठोर दण्ड मिलता था।

भयानक शारीरिक यंत्राणाओं में फँसे दास प्रायः बीमार रहते थे, मर जाते थे और भाग खड़े होते थे। परन्तु दास स्वामी ऐसे दासों का मूल्य उन व्यक्तियों से वसूल कर लेता था जो उन्हें गिरवी रखते थे या बेचते थे।

(निष्पतित प्रेत व्यसनिनामाध ता मूल्यं भजेत)

समाज में ऐसा कोई नीच, बुरे से बुरा और गन्दा कार्य नहीं था जो इन अभागे दासों से न करवाया जाता हो। परन्तु समाज में इसे बुरा समझा जाने लगा था और कौटल्य ने व्यवस्था की थी कि जो स्वामी अपने दास को बाध्य करके मुर्दा, जलमूत्र जूठन उठवाये और स्त्री दास को अनुचित दण्ड दे, उसका सतीत्व नष्ट करे, नंगा होकर उसके सामने जाय या उसे बुलवाये, ऐसे व्यक्तियों का वह मूल्य जब्त कर लिया जाता था जिसके बदले में वे दास या दासी बनाये गये थे और यदि यही अपराध धात्री (धाय) परिचारिका, अर्द्धसीतिका (जिनकी स्त्रियाँ पुरुषों के साथ काम में हाथ बँटाती हैं) तथा बाहरी दासों के साथ किया जाता था तो उन्हें तुरन्त मुक्ति दिला दी जाती थी।

और यदि कोई स्वामी ये ही बुरे कार्य किसी ऐसे दास से करवाता था जिसका जन्म

उच्च कुल में हुआ हो तो वह व्यक्ति स्वयं ही अपने को मुक्त घोषित कर सकता था और स्वामी को छोड़कर चला जा सकता था।

(सिद्ध मुपचारकस्याभि प्रजातस्यापक्रमणम्)

ये स्वामी प्रतिदिन दासियों के सतीत्व का अपहरण करते थे और दूसरों के सामने उन्हें प्रस्तुत करते थे। इसीलिए कौटल्य ने व्यवस्था दी है कि धात्री आदि दासियाँ जो गिरवी रखी गयी हों उनके साथ स्वयं दुराचार करने पर प्रथम साहस तथा दूसरे के सामने उन्हें प्रस्तुत करने पर मध्यम साहस दण्ड दिया जाता। परन्तु यदि ये दासियाँ स्वयं अपनी इच्छा से ऐसा करती थी तो उस स्वामी को इतना कठोर दण्ड नहीं दिया जाता था।

(धात्रीमाहितिकां वाकामां स्ववशामधिगच्छतः पूर्वः साहसदण्डः परवशां मध्यमः)

गिरवी रखी गयी कन्या को स्वयं या अन्य व्यक्ति द्वारा दूषित करने या करवाने पर उसका गिरवी मूल्य जब्त कर लिया जाता था, कन्या को कुछ धन शुल्क रूप में देना पड़ता था और उसका दुगना धन राज्य को दण्डस्वरूप देना पड़ता था।

एक बार यदि स्वतंत्र (आर्य) व्यक्ति अपने आपको बेचकर दूसरे की दासता स्वीकार कर लेता था तो उसकी आने वाले पीढ़ियाँ भी दास ही समझी जाती थीं। इसके विरुद्ध व्यवस्था देते हुए कौटल्य ने घोषणा की थी कि अपने आपको बेच देने वाले व्यक्ति की सन्तानें दास नहीं होती बल्कि आर्य होती हैं।

(आत्मविक्रयिणः प्रजाभार्या विद्यात्)

समाज में ऐसी परिस्थितियाँ पैदा की जा रही थीं और उसके अनुकूल नियम बनाये जा रहे थे जिसमें रहकर दासों के लिए आर्य बन सकना संभव हो रहा था। यदि कोई दास स्वामी के कार्य करता हुआ उसकी स्वीकृति से दूसरे काम करके धन कमा लेता था तो वह उसकी सम्पत्ति समझी जाती थी और दायभाग के रूप में मिली सम्पत्ति का भी वही मालिक माना जाने लगता था, न कि उसका स्वामी। इस धन का उपयोग करके वह अपना मूल्य चुका सकता था और आर्यत्व ग्रहण कर सकता था। इसमें सन्देह नहीं है कि दास प्रथा के विरोध में यह बहुत बड़ा समाज सुधार था।

(आत्माधिगतं स्वामिकर्माविरुद्धं लभते पिअयं च दयम्। मूल्येन चार्यत्वे गच्छेत्)

निष्क्रय मूल्य (छुटकारा मूल्य) ग्रहण करते समय मालिक तरह-तरह की आनाकानी करते थे और ऐसी आर्थिक माँगें प्रस्तुत करते थे जिन्हें पूरा करना दासों के लिए कठिन हो और वे बाध्य होकर दास ही बने रहें। इसके लिए समाज ने नियम बनाया था कि दास के रूप में व्यक्ति को खरीदते या गिरवी रखते समय स्वामी ने जितना धन दिया हो उतना ही धन लेकर उसे छुटकारा देना पड़ेगा।

(प्रक्षेपानुरूपश्चास्य निष्क्रयः)

बहुत से व्यक्ति राजदण्ड अदा न कर पाने पर भी दास बन जाते थे। उनके लिए नियम बनाया गया था कि किसी के यहाँ इतने दिन कार्य करके जितने से दण्ड की राशि

पूरी हो जाती हो दास व्यक्ति पुनः आर्यत्व प्राप्त कर सकता है।

(दण्डप्रणीतः कर्मणा दण्डमुपनयेत्)

युद्धों में पराजित व्यक्ति दास बनाये जाते थे और जीवनपर्यन्त दूसरों के दास बने रहते थे। ऐसे व्यक्ति कुछ समय तक कार्य करके अथवा दासों का जो औसत बाजार भाव था उसकी आधी रकम अदा करके पुनः आर्य बन सकते थे।

(आर्य प्राणो ध्वजाहृतः कर्मकालानुरूपेण मूल्यार्धेन वा विमुच्येत)

परन्तु यह सुविधा केवल ऐसे दासों को थी जो आर्यों के यहाँ उदर दास आदि रूप में कार्य करते थे।

ऐसे दासों को, जो बेचता या गिरवी रखता था उसे कड़ा दण्ड दिया जाता था- जो उसके घर में ही उत्पन्न हुए हों, दायभाग के रूप में हिस्से में आये हों, जिनके बन्धु-बान्धव न हों और जिनकी आयु आठ वर्ष से कम हो, दासी जो गर्भवती हो और जिसके गर्भ की रक्षा की समुचित व्यवस्था न की गयी हो, ऐसे दासों को जो खरीदता था एवं गवाही देता था उसे भी दण्ड मिलता था।

(गृहे जात दायागत लब्ध क्रीतानामन्यतमं दासमूनाष्टवर्ष विवंधमकामं नीचं कर्मणि विदेशे दासीं वा सगर्भामप्रति विहित गर्भमर्नण्यां विक्रयाधाने नयतः पूर्वः साहसः दण्डः क्रेतश्रोतृणां च)

कुछ स्वामी दास का मूल्य स्वीकार नहीं करते थे ताकि वे दासों को जीवनपर्यन्त रख सकें। ऐसे स्वामियों को १२ पण आर्थिक दण्ड दिया जाता था।

(दास मनुरूपेण निष्क्रयेणार्यकुर्वतो द्वादशपणों दण्डः)

और यदि बिना कारण उसे कोठे में मढ़ देता था तो ही दण्ड पाता था।

दासों के पास जो थोड़ी बहुत सम्पत्ति होती थी उसे दास स्वामी अपनी ही सम्पत्ति मानते थे। इसके विरुद्ध यह व्यवस्था की गयी थी कि दास को सम्पत्ति के स्वामी उसके बन्धु-बान्धव समझे जायँ न कि दास स्वामी और उनके न होने पर ही स्वामी मालिक समझा जाता था।

(दासद्रव्यस्य ज्ञातयो दायादाः। तेषामभावे स्वामी)

दास स्वामी दासियों के साथ मनमानी करते थे जिसकी रोकथाम के लिए नियम बनाया गया था कि यदि स्वामी से दासी सन्तान उत्पन्न हो जाय तो वह सन्तान तथा दासी दोनों मुक्त समझे जायँ।

(स्वामिनोअस्या दास्यो जातं समातृकमदासं विद्यात्)

और यदि वह दासी स्वामी के यहाँ पत्नी के रूप में रहना पसन्द करती थी तो अपने समेत उसकी माता, भाई और बहन सभी मुक्त हो जाते थे। दास अथवा दासी को एक बार मुक्त करके पुनः बेचने या गिरवी रखने पर १२ पण दण्ड मिलता था।

(गुह्या चेत्कुटुम्बार्थचिन्तिनी माता भ्राता भगिनी चास्या अदासाः स्युः दासं दासी वा निष्क्रीय पुनर्विक्र्याधानं नयतोव द्वादश पणो दण्डः)

दास स्वामियों ने राज्य पर दबाव डालकर यह नियम अवश्य बनवा लिया था कि यदि ऐसे दास तथा दासी स्वयं अपने आपको गिरवी रखना चाहे या बिकना चाहे तो स्वामी निरपराध समझा जाय।

ऐतिहासिक रूप से कौटल्य कालीन भारत दासप्रथा के अन्त तथा सामन्तवाद के उदयकाल का संक्रमण था जिमसें दास प्रथा के घृणित अवशेष पूर्णरूप से विद्यमान थे और सामन्तवाद दासप्रथा पर चोट तो कर रहा था परन्तु उसका उच्छेद करना नहीं चाहता था। वह केवल उसके ऐसे रूपों पर चोट करता था जो सामन्ती कृषि-व्यवस्था के विकास में बाधक थे और इसीलिए कर्मकरो (मजदूरों) के रूप में ऐसे नये वर्ग का निर्माण कर रहा था जो अर्द्धभुखमरी के वेतनों के प्रलोभन में खेतों में काम करके उसकी सम्पत्ति बढ़ावें और उसकी स्वयं की आर्थिक स्थिति दासों से अधिक भिन्न न हो। वह किसी मानवीय भावना से प्रेरित होकर दास प्रथा पर अंकुश नहीं लगा रहा था, प्रत्युत यह सोचकर दासों को स्वामियों के चंगुल से छुड़ाना चाहता था कि खेती के लिए उपयोगी श्रमशक्ति सुलभ हो सके। निठल्ले, काहिल और विलासी दास-स्वामी आसानी से दासों को मुक्त करके खेती जैसे लाभदायक कार्य में नहीं झोंक सकते थे। स्वामियों के मुकाबिले सामन्त न केवल विकसित अर्थव्यवस्था के प्रतिनिधि थे प्रत्युत अधिक साहसी, अधिक अध्यवसायी, अधिक प्रगतिशील एवं इसीलिए अधिक मानवतावादी थे। सामन्तवाद के विकसित आचार्य कौटल्य ने दास-प्रथा पर जितना अंकुश लगाया है उसका शतांश भी दूसरे आचार्यों के शास्त्रों में दिखाई नहीं देता। वास्तव में कौटल्य ने निरंकुश दास स्वामियों के असीमित अधिकारों पर रोक लगाकर केवल अपने मानवतावादी दृष्टिकोण का प्रतिपादन नहीं किया है, बल्कि उस युग की आर्थिक तथा सामाजिक समस्याओं के समाधान के रूप में इसे पेश किया है, ताकि दास प्रथा एवं सामन्तवाद के अन्तर्विरोध उन्नत खेती एवं सामन्तवाद के पक्ष में समाहित हो सकें।

स्त्रियों की आर्थिक स्थिति

स्त्री आर्थिक दृष्टि से पुरुष पर निर्भर हो चुकी थी और वह भी पूरी तरह। केवल कुछ अर्द्धसीमित जातियाँ थीं जिनके सम्बन्ध में कौटल्य ने लिखा है कि वे जीविकोपार्जन में अपने पुरुषों का हाथ बँटाती थीं। कौटुम्बिक अथवा कबीला अर्थव्यवस्था में स्त्री आर्थिक दृष्टि से पुरुष के समान आत्मनिर्भर थीं। परन्तु सामन्ती अर्थव्यवस्था का विकास होते-होते और सामाजिक श्रम का विभाजन होते-होते स्त्री घर की बन्दिनी होती गयी जिसकी प्रशंसा में गृह-स्वामिनी नाम पड़ा जिसका वास्तविक अर्थ था गृहदासी। विवाह उसके लिए जीविका का साधन था और धीरे-धीरे वह सभी क्षेत्रों से सिमट कर घर में बन्द हो गयी। विवाह के समय प्रत्येक परिवार को स्त्री के लिए एक सुरक्षित कोष जमा करना पड़ता था। परन्तु यह केवल नामचारे की नहीं वल्कि ठोस रकम होती थी। जिसके सहारे स्त्री संकटकाल में

अपना भरण-पोषण कर सकती थी। इसे स्त्री-धन कहा जाता था। स्त्री-धन यद्यपि विशुद्ध रूप से स्त्री का होता था और उसी की इच्छा के अनुसार वह खर्च किया जा सकता था तथापि उसके लिए विशेष नियम बने हुए थे, जिनका पालन करके ही स्त्री अपना स्त्री-धन काम में ला सकती थी।

वृत्ति और आवध्य नाम से दो प्रकार का स्त्री धन होता था। दो हजार पण से अधिक धन वृत्ति के रूप में कहीं जमा करना पड़ता और आवध्य स्त्री धन की कोई मात्रा निश्चित नहीं थी।

(वृत्तिरावध्यं वा स्त्रीधनम्। पर द्विसाहस्त्रा स्थाप्या। आवध्यानियमः)

यदि स्त्री अपने पति के विदेश चले जाने पर अपने और अपनी पुत्रवधू के जीवन-निर्वाह पर स्त्री धन खर्च करती थी तो मान्य समझा जाता था। परिवार पर आयी किसी आकस्मिक या दैविक विपत्ति के समय स्त्री धन खर्च किया जा सकता था। परन्तु अनुकूल परिस्थितियाँ आने पर उसे परिवार को पूरा करना पड़ता था। इसी प्रकार, दो बच्चे पैदा होने पर स्त्री-पुरुष आपसी स्वीकृति से स्त्री धन काम में ला सकते थे। परन्तु यह अधिकार केवल पहले चार आर्य विवाहों में था। गान्धर्व तथा आसुर विवाहों में ऐसा करने पर ब्याज सहित मूलधन जमा करना पड़ता था और राक्षस तथा पैशाच विवाहों में चोरी का दण्ड भी पृथक् से भरना पड़ता था।

पति के मर जाने पर स्त्री को यह अधिकार था कि वह अपना स्त्री धन (जो प्रायः अन्य व्यक्तियों के पास सुरक्षित रखा जाता था) एवं आभूषण आदि एवं विवाह शुल्क आदि तुरन्त अपने अधिकार में कर ले। ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय वर पक्ष से कन्या पक्ष कुछ शुल्क ग्रहण करता था और आज भी जैसा कि मुसलमानों में कुछ धन स्त्री के लिए जमा करने की प्रथा है, पूरे भारत में प्रचलित थी और यह धन स्त्री की स्वीकृति के बिना पति भी खर्च नहीं कर सकता था। धीरे-धीरे यह प्रथा उठ गयी और अब कदाचित् बहुत लम्बे समय से केवल आभूषणों के रूप में ही स्त्री धन की प्रथा शेष रह गयी है।

यह सुविधा स्त्री को उस समय नहीं मिलती थी जब वह पति के मर जाने पर दूसरा विवाह करती थी। तब उसे ब्याज सहित पूरा स्त्री धन लौटाना पड़ता था। हाँ, यदि वह पुत्र की कामना से दूसरा विवाह करती थी तो केवल विवाह के अवसर पर ही अपने श्वसुर या पति का दिया हुआ धन प्राप्त कर सकती थी। यदि वह स्त्री अपने श्वसुर की इच्छा के विरुद्ध दूसरा विवाह करती थी तो स्त्रीधन प्राप्त करने का अधिकार छिन जाता था। यदि उसके बन्धु-बान्धव दूसरा विवाह करते थे तो उसके श्वसुर को सम्पत्ति उसे लौटानी पड़ती थी। दूसरा विवाह कर लेने पर दूसरे पति की सम्पत्ति में स्त्री का अधिकार समझा जाता था परन्तु पहले पति की सम्पत्ति में उसका अधिकार छिन जाता था। दूसरा विवाह न करने पर ही पहले पति की सम्पत्ति में उसका अधिकार सुरक्षित होता था। परन्तु पुत्रवती स्त्री दूसरा विवाह करने पर किसी भी तरह स्त्रीधन की अधिकारिणी नहीं समझी जाती थी। उस सम्पत्ति के अधिकारी पुत्र समझे जाते थे। यदि केवल पुत्रों का भरण-पोषण करने के लिए

वह दूसरा विवाह करती थी तो अपना स्त्रीधन उसे पुत्रों के नाम कर देना पड़ता था।

(पुत्र भरणार्थ वा विन्दमाना पुत्रार्थ स्फाती कुयात्)

परन्तु यह संभव है कि उसके अनेक पुत्र हों और वे अनेक पतियों से उत्पन्न हुए हों। ऐसी स्थिति में वह स्त्री यह जानते हुए कि कौन-सा पुत्र किस पिता से उत्पन्न हुआ है, उनकी सम्पत्ति में पुत्रों को भागीदार कर देती थी। स्त्री से समाज यह आशा करता था कि जो धन केवल उसी के निजी उपयोग के लिए हो वह उस धन को भी अपने पुत्रों के नाम कर देगी।

इसी प्रकार, यदि पति के जीवित रहते हुए स्त्री मर जाती थी तो उसका धन पति को नहीं प्रत्युत पुत्रों को मिलता था। पुत्र न हो तो पुत्रियों को मिल जाता था। पति को तभी मिलता था जब मृत पत्नी पूरी तरह निःसंतान हो। परन्तु उस स्त्री के बन्धु-बांधवों ने विवाह शुल्क अथवा दूसरे रूपों में जो धन उसे दिया हो वे पति से अपना धन वापस ले सकते थे।

विवाहों के भेद

देश में आठ प्रकार के विवाह प्रचलित थे। ब्राह्म, प्राजापत्य, आर्य, दैव, गान्धर्व, आसुर, राक्षस तथा पिशाच।

ब्राह्म विवाह - पिता द्वारा अपनी कन्या सजा कर स्वयं दूसरे को दे देना।

प्राजापत्य विवाह - कन्या और वर स्वयं अपनी इच्छा से सन्तान उत्पन्न करने के लिए अपने माता-पिता की स्वीकृति से जो विवाह करे वह प्राजापत्य कहलाता था।

आर्य विवाह - वर से गायों का जोड़ा लेकर कन्या दे देना।

दैव विवाह - अग्नि की प्रदक्षिणा करवा कर वर को कन्या दे देना।

गान्धर्व विवाह - अपने-अपने माता-पिता की स्वीकृति या जानकारी के बिना ही वर और कन्या का आपस में मिलकर विवाह करना।

आसुर विवाह - कन्या पक्ष को धन देकर विवाह करना।

राक्षस विवाह - कन्या और उसके पिता दोनों की इच्छा के विरुद्ध जबरदस्ती विवाह कर लेना।

पैशाच विवाह - रोती-बिलखती कन्या का जबरदस्ती अपहरण करके ले जाना।

यद्यपि समाज में ये आठों विवाह प्रचलित थे और समाज ने इन्हें मान्यता दे रखी थी और सभी में कानूनी अधिकार प्राप्त थे, परन्तु फिर भी पहले चार विवाह समाज में प्रतिष्ठा की दृष्टि से देखे जाते थे।

इन सभी विवाहों की विवेचना का अन्तिम निष्कर्ष यही था कि विवाह सभी श्रेष्ठ हैं यदि उनमें पति और पत्नी का आपसी सम्बन्ध एक दूसरे की प्रीति पर आधारित हो। कौटल्य कालीन भारत में विवाह सम्बन्धों की श्रेष्ठता पारस्परिक प्रेम पर निर्भर करती थी।

(सर्वेषां प्रीत्यारोपणमतिषिद्वम्)

स्त्रियों की स्वतंत्रता का अन्त

कौटल्य कालीन भारत सामन्तवाद के अभ्युत्थान का युग है। इसमें स्त्रियों की वह स्वतंत्रता कायम नहीं रह सकती थी जो उन्हें मातृसत्ता युग में या वैदिक काल में प्राप्त थी। जैसे-जैसे सामन्तवाद का विकास होता गया पूरा स्त्री-समाज भयानक प्रतिबन्धों एवं असह्य नियंत्रण में फँसता गया। यद्यपि कौटल्य व्यक्तिगत रूप से स्त्रियों के प्रति अत्यन्त सहानुभूतिपूर्ण थे और अपने अर्थशास्त्र में स्थान-स्थान पर वे स्त्रियों के प्रति उदारता के भावों का दिग्दर्शन करते हैं, परन्तु एक व्यक्ति के विचार, फिर वह चाहे कौटल्य जैसा महान् साम्राज्य का संस्थापक ही क्यों न हो, समाज व्यवस्था के अनिवार्य नियमों का प्रतिवाद एवं व्यापक अपवाद नहीं कर सकते थे। स्त्रियों का आर्त्तनाद पूरे समाज में गूँज रहा था। परन्तु पूरे संसार में व्याप्त सामन्ती बन्धनों का ही वह भारतीय संस्करण था, अधिक कुछ नहीं।

किसी भी स्त्री को पतिकुल छोड़कर भागने का अधिकार नहीं था। अधिक पीड़ा पहुँचाये जाने पर वह ज्यादा से ज्यादा किसी दयालु पड़ोसी के यहाँ जाकर शरण ले सकती थी। परन्तु यह अधिकार भी दूसरे मान्य आचार्यों के मतों के विरोध में कौटल्य ने दिया था। स्त्रियाँ यदि बिना पति की स्वीकृति के पड़ोसियों के यहाँ बैठतीं थीं, भिखारियों को देखकर भीख देती थीं और व्यापारी से सामान खरीदती या बेचती थीं तो दण्डनीय समझी जाती थीं। ऐसी स्त्रियों के विरुद्ध न्यायाधिकरण तक में अभियोग चलाया जा सकता था। किसी बदनाम व्यक्ति के साथ बात करने पर तो उस पर मुसीबतों का पहाड़ ही टूट जाता था। यदि दूसरे पड़ोसी की स्त्री को उसके यहाँ आ जाने पर आपत्ति न हो, तो भी उसे ऐसा करने पर १०० पण दण्ड भरना पड़ता था। स्त्रियों के लिए यह प्रतिबन्ध था कि वे घर की चहारदीवारी से बाहर पाँव न रखें। किसी भी व्यक्ति को यह अधिकार नहीं था कि वह पड़ोसी की स्त्री को अपने यहाँ शरण दे सके। यदि पति अपनी पत्नी पर घोर अत्याचार एवं यातना ढाता था तो पड़ोसियों को स्त्री की सहानुभूति में मुँह खोलने का अधिकार नहीं था। मुँह खोलने पर वे लांछित समझे जाते थे।

इस निरंकुश व्यवहार से जब स्त्रियों की व्यथाओं से पूरा समाज व्यथित हो उठा तो कौटल्य एवं दूसरे आचार्यों ने व्यवस्था दी थी कि ऐसे अत्याचार होने पर स्त्री अपने सगे-सम्बन्धियों, सुखी एवं प्रभावशाली ग्राम मुख्य, स्त्रीधन के रक्षक, भिक्षुकी (तपस्विनी) आदि के घर में, जहाँ पुरुष न रहते हों, जाकर शरण ले सकती है। कौटल्य ने इससे भी अधिक अधिकार देते हुए व्यवस्था दी कि अपने पतिव्रत धर्म का पालन करती हुई साध्वी पत्नियाँ सभी संकटकालीन स्थितियों में अपने सम्बन्धियों तथा पारिवारिकों का सहारा ले सकती हैं और ऐसा करने पर उन्हें राजदण्ड का भागी नहीं समझा जा सकता। उन्होंने कहा कि मृत्यु, बीमारी, आपत्ति एवं प्रसव के समय अपने सम्बन्धियों के यहाँ जाना स्त्री के लिए वर्जित नहीं है।

(पतिविप्रकारात पति ज्ञाति सुखावस्थग्रामिकान् वाधिभिक्षुकी ज्ञातिकुलानामन्यतममपुरुषं

गन्तुमदोष इत्याचार्याः। सपुरुषं वा ज्ञातिकुलं कुतो हि साध्वीजनत्य छलं सुखमेतदवबोद्धुमिति कौटल्यः)

इसमें 'कतो हि साध्वीजनस्य छलम्' शब्द से, जिसका अर्थ हुआ कि वे साध्वी पत्नियाँ छल क्या जानें, से स्पष्ट है कि कौटल्य के मन में पीड़ित स्त्री समाज के प्रति कितनी गहरी सहानुभूति थी? इसीलिए उन्होंने कहा कि यदि ये साध्वी स्त्रियाँ पुरुषवाले घरों में जाकर भी शरण ले लें तो क्या हानि है?

कौटल्य ने इस व्यवस्था को स्त्रियों के अधिकार के रूप में मानते हुए कहा है कि – जो पुरुष ऐसे अवसरों पर स्त्री को मायके (सम्बन्धियों के यहाँ) जाने से रोके उसे राजदण्ड मिलना चाहिए। इसका अर्थ हुआ कि यह अधिकार पति की इच्छा पर नहीं प्रत्युत पीड़ित पत्नी की इच्छा पर निर्भर करता था।

(प्रेत व्याधि व्यसनगर्भ निमित्तमप्रतिषिद्मेव ज्ञातिकुल गमनम्। तन्निमित्तं वारयतो द्वादशमणो दण्डः)

परन्तु यह सुविधा देकर भी कौटल्य ने पीड़ित स्त्री पर कुछ प्रतिबन्ध लगाये थे। उदाहरण के लिए, वह ऊपर लिखे कारणों का बहाना करके मायके नहीं जा सकती थी। उसके सम्बन्धियों को स्त्री के आगमन की सूचना उसके पति कुल में तुरन्त देनी पड़ती थी।

स्त्रियों को यह अधिकार नहीं था कि वे अपना घर और गाँव छोड़कर किसी दूसरे गाँव में प्रवेश करें। उन्हें परपुरुष के साथ समागम करने एवं निषिद्ध व्यक्तियों के साथ यात्रा करने पर कठोर दण्ड मिलता था।

जिन स्त्रियों के पति परदेश चले जाते थे वे वर्षपर्यन्त उनके आगमन की प्रतीक्षा करती थीं। पुत्रवती हों तो दो वर्ष तक और यदि वे उनके भरण-पोषण का प्रबन्ध कर गये हों तो चार वर्ष तक। इसके बाद यदि स्त्री के सगे सम्बन्धी भरण-पोषण की जिम्मेदारी नहीं लेते थे तो स्त्रीधन वापस लेकर दूसरा विवाह करने की स्वीकृति दे देते थे। परन्तु विद्याध्ययनार्थ बाहर गये ब्राह्मणों की पत्नियाँ १० वर्ष तक और पुत्रवती १५ वर्ष तक प्रतीक्षा करती थीं। परन्तु राज्य की सेवा में लगे व्यक्तियों को यह विशेषाधिकार था कि उनकी पत्नियों को आयुपर्यन्त उनके आगमन की प्रतीक्षा करनी पड़ती थी। परन्तु ऐसी स्थिति में स्त्री को यह अधिकार था कि वह समान वर्ण के किसी व्यक्ति से सन्तान उत्पन्न करवा सकती थी और इसे समाज मान्य समझता था।

(ब्राह्मणमधीनयानं दशवर्षाण्यप्रजाता द्वादश प्रजाता राजपुरुषमायुः क्षपादाकांक्षेत्। सवर्णठश्च प्रजाता नापवादं लभेत)

इन कठिन प्रतिबन्धों के बाद कौटल्य ने ऐसी व्यवस्था भी दी थी कि कुटुम्ब की सम्पत्ति नष्ट हो जाने पर, समृद्ध बन्धु-बान्धवों द्वारा छोड़ दिये जाने पर तथा जीविका के निर्वाह का साधन न होने पर पत्नी दूसरा विवाह कर ले। जो विवाहित स्त्री पहले चार धार्मिक विवाहों से बँधी होती थी वह ऐसी स्थिति पैदा होने पर केवल सात मासिक धर्म होने तक प्रतीक्षा करती थी और फिर विवाह कर लेती थी। विशेष रूप से उस स्थिति में जब

उसका पति बिना कहे परदेश चला जाता था।

इसके साथ ही, बड़े विस्तार के साथ समाज इस बात पर विचार करता था कि परदेश गये पति की स्थिति क्या है और उसी के अनसुार वह पत्नी के लिए प्रतीक्षा की अवधि तय करता था। प्राचीन साहित्य एवं शास्त्रों में इन प्रोषित भर्त्तृकाओं (जिनके पति परदेश चले गये हों) का जैसा मार्मिक वर्णन मिलता है और स्वयं कौटल्य ने जिस विस्तार के साथ इसका उल्लेख किया है उससे प्रतीत होता है कि उन दिनों कोई आसानी से परदेश नहीं जाता था और जो चला जाता था उसके लौटने की कम आशा रहती थी।

वास्तव में कौटल्य ही ऐसे पहले आचार्य प्रतीत होते हैं जिन्हें प्रोषित-भर्तृकाओं की व्यथा ने व्यथित किया और उन्होंने दृढ़ निश्चय के साथ यह व्यवस्था दी कि स्त्रियों को सताकर पतिव्रत धर्म की रक्षा करना धर्म नहीं प्रत्युत अधर्म है।

(तीर्थापराधे हि धर्मवध इति कौटल्यः)

उन्होंने सभी स्त्रियों को यह छूट दी है कि जिनके पति सदा के लिए विदेश चले गये हों या संन्यासी हो गये हों अथवा मर गये हों वे केवल सात मासिक धर्म तक और पुत्रवती वर्ष भर तक प्रतीक्षा करें। इसके बाद वे किसी देवर को पति बना लेती थीं जो धार्मिक एवं भरण-पोषण करने में समर्थ होता था, और उनमें भी उससे जो पत्नीविहीन होता था। देवर के न होने पर भाई के रिश्ते में किसी सन्निकट पारिवारिक के साथ विवाह कर लेती थीं।

इस परिपाटी का उल्लंघन करके विवाह करने वाले स्त्री-पुरुष दण्डनीय समझते जाते थे।

पति-पत्नी के आपसी विवादों के सम्बन्ध में

परिवार के सम्बन्ध में समाज ने बड़े विस्तार के साथ कुछ नियम लागू किये थे और पति-पत्नी के आपसी सम्बन्ध पारिवारिक जीवन की धुरी समझे जाते थे। यही कारण है कि पति-पत्नी के सामान्य जीवन के अलावा असामान्य एवं उत्तेजित परिस्थितियों के लिए भी विशेष नियम बनाये गये थे।

१२ वर्ष की स्त्री तथा १६ वर्ष का पुरुष प्राप्त-व्यवहार (बालिग) समझे जाते थे। इससे अधिक आयु होते ही सामान्य अपराध करने पर स्त्री को १२ पण तथा पुरुष को २४ पण का दण्ड दिया जा सकता था। समान अपराध करने पर भी पुरुष को स्त्री से दुगना दण्ड मिलता था।

स्त्री-पुरुष में आपसी कलह होने पर पुरुष के लिए यह आवश्यक समझा जाता था कि वह स्त्री की आवश्यकता एवं अपनी आय के अनुसार उसके भरण-पोषण की व्यवस्था करे। स्त्री का भरण-पोषण करना पुरुष का अनिवार्य सामाजिक कर्त्तव्य था। परन्तु यदि पत्नी अपने मायके में या स्वतंत्र रूप से और पति से पृथक् रहती हो तो पुरुष खर्च देने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता था।

समाज में स्त्रियों को दूसरी श्रेणी का अर्थात् निम्नकोटि का नागरिक समझा जाता था और पुरुषों की तुलना में उन्हें हीन माना जाता था। उदाहरण के लिए यदि स्त्री पुरुष में विवाद होता था तो यद्यपि यह परम्परा थी कि पुरुष पहले स्त्री को कठोर वचन बोले बिना या गाली दिये बिना सही मार्ग पर लाने का प्रयत्न करता था, परन्तु इससे सफलता न मिलने पर उसे थोथे बाँस की लकड़ी, रस्सी तथा थप्पड़ से तीन बार पीट सकता था। स्पष्ट है कि क्रोध में पीटते समय कोई भी पति तीन तक गिनती करके कैसे बीच में रुक सकता था। इसके बाद उसे कठोर वाचिक एवं शारीरिक दण्ड दिया जा सकता था।

(श्वसुरकुलं प्रविष्टायां विभक्तायां वा नाभियोज्यः पतिः।)

(नाने विनग्नेअपितृके अमातृक इत्यनिर्देशेन वा विनयग्रहणम् वेणदल रज्जुहस्तानामन्यतमेन वा पृष्ठे त्रिराघातः। तस्यातिक्रमे वा दण्डपारुष्य दण्डाभ्यामर्धदण्डाः)

यही दण्ड उस स्त्री को दिया जाता था जो अपने मकान के सामने पीढ़ा बिछाकर बैठती थी, दूसरे पुरुषों के साथ संकेत (इशारेबाजी) करती थी और अपने पति के प्रति अकारण द्वेष रखती थी। इसी प्रकार यह परिपाटी भी प्रचलित थी कि जो स्त्री सात मासिक धर्म तक अपने पति के साथ सहवास न करे वह अपने पति को दूसरी स्त्री के साथ सहवास करने की स्वीकृति दे देती थी। इसी प्रकार जो पति अपनी पत्नी की अनवरत उपेक्षा करता था उसके लिए यह अनिवार्य था कि अपनी पत्नी को स्वतंत्र कर दे। समाज में खुले व्यभिचार के विरोध में जनमत संगठित हो रहा था। जो पुरुष अपनी स्त्री के अलावा दूसरी स्त्री के साथ मैथुन करता था और पत्नी के पूछने पर मुकर जाता था उसे १२ पण दण्ड दिया जाता था।

पति-पत्नी के आपसी सम्बन्धों का विच्छेद (तलाक) आसानी से होना संभव नहीं था। केवल पति के सम्बन्ध-विच्छेद की इच्छा से सम्बन्ध नहीं टूट सकता था। इसी तरह, पति भी अपनी अनिच्छुक पत्नी का परित्याग नहीं कर सकता था। यदि दोनों ही एक दूसरे से समान रूप से द्वेष करते थे तो सम्बन्ध विच्छेद हो सकता था। यदि केवल स्त्री के अपराध के कारण पति अपनी पत्नी छोड़ना चाहता था। तो उसकी सम्पूर्ण सम्पत्ति लौटानी पड़ती थी और यदि पुरुष के किसी दोष के कारण पत्नी पृथक् होती थी तो उसका स्त्रीधन जब्त कर लिया जाता था।

(भर्त्तारं द्विषती स्त्री सप्तार्त्तवान्यमन्यमाना तदानीमेव स्थाप्या भरणं निधाय भर्त्तारमन्यया सह शयानमनुशयीत। भिक्षुक्यन्वाधिज्ञाति कुलानामन्यतमे वा भर्त्ता द्विषन् स्त्रियमेकामनुषयीत। दुष्टलिंगे मैथुनापहारे सवर्णापसर्णेपगमे वा मिथ्यावादी द्वादश पणं दद्यात्। अमोक्ष्या भर्त्तुरकामस्य द्विषती भार्या। भक्तोपास्य भर्त्ता। परस्परं द्वेषान्मोक्षः)

यद्यपि विवाह एक रूढ़ि बनता जा रहा था जिसका सम्बन्ध जीवनपर्यन्त माना जाता था परन्तु फिर भी, वह आज की तरह निर्जीव रूढ़ि नहीं बना था जिसका सम्बन्ध

जन्म-जन्मान्तरों के साथ माना जाता है और किसी भी स्थिति में जहाँ छुटकारा संभव नहीं है।

परन्तु पहले चार धार्मिक विवाहों में सम्बन्धविच्छेद किसी भी स्थिति में मान्य नहीं समझा जाता था। स्त्रियों को दिन के समय नाटक आदि देखने एवं किसी भी समय मदिरापान का अधिकार नहीं था। किसी अन्य पुरुष के साथ ऐसा करना तो विशेष रूप से वर्जित था और रात्रि के समय कठोर दण्ड का कारण बन जाता था।

जो वन्धन स्त्रियों पर लागू थे उनसे पुरुषों को पूरी तरह छूट थी, दूसरे की स्त्री के साथ नाटक आदि देखने वाले पुरुष को विशेष राजदण्ड का भागी नहीं माना जाता था। यहाँ तक कि यदि पत्नी अपने सोये हुए या नशे में डूबे पति को अकेला छोड़कर घर से बाहर हो जाती थी तो उसे राजदण्ड मिलता था।

समाज में अभिसारिकावाद एवं खुले यौन सम्बन्धों पर कड़े प्रतिबन्ध लगाये जा रहे थे। इस प्रकार के व्यभिचारों में स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों को कड़ा दण्ड दिया जाता था। स्त्री और पुरुष यदि भद्दे ढंग से और कामोत्तेजक तरीके से एक दूसरे को संकेत करते थे तो स्त्री को २४ पण और पुरुष को ४८ पण दण्ड मिलता था। यदि पति-पत्नी के अलावा कोई पुरुष और स्त्री एक दूसरे को काटते थे या नख-छेद करते थे तो स्त्री को पूर्व साहस एवं पुरुष को मध्यम साहस दण्ड दिया जाता था। यदि रोके जाने पर भी कोई पुरुष और स्त्री शंकित स्थान पर ऐसा करते थे तो उन्हें कोड़े लगाये जाते थे। यदि रोके जाने पर भी कोई पुरुष और स्त्री छोटी-मोटी चीजें देकर एक दूसरे को लुभाते थे तो स्त्री को १२ पण तथा पुरुष को २४ पण दण्ड दिया जाता था। यदि वे आपस में मिले विना ही उपहारों का आदान-प्रदान करते थे तो आधा दण्ड दिया जाता था। बदनाम लोगों के सम्पर्क में आने का दण्ड भी यही था।

जो स्त्री राजद्रोह करती थी, आचार का उल्लंघन करती थी और घर छोड़कर इधर-उधर फिरती थी उसका स्त्री धन जब्त कर लिया जाता था, और वह आनीत (पति के दूसरा विवाह करने पर निर्वाहार्थ प्राप्त धन) और शुल्क (अपने विवाह के समय पति एवं बन्धु-बान्धवों से प्राप्त धन) से हाथ धो बैठती थी।

पुरुष और स्त्री के दूसरे विवाह की व्यवस्था

यद्यपि समाज ने दूसरे विवाह की स्वीकृति दे रखी थी और जो स्त्री या पुरुष ऐसा करते थे उन्हें पतित नहीं समझा जाता था फिर भी एक पत्नी और एक पतिव्रत धर्म को आदर्श की दृष्टि से देखा जाता था। पुराने समाज में प्रचलित बहुपति प्रथा एवं बहुपत्नी प्रथा को समाज छोड़ता जा रहा था और बहुपति प्रथा का तो लगभग लोप ही हो चुका था। पुनर्विवाह को भी समाज हतोत्साहित करता था। यद्यपि पुनर्विवाह के विरोध में कोई कानूनी

बाधा खड़ी नहीं की गयी थी, कदाचित संभव भी नहीं था, परन्तु फिर भी इतनी पावन्दियाँ लगा दी गयी थीं जिनके कारण दूसरा विवाह करने वालों को सामाजिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता था। यद्यपि ये पाबन्दियाँ स्त्रियों तथा पुरुषों पर समान रूप से लागू होती थीं, फिर भी पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों पर लगी पाबन्दियाँ अधिक कठिन थीं। उदाहरण के लिए –

यदि कोई पुरुष यह कहकर दूसरा विवाह करना चाहता था कि उसकी पत्नी बन्ध्या है तो इसके लिए उसे आठ वर्ष तक प्रतीक्षा करनी पड़ती थी। मृत बच्चे या केवल कन्या पैदा करने वाली पत्नी के पति को क्रमशः दस एवं बारह वर्ष तक प्रतीक्षा करनी पड़ती थी। तभी पुत्र की कामना से वह दूसरा विवाह कर सकता था। यह सुविधा स्त्रियों को यों ही नहीं मिल जाती थी।

समाज में गरीब और अमीर का अन्तर्विरोध पैदा हो जाने के कारण शास्त्रकारों ने सम्पत्तिधारियों के लिए एक पत्नीव्रत का सामाजिक प्रतिबन्ध ढीला कर दिया था। तभी तो कौटल्य एवं सभी शास्त्रकारों ने उन्हें चाहे जितनी स्त्रियों के साथ विवाह करने की छूट दे रखी थी।

इसके लिए यह कह कर नैतिक औचित्य देने का प्रयास किया गया था कि स्त्रियों का उपयोग सन्तान पैदा करने के लिए है।

(शुल्क स्त्री धनमशुल्कस्त्रीधानायां वा तत्प्रमाणाधिवेदनिक मनुरूपा च वृत्तिं दत्वा वहीरपि विन्देत। पुत्रार्था हि स्त्रियः)

अर्थात् यदि कोई व्यक्ति स्त्रियों के खाने-पीने तथा भरण-पोषण का प्रबन्ध कर सकता था वह चाहे जितनी स्त्रियों के साथ विवाह कर सकता था।

ऐसे पुरुषों पर राज्य की ओर से केवल इतना प्रतिबन्ध अवश्य लगाया जाता था कि बहुत से विवाह कर लेने के बाद यदि वह ऋतुकाल में (मासिक धर्म होने के बाद) अपनी पत्नी की उपेक्षा करता था तो उससे ९६ पण दण्ड लिया जाता था।

बहुत विशेष परिस्थितियों में स्त्री का यह अधिकार था कि वह अपने पति का परित्याग कर सकती थी और दूसरा विवाह भी कर सकती थी। परन्तु आज की भाँति उस पर दूसरा विवाह न करने का कड़ा प्रतिबन्ध नहीं था। यदि उसका पति नीच कर्म करने लगता था, सदा परदेश में रहता था, राजद्रोही हो जाता था, वह घातक (प्राणाभिहन्ता) हो जाता था, समाज ने उसका बहिष्कार कर दिया हो और या वह नपुंसक हो जाय तो पत्नी ऐसे पति का परित्याग कर सकती थी।

(नीचत्वं प्ररदेश वा प्रस्थितो राजकिल्विषी। प्राणाभिहन्ता पतितस्त्याज्यों क्लीबोअपि वा पतिः।)

बहुत ही संकुचित और विशेष परिस्थितियाँ जब आती थीं तभी पत्नी अपने पति से

छुटकारा प्राप्त कर सकती थी।

फिर भी, जैसे बाद में मनुस्मृति के काल में स्त्रियों पर पद-पद पर अंकुश था एवं समाज में उन्हें बहुत गिरी हुई दृष्टि से देखा जाता था, कौटल्यकालीन भारत में उसी भाँति उनका चरम सामाजिक पतन नहीं हुआ था।

मनु ने कहा है – 'पिता शैशव में, पति यौवन काल में और वृद्धावस्था में बेटे स्त्री की रक्षा करते हैं। स्त्री को किसी अवस्था में भी स्वतंत्रता नहीं देनी चाहिए।'

(पिता रक्षति कौमारें भर्त्ता रक्षति यौवने।
पुत्रा रक्षन्ति वर्द्धक्ये न स्त्री स्वातंत्र्यमर्हति।।)



अध्याय-आठ

सामान्य प्रशासन

सीमा सम्बन्धी विवादों का निबटारा

कौटल्य कदाचित् सर्वप्रथम राजनेता और सिद्धान्त-शास्त्री थे जिन्होंने भारतवर्ष का अखण्ड राजनीतिक रूप में दर्शन एवं संगठन किया। इसके पहले के शास्त्रकारों ने यद्यपि 'चक्रवर्ती राज्य की कल्पना की थी और प्रत्येक सामन्त कालीन लेखक एवं कवि ने अपने आश्रयदाता राजा को चक्रवर्ती राजा के रूप में चित्रित किया था, परन्तु वास्तविकता यही रही है कि वे राजा छोटे-मोटे प्रदेशों के और अधिक से अधिक सौ दो सौ किलोमीटर व्यास से अधिक क्षेत्रफल के शासक नहीं होते थे। इनकी सामन्ती प्रतिद्वन्द्विताएँ उन्हें सदा आपसी मुठभेड़ों में व्यस्त रखती थीं और इस प्रकार उनकी राजनैतिक, सैनिक और आर्थिक शक्तियों का निरन्तर ह्रास होता रहता था। परन्तु कौटल्य का चक्रवर्ती राज्य व्यावहारिक था और जैसा कि कौटल्य ने स्वयं कहा है कि 'हिमालय से दक्षिणी महासागर तक और पश्चिम से पूर्व की ओर एक हजार योजन (४००० कोस या ५५०० मील) लम्बा भूखण्ड चक्रवर्ती क्षेत्र होता है।' इसका अर्थ हुआ कि अफगानिस्तान से लेकर बर्मा और उससे आगे दक्षिणी-पूर्वी एशिया के कुछ देशों तक कौटल्य अखण्ड भारतवर्ष का दर्शन करते थे। अपने अनुशासित शिष्य चन्द्रगुप्त मौर्य के खड्ग की छाया में उसने ऐसे ही अखण्ड भारतवर्ष की राजनीतिक एकता के स्वप्न देखे थे एवं उन्हें अपने बुद्धि वैभव से साकार किया था।

परन्तु ऐसे विशाल हिन्दू साम्राज्य का सामान्य प्रशासन किन्हीं मान्य सिद्धान्तों के अभाव में चल नहीं सकता था और न इतना बड़ा राज्य केवल एक ही ओर अविभाज्य प्रशासनिक इकाई के रूप में व्यवस्थिति ढंग से चल सकता था। इसीलिए राज्य की विशाल सीमाओं के अधीन छोटे-छोटे प्रदेशों, जनपदों, नगरों (स्थानीय निकायों) और ग्राम समुदायों की स्थापना की जाती थी और उनके छोटे-बड़े शासक नियुक्त किये जाते थे। इन इकाइयों की सीमाएँ होती थीं जिनका पालन सभी के लिए अनिवार्य था और उनका उल्लंघन करने वाला व्यक्तिगत रूप में तथा सामूहिक रूप में दण्डनीय समझा जाता था।

यदि दो गाँवों के बीच की सीमा पर विवाद उठ खड़ा होता था तो उन गाँवों के मुख्य अथवा आस-पास के पाँच या दस गाँवों के मुखिया इकट्ठे होते थे जिन्हें पंचग्रामी एवं दशग्रामी कहा जाता था और वे स्थायी एवं अस्थायी रूप से सीमा का अंकन कर देते थे।

जब इतने से भी विवाद शान्त नहीं हो पाता था तो गाँव वाले, किसान वृद्ध तथा अन्य अनुभवी व्यक्ति जो कि सीमाओं से पूर्व परिचित न हों, अपने वेश में परिवर्तन करके और दोनों गाँवों की सर्वसाधारण जनता में घुल-मिलकर वास्तविकता का पता लगाते थे। उनकी गवाही के आधार पर अन्तिम रूप से सीमा का विवाद शान्त कर दिया जाता था।

बने-बनाये सीमा-चिन्हों को जो तोड़ देते थे उन्हें एक हजार पण दण्ड दिया जाता था। सीमा के प्रश्न पर स्वयं राजतंत्र इतना सचेत एवं जागरूक था कि किसी भी तरह विवाद शान्त न होने पर राज्य स्वयं हस्तक्षेप करता था एवं अपना अन्तिम निर्णय देता था।

यदि खेतों की सीमा पर विवाद हो जाता था तो सामन्त एवं ग्रामवृद्ध न्यायालय के रूप में कार्य करते थे। उनमें मतभेद हो जाने पर बहुमत का निर्णय मान्य समझा जाता था। अपवादस्वरूप कभी-कभी ईमानदार व्यक्तियों के अल्पमत के मुकाविले बहुमत का निर्णय अमान्य भी कर दिया जाता था। यदि दोनों किसान अन्तहीन ढंग से विवाद करते थे तो राजा उनकी विवादास्पद सम्पत्ति का स्वामी वन जाता था। लावारिस की सम्पत्ति भी राज्य की ही समझी जाती थी। दूसरे के मकान तथा भूमि आदि पर जबरदस्ती अधिकार जमा लेने पर चोरी का दण्ड दिया जाता था। जो किसान खेत की मेड़ (डील) काटकर अपना खेत बढ़ाने का प्रयत्न करते थे, उन्हें प्रथम साहस. दण्ड दिया जाता था और मेड़ को बिलकुल समाप्त कर देने पर और भी कड़ा दण्ड मिलता था।

इसी प्रणाली से तपोवन, चारागाह, राजमार्ग (बड़ी सड़कें), श्मशान, देवालय, यज्ञ स्थान तथा अन्य पुण्य एवं सार्वजनिक स्थानों की सीमाओं के विवादों का निबटारा किया जाता था।

जनपदों में जनगणना और खतौनियों का विवरण

सम्पूर्ण राज्य पहले जनपदों (प्रदेशों) में विभक्त किया जाता था और फिर प्रत्येक जनपद चार विभागों में बाँटा जाता था। वे विभाग थे – आठ सौ गाँवों में स्थानीय, चार सौ गाँवों में द्रोणमुख, दो सौ गाँवों में खार्वटिक और दस गाँवों में संग्रहण। इन चारों संगठनों को राजकीय आय के हिसाब से श्रेष्ठ, मध्यम तथा निकृष्ट कक्षाओं में रखा जाता था। प्रत्येक गाँव का सामूहिक क्षेत्रफल, उसकी भौगोलिक स्थिति, वह दान में या छूट में दिया गया हो तो उसका उल्लेख, यदि सैनिक पुरुषों को विशेष सेवा में दिया गया हो तो उसका नामांकन, उस गाँव से राज्य को प्रतिवर्ष कितने सैनिक मिल सकते हैं, वहाँ प्रतिवर्ष कितना अनाज, पशु और धन पैदा होता है, राज्य को कितना मिल जाता है तथा समय पड़ने पर कितने बेगारी मिल सकते हैं, आदि का समस्त विवरण पुस्तक में लिखने की परिपाटी थी। इन गाँवों को ५-५ या १०-१० के संगठनों में बाँधकर गोप नामक अधिकारी की नियुक्ति की जाती थी जो राज्य की ओर से वहाँ प्रशासक एवं संगठन का कार्य करता था। जनपदों में गोप नामक अधिकारी निम्नस्तर पर राज्य का प्रमुख प्रतिनिधि माना जाता था। यह सब संगठन समाहर्त्ता नामक सर्वोच्च्य अध्यक्ष के निर्देशन में होता था।

(समाहर्त्ता चतुर्था जनपदं विभज्य ज्येष्ठ मध्यम कनिष्ठ विभागेन ग्रामाग्रं परिहारक मायुधीयं धान्य पशु हिरण्य कप्प विष्टिकर प्रतिकर मिदमतावदिति निबन्धयेत्। तत्प्रदिष्टः पंचग्रामीं दशग्रामीं वा गोपश्चिन्तयेत्)

गोप अधिकारी की देखरेख में राज्य प्रत्येक गाँव के सम्बन्ध में निम्नलिखित विवरण

अपनी विवरण पुस्तिका (रजिस्टर) में रखता था –

उस गाँव की सीमा को दूसरे गाँव की सीमा से पृथक करने वाली नदी, पर्वत, टीला या अन्य कृत्रिम सीमा-चिह्न, कृष्ट (मजरुआ) भूमि कितनी है, अकृष्ट (गैरमजरुआ) भूमि कितनी है, स्थल अर्थात् औसत भूमि से कुछ ऊँची भूमि कितनी है, केदार अर्थात् औसत भूमि से कुछ नीची भूमि कितनी है, आराम (बागो में) कितनी भूमि है, पण्ड (केले आदि की वन भूमि) कितनी है, वाट (ईख आदि) के खेत कितने हैं, वन (ईमारती लकड़ी) के जंगल कितने हैं, वास्तु (आबादी) में कितनी भूमि है, चैत्य और देवगृह आदि पवित्र स्थानों में घिरी भूमि कितनी है, सेतुबन्ध, तालाब और पानी में डूबी एवं सिंचाई के कार्य से सम्बन्धित भूमि कितनी है, श्मशान, सत्र, अन्न देने का स्थान। प्रथा (व्यक्ति) अन्य सार्वजनिक स्थान, विवीत (चारागाह) और रथ, गाड़ी, पैदल आदि मार्गों के कार्य में आने वाली भूमि कितनी है और जो उस गाँव में विशेष उल्लेखनीय बात हो।

निबन्धन पुस्तक (रजिस्टर) में किसी खेत विशेष का परिमाण लिखने के साथ ही उसके पास से आने वाले सार्वजनिक मार्गों, नदी, पहाड़ तथा वृक्ष आदि का एवं उसकी मर्यादा (सीमा) का भी उल्लेख किया जाता था। ऐसे अरण्यों का भी जो किसी पुरुष विशेष के कार्य में न आते हों और इन बातों का भी कि किसने अपनी कितनी भूमि किसी पुरुष विशेष को जोतने-बोने के लिए दी है, किसने किसको क्या बेचा है, किसने किस पर क्या अनुग्रह किया है, परिहार (कर आदि में जो छूट दी गयी हो) गाँव में कितने घर कर देने वाले हैं, कितने घर विना कर देने वाले हैं (कर शब्द से यहाँ अभिप्राय गृहकर तभा भूमिकर दोनों से है - इसलिए कि कौटल्य कालीन भारत में ये दोनों कर प्रचलित थे) तथा प्रत्येक घर का पूरा विवरण कि उसमें कितने व्यक्ति रहते हैं तथा कितने कर देते हैं, आदि।

(सीमावरोधेन ग्रामाग्रं कृष्टाकृष्ट स्थल केदाराराम षण्ड वाट वन वास्तु चैत्य देवगृह सेतुबन्ध श्मशान सत्र प्रया पुण्यस्थान विवीत पथसंख्यानेनक्षेत्राग्रं, तेन सीम्नां क्षेत्राणां च मर्यादारण्य पथि प्रमथा संपदान विक्रयानुग्रह परिहार निबन्धान् कारयेत्। गृहाणां च करदाकरद संख्यानेन)

निबन्धन पुस्तक में यह विवरण भी रखा जाता था कि किसी गाँव में कितने ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्रों के घर हैं, कितने किसान, ग्वाले, वैदेहक, व्यापारी, शिल्पी, कर्मकर (वेतनजीवी मजदूर) और दास रहते हैं। प्रत्येक घर का विवरण देने के बाद गाँव का सामूहिक विवरण दर्ज किया जाता था कि कुल मिलाकर कितने मनुष्य और पशु हैं तथा कुल मिलाकर उनसे कितना हिरण्य, नौकर-चाकर (विष्टि) शुल्क एवं दण्ड राज्य को मिलता है।

(तेषु चेतावच्चातुर्वर्ष्यमेतावन्तः कर्ष क गोरक्षक वैदेहक कार कर्मकर दासा श्चैतावच्च द्विपदचतुश्पदमिदं च हिरण्य विष्टि शुल्क दण्डं समुत्तिष्ठतीति)

प्रत्येक घर का विवरण भी पृथक् से रखा जाता था कि उसमें कितने पुरुष और कितनी स्त्रियाँ बालक एवं वृद्ध हैं तथा उनकी आजीविका और व्यय क्या-क्या हैं। यही व्यवस्था जनपद के चौथे भाग का स्थानिक नामक अधिकारी रखता था। गोप और स्थानिक

के कार्यक्षेत्रों में प्रदेष्टा नामक अधिकारी पृथक् से कार्य करते थे जो गोप तथा स्थानिक के अधिकारी के साथ-साथ न्यायाधिकरण का अधिकार रखते थे और जिन्हें दण्ड देने, दण्ड ग्रहण करने, राजद्रोहियों का शमन एवं दमन करने तथा प्रजा में राजतंत्र के प्रति आस्था रखवाने का विशाल अधिकार भी था।

(कुलानां च स्त्री पुरुषाणां वाल वृद्ध कर्मचरित्राजीव व्यय परिमाण विद्यात्। एवं च जनपद चतुर्भागं स्थानिकश्चिन्तयेत्। गोपस्थनिकस्थानेषु प्रदेष्टारः कार्य करणं वलि प्रग्रहं च कुर्युः)

इन गाँवों को छोड़कर दूसरी जगह जाकर बसने वालों, फिर वहाँ से लौटकर वापस इन्हीं गाँवों में आकर बसने वालों, दूसरे प्रदेश तथा राज्य से आकर इन गाँवों में बसने वालों के आवास-प्रवास आदि का पूरा विवरण गोप एवं स्थानिक अधिकारी रखते थे और जो नट-नर्त्तक आदि राज्य की आय में विशेष सहायक नहीं होते थे, गुप्तचरों द्वारा उनकी पूरी गतिविधि की देख-रेख रखी जाती थी।

(प्रस्थितागतानां च प्रवासावासकारणमनर्थानां च स्त्रीपुरुषाणां चार प्रचारं च विद्युः)

वैदेहक (व्यापारी) के वेश में गाँवों में रहने वाले गुप्तचर खनिज, सेतुज, वनज तथा कर्मान्त पदार्थों का पूरा विवरण पृथक से रखते थे। ये वैदेहक अपना हिसाब रखते थे और इसीलिए गुप्तचर कार्यों द्वारा प्राप्त सूचनाओं का विवरण रखने पर किसी को उनपर सन्देह नहीं हो सकता था।

राज्य के करों तथा शुल्क आदि का अत्यधिक भार प्रजाजनों पर रहता था। राज्य निरन्तर अपनी वैभव वृद्धि में प्रयत्नशील था। इस भार से वचने के लिए प्रजाजन अपनी आय छिपाने का निरन्तर प्रयत्न करते थे। यही कारण है कि व्यापारिक आदि के वेश में रहने वाले गुप्तचरों से राज्य अपने ग्रामों तथा जनपदों की वास्तविक पैदावार का पूरा विवरण प्राप्त करने का प्रयत्न करता था। इसी प्रकार, गाँवों में तपस्वियों के वेश में रहने वाले गुप्तचर कर्षक (किसान) गोपालक, व्यापारी तथा अध्यक्षों के आचरणों पर निगाह रखते थे कि कहीं वे ही तो बीच में राज्य की आय नहीं खा जाते हैं? पुराने चोरों के नाम से जंगलों में छिपकर रहने वाले गुप्तचर जंगल की पैदावार का सही-सही विवरण प्राप्त करते थे।

नगरों में जनगणना और सुरक्षा आदि की व्यवस्था

प्रत्येक नगर में सामान्य प्रशासन के लिए एक उच्चाधिकारी राज्य की ओर से कार्य करता था जिसे नागरिक कहते थे। वह नगर के प्रत्येक दस या बीस कुलों पर अथवा चालीस कुलों पर एक गोप अधिकारी की नियुक्ति करता था। वह गोप पुरुष प्रत्येक घर के स्त्री-पुरुषों, उनकी जाति और गोत्र की कुल संख्या एवं उनके आय-व्यय के साधनों के उल्लेख के साथ-साथ उनकी सामूहिक गणना करता था। इन नगरों के धर्मावस्थों (धर्मशालाओं तथा विश्राम स्थानों) में आगन्तुक व्यक्ति गोप को सूचना देकर ही ठहर सकता

था। धर्मावसथ के अधिकारी अपने परिचित महानुभावों को अपनी जिम्मेदारी पर भी ठहरा सकते थे। कारु एवं शिल्पी आदि अपने परिचित शिल्पियों को अपने घरों पर ठहरा सकते थे। व्यापारियों को भी यह अधिकार था कि वे अपने सौदागरों को अपने घरों पर या दूसरे व्यापारियों के घरों पर टिका सकें। परन्तु जो सौदागर मर्यादा के विरुद्ध व्यापार करते थे राज्य की ओर से निषिद्ध वस्तुओं का या पराई वस्तुओं का तस्कर-व्यापार कराते थे उनके आगमन तथा व्यवहार की सूचना नागरिक एवं गोप को देनी अनिवार्य समझी जाती थी।

(समाहर्त्ता वन्नागरिको नगरं चिन्तयेतु। दशकुली गोपो विंशतिकुलीं चत्वारिंशत्कुली वा। सतस्यां स्त्रीपुरुषाणां जातिगोत्रना कर्मभिः जंघाग्रमायव्ययौ च विद्यात्)

मधु-विक्रेता, पका मांस बेचने वाले तथा पका अन्न बेचने वाले भोजनालयों तथा होटलों के मालिक तथा वेश्याएँ भी अपने परिचितों को अपनी जिम्मेदारी पर अपने यहाँ ठहरा सकते थे। परन्तु आगन्तुकों में जो व्यक्ति अत्यधिक खर्च करने वाला हो तथा मर्यादा से अधिक मदिरा पान करने वाला हो, उसकी सूचना गोप तथा नागरिक को अवश्य दी जाती थी। यदि किसी चिकित्सक से कोई व्यक्ति छिपे तौर पर घावों की चिकित्सा करवाता था, रोग फैलाने वाले द्रव्यों का छिपे तौर पर प्रयोग करता था और चिकित्सक की हिदायतों का उल्लंघन करता था तो चिकित्सक के लिए अनिवार्य समझा जाता था कि उसकी सूचना गोप तथा नागरिक को दे दे। ऐसा न करने पर चिकित्सक भी अपराधी समझा जाता था। यही सिद्धान्त उस गृहपति पर लागू होता था जो उसे अपने यहाँ टिकाता था।

यदि ये होटल वाले आदि आने-जाने वालों की सूचना नहीं देते थे तो उनके अपराध के समान अपराधी समझे जाते थे और उनके अपराध न करने पर भी सूचना न देने पर तीन पण दण्ड भुगतना पड़ता था।

जो गुप्तचर, व्यापारी, ग्वाले और लकड़हारे आदि के वेश में रहते थे और इसीलिए आम रास्तों के अलावा रास्तों पर घूमते थे उन्हें यह अधिकार था कि जिस किसी अजनबी व्यक्ति को निम्नलिखित अवस्थाओं में देखते थे उसे पकड़ कर गोप या उच्च अधिकारी को सौंप दें – जो नगर के बाहर या भीतर बने देवालयों, तीर्थस्थानों तथा श्मशानों में घाव लगी हालत में घूम रहे हों, निषिद्ध हथियार तथा विष आदि जिनके पास हो, जो शक्ति से अधिक भार उठाये हुए हों, डरा या घबराया हुआ प्रतीत होता हो, घोर निद्रा में सोया हुआ हो, लम्बे सफर से चूर-चूर हो, या जिसे देखकर स्वयमेव अपराधी होने की शंका होती हो।

यह समझा जाता था कि यह व्यक्ति या तो घोर अपराध कर चुका है और या करने वाला है।

(धर्मावसथिनः पाषण्डिपथिकानावेद्य वासयेयुः। स्वप्रत्ययांश्च तपस्विनः श्रोत्रियांश्च। कारुशिल्पिनः स्वकर्मस्थानेषु स्वजनं बासयेयुः वैदेकाश्चान्योन्यं स्वकर्मस्थानेषु पण्यानामदेशकाल विक्रेतारमस्वकरणं च निवेदयेयुः। शौण्डिक पक्वमांसिकौदनिकस्पाजीवाः। परिज्ञातमावासयेयुः। अतिव्ययकर्त्तारमत्याहित कर्माण च निवेदयेयुः चिकित्सकः प्रच्छन्न व्रण

प्रतीकारकारयितारमपथ्यकारिणं च गृहस्वामी च निवेद्य गोपस्थानिकयोर्मुच्ये तान्यथा तुल्यदोषः स्यात् प्रस्तितागतौ च निवेदयेत्। अन्यथा रात्रिदोष भजेत। क्षेमरात्रिषु त्रिपणं दद्यात्। पथिकोत्पथिकाश्च बहिरन्तश्च नगरस्य देवगृहपुण्यस्थानवनश्मशानेषु सव्रणमनिष्टोप-करणमुद्भाण्डीकृत नाविग्नमतिस्वप्नमध्वक्लान्तमपूर्व वा गृह्लीयुः)

इस प्रकार नगर के अन्दर शून्य स्थान में, शिल्पशाला में, मद्य की दुकानों, होटलों, पका मांस बेचने वालों की दुकानों, जुवारियों के स्थानों तथा पाखण्डियों के निवास स्थानों में उपर्युक्त लक्षणों से युक्त व्यक्तियों का अन्वेषण किया जाता था और यह माना जाता था कि ये स्थान अपराध करने वालों के केन्द्र होते हैं।

नगरों में गर्मियों के दिनों में दोपहरी के समय कोई आग नहीं जला सकता था। इसका उल्लंघन करने वाले को पण का आठवाँ भाग दण्ड देना पड़ता था। गर्मियों में तिनकों तथा फूस के मकान रखने की स्वीकृति नहीं मिलती थी। लुहार एवं बढ़ई आदि जो अग्नि से अपनी आजीविका चलाते हैं, उन्हें नगर से बाहर एकान्त में बसाया जाता था। नागरिक रात्रि के समय अपने घरों के सामने नहीं सो सकते थे। ऐसा करने से अपराधियों को छिप जाने का अवसर मिलता था। नागरिक आधी रात के बाद इधर-उधर नहीं घूम सकते थे। गलियों तथा राजपथों (बड़ी सड़कों) पर पानी भरे एक हजार घड़े हर समय तैयार रखे जाते थे। यही व्यवस्था नगर के चौराहों, प्रवेश द्वार तथा राजकोष आदि स्थानों पर रखी जाती थी।

पड़ोसी के घर से आग लगने का समाचार सुनते ही जो हाथ का काम छोड़कर तत्काल उसकी सहायता को नहीं दौड़ता था उसे राज्य की ओर से १२ पण दण्ड मिलता था। यदि मकान मालिक का किरायेदार (अवक्रयी) ऐसी लापरवाही करता था तो उसे ६ पण दण्ड मिलता था। यदि आग लगने के कारण में मकान मालिक का प्रमाण सिद्ध हो जाता था तो उससे ५४ पण दण्ड लिया जाता था। आग लगाने वाला यदि मौके पर पकड़ लिया जाता था तो आग में जिन्दा जला दिया जाता था।

गली या सड़क पर मिट्टी एवं कूड़ा डालने वाला व्यक्ति अपराधियों की श्रेणी में गिना जाता था। जो गारा और कीचड़ आदि से सार्वजनिक रास्ते रोकता था उसे भी दण्ड मिलता था। राजमार्ग इस प्रकार रोकना बड़ा अपराध माना जाता था। जो व्यक्ति राजमार्ग पर बने पवित्र स्थान, जलाशय या सरोवर, देवालय, राजकोष आदि राज परिग्रह के पास टट्टी फिरता था उसे एक पण से चार पण तक दण्ड मिलता था। इन स्थानों में पेशाब करना भी वर्जित था।

जो व्यक्ति नगर के समीप या अन्दर की ओर मरा हुआ कुत्ता, बिलाव, नकुल और सर्प फेंक देता था उसे तीन पण दण्ड मिलता था। गधा, ऊँट, खच्चर, घोड़ा और पशु का मुर्दा फेंकने पर ६ पण एवं मनुष्य का शव फेंक देने पर पचास पण दण्ड मिलता था।

शव ले जाने के लिए नियत मार्ग से भिन्न मार्ग से अर्थी ले जाने पर पूर्व साहस एवं द्वारपाल को दो सौ पण दण्ड मिलता था। इससे यह सन्देह किया जाता था कि स्वाभाविक मृत्यु से मरे किसी व्यक्ति का शव नहीं है प्रत्युत ऐसे व्यक्ति का शव है जिसकी हत्या की

गयी है। शमशान से भिन्न स्थान पर शव रखने या जलाने पर १२ पण दण्ड मिलता था।

नगरों में सोने तथा जगाने के समय तुरही बाजा बजा कर शब्द किया जाता था और इसके बाद प्रतिष्ठित नागरिकों के लिए सोना तथा जग जाना अनिवार्य समझा जाता था। सोने का बाजा बजने के बाद लोगों को सड़कों तथा गलियों में घूमने की स्वतंत्रता नहीं थी। जो आग लग जाने, प्रसूता स्त्री अथवा बीमारी के कारण एवं राज्य द्वारा स्वीकृत तमाशों में भाग लेने के कारण पकड़ लिये जाते थे, उन्हें पूछताछ के बाद छोड़ दिया जाता था।

जिन रात्रियों में आम लोगों को घूमने-फिरने की पूरी स्वतंत्रता रहती थी उन रात्रियों में भी निम्नलिखित परिस्थितियों में पाये जाने पर नागरिक पकड़ लिये जाते थे और नगर प्रमुख के सम्मुख पेश किये जाते थे - यदि कोई छिपे वेश में घूम रहा हो, यदि स्त्री ने पुरुष का और पुरुष ने स्त्री का वेश धारण कर रखा हो, यदि कोई गृहस्थ सन्यासी के वेश में हो और यदि कोई शस्त्र के साथ घूमता हो।

कारागार (बन्धनागार) में बन्द बूढ़े, बालक, बीमार और अनाथ बन्दी राजा की जन्म-गाँठ तथा पूर्णमासी आदि पवित्र अवसरों पर कारागार से मुक्त कर दिये जाते थे और जो अच्छे आचरण के अपराधी भविष्य में अपराध न करने का आश्वासन देकर अपने अपराध का निष्क्रय (आर्थिक बदला मुआवजा) भुगतान कर देते थे उन्हें बीच में ही छोड़ दिया जाता था।

सप्ताह में कम से कम पाँचवाँ दिन ऐसा अवश्य आता था जब अपराधियों से निष्क्रय लेकर उन्हें मुक्त कर दिया जाता था। निष्क्रय तीन रूपों में होता था – जेल में काम करवा कर, शारीरिक दण्ड देकर तथा सोना आदि के रूप में भुगतान ग्रहण करके। जो निष्क्रय आसानी से हो सकता था, उसी पर अपराधी मुक्त किया जाता था। किसी नये देश के जीते जाने पर अथवा युवराज के अभिषेक के अवसर पर, अथवा पुत्र जन्मोत्सव पर, अपराधी जेल से अवश्य मुक्त किये जाते थे।

(बन्धनागारे च बालवृद्धव्याधितानाथानं च जातनक्षत्रपौर्णमासीषु विसर्गः। पुण्यशीलाः समयानुबद्धा वा दोषनिष्क्रय दद्युः।)

दिवसे पंचरात्रे वा बन्धनस्थान् विशोधयेत्।
कर्मणा कायदण्डेन हिरण्यानुग्रहेण वा।।
अपूर्व देशाधिगमे युवराजभिषेचने।
पुत्र जन्मनि वा मोक्षो बन्धनस्य विधीयते।।

नाप-तौल और समय मान की प्रणाली

सामन्तवाद ने समाज के आर्थिक ढाँचे पर पूरा नियंत्रण कर लिया था और आर्थिक व्यवहार प्राकृतिक अवस्था से निकल चुका था। वस्तुओं का आदान-प्रदान व्यापक हो चला था और खेती के विकास ने प्रत्येक परिवार के पास अपनी आवश्यकताओं से अधिक पैदावार दे दी थी जिसे वह दूसरे लोगों को दे सकता था। इसीलिए आदान-प्रदान के

सामान्य नियम प्रचलित हो चुके थे और उन्हें कड़े नियमों में बाँधना आवश्यक था। समाज में एक ऐसे वर्ग ने जन्म ले लिया था जो पैदावार में तो हाथ नहीं बँटाता था बल्कि उसका केवल आदान-प्रदान करता था और इसमें वह व्यापक हेरा-फेरी करके उत्पादकों के मुकाबिले अधिक लाभ में रहता था। इसीलिए, सामन्ती समाज ने वस्तुओं के आदान-प्रदान के रूप में नापने और तोलने के सिद्धान्तों का कठोरता के साथ निर्धारण किया था। इसी प्रकार वेतनजीवी मजदूरों के उदय के साथ ही समय की पाबन्दियाँ अधिक अनिवार्य हो गयी थीं। इसके अलावा, सामाजिक जीवन के अधिक व्यवस्थित हो जाने से समय की धारणाएँ भी बदलती गयीं और उनको सुनिश्चित करना अनिवार्य हो गया।

तोलने के बाट आमतौर पर केवल सोना, चाँदी और हीरों के तोलने के लिए काम आते थे। तोलने के सब बाट या तो लोहे के बनवाये जाते थे और या फिर मगध और मेकल देश के पत्थरों से बनाये जाते थे जिन्हें सुखाकर हल्का या भिगोकर भारी नहीं किया जा सकता था और न जिन पर लेप ही किया जा सकता था। तुला भी मनमाने ढंग से नहीं रखी जाती थी। सबसे छोटी तुला छः अंगुली की और सबसे बड़ी प्रत्येक पर ८ अंगुल बढ़ाते हुए अठहत्तर अंगुल तक की हो सकती थी। इनका भार भी निश्चित था। एक पल लोहे से लगाकर प्रत्येक तुला में एक पल बढ़ते-वढ़ते ७८ अंगुलवाली तुला का भार दस पल होता था। शिक्यों (पलड़ों) का भार भी तुला भार में सम्मिलित होता था। ये तुलाएँ चाँदी-सोना तोलने के लिए होती थीं। मोटा सामान तोलने वाली तुलाओं के लिए भी निश्चित नियम थे और उनमें मनमानी नहीं की जा सकती थी। ऐसी तुलाएँ बहत्तर अंगुल, तीन हाथ लम्बी होती थीं और उनके बीच में ५ पल का कोरा लगवाया जाता था। जहाँ तोलने का निशान अंकित रहता था। इसके बाद छोटे-छोटे मापक अंक लगे रहते थे जिनके पास आये काँटे को देखकर खरीददार के मन का सन्देह दूर हो जाता था।

समाज में तुलाओं के बहुत से अवान्तर भेद प्रचलित थे और प्रत्येक के लिए पृथक-पृथक नियम थे। मोटा सामान तोलने के लिए जो बाट काम में लाये जाते थे वे इस प्रकार थे –

१. १०० पल = एक तुला
२. २० तुला = एक भार, इसी प्रकार
३. १० धरण = १ पल
४. १०० पल = १ आयमानी

कुल मिलाकर १६ प्रकार की तुलाएँ और १४ प्रकार के बाट काम में लाये जाते थे।

१. १६ द्रोण = १ खारी
२. २० खारी = १ कुम्भ
३. १० कुम्भ १ वह आदि

राज्य की ओर से इन तुलाओं तथा बाँटों का मूल्य भी निश्चित होता था जिसे

प्रजाजन नियत स्थानों से खरीदते थे।

दूरी मापने के लिए निम्नलिखित कल्पित संज्ञाएँ थीं –

१. ८ परमाणु = १ धूलिकण
२. ८ धूलिकण = १ लिक्षा
३. ८ लिक्षा = १ यूकामध्य
४. ८ यूकामध्य = १ यवमध्य
५. ८ यवमध्य = १ अंगुल
६. ४ अंगुल = १ धनुर्ग्रह
७. २ धनुर्ग्रह = १ धनुष्टि
८. २ धनुर्ग्रह = १ धनुर्मुष्टि
९. १½ धनुर्मष्टि = १ वितस्ति (बिलायंद)
१०. २ वितस्ति = १ अरत्रि (हाथ)
११. ४ अरत्रि = १ दण्ड
१२. १० दण्ड = १ रज्जु
१३. २ रज्जु = १ परिदेश
१४. १½ परिदेश = १ निवर्तन
१५. ६½ निवर्तन = १ गौरुत (कोस)
१६. ४ गोरुत = १ योजन

समय नापने की परिकल्पनाएँ निम्नलिखित थीं –

२ तुष्ट = १ लव
२ लव = १ निमेष
५ निमेष = १ काष्ठा
३० काष्ठा = १ कला
४० कला = नाडिका
२ नाडिका = १ मुहूर्त
१५ मुहूर्त = १ दिन और रात
१५ दिन = १ पक्ष
२ पक्ष = १ मास
२ मास = १ ऋतु
३ ऋतु = १ अयम (दक्षिणायन-उत्तरायण)
२ अयम = १ संवत्सर (वर्ष)
५ संवत्सर = १ युग ....

सूर्य और चन्द्रमा की गति के वैषम्य से जो मलमास (अधिक मास) होते हैं उनके लिए तीसरे साल ग्रीष्म ऋतु में तथा पाँचवें साल हेमन्त ऋतु में अधिक मास बनाने की प्रथा प्रचलित थी और इस प्रकार दोनों की गतियों में सामंजस्य स्थापित करके समन्वय कायम किया जाता था।

कुल मिलाकर नाप, तोल, मान और समय विभाग की कल्पनाओं से यह आभास होता है कि इस सम्बन्ध में जो परिभाषाएँ की गयी थीं, उनके अनुसार यद्यपि राजनैतिक तथा सामाजिक नियंत्रण और मान्यताएँ पर्याप्त मात्रा में थीं, और उनका व्यावहारिक रूप सुगठित था, परन्तु फिर भी प्रारम्भिक अवस्था से आगे नहीं गयी थी। संभवतः उस युग में इससे अधिक संभव भी नहीं था।

देश में नागरिकों के घूमने-फिरने पर प्रतिबन्ध

कौटल्यकालीन भारत का नागरिक एक स्थान से दूसरे स्थान पर तथा एक जनपद से दूसरे जनपद में आमतौर पर घूमता-फिरता नहीं था। समाज की अधिकांश जनसंख्या स्थायी रूप से एक ही स्थान पर रहती थी। पीढ़ियाँ गुजर जाती थीं, लोगों को एक ही स्थान पर रहते हुए और बाहरी दुनिया से उनका सम्पर्क नहीं के बराबर होता था। यह बात नहीं है कि पशुपालन और कबीला युग की घुमन्तू आदतें बिल्कुल समाप्त हो गयी हों और लोगों की घूमने-फिरने की रुचि का अन्त हो गया हो, बल्कि उसका एक बड़ा कारण सामन्ती प्रतिबन्ध भी था। सामन्ती राजतंत्र यह पसन्द नहीं करता था कि उसके नागरिक या प्रजाजन अपना-अपना काम छोड़कर इधर-उधर घूमने में समय खराब करें। किसी एक राज्य का नागरिक स्वेच्छा से इधर-उधर नहीं आ जा सकता था। इसके लिए उसे मुद्राध्यक्ष से एक माषक शुल्क देकर स्वीकृति पत्र लेना पड़ता था। जिस व्यक्ति के पास राजकीय मुद्रा होती थी, वही नये जनपदों में प्रवेश कर पाता था या अपने जनपद से बाहर जा सकता था। ऐसा परिपत्र (विजा) प्राप्त किये बिना नागरिकों के घूमने-फिरने पर प्रतिबन्ध था। बिना मुद्रा लिए जो यात्रा करते थे उन्हें १२ पण दण्ड भुगतना पड़ता था। जाली मोहर (कूटमुद्रा) लेकर यात्रा करने पर साहस (डाका) का दण्ड भरना पड़ता था और यदि बाहरी देश का नागरिक उस देश में तथा उसका नागरिक विदेश में ऐसी यात्रा करता था तो उसे उत्तम साहस दण्ड का भागी बनना पड़ता था।

इस प्रतिबन्ध का एक बड़ा कारण राजनैतिक था। सामन्तवाद समाज में अपना आधार कमजोर समझता था और उसे हर समय अपने अपदस्थ होने की आशंका बनी रहती थी। लोगों के निरन्तर इधर-उधर घूमते रहने में उसे आंशिक विद्रोह के संगठन की अधिक संभावनाएँ दिखायी देती थीं।

श्रमदान और सामूहिक कार्यों के सम्बन्ध में

उस किसान से अत्यय (हर्जाना) वसूल करने का अधिकार ग्रामवासियों को होता था जो गाँव में रहकर खेती न करें या सामूहिक हित के कार्यों में हाथ न बँटाएँ (अभ्युपेत्याकर्वतः)

यदि वह ऐसे कार्यों में स्वयं शारीरिक श्रम नहीं करता था तो उससे दो व्यक्तियों का दैनिक वेतन वसूल किया जाता था, सामूहिक कार्य में आये खर्च का उसे प्रति व्यक्ति के हिसाब से दुगना खर्च देना पड़ता था। (हिरण्यदान) और कार्य सम्पादन के उपरान्त सहभोज आदि में होने वाले खर्च का भी उसे दुगना हिस्सा (अंशदानम्) अदा करना पड़ता था। इस प्रकार सामाजिक अर्थतंत्र एवं विशेष रूप से कृषि के विकास कार्य में प्रत्येक ग्रामवासी को अनिवार्य रूप से हाथ बँटाना पड़ता था।

यदि पूरा गाँव मिलकर कोई नाटक, तमाशा (प्रेक्षा) आदि का प्रबन्ध करता था और कोई व्यक्ति उसके लिए आवश्यक हिस्से (अंश) का भुगतान नहीं करता था तो उसके परिवार के किसी भी व्यक्ति को उस मनोरंजन समारोह में सम्मिलित होने का अधिकार नहीं मिलता था। यदि ऐसे लोग छिपकर संगीत सुनते थे या तमाशा (प्रेक्षा) एवं नाटक आदि देखते थे और सार्वजनिक कार्यों से (सर्वहिते च कर्मणि) अपने आपको पृथक् रखते थे तो उन्हें अपने हिस्से की तुलना में दुगना खर्च अदा करना पड़ता था।

यदि कोई व्यक्ति आगे बढ़कर सामूहिक हित की पैरवी करता था और उसे सफल बनाने का प्रयास करता था तो सभी लोग उसकी आज्ञाओं का पालन करते थे। इसमें बहुमत और अल्पमत का विवाद नहीं उठाया जाता था।

(प्रच्छन्न श्रवणेक्षणे च सर्वहिते च कर्मणि निग्रहेण द्विगुणमंशं दद्यात् सर्व हितमेकस्य बुवतः कुर्युराक्षाम्।)

और यदि ऐसे सर्वहितकारी व्यक्ति के विरोध में शेष लोग गुट बना लेते थे, उसका विरोध करते थे या उसे मारते पीटते थे एवं परेशान करते थे तो सभी को दण्डनीय समझा जाता था और राज्य ऐसे व्यक्ति की रक्षा करता था।

(तं चेत्संभूय वा हन्युः पृथगेषामपराध द्विगुणो दण्डः)

यदि कोई ब्राह्मण अथवा अन्य प्रतिष्ठित व्यक्ति ऐसे सर्वहितकारी पुरुष का विरोध करते थे तो उन्हें विशेष एवं कठोर दण्ड दिया जाता था। हाँ, ब्राह्मण यदि स्वयं श्रमदान से बचना चाहता था तो उसके हिस्से का काम दूसरे कर देते थे। परन्तु अपने हिस्से का खर्च उसे भी अदा करना पड़ता था।

इस प्रकार, नयी एवं संघर्षशील व्यवस्था के रूप में पदार्पण करके सामंतवाद ने भारतीय समाज में सभी लोगों तथा शक्तियों को नवनिर्माण की दिशा में मोड़ रखा था।

सामन्ती राज्य का जो रूप सामने आ रहा था उसमें अत्यन्त विरोधी प्रवृत्तियाँ कार्य कर रही थीं। एक ओर तो समाज में अनुशासन एवं व्यवस्था की स्थापना करके सामाजिक शान्ति एवं उत्पादन वृद्धि की संभावनाएँ पैदा कर रहा था और दूसरी ओर राज्य शक्ति पर प्रभुत्व कायम करने के लिए विभिन्न सामन्ती गुटों में भयानक स्पर्द्धा पैदा करके अनवरत युद्धों, आशंकाओं तथा अशान्ति का बीजारोपण कर रहा था जिससे सामाजिक उत्पादन ठप होता था और भस्म होता था। ये राजा, जिनका बोलबाला भारत में था और

जिनके उच्छेद पर कौटल्य एक शक्तिशाली साम्राज्य की रचना कर रहे थे, हमेशा ही विद्रोहियों तथा युद्धों के ज्वालामुखी पर बैठें रहते थे, जहाँ चारों ओर अन्तहीन षड्यन्त्रों की श्रृंखलाएँ फैली रहती थीं। स्वयं कौटल्य ने भी राजतंत्र के लिए अनिवार्य माना था वह शत्रुओं से सदा सावधान रहे और स्वयं भी कभी ऐसा मौका हाथ से न जाने दे जब वह शत्रुओं के राज्य पर अधिकार कर सकता हो तथा उनका उच्छेद कर सकता हो। कौटल्य कालीन भारत में सैन्य वल से भी अधिक महत्त्व उन षड्यन्त्रों तथा षड्यन्त्रकारियों एवं प्रचारकों को दिया गया है जो शत्रु राजा की कमजोरियाँ बतावें, उन पर ठीक समय पर वार करें, अपनी कमजोरियाँ ढकते रहें, अपने पक्ष में विघटन न फैलने दें और शत्रु देश की संचित शक्ति का विघटन कर दें। इसीलिए, स्वयं कौटल्य कृत्यपक्ष (पंचमांगीशक्ति) के प्रबल समर्थक हैं और वे मानते हैं कि केवल अपने देश में कृत्यपक्ष का निवारण का संगठन तथा अकृत्यपक्ष का निवारण भी परम अनिवार्य है। यह समझा जाता था कि आमतौर पर शत्रु देश के रहने वाले चार प्रकार के व्यक्ति अपने कृत्यपक्ष का काम कर सकते हैं – क्रोधी, भयभीत, लोभी और मानी। कौटल्य ने विस्तार के साथ विचार किया है कि इन चार प्रकार के व्यक्तियों को किस प्रकार राजा अपने पक्ष में कर सकता है और अपना पंचमांगी वना सकता है।

क्रोधी वर्ग – जो लोग शत्रु राजा की प्रजा रहते हुए भी क्रोध के वशीभूत होकर उसका विरोध कर सकते हैं तथा उससे बदला लेने के लिए अपना साथ दे सकते हैं उनका संग्रह करना पहला काम बताया है। परन्तु यह सावधानी बरतने को भी कहा है कि केवल निम्नलिखित परिस्थितियाँ पैदा होने पर ही जो लोग क्रोध में आते हैं वे ही अपने कृत्यपक्ष का काम कर सकते हैं – जिन्हें धन देने की प्रतिज्ञा करके मना कर दिया गया हो, जब दो समान योग्यता वाले शिल्पियों में एक के साथ पक्षपात किया गया हो और दूसरे का तिरस्कार किया गया हो, विश्वस्त राज-कर्मचारियों द्वारा जिसका राजदरबार में प्रवेश रोक दिया गया हो, स्वयं पहले बुलाकर जिसे दुत्कार दिया गया हो, राजा की आज्ञा से कठोर कार्यों में लगाकर जिसे अनवरतम सताया गया हो, खर्च करने (रिश्वत देने) के बाद भी जिसका काम अधूरा पड़ा हो, अपने कुल क्रमागत सामाजिक आधार से जिसे वंचित कर दिया गया हो, जिसका दायभाग जब्त कर दिया गया हो, जिसे सत्कार एवं सम्मान के पद से नीचे गिरा दिया गया हो, राजकुल के लोगों ने मिलकर जिसे कलंकित किया हो, जिसकी स्त्री का अपहरण कर लिया गया हो, जिसे दूसरे के कथनमात्र से कड़ा दण्ड दे दिया गया हो, बहाना बनाकर धर्म का आचरण करने से जिसे रोका गया हो, जिसका सर्वस्व छीन लिया गया हो, जिसके परिवार को देश-निकाला दे दिया गया हो और इसी प्रकार अन्य अनुचित कार्यों से जिस व्यक्ति को सताया गया हो वह क्रोध में आकर स्वकीय राजा के विरोध में अपने पक्ष का समर्थन कर सकता है।

भीत वर्ग – निम्नलिखित कारणों से व्यक्ति भयभीत रहता है – जो धन के लिए स्वयं

किसी की हिंसा कर चुका हो, जिसने राजा के अन्तःपुर में राजा के विरुद्ध आचरण किया हो, ब्रह्महत्या आदि पाप कार्यों के कारण जो बदनाम हो चुका हो, अपने समान अपराध में दण्डित दूसरे व्यक्ति को देखकर जो घबरा उठा हो, जिसने भूमि का अपहरण किया हो, जिसे दण्ड देकर वश में किया गया हो, जिसका सब राजकीय विभागों पर अधिकार हो, जिसके पास अकस्मात् और अपनी आय से अधिक धन जमा हो गया हो, राजा जिससे द्वेष करता हो, अथवा जो राजा से स्वयं द्वेष रखता हो और इसी प्रकार के अपराधी से जो सदैव राजा से आशंकित रहता हो।

लोभी वर्ग – जिसका सब कुछ मिट गया हो, जिसके जीवन में कोई उमंग और आशा न रह गयी हो, राजा ने कर या दण्ड के रूप में जिसका सर्वस्व ले लिया हो, रुपये-पैसे के मामले में जो कमीना या खबीस हो। मद्यपान, स्त्री आदि का व्यसनी और अनाप-सनाप खर्च करने वाला व्यक्ति लोभी वर्ग का कहलाता है। उसे अपना कृत्यपक्षी बनाया जा सकता है।

मानी वर्ग – जो स्वयं को सबसे अधिक विद्वान और वीर आदि के रूप में मानता हो और जिसे यही खेद रहता हो कि दुनिया ने उसकी कद्र नहीं जानी। हर समय दूसरों से अभिवादन और मान की कामना रखता हो, अपने विरोधी की प्रतिष्ठा और मान से कुढ़ता हो, जिसे झूठी प्रशंसा करके नीच से नीच आदमी भी किसी कार्य में लगा सके, जो अपनी जान तक दाँव पर लगा सकता हो, और जो सदा एवं प्रत्येक स्थिति में असन्तुष्ट रहता हो, वह मानी वर्ग का व्यक्ति कहलाता है।

कौटल्यकालीन भारत में यह प्रचलित धारणा थी कि शत्रु के राज्य में अपने पक्ष का समर्थन करने वाले (कृत्यपक्ष पंचमांगी) आमतौर पर इन्हीं चार वर्गों में से आते हैं। यह भी अनिवार्य सैनिक धारणा थी कि दूसरे देश पर आक्रमण करने से पहले उस देश में अपना कृत्यपक्ष तैयार करना परम अनिवार्य है।

राजनीतिक गुप्तचरों को कृत्यपक्ष तैयार करने के लिए विशेष दीक्षा दी जाती थी। प्रबुद्ध वर्ग के व्यक्तियों से सम्पर्क कायम करके गुप्तचर जो काना-फूसी करते थे। उसमें उन्हें भड़काते थे, कि जैसे मदान्ध हाथी जिसे शराबी पीलवान चला रहा हो जो सामने आता है उसी को रौंद देता है, उसी प्रकार, शास्त्ररूपी आँखों से वंचित अन्धा राजा अपने ही समान अन्धे मंत्री के परामर्श पर चलता है और जनपद निवासियों तथा नागरिकों को कुचलता है। इसके कारनामों से असन्तुष्ट व्यक्तियों की संख्या बहुत बड़ी है। उन सबको जोड़कर उस दुष्ट राजा को ठिकाने लगाया जा सकता है। तब फिर इस कठिन और नेक काम को आप ही क्यों न शुरू करें?

भीत वर्ग को इस प्रकार के प्रचार से कृत्यपक्ष में सम्मिलित किया जाता था – जैसे डरा हुआ साँप जिसे भी सामने आता देखता है उसी को डस लेता है, उसी तरह अपने पापों से डरा हुआ यह राजा जब भी अवसर पाता है, चोट करता है। यदि तुम यह राज्य छोड़ कर कहीं दूसरी जगह चले जाओ तो ज्यादा हितकर होगा।

लोभी वर्ग को यह कहकर भड़काया जाता था कि – चाण्डालों की गाय का दूध चाण्डालों के ही काम आता है न कि ब्राह्मणों के। उसी भाँति, यह राजा शक्ति, बुद्धि वाक्शक्ति और आत्मसम्मान से हीन लोगों के ही काम आ सकता है न कि आप जैसे आत्मगुण-सम्पन्न लोगों के। अमुक राजा व्यक्तियों के गुणों का परीक्षक है। क्यों न आप उसी की सेवा करें, आदि?

मानी वर्ग के व्यक्तियों को भड़काने के लिए प्रायः इस प्रकार का प्रचार किया जाता था – जैसे चाण्डालों के कुएँ का पानी केवल चाण्डाल ही पी सकते हैं, दूसरों के काम में वह नहीं आता, उसी तरह, इस नीच राजा से नीच लोग ही लाभ उठा सकते हैं, आप जैसे आत्मसम्मानी व्यक्ति नहीं। अमुक राजा गुणों का पारखी है। आप क्यों नहीं उसी के पास चले जाते? आदि।

यदि वे हाँ, कर लेते थे तो आस्था की शपथ खिला कर या तो उसी राजा के यहाँ पुराने ही काम पर रहकर अपने राजा के लिए काम करने को कहा जाता था और या फिर अपने राजा के पास ले जाकर उसी कार्य पर नियुक्त करा दिया जाता था जो वह पहले मालिक के यहाँ करता था। शत्रु देश के कृत्यपक्ष को (पंचमांगियों को) साम और दाम से अपने वश में किया जाता था और उसके अकृत्यों के पक्ष (आस्था वाले व्यक्तियों) को भेद तथा दण्ड से परेशान किया जाता था।

(तथेति प्रतिपन्नांस्तान्संहितान् पणकर्मणा, योजयेतयथाशक्ति सापंसपनि स्वकर्मसु। समेत सामदाआभ्यां कुत्यांश्च पर भूमिषु। अकृत्यान् भेददण्डाभ्यां परदोषांश्च दर्शयेत्) (१५-१६ अधि. १, अध्याय १४)

अपने राज्य में कृत्यपक्ष का निवारण

राजतंत्र ने यह बात स्वाभाविक मान ली थी कि यदि एक राजा शत्रु राज्य में कृत्यपक्ष का संगठन कराता है तो प्रत्येक राजा एवं अनिवार्य रूप से शत्रु राजा भी अपने राज्य में कृत्यपक्ष का संगठन करेगा ही।

इसके अलावा, यद्यपि राजतंत्र का समाज पर पूर्ण प्रभाव जम चुका था, फिर भी राजतंत्रविहीन पुराने गणतंत्री समाज की मधुर स्मृतियाँ लोगों को बार-बार याद आती रहती थीं और उन्हें अपने सिर पर बैठे राजतंत्र का भार बहुत अखरता था। इसीलिए, राजतंत्र की ओर से कठोर आचरण होने पर प्रजाजन सरलता से राजद्रोह में प्रवृत्त हो जाते थे। उनका यह गहरा असन्तोष दूसरे राजा के लिए कृत्यपक्ष का काम करने को प्रेरित करता था।

यही कारण है कि राजा की ओर से विशाल स्तर पर गुप्तचरों की सेना नियुक्त की जाती थी जो प्रजाजनों की मानसिक स्थिति का पता लगाती रहती थी और असन्तोष निवारण के उपाय बताती थी। सत्री गुप्तचर तीर्थस्थलों तथा खान-पान के केन्द्रों में, जहाँ बड़ी संख्या में जनसमुदाय होता था, आपस में कलह प्रारम्भ करते थे। पहला सत्री दूसरे

सत्री की ओर मुखातिब होकर कहता था–

'पहले कोई राजा नहीं था। राज्य भी नहीं था। जैसे बड़ी मछलियाँ छोटी मछलियाँ खा जाती हैं, बलवान निर्बलों को खा जाते थे। तब प्रजाओं ने मिलकर वैवस्वत मनु को अपना राजा बनाया और राजतंत्र की नींव डाली। खेती का छठा और व्यापार का दसवाँ भाग और कुछ सुवर्ण राजा को कर के रूप में देना तय किया। इस अंश से राजा लोग प्रजाओं का हित साधन करते हैं। यही कारण है कि जंगलों में रहने वाले ऋषि-मुनि तक अपने बीने हुए अनाज का छठा हिस्सा राजा को देते हैं जो हम सबकी रक्षा करता है। यह राजा प्रत्यक्ष ही इन्द्र और यम के समान हैं। इनकी प्रसन्नता और कोप के परिणाम तत्काल सामने आ जाते हैं। जो राजाओं का तिरस्कार करते हैं, उन पर प्रकृति का भी प्रकोप होता है। इसीलिए राजा का कभी तिरस्कार नहीं करना चाहिए।'

इस प्रकार का प्रचार निरन्तर चलता रहता था जिससे असन्तुष्ट प्रजाजनों के लिए वह ग्राह्य होता जाये तथा प्रजाजन राजद्रोह से विमुख बने रहें।

राज्य में फैली किंवदन्ती या अफवाहों का भी पता लगाया जाता था। प्रजा में कौन लोग ऐसे हैं जो सदा ही राजा का पक्ष लेते हैं, उन्हें राजतंत्र के पक्ष में अपने सगे-सम्बन्धियों तक को प्रेरित करने को कहा जाता था। सदा असन्तुष्ट लोगों की सूचना अलग से तैयार रखी जाती थी और उनके असन्तोष का मूल कारण समझने का प्रयत्न किया जाता था। जो सदा ही राजा के प्रशंसक होते थे, उन्हें उचित राज-सम्मान देकर पुरस्कृत किया जाता था। असन्तुष्टों के असन्तोष का कारण दूर किया जाता था। असन्तुष्टों का एक दूसरे से टकराव कराया जाता था। उन्हें सामन्तों तथा आटविकों से भिड़ाया जाता था। यदि फिर भी वे असन्तुष्ट ही बने रहते थे, तो दण्डाधिकारी एवं कराधिकारी जनता को उनके खिलाफ भड़काते थे, ताकि जनता की दृष्टि में वे हल्के हो जायँ तथा प्रजाजनों का विश्वास खो बैठें। यदि यह विश्वास हो जाता था कि जनपद उनसे द्वेष करने लगे हैं तो चुपचाप उनका वध (उपांशुवध) करा दिया जाता था अथवा स्वयं जनता को भड़काकर उसी के हाथों उनकी हत्या करवा दी जाती थी, अथवा उनके सम्बन्धियों, पुत्रों तथा पत्नी को बलात् गिरफ्तार करवा कर खान खोदने के काम में लगा दिया जाता था। इससे शत्रु से मिलने की संभावनाएँ कम हो जाती थीं और वे अकेले पड़ जाते थे। राजतंत्र की यह प्रमुख धारणा थी कि क्रोधी, भयभीत, लोभी और तिरस्कृत व्यक्ति ही शत्रु से जाकर मिला करते हैं।

प्रायः गुप्तचर लोग बहुत शिक्षित और उच्च बुद्धिजीवी रखे जाते थे जो कार्लान्तिक (पहले जन्म के कर्मों का फल बताने वाला) नैमित्तिक (शुभ-अशुभ शकुनों की स्थिति बताने वाला) और मौहूर्तिक (त्रिकाल का वृतान्त बताने वाला) के रूप में रहते थे और जो मनोदशाओं के समझने में अत्यन्त प्रवीण समझे जाते थे। ये ही लोग असन्तुष्ट पक्ष का पता लगाते थे और उसके निवारण के उपायों पर सलाह देते थे।

इस प्रकार, कृत्यपक्ष और अकृत्यपक्ष (जो सदा राजा का समर्थन और शत्रु का विरोध

करते हों) का विवरण प्राप्त करना तथा उसके अनुकूल उपाय सोचना प्रत्येक राजा का अनिवार्य कर्त्तव्य समझा जाता था।

कौटल्य ने सामन्तवाद की जिस भित्ति पर राजतंत्र का भवन खड़ा किया था वह स्थायी नहीं था और सामन्तवाद के आन्तरिक विस्फोटों से वह सदा ही कम्पायमान रहता था। यही कारण है कि कौटल्य के लिए कृत्यपक्ष एवं अकृत्यपक्ष की इतनी विस्तृत विवेचना करना अनिवार्य हो गया था।

वेश्याओं, गणिकाओं के सम्बन्ध में राजकीय नीति

जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है सामन्तवाद के जन्म तथा अभ्युत्थान के साथ-साथ स्त्रियों की पराधीनता ने जन्म लिया था, उसकी चरम परिणति स्त्रियों को वेश्याओं तथा गणिकाओं के रूप में बजार में बिकने वाले माल का रूप दे देना था। राज्य में गणिकाओं तथा वेश्याओं को ठाट-बाट का नमूना माना जाता था और प्रत्येक मंगल कार्य तब-तक अधूरा बना रहता था जब तक मंगल मुखी (वेश्या) उसका मंगलाचरण न करे। उस समय के साहित्यकारों ने वेश्याओं को यही सम्मानजनक संज्ञा प्रदान कर रखी थी। गणिका की पुत्री को गणिका का ही कार्य करना पड़ता था। परन्तु वे प्रतिष्ठित घरानों की भी होती थीं। गणिकाएँ निष्क्रय का भुगतान करके आर्य स्त्री (स्वाधीन) हो सकती थीं। स्वयं राजा के लिए कम से कम तीन गणिकाएँ रखना परम अनिवार्य था। इन गणिकाओं के वेतन देखकर यह अनुमान लगाया जा सकता था कि वे राजतंत्र के उच्च मुकुट के समान थीं और उनका वेतन स्तर वही था जो सेनापति और मुख्यामात्य आदि का होता था। प्रथम गणिका को एक हजार पण और दूसरी तथा तीसरी गणिका को इसका आधा एवं तिहाई वेतन दिया जाता था।

इन गणिकाओं का सम्पत्ति पर उत्तराधिकार भी माना जाता था। उदाहरण के लिए – जो गणिका मर जाती थीं, अपना काम छोड़ देती थी या कहीं अन्यत्र चली जाती थी, उसकी बहन गणिका का कार्य करती थी। वह उसकी समस्त सम्पत्ति की उत्तराधिकारिणी हो जाती थी। परन्तु ऐसी स्थिति में उसे बहन के कुटुम्ब का भरण-पोषण भी करना पड़ता था। उसकी माता का यह अधिकार एवं कर्त्तव्य माना जाता था कि उसके चले जाने पर वह उसकी किसी बहन को गणिका नियुक्त करे। ऐसा न करने पर उसकी समस्त सम्पत्ति पर राज्य का अधिकार हो जाता था।

इन गणिकाओं क़ा सबसे बड़ा गुण और योग्यता उनका सौन्दर्य तथा कामवासना में प्रवीणता माना जाता था। उसी के आधार पर उनके तीन भेद किये जाते थे। कनिष्ठा, मध्यमा और उत्तमा। इन तीनों को एक हजार से तीन हजार पण तक वेतन मिलता था। पहली राजा का छत्र धारण करती थी, दूसरी पंखा झलती थी और तीसरी राजा के साथ सिंहासन, पालकी और रथ में बैठती थी। इस प्रकार, गणिकाओं तथा वेश्याओं का न केवल सेवन किया जाता था बल्कि उनका खुला प्रदर्शन भी किया जाता था जिससे सामन्ती समाज

में वेश्या-प्रथा शिखर पर चढ़ती चली गयी और एक सामाजिक प्रथा बन गयी।

जब इनका रूप-सौन्दर्य ढल जाता था तो उन्हें नयी वेश्याओं की माता बना दिया जाता था जो नयी गणिकाओं तथा वेश्याओं को अपने सारे दाँव सिखाया करती थीं। इस पेशे से छुटकारा पाने के लिए गणिकाओं को २४ हजार पण अत्यय (मुक्तिशुल्क) अदा करना पड़ता था जो कि प्रायः असंभव होता था। गणिका पुत्र १८ हजार पण अत्यय देकर या आठ वर्ष तक राजा के यहाँ कुशीलव का कार्य करके मुक्त हो सकता था।

गणिकादासी रूप सौन्दर्य नष्ट हो जाने पर कोष्ठागार या महानस (लंगर) का प्रबन्ध करती थी। यदि वह काम न करके किसी एक ही व्यक्ति के घर में बैठना चाहती थी तो वह व्यक्ति सवा पण मासिक उसे वेतन देता था जिससे उसकी पराश्रयता न रहे।

परन्तु इन गणिकाओं पर राजतंत्र का बड़ा कानूनी नियंत्रण भी था। राजघराने में जब वेश्याओं ने सम्मानजनक स्थान प्राप्त किया तो पूरे समाज में यह प्रथा फैलती चली गयी और प्रत्येक नागरिक का वेश्याओं के पास जाना विशेषाधिकार समझा जाने लगा। इसीलिए प्रत्येक नगर और बस्ती में दुकानदारों की भाँति वेश्याओं के मोहल्ले कायम होने लगे और उनकी ठुमक-ठुमक से सारा वातावरण चकाचौंध होने लगा।

गणिकाध्यक्ष यह हिसाब रखता था कि रात में कौन उनके पास आता है और किस वेश्या को किससे कितना धन मिला। वेश्याओं के लिए यह नियम था कि उन्हें अपने आभूषण और सम्पत्ति गणिका माता के पास रखना पड़ता था जो प्रायः राजतंत्र के प्रति अधिक वफादार मानी जाती थी। अपने परिवारजनों के पास धन रखने या आभूषण आदि दूसरों के हाथ बेचने पर उसे ५½ पण दण्ड भुगतना पड़ता था। यदि अपने पास आये किसी वेश्यागामी व्यक्ति को वह कठोर शब्द कहती थी तो २४ पण दण्ड पाती थी। थप्पड़ या डण्डा मारने पर ४८ पण और गुस्से में आकर उसका कान काट लेती थी तो उसे ५१½ पण दण्ड भुगतना पड़ता था।

राज्य ने उनके लिए कुछ संरक्षण भी दे रखे थे। यदि कोई व्यक्ति कामनारहित गणिका के साथ भोग करता था, उसे बलपूर्वक रोकता या घायल कर देता था जिससे उसका सौन्दर्य नष्ट हो जाये तो ऐसे व्यक्ति को एक हजार पण दण्ड भुगतना पड़ता था और यदि वह उसे ऐसी हानि पहुँचा देता था जिससे कि वह भविष्य में गणिका का कार्य करने योग्य ही न रहे तो ऐसे अपराधी व्यक्ति को ४८ हजार पण दण्ड देना पड़ता था। नाबालिग (अप्राप्त व्यवहार) गणिका वध कर देने पर ७२ हजार एवं गणिका की माता, लड़की और रूपदासी का वध कर देने पर उत्तम साहस दण्ड दिया जाता था।

इन गणिकाओं पर राज्य का इतना कड़ा नियंत्रण था कि उन्हें राजाज्ञा से कहीं भी, किसी भी समय किसी भी व्यक्ति के पास भेजा जा सकता था। यदि किसी पुरुष के पास जाने से वह मना करती थी तो उसके शरीर पर एक हजार कोड़े मारे जाते थे और या वह पाँच हजार पण दण्ड देती थी। रात में साथ रहने की फीस लेकर फिर आनाकानी करने वाली वेश्या को दुगनी फीस लौटानी पड़ती थी और यदि वह पूरी रात किस्से-कहानियों में

गुजार देती थी तो वेतन का आठ गुना हर्जाना भरती थी। हाँ, यदि पुरुष में संक्रामक रोग या अन्य कोई दोष हो तो नहीं। जो गणिका रात भर साथ रहने का वादा करके और वेतन लेकर उसे रात में मार देती थी उस वेश्या को मृत पुरुष की चिता में बैठाकर जीवित जला दिया जाता था और या फिर उसके गले में पत्थर बाँधकर गहरे पानी में फेंक दिया जाता था।

गणिकाओं के समान ही उन वर्णसंकर जातियों के लिए भी नियम बने हुए थे जो अपनी स्त्रियों को दूसरे पुरुषों के साथ रात्रि सहवास के लिए भेजकर पैसा कमाते थे। नट नर्तक, गायक, वादक, बगजीवन, कुशीलव (नृत्य के साथ गाने वाले) प्लवक (रस्सी बाँस आदि पर चढ़ने वाले) सौभीरक (जादूगर) तथा चारण और भाँड़ आदि यदि एक स्थान से दूसरे स्थान पर तमाशा दिखाने जाते थे तो पाँच पण प्रेक्षावेतन (मनोरंजन कर) देते थे। रूप से जीविका चलाने वाली गणिका अपनी मासिक आय में से दो दिन की आय राजकोश में देती थी।

कौटल्य कालीन भारत के तमाम सांस्कृतिक कार्यों का सम्पादन इसी प्रकार के लोग करते थे और राजकोश का अधिक से अधिक भाग निम्न वर्गों तथा कार्यों पर खर्च होता था –

गाना, बजाना, नाचना अभिनय करना, लिखना, चित्रकारी करना, वीणा, वेणु, मृदंग विशेष रीति से बजाना, दूसरों की मानसिक स्थिति समझना, सुगन्धित पदार्थों का निर्माण करना, मालाओं का गूँथना, हाथ-पैर आदि का दबाना, शरीर का सजाना, गणिका और दासी के कार्य सम्पन्न करना और रंगमंच पर अभिनय करने वालों के आचार्य आदि का वेतन। गणिकाओं के पुत्रों तथा मुख्य रंगोंपजीवियों (स्टेज सास्टर्स) की मुख्य अभिनेता बनाया जाता था।

ये रंगोपजीवी और उनकी संस्थाएँ तथा उनमें प्रच्छन्न रूप से रहने वाले गुप्तचर राजतंत्र के लिए बहुत उपयोगी कार्य करते थे।

राजकर्मचारियों का वेतन मान

उस समय शासन प्रणाली धीरे-धीरे महँगी होती जा रही थी जिसमें सबसे निचले स्तर पर काम करने वाले कर्मचारी नाममात्र का वेतन पाते थे और जो सबसे ऊँचे शिखर पर थे उनका वेतन बहुत अधिक था। प्रायः निम्न कर्मचारियों को तो नाममात्र का वेतन देकर केवल प्रजाजनों से अपनी आजीविका चलाने का प्रमाण-पत्र भर दे दिया जाता था। फिर भी कौटल्य ने यह व्यवस्था की थी कि राज्य की सम्पूर्ण आमदनी के एक चौथाई भाग से अधिक धन कर्मचारियों तथा अधिकारियों के वेतन पर खर्च नहीं होना चाहिए।

(दुर्गजनपदशक्त्या भृत्यकर्म समुदयवादेत स्थापयेत्)

परन्तु इतनी छूट भी दे दी थी कि योग्य अधिकारियों की सेवा प्राप्त करने के लिए यदि अधिक धन की आवश्यकता हो तो खर्च दिया जा सकता है। (कार्यसाधन सहने वा

भृत्यलाभेन शरीरमवेक्षेते) फिर भी यह ध्यान अवश्य रखा जाता था कि राज्य पर आवश्यकता से अधिक भार न पड़े। इन वेतनों का इतना भार इसलिए नहीं पड़ने दिया जाता था कि राज्य की आर्थिक विकास की योजनाओं तथा धार्मिक कार्यों के सम्पादन में किसी प्रकार की बाधा न पड़े।

इन सामान्य सिद्धान्तों की स्थापना के बाद कौटल्य ने अधिकारियों के वेतनमानों के सम्बन्ध में अपनी स्पष्ट धारणाएँ रखी हैं जो निम्नलिखित हैं –

ऋत्विग्, आचार्य, मंत्री, पुरोहित, सेनापति, युवराज, राजमाता और राजमहिषी का वार्षिक वेतन ४६ हजार पण था।

इतना भारी वेतन देने का कारण यह समझा जाता था कि इससे वे जीवन के समस्त सुखों का उपभोग कर सकते हैं और हर प्रकार के राजद्रोही षड्यन्त्रों से दूर रह सकते हैं। अर्थात् यह भारी रकम वेतन के रूप में उतनी नहीं मानी जाती थी जितनी राजा की ओर से दी गयी रिश्वत मानी जाती थी।

(एतावता भरणे नानास्वाद्यत्वमकोपकं चैषां भवति)

दौवारिक (मुख्य स्वागत अधिकारी और राजा के निवास स्थान की रक्षा का मुखिया) आन्तर्वंशिक (अन्तःपुर के रक्षादल का सेनापति) आयुधाध्यक्ष (शास्त्रागार का प्रधान अधिकारी) समाहर्त्ता (राजकीय आय का मुख्य संग्रहकर्ता अधिकारी) और भण्डागाराध्यक्ष को २४ हजार पण वेतन दिया जाता था। इतना भारी वेतन मिलने पर ही वे राजकार्यों के करने में सक्षम समझे जाते थे।

कुमार (युवराज के अतिरिक्त छोटे राजपुत्र) कुमारमाता (छोटी रानियाँ) नायक (पैदल सेना का सेनापति) नगर निरीक्षक (स्थानीय निकायों की देखभाल करने वाला) व्यापाराध्यक्ष, कृषि तथा उद्योगों के अध्यक्ष, मंत्रिपरिषद् के अन्य सदस्य, राष्ट्रपाल (पुलिस व्यवस्था का सर्वोच्च अधिकारी) और अन्तपाल (सीमा रक्षकों का सेनापति) १२ हजार पण वार्षिक वेतन पाते थे।

(कुमार कुमार मातृनायकः पौरव्यावहारिक कर्मान्तिक मंत्रिपरिषद् राष्ट्रान्तपालाश्च द्वादश साहसाः। स्वामि परिबन्ध बलसहाया ह्येतावता भवन्ति)।

यह समझा जाता था कि इतना वेतन पाकर वे कभी राजा के विरुद्ध विद्रोह नहीं करेंगे तथा उसका अनुगमन करते रहेंगे।

ये अधिकारी प्रायः छोटे मंत्री ही होते थे अथवा इनकी नियुक्ति के समय वही योग्यता अनिवार्य मानी जाती थी जो मंत्रियों की होती थी, परन्तु ये मंत्री के नाम से नहीं प्रत्युत अध्यक्षों एवं अधिकारियों के नाम से पुकारे जाते थे।

शिल्पी संघों के मुख्य अधिकारी, हस्ती, अश्व तथा रथ सेनाओं के मुख्य अध्यक्ष, प्रदेष्टा (सर्वोच्च न्यायाधिकारी) को आठ हजार वेतन दिया जाता था। इतना वेतन पाकर वे अपने वर्गों में अपना प्रभाव कायम रख सकते थे। (स्ववर्गानुकर्षिणां ह्येतावता

भवन्ति)।

पैदल, घोड़ा, रथ तथा हस्ति सेवाओं के अध्यक्ष तथा बहुमूल्य लकड़ी एवं हस्तिवनों के पालक ४ हजार पण वेतन पाते थे। रथ चलाना सिखाने वाले, राजशिक्षक, चिकित्सक, अश्वशिक्षक तथा शूद्र पशुपालकों के अध्यक्ष दो हजार पण वार्षिक वेतन पाते थे।

भविष्यवक्ता, ज्योतिषी, शकुन बताने वाले, पुराणों की कथा कहने वाले, सारथि, स्तुतिपाठक, पुरोहित के भृत्य, सुरा आदि के अध्यक्ष को १ हजार पण वार्षिक, चित्रकार, गणक और लेखक आदि को ५ सौ पण वार्षिक; कुशीलव आदि को ढाई सौ पण, श्रेष्ठ कुशीलवों को ५०० पण तक, साधारण शिल्पियों को १२० पण वार्षिक तक और साधारण कर्मचारियों को ६० पण वार्षिक तक वेतन दिया जाता था।

आर्य, युक्तारोहक (बिगड़े घोड़े और हाथियों की सवारी गाँठने वाला) भाणवक (वेदाध्ययन करने वाला विद्यार्थी) शैलखनक (संगतराश) गायनाचार्य और अच्छे विद्वान पुरुषों को पाँच सौ से हजार पण वार्षिक तक वेतन दिया जाता था। एक योजन दूर जाने वाले दूत का दस पण वार्षिक तथा दस से सौ योजन दूर जाने वाले को २० पण वार्षिक वेतन मिलता था।

जो गुप्तचर, कापटिक, उदास्थित, गृहपतिक, वैदेहक एवं तापस के वेश में रहते थे उन्हें एक हजार पण वार्षिक वेतन मिलता था। गाँव के मुखिया, सत्री, तीक्ष्ण, रसद और भिक्षुकी के वेश में रहने वाले गुप्तचरों को ५०० पण वार्षिक तक तथा गुप्तचरों को इधर-उधर भेजने और ले जाने वाले गुप्तचरों को २५० पण या योग्यता के अनुसार वेतन दिया जाता था।

विभागाध्यक्ष अपने अधीन कर्मचारियों के वेतन, भत्ते एवं दूसरे लाभ, नियुक्ति एवं स्थानान्तरण आदि की व्यवस्था करते थे।

(अध्यक्षा भक्त, वेतन, लाभमादेशं विक्षेपंच कुर्युः)

प्रत्येक विभाग में एक ही अध्यक्ष सर्वेसर्वा नहीं होता था बल्कि छोटे-बड़े अनेक अध्यक्ष रखे जाते थे एवं राज परिग्रह, दुर्ग, राष्ट्र तथा रक्षा के प्रयासों और निर्माण कार्यों का संचालन कभी विशेष अधिकारी या अध्यक्ष के अभाव में नहीं किया जाता था।

जो राजकर्मचारी ड्यूटी पर मर जाते थे उनका वेतन उनके उत्तराधिकारियों को मिल जाता था। मृत राजकर्मचारी के बालकों, वृद्धों तथा रोगियों को राजा की ओर से विशेष सहायता दी जाती थी।

(कर्मसु मृतानां पुत्रदारा भक्रवेतन लभेरन्। बालवृद्धव्याधिताश्चैषाभनुग्राह्यः)

राजकर्मचारियों के यहाँ किसी की आकस्मिक मृत्यु हो जाने या पुत्र आदि के उत्पन्न होने पर भी राज्य की ओर से विशेष आर्थिक सहायता दी जाती थी।

वेतन के साथ भत्ता देने की यह परिपाटी थी कि ६० पण के ऊपर एक आढक अन्न जोड़ा जाता था। ६० पण की न्यूनाधिकता के हिसाब से भत्ते की न्यूनाधिकता तय की जाती

थी।

(षष्ठि वेतनस्याढकं कृत्वा हिरण्यानुरूपं भक्तं कुर्यात्)

तीन. सौ चौवन दिन-रात का वर्ष समझा जाता था और आषाढ़ मास की पूर्णमासी को वर्ष की समाप्ति मानी जाती थी। इस बीच में नियुक्त अधिकारी पूरे वर्ष का नहीं प्रत्युत जब से नियुक्त किया गया हो तभी से वेतन का अधिकारी माना जाता था। प्रत्येक राजकर्मचारी की दैनिक उपस्थिति की पुस्तक रखी जाती थी।

अन्त में कौटल्य ने अधिकारियों को अनुशासन सम्बन्धी कुछ हिदायतें भी दी हैं जो तत्कालीन सामन्ती समाज के अनुशासन तथा कर्त्तव्यनिष्ठा की ओर संकेत करती हैं। उनके व्यक्तिगत आचरण की चर्चा करते समय कहा गया है कि – 'राजा के हित की बात उन्हें तुरन्त कह देनी चाहिए और अपने हित की बात दूसरों से कहलवानी चाहिए। दूसरों का हित होता हो तो देश, काल एवं परिस्थितियाँ देखकर तुरन्त कह दे और जो कहे वह सर्वथा उचित होना चाहिए। यदि राजा पूछे और ध्यान से सुन रहा हो तो अनुमति लेकर प्रिय एवं हितकारी बात कहे। प्रिय एवं अहितकारी बात कभी न करे किन्तु अप्रिय एवं हितकारी बात अवश्य कहे। राजा की इच्छा के अनुसार चलने वाले अनर्थकारी पुरुष भी राजा के प्रिय देखे गये हैं। राजा के हँसने पर हँसे। परन्तु ठहाका मार कर कभी न हँसे। कोई भयावह समाचार हो तो दूसरों से सुनवाये। यदि अपने ही विरोधियों में ऐसी भयावह बात हो तो पृथवी के समान सहिष्णु होकर सब कुछ सुना दे।

राजा के पास रहते समय अपने बचाव का प्रयत्न सदा करते रहना चाहिए। राजा के समीप रहकर सेवा करना अग्नि के साथ खिलवाड़ करने के समान होता है। आग तो शरीर का एक ही भाग जलाती है या अधिक से अधिक पूरा शरीर जलाती है परन्तु राजकोष की अग्नि पुत्र, स्त्री और पूरे परिवार को भस्म कर देती है।

अहीनकालं राजार्थं स्वार्थं प्रियहितैः सह।
परार्थदेशकाले च बूयाद्धर्मार्थ संहितम्।।
पृष्टः प्रियहितं ब्रूयान्न ब्रूयादहितं प्रियम्।।
अप्रियं वा हितं ब्रूयाच्छृण्वतोअनुमतो मिथः।
तूर्ष्णीं वा प्रतिवाक्ये स्याद् द्वेष्यादींश्च न वर्जयेत्।
अप्रियाः अपि दक्षाः स्युस्तद् भावाद्ये बहिष्कृताः।।
अनर्थ्याश्चप्रिया दुष्टाश्चित्तज्ञानानुवर्तिनः।
अभिह्रस्येष्वभिहसेद् घोरहासाश्च वर्जयेत्।।
परात्संक्रामयेद् घोरं न च घोरं पर वदेत्।
तितिक्षेतात्मनश्चैव क्षमावान् पृथिवीतमः।।
आत्मरक्षा हि सततं पूर्वं कार्या विजानता।
आनाविद हि संप्रोक्ता वृती राजोपजीविनाभ्।।

एक देशे दहेदग्निः शरीरं वा परं गतः।
सपुत्रदारं राजा तु घातयेद् वर्धयेत वा।।

(अधि. ५ अध्याय ४)

उच्च अधिकारियों और वित्त विभाग में भ्रष्टाचार

जैसे-जैसे राज्य की आय के स्रोत बढ़े और राज्य के हाथों में अपार आर्थिक सम्पदा आयी वैसे-वैसे उसकी व्यवस्था एवं प्रबन्ध सम्बन्धी जटिलता बढ़ती गयी। कौटल्य ने अपने अर्थशास्त्र में विस्तार के साथ अपनी गहरी चिन्ता प्रकट की है कि राजकीय सम्पदा के अपहरण के मार्ग किस प्रकार रोके जायँ। कौटल्य यह बात सिद्धान्त रूप से भी मानने को तैयार नहीं थे कि जिन अधिकारियों के हाथों में राज्य की सम्पत्ति संग्रह एवं व्यय के लिए आती है वे उसका अपहरण न करें और मनमानियाँ करने से रुके रहे। उन्होंने एक स्थान पर लिखा है कि 'मनुष्यों का स्वभाव घोड़े के समान होता है। जब तक वह जोता नहीं जाता शान्त एवं सीधा-सादा प्रतीत होता है। परन्तु जोते जाने और अधिकार आ जाने के बाद वे अपनी चंचलता का प्रदर्शन करते ही हैं।' इसीलिए, प्रत्येक समय उनके कार्य की देखभाल तथा परीक्षा करने की आवश्यकता अनुभव की जाती थी। इसीलिए, सभी विभागाध्यक्षों की योग्यता मंत्रियों के समान रखी जाती थी।

सामान्य प्रशासन की यह सर्वमान्य प्रणाली बन गयी थी कि राजतंत्र न तो अध्यक्षों का आपसी मित्रता के सम्बन्धों में जुड़ जाना पसन्द करता था और न उनका आपसी द्वेष ही उसे पसन्द था। आपस में मिल जाने पर वे राज्य की सम्पत्ति खा जाते थे और आपस में कलह-द्वेष करके सर्वनाश ले आते थे। संकट की विशेष परिस्थितियों के अलावा, उन्हें राजा की स्वीकृति के बिना कोई बड़ा निर्माण कार्य करने का अधिकार नहीं होता था। निर्माण कार्यों में प्रमाद करने पर उनका कम से कम दो दिन का वेतन काट लिया जाता था। अध्यक्षी के अधीन कार्य करने वाला अधिकारी यदि विशेष योग्यता एवं लगन का परिचय देता था तो राज्य उसे पुरस्कृत करके प्रोत्साहित करता था। उसे अपने से बड़े अधिकार पद पर भी नियुक्त किया जाता था और इस प्रकार, पदोन्नति की परम्परा सामान्य प्रशासन में चालू हो चुकी थी। प्राचीन अर्थशास्त्रियों और आचार्यों ने अधिकारियों की ईमानदारी के संबंध में एक मोटा सा सिद्धान्त बना रखा था। जो अधिकारी अपने वेतन से अधिक व्यय करता था उसे भ्रष्टाचारी कहा जाता था और जो अपने वेतन से कम खर्च करता था उसे ईमानदार माना जाता था। परन्तु आचार्य कौटल्य ने इसे थोथा सिद्धान्त माना। भ्रष्टाचारी अधिकारी यदि कंजूस हो तो अधिक खर्च कैसे कर सकता है? था। भ्रष्टाचार का पता केवल गुप्तचरों से ही चल सकता है।

जिसकी नियुक्ति के उपरान्त राज्य की आय घट जाती है उसे राजकीय आय का भक्षक माना जाता था। उससे हानि का दुगना अत्यय (हर्जाना) वसूल किया जाता था। परन्तु जिसकी नियुक्ति के उपरान्त राज्य की आय दुगनी हो जाती थी उसे कौटल्य जनपद का भक्षक मानते थे। यदि वह पूरा धन राजकोष में भेज देता था तो चेतावनी देकर छोड़ दिया

जाता था। यह उसकी राजभक्ति के कारण अल्प अपराध माना जाता था। परन्तु अधिक संग्रह का कुछ भाग अपने घर में रख लेता था तो उसे कड़ा दण्ड दिया जाता था।

जो अधिकारी किसी व्यय के लिए नियत धनराशि को वर्ष भर में खर्च नहीं कर पाता था वह दो अपराधों में दोषी ठहराया जाता था। एक तो वह राजकीय कार्य अधूरा पड़ा रहा जिसकी पूर्ति के लिए धन नियत किया गया था और दूसरे उन कर्मचारियों का पेट कटा जो उस कार्य में लगते। उसे यथोचित दण्ड दिया जाता था।

इसलिए प्रत्येक अधिकारी को अपने कार्य की समाप्ति का विवरण राज्य को देना पड़ता था जिसे देखकर सम्बद्ध अधिकारी की उपयोगिता अथवा अनुपयोगिता के सम्बन्ध में निर्णय किया जाता था।

किसी विशेष स्थान पर और विशेष रूप से जहाँ जनता से सम्पर्क अधिक रहता हो, किसी एक ही अधिकारी को सारा कार्य नहीं सौंपा जाता था। वहाँ कई अधिकारी रखे जाते थे ताकि किसी एक का (अकेले का) जनता पर विशेष प्रभाव न जम सके। इन अधिकारियों को कभी भी एक स्थान पर अधिक समय तक नहीं रखा जाता था ताकि वे जनता को आतंकित न कर सकें या प्रजा में अपनी गहरी जड़ें न जमा सकें।

जैसे जीभ पर रखा रस इच्छा हो या न हो, चखने में आ ही जाता है, इसी प्रकार राज्य के आर्थिक कार्यों में नियुक्त अधिकारी, इच्छा हो या न हो, राजकोष का कुछ-न-कुछ तो अपहरण करते ही हैं। कौटल्य कालीन भारत में यह धारणा आमतौर पर प्रचलित हो गयी थी।

और भी,

जैसे पानी में घूमती-तैरती मछलियाँ कब पानी पीती हैं, पता नहीं चलता, इसी प्रकार उच्च सरकारी कर्मचारी कब और किस प्रकार धन खा जाते हैं, पता नहीं चलता।

और भी,

आकाश में उड़ते पक्षियों की चाल का पता चल जाता है, परन्तु राजअधिकारियों के आचरण तथा मनोभावों का पता लगाना कठिन है।

अतएव, भ्रष्टाचारी अधिकारियों के प्रति राज्य का रुख बहुत कड़ा होता था और वह उन्हें तुरन्त निलम्बित करके पदावनत कर दिया जाता था।

> यथा ह्यनास्वादयितुं न शक्यं
> जिह्वया तलस्थं मधु वा विषं वा।
> अर्थस्तथा ह्यर्थचरेण राज्ञः
> स्वल्पोऽप्यनास्वादयितुं न शक्यः।।
> मत्स्या यथान्तः सलिले चरन्तो
> ज्ञातुं न शक्याः सलिलं पिबन्तः।
> मुक्तास्तथा कार्य विधौ नियुक्ता

ज्ञातुं न शक्या धनमाददानाः।।
अपिशक्या गतिर्ज्ञातुं
पततां रवे पत्रत्रिणाम्।
न तु प्रच्छन्न भावानां
युक्तानां चरतां गतिः।।

(अधि. २, अध्याय ६)

अपहरण और भ्रष्टाचार

राजतन्त्र की उन्नति के साथ-साथ राजकोष का महत्त्व बढ़ा। यह धारणा बलवती बनती गयी कि राज्य का पूरा कारोबार राजकोष पर निर्भर करता है। उसकी वृद्धि और रक्षा का प्रश्न सर्वोपरि बन गया। इसलिए, राज्य सदा ही कोष की वृद्धि के उपायों पर विचार करता था। वे उपाय सामान्यतया निम्नलिखित थे –

जनपद की सम्पत्ति में लगातार वृद्धि करना ताकि राजकोष की वृद्धि की नयी संभावनाएँ सामने आएँ, जनपदों के पुराने आचार-व्यवहारों पर चोट न करना ताकि जनपदों में असन्तोष पैदा न हो, चोरों का निग्रह करना, अध्यक्षों के गबन तथा भ्रष्टाचार पर निरन्तर दृष्टि रखना, छोटे और वड़े सभी प्रकार के खाद्य पदार्थों का उत्पादन बढ़ाना, विक्रय पण्य (माल) की पैदावार पर विशेष बल देना ताकि पण्य के आदान-प्रदान दोनों से राजकोष को लाभ मिले, अग्नि आदि उपद्रवों से राजकीय एवं जनपद सम्पत्ति की रक्षा करना, कर आदि का उचित समय पर संग्रह करना और विशेष अवसरों पर प्रजाजनों से हिरण्य आदि के रूप में भेंट उपहार आदि लेना।

यह माना जाता था कि निम्न कारणों से राजकोष क्षीण होता है - प्रतिबन्ध प्रयोग, व्यवहार, अवस्तार, पिरहायण, उपभोग, परिवर्तन और अपहार।

प्रतिबन्ध-कर का संग्रह न करना, करने पर भी अपने अधिकार में न लाना और अधिकार में कर के भी राजकोष में जमा न करना।

प्रयोग-राजकीय धन को अध्यक्ष स्वयं अपने कारोबार और लेन-देन के काम में लाने लगे।

व्यवहार-राजकीय धन से अध्यक्ष का अपना निजी व्यापार चलाना।

अवस्तार-नियत समय टाल कर प्रजाजनों से कर का संग्रह करना और संग्रह करते समय बल प्रयोग करना।

परिहापण-अपने कुप्रबन्ध से आय घटा देना और व्यय बढ़ा कर देना।

उपभोग-मूल्यवान वस्तुओं से स्वयं लाभ उठाना और अपने मित्रों को लाभान्वित करना।

परिवर्तन-उत्तम राजकीय द्रव्य को बदल कर उसके स्थान पर निकृष्ट द्रव्य

रख देना।

अपहार-आय की पुस्तक में न लिखना, नियत व्यय पुस्तक में लिखकर खर्च न करना और प्रज्ञप्त नीवी को स्वीकार न करना।

ये गम्भीर अपराध करने पर अध्यक्षों को कठोर दण्ड दिया जाता था। परन्तु राजकोष में लगे ये घुण केवल इन्हीं उपायों से उसका क्षय नहीं करते। उनके अपहरण और गबन करने के कम से कम चालीस उपाय कौटल्य कालीन भारत में प्रचलित हो चुके थे। वे निम्नलिखित हैं –

पहली फसल में प्राप्त धन को अगली फसल के समय लिखना, दूसरी फसल के समय मिलने वाला धन पहली फसल के समय लिख लेना, राज-कर को वसूल ही न करना, राज कर से मुक्त प्रजाजनों से भी धोखा देकर या दबाव डाल कर धन वसूल करना, जो वसूल हो गया है उसे पुस्तक में लिखना, थोड़ा वसूल हुआ हो परन्तु पूरा लिख लेना, पूरा वसूल हो गया हो परन्तु कम करके लिखना, एक खाते (मद) का धन दूसरे खाते में जमा कर देना, एक वस्तु के स्थान पर दूसरी वस्तु लिख देना, देय धन को न देना, अदेय को दे देना, समय पर न देना, असमय देना, थोड़ा देकर अधिक लिखना, अधिक देकर कम लिखना, अन्य वस्तु देकर दूसरी लिख देना, एक को देकर दूसरे का नाम लिखना, कोष में धन जमा करके भी पुस्तक में न लिखना, कोष में धन जमा न करके भी पुस्तक में अंकित कर देना, व्यापारियों से उधार सामान लेकर बाद में थोड़ा पैसा काट कर भुगतान करना, माल का पूरा मूल्य पुस्तक में न लिखना, माल का मूल्य देकर भी पुस्तक में दर्ज न करना, बहुत से व्यक्तियों से सामूहिक रूप में लिया जाने वाला धन पृथक्-पृथक् व्यक्तियों से वसूल करना, पृथक्-पृथक व्यक्तियों से लिया जाने वाला धन सामूहिक रूप में लेना, बहुमूल्य माल का अल्पमूल्य के माल से परिवर्तन कर देना, अल्पमूल्य का बहुमूल्य से बदल देना, वाजार में वस्तुओं का मूल्य बढ़ा देना, अथवा वस्तुओं का मूल्य गिरा देना, वेतन के दिन बढ़ा कर लिख देना, वेतन के दिन घटा कर लिखना और मजदूरी काट लेना, मलमास जिस वर्ष में न हो मलमास लिखकर कोष से अधिक वेतन निकाल लेना, महीने के दिन घटा-बढ़ाकर देना, जिन कर्मचारियों ने कभी काम न किया हो उनके नाम लिखकर वेतन निकाल लेना, एक आयमुख (मद) से हुई आय को दूसरे आयमुख में लिख लेना, धर्म कार्यों के लिए नियत अनुदान का एक अंश स्वयं हड़प जाना, कुटिल उपायों से अतिरिक्त धन का संग्रह करना, समुदाय में से किन्हीं एक दो को छोड़कर शेष से पूरा धन ले लेना, किन्हीं मान्य वर्णों को कर से मुक्त करने का बहाना करके पुस्तक में आय न लिखना और स्वयं ले लेना, जिन स्थानों पर राजकीय नियंत्रण कम हो वहाँ वस्तुओं का मूल्य वढ़ा देना, तोल के बाँटों से गड़बड़ी करवा देना, मापने के साधनों में मनमानी करवाना, नापने के पात्रों में छोटे-बड़े का हेरफेर करवा देना आदि।

जिस अधिकारी के सम्बन्ध में भ्रष्टाचार की शिकायत आती थी उसकी देखभाल करना प्रशासन का पहला कार्य समझा जाता था। इसमें खजांची (निधायक) रजिस्ट्रार

(निबन्धक) धन जमा करने वाले अधिकारी (प्रतिग्राकि) धन दिलाने वाले (दायक) और लेने वाले (दायक) आदि सभी अधिकारियों से पूछताछ की जाती थी। यदि ये सभी गवन में सम्मिलित होते थे तो समान दण्ड के भागी समझे जाते थे। ऐसे अधिकारियों के सम्बन्ध में यह घोषणा कर दी जाती थी कि जो भी उनसे पीड़ित हो वह अपनी शिकायत खुलकर रखे और जो ऐसा करता था उसे दुगनी रकम दिलवायी जाती थी। यदि किसी अधिकारी पर एक ही समय भ्रष्टाचार के अनेक अभियोग चलाये जाते थे और वह सभी को अस्वीकार कर देता था तो एक के सिद्ध होने पर शेष सभी अभियोग स्वयं सिद्ध समझे जाते थे। परन्तु कुछ को स्वीकार नहीं करता था उनमें अपने आपको निर्दोष सिद्ध करने का भार अभियुक्त पर-ही डाला जाता था न कि अभियोक्ता पर। इस प्रथा का सैद्धान्तिक आधार यही था कि तत्कालीन शासन प्रणाली वित्त कार्यों में लगे प्रत्येक अधिकारी को बेईमान समझती थी, यदि वह इसके विपरीत सिद्ध न हो गया हो। उसे अपने पक्ष में सफाई के गवाह (साक्षी) और प्रमाण (अनुयोग) उपस्थित करने का अधिकार होता था वहुत से धन के अपहरण का अभियोग लगने पर यदि थोड़े से धन के अपहरण का अभियोग सिद्ध हो जाता था तो शेष धन के अपहरण का अभियोग भी उस पर स्वयं सिद्ध समझा जाता था। यदि भ्रष्टाचारी अधिकारी पर आरोप लगाने वाला व्यक्ति किसी निजी स्वार्थ से प्रेरित होने की अपेक्षा केवल राजहित में ऐसा करता था तो उसे अपहृत धन का छटा भाग पुरस्कार में देकर प्रोत्साहित किया जाता था और यदि अधिकारी का घरेलू नौकर (भृत्य) ऐसा करता था तो उसे बारहवाँ भाग पुरस्कार में मिलता था। परन्तु गणमान्य अधिकारियों पर लगाये गये आरोप यदि झूठे सिद्ध हो जाते थे तो सूचक को शारीरिक एवं आर्थिक दण्ड दिया जाता था।

भ्रष्टाचारी पुरुष के भ्रष्टाचार की प्राथमिक परीक्षा में यदि वह अपराधी सिद्ध हो जाता था और फिर सूचक अभियोग से पृथक होने की इच्छा प्रकट करता था तो उसे ऐसा करने की छूट मिल जाती थी। तब राज्य ही अपनी ओर से वह अभियोग चलाता था। परन्तु यदि अभियुक्त से रिश्वत लेकर वह सही गवाही नहीं देता था तो उसका वध कर दिया जाता था।

निष्पत्तौ निक्षिपेद् वादमात्मानं वापहापयेत्।
अभियुक्तोपजापात्तु सूचको धमाप्नुयात्।।

(अधि. २, अध्याय ८)

राजतंत्र और गणतंत्रों का अनवरत संघर्ष

राजतंत्र के पूर्ण विजय अभियान में फैले विशाल गणतंत्रों की संख्या मुख्य बाधक वन रही थी। इन गणतंत्रों का पुराना इतिहास था। इनमें कोई राजा नहीं होता था। आमतौर पर एक कबीले या कुल का एक गणतंत्र होता था जिसे वे संघ राज्य के नाम से पुकारते थे। सामान्य प्रशासन के लिए एक समिति का चुनाव होता था जिसका सर्वोच्च अधिकारी संघमुख्य के नाम से पुकारा जाता था। वास्तव में ये संघराज्य दास राज्य थे, अर्थात् दास प्रथा पर आधारित थे और एक संघ दूसरे संघ की भूमि एवं पशुओं का अपहरण करने के

लिए युद्ध करता था और विजित संघ की भूमि, चारागाह तथा पशुओं पर अधिकार जमाने के साथ-साथ उसके नागरिकों को दास बना लेता था। ये दास विजेताओं के खेतों तथा चारागाहों में कार्य करते थे और इस प्रकार उनकी आर्थिक सम्पदा बढ़ाने में हाथ बँटाते थे। परन्तु इनके क्षेत्र बहुत सीमित थे। कौटल्य कालीन भारत में दो राजनीतिक व्यवस्थाएँ साथ-साथ चल रही थीं। एक ओर छोटे तथा विशाल राजतंत्रों की बड़ी संख्या होती थी और दूसरी ओर अनेक छोटे-बड़े गणतंत्री राज्य थे। विजित कुल या कबीले के व्यक्तियों को दास अवश्य बनाया जाता था, परन्तु राजतंत्रों की भाँति संघ राज्य उनकी व्यक्तिगत स्वतंत्रता का वैसा हनन नहीं करते थे जैसा राजतंत्र करता था। प्रारम्भिक दिनों में राजतंत्र एवं उसकी सामन्ती समाज व्यवस्था ने कठोरता एवं निर्दयता के साथ गणतंत्र राज्यों के साथ संघर्ष किया था एवं उन्हें नष्ट करने के प्रयत्न किये थे। परन्तु राजतंत्र के मुकाबिले गणतंत्री सैनिकों ने अधिक शक्ति का प्रदर्शन किया था और सदियों तक राजतंत्रों के मुकाबिले अपनी असाधारण प्रतिरोध शक्ति का परिचय दिया था। संघ राज्यों की प्रजा भी राजतंत्रों की प्रजाओं की तुलना में अधिक संगठित होकर बलिदान करती थी जिससे राजतंत्र यह समझ गये कि संघ राज्यों की सैनिक पराजय उतनी आसान नहीं है जितनी समझ ली गयी थी। शान्ति काल में ये संघ निर्बल प्रतीत होते थे। परन्तु जब वे देखते थे कि उनके अस्तित्व के लिए संकट उत्पन्न हो गया है तो अपना सर्वस्व दाँव पर लगा कर युद्ध करते थे जिससे शक्तिशाली एवं विशाल राजतंत्रों तक के छक्के छूट जाते थे।

वास्तव में ये गणतंत्र दास प्रथा से भी पहले की समाज व्यवस्था के प्रतीक थे। आरम्भिक कबीला समाज में जब खेती का विकास नहीं हो पाया था और मनुष्य समाज मृगया एवं पशुपालन के सहारे जीवन निर्वाह करता था उस समय ये कबीले अपनी आवश्यकताओं के अनुसार एक भूभाग से दूसरे भूभाग में भटकते फिरा करते थे। आर्थिक जीवन की इस अस्थिरता ने उन्हें अधिक संघर्षशील बना रखा था और वे तत्कालीन संकट निवारण की आवश्यकताओं से प्रेरित होकर अहोरात्र संघर्ष के लिए सन्नद्ध रहने को बाध्य थे। कालान्तर में जब आर्थिक परिस्थितियाँ अनुकूल हुई और वे जमकर किसी एक अनुकूल भूभाग पर रहने लगे तब भी उन्होंने स्वाभाविक रूप में अपनी सामान्य प्रशासन सम्बन्धी पुरानी परम्परा कायम रखी। यद्यपि एक स्थान पर बसने और सामान्य प्रशासन का स्थायी ढाँचा कायम करने से पहले ही उनमें व्यक्तिगत सम्पत्ति का उदय हो गया था और इस प्रकार संघ सम्पत्ति के स्थान पर व्यक्तिगत सम्पत्ति का पदार्पण करने के पश्चात् सामन्ती अर्थव्यवस्था एवं राजतंत्र का उदय हो जाना चाहिए था, फिर भी उन्होंने राजविहीन प्रशासन-व्यवस्था कायम रखी जो कि पुराने कबीला समाज की विरासत थी।

स्पष्ट है कि इस अन्तर्विरोध ने गणतंत्रों को अन्दर से खोखला कर दिया। जब तक संघ राज्यों में संघीय सम्पत्ति का प्रभुत्व था और ऋग्वेद की इस प्रसिद्ध उक्ति के अनुसार कि 'हम सब मिलकर अपनी रक्षा करें, सब मिलकर साथ खावें, सब मिलकर पराक्रम के कार्य करें और जो हममें सबसे अधिक तेजस्वी हैं, उसकी आज्ञाओं का पालन करें और हम एक दूसरे से ईर्ष्या न करें।'

(सह नाववतु सहनी भुनुक्तु सहवीर्य करवाव है। तेजस्विनावधीत् मस्तु मा विद्विषावहै) जब समाज का प्रत्येक व्यक्ति मिलकर काम करता था और पूरी सम्पत्ति पूरे समाज या संघ की समझी जाती थी एवं सभी मिलकर खाते थे, उस समय एक व्यक्ति का दूसरे से ईर्ष्या न करना एवं संघ के सर्वाधिक तेजस्वी व्यक्ति की आज्ञाओं को शिरोधार्य करना स्वाभाविक था। परन्तु जिस संघ राज्य में व्यक्तिगत सम्पत्ति ने जन्म ले लिया हो, प्रत्येक व्यक्ति अपने ही पशुओं तथा अपने ही चारागाह में उन्हें चराता हो, उनके दूध एवं बच्चों का वह स्वयं ही स्वामी हो एवं अपनी भूमि के भूभाग पर स्वयं अपने ही उत्तरदायित्व पर और अपने ही लाभ के लिए खेती करता हो, उस राज्य में संघीय राज्य के पुराने नियम एवं आदर्श कैसे जीवित रह सकते थे? जिस व्यक्तिगत सम्पत्ति और व्यक्तिगत खेती ने पड़ोस के प्रदेशों में सामन्तवादी और राजतंत्र को विजयी बनाया हो और जो राजतंत्र ललचाई आँखों से संघ राज्यों की भूमि एवं पशुओं की ओर देखते रहते हों उनके झटकों को अन्तर्विरोधों से जर्जर संघ राज्य कैसे झेल सकते थे?

संघराज्यों में एकता का धागा टूट चुका था। उनमें व्यक्तिगत ईर्ष्या और द्वेष का विष भरा हुआ था। उनमें व्यक्तिगत आकांक्षाओं ने सामाजिक हितों को बलि चढ़ा दिया था। विषय, लोलुपता, भ्रष्टाचार और दम्भ तथा पाखण्ड परम पराकाष्ठा पर पहुँचे हुए थे। उनके सामने कोई उच्च सामाजिक आदर्श नहीं रह गया था जिसकी रक्षा के लिए वे व्यक्तिगत स्वार्थों का परित्याग करते। गणराज्य का प्रत्येक नागरिक आपाधापी में लगा हुआ था। केवल बाहरी आक्रमणों और विशेष संकट के समय वे कबीले या कुल के नाम पर एक हो जाते थे, दीवानों की तरह जूझते थे और ज्यों ही वह संकट टल जाता था, पुनः पहले की ही तरह, बल्कि पहले से भी उग्र रूप में, आपस में टकराने लगते थे।

इस संघ राज्यों के नाम या तो उन भूभागों के नाम पर पड़े थे जहाँ वे आवाद थे और या फिर वे कबीले के किसी माननीय पूर्वज के नाम से पुकारे जाते थे।

महामात्य कौटल्य जिस समय विशाल मौर्य साम्राज्य की नींव रख रहे थे, देश में अनेक संघराज्य थे और उनकी वही स्थिति थी जो ऊपर बतायी गयी है, परन्तु कौटल्य ने उनके साथ संघर्ष का मार्ग सैनिक युद्ध के रूप में नहीं प्रत्युत कूटनीतिक युद्ध के रूप में स्वीकार किया और विभिन्न संघराज्यों के प्रति एक ही नीति का अनुगमन न करके विभिन्न उपायों का सहारा लिया था। इस नीति से मूलतः दो ही निष्कर्ष निकलते हैं। पहला है राजनीतिक और दूसरा कूटनीतिक। कूटनीतिक उपाय के भी दो रूप अपनाये गये – उन्हें अन्दर से खोखला करना और नष्ट कर देना तथा विशेष परिस्थितियों की बाध्यता आ पड़ने पर ही सैनिक युद्ध का सहारा लेना। कौटल्य संघराज्यों को राजतंत्र की समानान्तर व्यवस्था के रूप में देखते थे, उनकी कमजोरियों का भी उन्हें आभास था; परन्तु फिर भी उन्हें निर्मूल करने का कार्यक्रम उन्होंने नहीं अपनाया। इसका मूल कारण राजनीतिक था। कौटल्य यह अनुभव करते थे कि राजतंत्र को सम्प्रति किसी मूल्य पर भी संघ राज्यों से कामचलाऊ समझौता कर लेना चाहिए, उनमें आन्तरिक अव्यवस्था फैलानी चाहिए जिससे कि कालान्तर में वे स्वयं ही छिन्न-भिन्न हो जायँ और किसी भी मूल्य पर सैनिक आक्रमण करके उन्हें

आत्मरक्षा के नाम पर एक हो जाने का अवसर नहीं देना चाहिए।

बाद के अनुभव ने यह सिद्ध कर दिया कि कौटल्य की राजनीतिक सूझ-बूझ सही सिद्ध हुई। अपने समय में कौटल्य की केवल एक ही महत्त्वाकांक्षा थी। किसी भी भाँति सैकड़ों-हजारों प्रशासनिक इकाइयों में बँटे भारत को केवल एक ही प्रशासनिक झण्डे के नीचे एकत्रित कर दें और इसमें उन्हें पर्याप्त सफलता मिली।

इसीलिए संघ राज्यों के प्रति उन्होंने एक विशेष दृष्टिकोण अपनाया।

कौटल्य यह मानते थे कि संघों में अधिक एकता होती है। इसीलिए उन्हें जीतना आसान नहीं है। (संघा हि संहतात्वाद घृष्याः परेषान्) इसीलिए यह दावा किया गया कि यदि किसी राजा को दूसरे क्षेत्र से सेना, मित्र एवं संघ का सहयोग मिलता हो तो, संघ का ही सहयोग लेना चाहिए। यदि संघराज्य अपने अनुकूल हों तो साम और दाम से उन्हें सदा अपने पक्ष में बनाकर रखना चाहिए और यदि वे सर्वथा विरोधी हों तो भेद तथा दण्ड का सहारा लेना चाहिए।

कम्बोज और सौराष्ट्र के संघ राज्य आमतौर पर खेती, पशुपालन और व्यापार तथा सेना में काम करते थे। यही उनकी जीविका का मुख्य साधन था। इन संघराज्यों में रहने वाले क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र यही कार्य करते थे।

इनके अतिरिक्त लिच्छवी, व्रजिक, मल्लक, मुदक, कुकुर, कुरु और पांचाल आदि प्रसिद्ध संघीय राज्य थे जिनमें राजा नहीं होता था, परन्तु वे अपने आपको राजा कहलाने में गर्व अनुभव करते थे। (राजशब्दोप जीविनः)

लिच्छवी गणतंत्र की राजधानी वैशाली थी जिसके अवशेष अभी तक पाये जाते हैं। मल्लक गणतंत्र पटना के पास था जिसकी राजधानी पावा थी। मद्रक और कुकुर कबीले मध्य पंजाब में आवाद थे। मद्रक का पंजावी अपभ्रंश 'माज्झा' है। कुरु देश वर्तमान मेरठ, करनाल और रोहतक आदि ज़िले हैं जिसकी राजधानी कभी इन्द्रप्रस्थ में और कभी हस्तिनापुर थी। वर्तमान कन्नौज आदि के आस-पास में पोनाल जाति निवास करती थी।

इन संघ राज्यों का भारतीय राजनीति में सैकड़ों-हजारों वर्षों तक नक्षत्र चमका था एवं वर्तमान भारत की बहुत-सी विकट समस्याओं का अच्छा एवं बुरा सूत्रपात उसी युग की विरासत के रूप में मिला है जो आज भी ज्यों का त्यों है तथा कभी-कभी तो विकट रूप धारण कर लेता है। यदि यह कहा जाय तो अतिशयोक्ति नहीं होगी कि वर्तमान निर्वाचनों के अवसर पर जो संकीर्ण जातीयता उभर कर आती है, जिससे देश की सभी राजनीतिक समस्याओं पर आवरण पड़ जाता है वह केवल सामन्ती समाज का घृणित अवशेष नहीं है प्रत्युत उसी कबीला समाज का जिसका राजनीतिक रूप संघ राज्य था, घृणित अवशेष हैं। प्रत्येक जाति एक संकीर्ण कबीले की भाँति, उसी तरह अपनी जाति के उम्मीदवार के चारों ओर इकट्ठा हो जाती है, जिस तरह, कबीले पर बाहरी आक्रमण के समय पूरे कबीले के लोग मरने और मारने को तैयार हो जाते थे। इसके साथ-साथ, संघराज्य के कुछ अच्छे प्रभाव भी हैं। यदि सामाजिक सुधार का नारा पूरे समाज के लिए

दिया जाता है तो कार्यान्वित नहीं होता। परन्तु यदि संकुचित जातीय आधार पर ऐसा कोई कार्यक्रम रखा जाता है और एक बार वह स्वीकार हो जाता है तो पूरी जाति के लिए संविधान की भाँति मान्य हो जाता है।

इन संघ राज्यों का विनाश करने के लिए राजतंत्र की ओर से बड़ी संख्या में बुद्धिमान गुप्तचर भेजे जाते थे जो संघ के सदस्यों के आपसी मनमुटाव, उनकी कमियों तथा दोषों, आपसी वैरभाव और कलह के कारणों का पता लगाते थे। वे एक दूसरे संघ मुख्य के पास जाकर और एक दूसरे का नाम लेकर उनकी बुराई करते थे और साथ ही ऐसी सावधानी बरतते थे जिससे कि वे आपस में मिलकर एक दूसरे से स्पष्टीकरण न माँग सकें।

अध्यापकों के रूप में रहने वाले गुप्तचर संघ मुख्यों के बालकों के साथ पक्षपात करते थे, एक की बुद्धि की निन्दा और दूसरे की प्रशंसा करते थे और विद्या, शिल्प, जुआ तथा घुमाने फिराने के समय ऐसा व्यवहार करते थे जिससे कि संघ के मुख्य परिवारों के बच्चों में स्थायी रूप से आपसी वैमनस्य हो जाये। जब किसी संघ मुख्य के विरोध में उसके अतिशय शराब पीने या वेश्याओं के पास आने-जाने की निन्दा होने लगती थी तो नागरिकों के वेश में रहने वाले गुप्तचर उसका साथ देते थे। कहते थे कि – 'शराब पीने में क्या दोष है, वेश्याओं के पास क्यों नहीं जाना चाहिए? अमुक संघ मुख्य बिलकुल ठीक है' आदि। इससे संघ मुख्य के समर्थकों तथा विरोधियों के दो विरोधी दल बनाये जा सकते थे। इस नीति से राजा को संघ में अपना विश्वसनीय कृत्यपक्ष मिल जाता था।

जो बच्चे अधिक सुख-सुविधाओं का जीवन व्यतीत करते थे या अच्छे खिलौने आदि का प्रयोग करते थे, उनके मुकाबिले हीन साधनों का प्रयोग करने वाले बच्चों को यह कहकर भड़काया जाता था कि 'तुम भी संघ के बच्चे हो और ये भी। फिर ये ही क्यों सुविधापूर्वक रहते हैं और तुम दीन-हीन दशा में हो?'

जो संघ में या बड़े पदों पर हों उन्हें छोटों के साथ विवाह आदि संस्कार करने से रोका जा सकता था। साथ ही छोटों को यह कहकर भड़काया जाता था कि संघ में सभी समान हैं। आपके विवाह आदि के सम्बन्ध इनके साथ क्यों नहीं होते? ये बड़े भी तो आप ही लोगों के बनाये हुए हैं।

(विशिष्टानां चैकपात्रं विवाहं हीनेभ्योवारयेयुः। हीनान्वा विशिष्टैरेकपात्रे विवाहे वा योज्येयुः। अवहीनान्वा तुल्य भावापगमने कुलतः पौरुषतः स्थान विपर्यासतो वा)

इस प्रकार हीन दशा के व्यक्तियों को विशिष्ट हैसियत के व्यक्तियों के साथ बैठकर खान-पान के लिए उकसाया जाता था और इसके लिए उनके कुल एवं वीरता की गरिमा का स्मरण कराया जाता था।

संघ जो भी उचित या अनुचित निर्णय किसी विवाद का करता था, पीड़ित व्यक्ति को पहले ही वे विपरीत निर्णय सुनाते थे और उसके पक्ष का समर्थन करते थे। जब संघ के किन्हीं दो चार गुटों में विरोध सुस्पष्ट हो जाता था तो चुपके से वे उनके पशु, सम्पत्ति तथा व्यक्तियों को नष्ट कर देते थे, या हत्या कर डालते थे जिससे कि उन गुटों में आजीवन

शत्रुता हो जाती थी और वे जनता की दृष्टि में गिर जाते थे।

इन विवादों में राजा सदा ही निर्बल का पक्ष लेता था और जो आपसी संघर्ष में पिट जाते थे उन्हें संघ से पृथक होने की प्रेरणा अपने भेदियों द्वारा देता था।

किसी एक प्रदेश में लोगों को अलग से बसा दिया जाता था और इन बस्तियों में कम से कम पाँच और अधिक से अधिक दस परिवार रखे जाते थे। उन सभी को कभी इकट्ठा नहीं रखा जाता था। यह डर बना रहता था कि किसी भी समय उनमें फिर से कबीला भावना जाग सकती है और वे राजा के विरुद्ध शस्त्र उठा सकते हैं। इन बस्तियों के बीच-बीच में राजा की सैनिक चौकियाँ रहती थीं।

(एक देशं लमस्तान् वा निवेश्य भूमौ चैषां पंचकुली दशकुली वा कृल्यां निवेशयेत्। एकस्था हि शस्त्रग्रहण समर्थाः स्युः समवाये चेषामत्यथे स्थापयेत्।)

जिन संघ राज्यों में राजा शब्द प्रिय था और वे अपने आपको राजा कहलाकर गर्व अनुभव करते थे – जैसे लिच्छवी आदि संघ, उनमें ज्योतिषी, भविष्यवक्ता आदि के रूप में जो विद्वान गुप्तचर रहते थे, वे किसी संघ मुख्य के बालक का हाथ एवं नक्षत्र देखकर सर्वसम्मति से घोषणा करते थे कि 'यह बालक राजा के लक्षणों से युक्त है। संभव है कि यह किसी राजा का पुत्र भी हो जो दैवयोग से इस घर में आ गया है।' संघ के प्रतिष्ठित मुख्यों के पास पहुँचकर वे विनती करते थे कि 'अमुक बालक अमुक राजा का पुत्र या भ्राता है। आप इसकी रक्षा करें।' जब पूरे संघ में यह चर्चा सर्वमान्य हो जाती थी कि बालक वास्तव में अमुक राजा का पुत्र या भ्राता है तो संघ के अधिकांश सदस्य इस पक्ष में हो जाते थे कि बालक को लौटा देना चाहिए एवं कुछ संघमुख्य इस कार्य में राजा की सहायता करने के लिए सक्रिय कृत्यपक्ष (पंचमाँगी) का कार्य करने को उद्यत हो जाते थे तो राजा संघ में वड़ी मात्रा में धन बाँटता था एवं सेना भेजकर पुत्र प्राप्ति के नाम पर संघ की विजय कर लेता था।

परन्तु यह सब बहानेबाजी करने के बाद भी कौटल्य यही समझते हैं कि संघ को युद्ध-भूमि में सम्पूर्ण रूप से आमंत्रित न किया जाय। उस अवसर पर शराब के व्यापारी के रूप में रहने वाले गुप्तचर अपने घर में हुई मौत का प्रचार करके पूरे संघ को मदिरापान का निमंत्रण देते थे और मदिरा में विष मिला कर पिलाते थे ताकि संघ के अधिकांश व्यक्ति या तो मौत का चुम्बन कर लें, या उनका स्वास्थ्य नष्ट हो जाय और उनका युद्ध करने का साहस टूक-टूक हो जाय ताकि राजसेना के सम्मुख आत्मसमर्पण करने के अलावा कोई मार्ग ही उनके लिए शेष न रह जाये।

(विक्रमकाले शौण्डिकव्यंजनाः पुत्रदार प्रतापदेशेन नैषेवनिकमिति मदनरस युक्तान् भवकुम्भाअशतशः प्रयच्छेयुः।)

अथवा आपसी कलह एवं द्वेष में फँसे संघ मुख्यों में से किसी एक दो को गुप्तचर इस प्रकार मूल्यवान आभूषण आदि छुपा कर देते थे कि कोई देख भी ले। जब उनकी चर्चा चल जाती थी तो व्यापक प्रचार किया जाता था कि ये आभूषण राजा की ओर से भेंट

स्वरूप आये हैं। जब पूरे संघ में मुख्य के प्रति अविश्वास की भावना फैल जाती थी और सभी लोग उसे धिक्कारने लगते थे तब राजा संघ पर आवश्यकता एवं संभावना का पता लगाकर आक्रमण कर देता था।

संघ मुख्य के किसी गर्वित और महत्त्वाकांक्षी नौजवान पुत्र के मन में निरन्तर प्रचार करके गुप्तचर यह बात बैठा देते थे कि तुम वास्तव में संघमुख्य के पुत्र नहीं हो। तुम्हारा पिता तो अमुक राजा है; उसने विपत्ति के समय तुम्हारे प्राणों की रक्षा के लिए संघमुख्य के पास छोड़ दिया था। तुम्हीं उस राज्य के वास्तविक स्वामी हो। परन्तु कपटी संघमुख्य है कि तुम्हें अपने पिता के पास नहीं जाने देता। क्यों नहीं तुम संघ में अपना एक पृथक् दल बना लेते? राजा से धन एवं सेना की सहायता लो, इस संघ पर विजय प्राप्त करो और संघ को अपने पिता के राज्य में विलीन कर दो। जब इस महत्त्वाकांक्षी मुख्यपुत्र पर प्रचार का पूरा सिक्का जम जाता था और संघ में उसके समर्थकों की टोली बन जाती थी, तब राजा उसे धन और सेना की सहायता देकर उसी के माध्यम से संघ पर विजय प्राप्त कर लेता था। संघराज्य के हाथ में आने के बाद इस कृत्रिम 'राजपुत्र' का सिर धड़ से उतार कर उसकी महत्त्वाकांक्षा शान्त कर दी जाती थी।

आमतौर पर जिनकी स्त्रियाँ कुलटा होती हैं या जिन जातियों में अपनी स्त्रियों द्वारा धन कमाने की परम्परा होती है, जैसे कूदने-फाँदने वाले, बाँसों तथा रस्सियों पर चढ़ने वाले नट, नर्तक और जादूगर आदि, वे बहुत से संघमुख्यों के पास अपनी सुन्दर तथा जवान बहुओं तथा बेटियों को भेजकर उन्हें रिझाने तथा फँसाने का प्रयत्न करते थे। जब एक ही लड़की पर अनेक मुख्य आसक्त हो जाते थे तब उन्हें एकान्तवास के लिए किसी नियत स्थान पर बुलाया जाता था। उसी समय दूसरे संघमुख्य को बुलाया जाता था – और वह कुलटा लड़की जब एक के साथ भाग जाती थी तो दूसरे से कहा जाता था – लड़की या बहू तो केवल आप पर ही मोहित है, परन्तु यह दूसरा संघमुख्य जबरदस्ती कर रहा है और उसे उठाकर ले गया। जब स्त्री के मामले को लेकर दोनों का कलह सर्वविदित हो जाता था तो गुप्तचर एक की हत्या कर देते थे। प्रचार चलाया जाता था कि दूसरों की स्त्रियों में फँसा यह कामी मारा गया और इस प्रकार दूसरे संघमुख्य को बदनाम किया जाता था।

यदि इतनी उत्तेजना होने पर भी दूसरा संघमुख्य चुपचाप घर बैठा रहता था और लड़की भगाने वाले संघमुख्य से बदला नहीं लेता था तो वह लड़की स्वयं ही उसके पास आकर कहती थी मेरा जीवन आपके साथ है। आपके विना घड़ी भर जीना कठिन है। परन्तु यह दूसरा संघमुख्य जबरदस्ती मेरे पीछे पड़ा हुआ है। जब भी आपसे मिलने की योजना बनाती हूँ, यह बीच में आकर बाधा डालता है या मुझे उठाकर ले जाता है। उसके जीते जी मेरा यहाँ रुकना या ठहरना हराम हो गया है। इस प्रकार संघमुख्य को दूसरे संघमुख्य की हत्या में प्रवृत्त किया जाता था।

जो स्त्री उठाकर ले जायी जाती थी, वह भी अपना काम करती थी। जहाँ संघमुख्य उसके साथ विषय-भोग करते थे, वहाँ लड़की के रिश्तेदार के रूप में गुप्तचर पहुँच जाते थे और उसका वध कर देते थे या स्त्री ही उसकी इहलीला समाप्त कर देती थी। इसके बाद

वह दूसरे संघमुख्य का नाम लेकर चिल्लाने लगती थी 'हाय रे, अमुक संघमुख्य ने, जो मेरे प्रिय से ईर्ष्या करता था, मेरे प्रियतम की हत्या कर दी।'

अथवा, जब संघ सदस्यों को यह बात भली-भाँति ज्ञात हो जाती थी कि दो या इससे अधिक संघमुख्य किसी सुन्दर स्त्री पर मोहित हैं और वे सभी उसे अपने वश में करना चाहते हैं तो सिद्धवेश में रहने वाला राजपुरुष वशीकरण औषध देने के बहाने आता था और उसे विष दे देता था। उसकी मृत्यु के साथ यह किवदन्ती फैला दी जाती थी कि दूसरे संघमुख्य ने सिद्ध द्वारा विष दिलवा कर अपने प्रतिद्वन्द्वी की हत्या करवा दी है।

जब ऐसी स्त्रियों से काम नहीं चलता था तो सम्पन्न परन्तु रूपवती विधवा स्त्रियाँ, सुन्दर परन्तु गरीब स्त्रियाँ जो घरों में रहती हुई पेशा कराती हों और वे लड़के, जो सुन्दर स्त्रियों के वेश में रहते हों आपस में कलह करते हुए संघमुख्य के सम्पर्क में आते थे और अपने विवाद का निबटारा कराने का बहाना करते थे। संघमुख्यों के पास समय-कुसमय आने का बहाना मिल जाने के बाद उन्हें हर तरह से अपने ऊपर आसक्त करते थे। जब पूरा विश्वास हो जाता था कि वे कामान्ध होकर चेतना खो बैठे हैं, संभोग के बहाने एकान्त में बुला कर उनकी हत्या कर दी जाती थी।

स्त्री के वेश में रहने वाला गुप्तचर चुपचाप आकर संघमुख्य से कहता था संघ के अुमक ग्राम में रानी के लक्षणों से युक्त एक स्त्री रहती है। रूप यौवन सम्पन्न है। उसका पति परदेश गया हुआ है। जब कभी आता है उसे सताता है। उसने आपका नाम सुन रखा है। वह आपके नाम की माला जपती है। यदि उसे अपने घर में ले आओगे तो शीघ्र ही राजा बन जाओगे। जब संघमुख्य ऐसा कर लेता था तो अगले दिन उस स्त्री का पति संघ में आकर सभा करता था। उस पर आरोप लगाता था कि संघमुख्य व्यभिचारी है। उसने मेरी स्त्री, पुत्री या बहन का अपहरण कर लिया है और घर में बैठा रखा है, आदि।

जव न्याय की याचना करने पर संघ अपराधी मुख्य को गिरफ्तार कर लेता था तो राजा के आदमी उसे जाकर कहते थे – देख लिया संघ का न्याय आपने? वह पतिव्रता आपके नाम पर जीती है। आपने उसका उद्धार किया है और संघ है कि आपको प्रोत्साहन देने के स्थान पर जेल में डालता है। आप क्यों नहीं राजा से धन और सेना की सहायता माँगते और इन पाखण्डी संघमुख्यों का दिमाग ठिक़ाने लगाते?

यदि संघ उसे गिरफ्तार नहीं करता था तो क़िसी गुप्तचर द्वारा संघमुख्य की हत्या करवा कर प्रचार कर दिया जाता था कि संघमुख्य ने ब्राह्मणी घर में डाल रखी थी। वह उसी के अपराध में मारा गया है।

सन्यासिनी या भिक्षुकी के वेश में रहने वाली गुप्तचर नारी किसी ऐसे संघमुख्य, जिसे अपनी पत्नी प्राणों से भी अधिक प्रिय हो, के पास जाकर एकान्त में कहती थी – 'देखिए अमुक संघमुख्य में यौवन का कैसा उन्माद चढ़ा है? उसने आपकी स्त्री के पास यह प्रेमपत्र देकर मुझे भेजा है और कहा है कि भिक्षुकी ! कम से कम एक रात के लिए उसे मेरे पास ले आ। आपकी पत्नी तो बेचारी निर्दोष है। उसे किसी बात का पता भी नहीं है। परन्तु

उसने मारने की धमकी दी है कि यदि पत्र नहीं पहुँचायगी या किसी बहाने से उसे नहीं लायेगी, तो तेरी खैरियत नहीं। आप इस पापी के प्राणों का अन्त कर दीजिये। जब तक वह नहीं मरता, मैं भी यहाँ से नहीं जाती। वह मेरी जान ले लेगा।' आदि, और इस प्रकार वह स्त्री दूसरे संघमुख्य की हत्या का प्रयत्न करवाती थी।

कौटल्य ने विस्तार के साथ संघों के विघटन तथा उच्छेद के जो उपाय बताये हैं ये पंक्तियाँ उनका दिग्दर्शन मात्र हैं। इन पंक्तियों से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि संघराज्यों एवं व्यवस्था की जीवनी-शक्ति नष्ट हो चुकी थी, वे आपसी कलह तथा द्वेषों में उलझे हुए थे और संघ का प्रत्येक सदस्य अपने ही द्वारा रचे गये जालों में उलझा हुआ था। उनका नैतिक पतन हो चुका था। अन्तर्विरोधों ने उन्हें खोखला कर दिया था और संघीय प्रयत्नों पर आधारित उनका प्राचीन वैभव तथा ऐश्वर्य व्यक्तिवाद की चट्टानों से टकरा-टकरा कर ध्वस्त हो चुका था। तभी तो राजतंत्र के जन्मजात षड्यन्त्रों एवं कुचालों के आघात वह सहन नहीं कर सका और बाध्य होकर सामन्तवाद के चरणों पर आ गिरा। राजतंत्र ने संघराज्यों के सबसे घृणित, विश्वासघाती और अवसरवादी तत्वों को संघों की व्यवस्था के विरुद्ध विद्रोह करने की प्रेरणा दी, उन्हें अपनी अधीन रखकर संघ का राजा या सामन्त बनाने का आश्वासन दिया और इसमें उन्हें इतनी सरलता से सफलता मिल गयी कि एक ही झटके में उनकी नींव उखड़ गयी। एक समय था जब भारत के विशाल प्रांगण में प्रसिद्ध गणतंत्री राज्यों के प्रभाव की उत्तुंग पताकाएँ हिमालय के शिखर पर तथा अनन्त सागरों की किलोल लहरियों पर लहराया करती थीं और वे राजतंत्र के सम्मुख इतने दयनीय ढंग से सदा-सर्वदा के लिए झुक गयीं कि भारतीय पुराणों तथा इतिहास में उनके पुरुषत्व भरे प्रतिरोध की कोई कथा तक सुनाई नहीं देती।

अन्त में संघराज्यों ने राजतंत्र के सम्मुख आत्म-समर्पण कर दिया। राजा पृथ्वी का प्रतिपालक बन गया और राजतंत्र के विरोधी संघराज्यों पर उस की पताका फहराने लगी। हाँ, इतनी छूट उन्हें अवश्य थी कि वे संघ की सीमाओं में राजतंत्र के अधीन अपनी पुरानी सामाजिक राजनीति का अनुमान कर सकते थे और कहीं-कहीं उनका पुराना राजनीतिक रूप भी कायम रखा गया था – यद्यपि संघमुख्य राजा को भेंट-पूजा और कर नियमित रूप से देते थे।



अध्याय नौ

विदेश-नीति की रूपरेखा

यह धारणा निराधार है कि कौटल्य कालीन भारत में विदेश-नीति का महत्त्व स्पष्ट नहीं था। यह सिद्धान्त एवं मान्यता और भी भ्रामक है कि पूँजीवाद के विकास के साथ-साथ विदेश नीति का महत्त्व बढ़ा है और समाजवादी जनतंत्रों की स्थापना से उसका महत्त्व गृहनीति के समकक्ष हो गया है। विपरीत इसके कौटल्य कालीन भारत में, और यहाँ तक कि पूरे विश्व की राजतंत्रात्मक शासन प्रणाली में, विदेश नीति का जो महत्त्व था वह पूँजीवादी एवं समाजवादी जनतंत्रों की अपेक्षा कहीं अधिक एवं प्रभावकारी था। समाजवादी जनतंत्रों की भाँति राजतंत्र में विदेश नीति गृहनीति का अनिवार्य अंग नहीं थी प्रत्युत विदेश नीति ही गृहनीति का जीर्णोद्धार करती थी। प्रत्येक राजा और राजतंत्र का अस्तित्व इस घटना पर निर्भर करता था कि वह दूसरे राज्यों का कुछ भाग अपने राज्य में मिला पाता है या नहीं और दूसरे राजा, जो ललचाई आँखों से उसका राज्य आत्मसात् कर लेना चाहते हैं, वह उनके साथ किस प्रकार का और कितनी मात्रा में प्रतिरोध करना चाहता है। राजतंत्रों के युग में राज्य विस्तार की स्पर्द्धा इतनी प्रबल एवं भयानक थी कि किसी भी राज्य का या तो निरन्तर विस्तार होता रहता था और या फिर उसका ह्रास आरम्भ होकर अस्तित्व ही लुप्त हो जाता था। न तो राष्ट्रों के सीमान्तों की अनुलंघनीयता का पवित्र सिद्धान्त था, न किसी राष्ट्र की सार्वभौमिकता की गरिमा थी, न किसी के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप का सिद्धान्त अमान्य था और न कोई किसी की सीमा को ही मान्यता देता था। जिसकी लाठी उसकी भैंस का सिद्धान्त प्रचलित था। जब अपेक्षाकृत दीर्घकाल तक राजतंत्र एवं उसके पड़ोस में शान्ति की स्थापना हो जाती थी और यह भी तभी संभव होता था जब विरोधी राजाओं का साहस आक्रमण करने का नहीं होता था, तो विदेश नीति गौण पड़ जाती थी, गृहनीति मुख्य हो जाती थी जिससे कृषि, उद्योग, व्यापार, सुरक्षा, कला और संगीत आदि की उन्नति होने लगती थी। जब कोई दूसरा प्रबल प्रतिद्वन्द्वी अन्धड़ और तूफानों की भाँति इस या उस राज्य पर आक्रमण करता था तो गृहनीति गौण हो जाती थी एवं विदेश नीति सर्वोपरि स्थान ग्रहण कर लेती थी। भारतवर्ष ने कम से कम चार हजार वर्ष तक राजतंत्रों के पतन तथा उत्थान के और गर्जन तथा तर्जन के दिन देखे हैं, जिसमें केवल कौटल्य कालीन भारत में राजतंत्र के जो बीजारोपण किये गये थे, उन्हीं के मधुर फल स्मरणीय रह गये हैं।

यही कारण है कि राजतंत्रों के अस्तित्व एवं विकास का मापक यंत्र वह गृहनीति नहीं बन सकी थी जिसके आधार पर वह नवनिर्माण के कार्य करता था बल्कि वह सैनिक बल था जिसके आधार पर वह शत्रुओं से निबटता था और जिसके आतंक से वह थोड़ा बहुत निर्माण सम्बन्धी कार्य भी करवाता था।

कौटल्य कालीन भारत में विदेश नीति के व्यावहारिक रूप निम्नलिखित थे-सन्धि, विग्रह, यान, आसन, संश्रय और द्वैधीभाव। स्वयं राजा और प्रधान अमात्य के लिए राजनीति के इन छः गुणों में पारंगत होना परम अनिवार्य समझा जाता था। यह कहना अतिशयोक्ति न होगा कि उस समय इस षाड्गुण्य में निष्णात होना ही राजनीतिज्ञ होना था और जो इसमें पारंगत नहीं था उसे राजनीतिज्ञ नहीं समझा जाता था।

अतएव, इन छः गुणों और विदेश नीति के सम्बन्ध में विस्तृत विवेचना करने से पहले कौटल्य की विदेश नीति सम्बन्धी मूल मान्यताओं तथा उनके सांगठनिक रूपों पर विचार करना आवश्यक होगा। तभी यह समझने में आसानी होगी कि आचार्य कौटल्य एवं दूसरे राजनीतिक आचार्यों ने षाड्गुण्य के सम्बन्ध में इतना बल क्यों दिया है और यह छः गुण किन परिस्थितियों में किस प्रकार के शत्रुओं अथवा मित्रों के प्रति प्रयोग में लाये जाते थे।

शत्रु एवं मित्र की परिभाषा

आचार्य कौटल्य यह नहीं मानते कि जो अपना अहित करने का प्रयत्न करता है, वही अपना शत्रु है और जो हित करता है वही मित्र है। इस प्रकार वे शत्रु एवं मित्र की परिभाषा उनके दृष्टिकोण एवं कार्यकलापों को देखकर नहीं करते, प्रत्युत उनकी धारणा है कि कुछ राजा तो शत्रु होते ही हैं फिर वे अपना अहित करें या न करें तथा कुछ मित्र ही रहेंगे वे अपना हित न भी करते हों। देखने में यह सिद्धान्त बहुत विचित्र प्रतीत होता है। परन्तु इसमें विचित्रता कुछ भी नहीं है। आज से २६ सौ वर्ष पहले आचार्य कौटल्य ने शत्रु और मित्र की जो परिभाषा की थी, वह समाजवादी जनतंत्रों के उदय काल तक सभी राष्ट्रों को प्रायः मान्य रही है।

कौटल्य यह मानकर चले कि प्रत्येक राजा अपने राज्य का विस्तार करना चाहता है। जिसने राज्य की स्थापना की है, वह उसका विस्तार कराने का भी इच्छुक होगा। इसीलिए उसे अपने साथ ऐसे अमात्य आदि प्रकृतियों का संग्रह करना पड़ता है जो इस कार्य में सहयोग दे सकें और उसे अपना व्यक्तित्व भी इस प्रकार ढालना पड़ता है जो विजय अभियानों के झटके एवं उतार-चढ़ाव झेल सके। इसीलिए कौटल्य ने उसे 'विजिगीषु' (विजय का इच्छुक) संज्ञा देकर शत्रुओं तथा मित्रों की विवेचना की है एवं विजिगीषु को सावधान किया है कि षाड्गुण्यों का प्रयोग करते समय उसे इस मौलिक ज्ञान का लाभ उठाना चाहिए।

(राजात्मद्रव्य प्रकृति सम्पन्नो नयस्याधिष्ठानं विजिगीषुः)

कौटल्य ने उसे यह चेतावनी भी दी है कि समस्त राजनीति एवं षाड्गुण्य का अधिष्ठाता स्वयं राजा है, अमात्य एवं सेनापति आदि नहीं; अतः विजय लाभ करने के लिए उसी का साहस एवं राजनीति निर्णायक होते हैं, किसी दूसरे के नहीं।

विजिगीषु के राज्य से मिली चारों दिशाओं में जो पड़ोसी राजा होते हैं, उन्हें कौटल्य शत्रु मानते हैं। इनके साथ निरन्तर खटपट रहती है और जब भी कभी वे अपने राज्य के विस्तार की योजना कार्यान्वित करना चाहेंगे-- विजिगीषु के राज्य पर ही आक्रमण करते हैं।

अपने पड़ोस की चारों सीमाओं पर स्थित राज्यों की दूसरी सीमाओं से लगे राज्यों को कौटल्य मित्र मानते हैं। उनका सिद्धान्त है कि जिस प्रकार सीमान्त से लगा पड़ोसी राजा विजिगीषु के साथ खटपट रखता है उसी भाँति अपनी दूसरी सीमा से लगे राजा के प्रति भी उसका यही व्यवहार होना स्वाभाविक है। इस प्रकार यह विजिगीषु का शत्रु हुआ। शत्रु का शत्रु मित्र होता है, यह कौटल्य का अमर सिद्धान्त रहा है जिसे पूरे विश्व के राजनीतिज्ञों ने अब तक स्वीकार किया है।

(शत्रोः शत्रुर्मित्रं। शत्रोर्मित्रं शत्रुः)

विजिगीषु के राज्य के चारों ओर के राज्यों का विश्लेषण करे कौटल्य ने शत्रु-मित्रों की जो विवेचना की है उससे यही निष्कर्ष निकलता है कि विजिगीषु का पड़ोसी राजा-शत्रु, उसका पड़ोसी, मित्र, मित्र का पड़ोसी शत्रु, शत्रु का शत्रु मित्र-मित्र अर्थात् अपना मित्र और उसका शत्रु अप्रत्यक्ष रूप से अपना शत्रु। शत्रु मित्रों की इस श्रृंखला का निष्कर्ष निम्नलिखित समझना चाहिए--

(१) विजिगीषु, (२) शत्रु, (३) मित्र, (४) (शत्रुमित्र), (५) मित्रमित्र, (६) और शत्रुमित्र मित्र।

(तस्य सम् ततो मण्डलीभताभूभ्यनन्तरा और प्रकृतिः। तथैव भूम्येकान्तरा मित्र प्रकृतिः। तस्मान्मित्रमरिमित्रं मित्रमित्रमरिमित्रमित्रं वानन्तर्येण भूमीनां प्रसज्यते पुरस्तात्)

इसका राजनीतिक परिणाम यह निकला कि पड़ोसी देशों से मित्रता के सम्बन्धों की स्थापना असंभव मानी जाती थी और उसे राजनीति में अस्वाभाविक माना जाता था।

इसी प्रकार, विजिगीषु के पीछे के चार देशों का विभाजन आक्रमण की दृष्टि से इस प्रकार किया जाता था-- विजिगीषु के पीछे की ओर लगे हुए देश का राजा पार्ष्णिग्राह, उसके बाद का आक्रन्द, इसके बाद का पर्ष्णिग्राहासार और उससे अगला आक्रन्दासार। आक्रमण करने से पहले विजिगीषु सदा ही पार्ष्णिग्राह का प्रबन्ध करते थे। पार्ष्णी अर्थात् एड़ी से उसे पकड़ने वाला या आक्रमणकारी विजिगीषु पर पीछे की ओर से हमला करने वाला।

(पश्चात्पार्ष्णिग्राह, आक्रन्दः पार्ष्णिग्राहासार आक्रन्दासारः)

कुल मिलाकर तत्कालीन राजनीतिज्ञ राजा के शत्रु मित्रों के सम्बन्ध में यह धारणा रखते थे कि सीमा से लगा राज्य स्वाभाविक शत्रु होता है एवं अपने वंश में उत्पन्न दायभागी राजा भी स्वाभाविक शत्रु होता है। जो किसी कारण विशेप से विरोधी हो गया हो उसे कृत्रिम शत्रु माना जाता था।

(भूम्यनन्तरः प्रकृत्यमित्रः तुल्याभिजनः सहजः)

एक राज्य के व्यवधान पर जो राज्य करता था वह स्वाभाविक मित्र माना जाता था और मामा तथा फूफी का लड़का भी सहज मित्र समझे जाते थे।

(भूम्येकान्तरं प्रकृतिमित्रं मातापितृसंबद्धं सहजम्)

धन एवं आजीविका के लिए जो राज्य से सम्बन्ध जोड़ता था वह कृत्रिम मित्र समझा जाता था। शत्रु और मित्र राजाओं की श्रेणियों में, एक तीसरी मध्यम श्रेणी भी मानी जाती थी जो सन्धि और विग्रह करने में या अनुग्रह करने में समर्थ होता था और यदि विग्रह हो जाए तो विग्रह करने में भी समर्थ होता था, एवं विजिगीषु तथा शत्रु राजाओं की सीमा से जिसकी सीमा मिलती थी।

परन्तु इन तीनों से भिन्न एवं इतनी ही महत्त्वपूर्ण चौथी भी थी जिसे उदासीन कहते थे और जो विजिगीषु तथा और दोनों की पृथक्-पृथक् तुलना में एक से मिलकर दूसरे का विनाश कर सकता था, एवं मध्यम की तुलना में अधिक शक्तिशाली होता था और जो विजिगीषु, शत्रु और मध्यम में से किसी भी एक के साथ मिलकर अजेय समझा जाता था।

(अरिविजिगीषुमध्यानां वहिः प्रकृतिभ्यो वलवत्तरः संहतासंहताना मरि विजिगीषुमध्यमानामनुग्रहे समर्थो नग्रहे चासंहतानामुदासीनः)

अर्थात् विजिगीषु, उसका मित्र और मित्र-मित्र ये तीन प्रकृतियाँ मानी जाती थीं। इनमें से प्रत्येक के साथ अमात्य, जनपद, दुर्ग, कोश और दण्ड (प्रकृतियाँ) मिलकर १८ अवयवों वाला एक राजमण्डल कहलाता था। ठीक इसी प्रकार, शत्रुमण्डल, मध्यममण्डल, और उदासीनमण्डल भी १८-१८ अवयवों के माने जाते थे। इसी प्रकार, चार राजमण्डलों में १२ राजप्रकृति और ६० अमात्य आदि द्रव्य प्रकृति कुल मिलाकर १२ की राजप्रकृति कहलाती थी।

प्रत्येक राजा सन्धि, विग्रह आदि छः गुणों का प्रयोग करने से पहले इन चारों राजमण्डलों और कुल मिलाकर उनका ७२ प्रकृतियों का मूल्याँकन करता था, उनके बलाबल की तुलना करता था, और अपनी स्थिति देखकर ही दूसरे राजमण्डलों के प्रति अपने दृष्टिकोण का निर्णय करता था।

छः गुणों की तुलनात्मक उपयोगिता

विदेश नीति के सम्बन्ध में कुछ प्राचीन आचार्यों का यह मत था कि उसके मूलभूत सिद्धान्त छः नहीं प्रत्युत केवल दो हैं-- सन्धि और विग्रह। आप किसी बाहरी देश के प्रति मुख्यतः दो प्रकार के ही व्यवहार करते हैं-- या तो सन्धि करते हैं और या विग्रह। शेष चार गुण उन्हीं दो के पूरक अंग हैं। परन्तु आचार्य कौटल्य ने दृढ़ता के साथ इस मत का खण्डन किया और छहों गुणों की समान उपयोगिता पर बल दिया है।

दो राजाओं का किन्हीं समान हितों की शर्तों पर एकमत हो जाना सन्धि है, शत्रु का कोई अपकार करना विग्रह है, किसी की उपेक्षा करना या तटस्थता का व्यवहार करना आसन है, शक्तिसंचय कर लेना यान है, किसी बलवान् राजा से संरक्षण माँगना अथवा विशेष परिस्थितियों में उसकी शरण ले लेना संश्रय कहलाता है और सन्धि तथा विग्रह दोनों का प्रयोग करता द्वैधीभाव कहलाता है। वैदेशिक नीति के ये छहो अंग भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में भिन्न-भिन्न प्रकार के राजाओं के प्रति भिन्न प्रकार से काम में लाये जाते हैं और इसीलिए इनके परिणाम भी एक दूसरे से भिन्न होते हैं। कौटल्य ने इसीलिए इन्हें

एक दूसरे से भिन्न एवं समान रूप से आवश्यक माना है।

(तत्र पणबन्धः सन्धिः। अपकारो विग्रहः। उपेक्षणमासन्। अभ्युच्चयों यानम्। परार्पणं संश्रयः। सन्धिविग्रहोपादानं दधीभावः)

शत्रु से भय लगता हो तो सन्धि की ज़ाती थी, शक्ति संचय हो गयी हो तो विग्रह अर्थात् तनाव किया जाता था। दोनों की शक्ति समान होती थी तो घर बैठे रहते थे। शक्ति अधिक हो जाती थी तो शत्रु पर चढ़ बैठते थे। शक्ति कम होती थी तो बलवान् का सहारा ले लेते थे, किसी का सहयोग मिलने से और शत्रु के साथ मिले किसी राजा के उससे टूट जाने से काम निकल सकता हो तो द्वैधीभाव का सहारा लेकर यही करते थे।

इन छः गुणों में से उसी गुण का सहारा लेना अधिक श्रेयस्कर तथा बुद्धिमत्तापूर्ण माना जाता था जिसका सहारा लेने से राजा यह समझे कि--इस बीच मैं अपने दुर्ग, सेतु (पुल) व्यापारी मार्ग, नये उपनिवेश खान, काष्ठवन, हस्तिवन और ऐसे ही अन्य लाभदायक कार्यों को सम्पन्न करा लूँगा और शत्रु के ऐसे ही कार्यों की प्रगति में बाधा डाल सकूँगा एवं जो वन चुके हैं उन्हें छतिग्रस्त कर दूँगा। परन्तु उन कार्यों के सम्पादन में शीघ्रता करने पर राजनीतिज्ञ सदा ही जोर देते थे। परन्तु यदि प्रक्रिया इनके विपरीत चलती हो, अर्थात् शत्रु के कार्यों की उन्नति अधिकतर एवं शीघ्रतर होती हो तो विपरीत मार्ग का अवलम्बन करने का परामर्श दिया जाता था। यदि समान काल में समान उन्नति होने की संभावना होती थी तो सन्धि करना श्रेयस्कर समझा जाता था। जिस गण के अवलम्बन से अपनी अवनति एवं शत्रु की उन्नति होती हो, उसका आश्रय कभी नहीं लिया जाता था।

ऐसी परिस्थितियों में विजिगीषु अपनी हानि की अधिक चिन्ता नहीं करते थे, यदि उसकी क्षति बहुत दिनों में और शत्रु की शीघ्र होनेवाली हो, अपनी क्षति थोड़ी और शत्रु की अधिक होने वाली हो, अपनी क्षति उदयोन्मुख और शत्रु की ह्रासोन्मुख होने वाली हो। और यदि दोनों की ही क्षतियाँ समान रूप से होने वाली होती थीं तो विजिगीषु को परामर्श दिया जाता था कि वह सन्धि कर ले, किसी अन्य गुण का आश्रय न ले। कौटल्य ने निम्नलिखित परिस्थितियों और संभावनाओं में विजिगीषु को यही सलाह दी है कि उसे सन्धि से भिन्न किसी दूसरे गुण का आश्रय नहीं लेना चाहिए-

यदि शत्रु की अपेक्षा अपने दुर्ग आदि निर्माण कार्यों में अधिक प्रगति की संभावना हो या शीघ्र ही शत्रु के दुर्ग आदि निर्माण कार्यों की क्षति होने वाली हो, यदि उसे आशा हो कि अपने दुर्ग आदि की भाँति शत्रु के दुर्ग आदि का लाभ भी उसे मिल सकता है, यदि आशा हो कि सन्धि से शत्रु का विश्वास जीत कर उसके दुर्ग आदि में तोड़-फोड़ एवं कृत्यपक्ष आदि का संगठन कर सकूँगा, यदि यह संभावना हो कि सन्धि करने से जो सद्भावना का वातावरण बनेगा उसकी ओट में शत्रु-देश के अच्छे विशेषज्ञों और कारीगरों आदि को अपने देश में खींच लाऊँगा; यदि शत्रु अपने से अधिक बलवान् शत्रु के साथ सन्धि करने के कारण अत्यधिक भुगतान करने से शीघ्र ही खाली हाथ होने वाला हो, यदि यह सोचे कि जिससे विग्रह करने के लिए वह विजिगीषु सन्धि कर रहा है, उसी से उसका अनन्त काल तक विग्रह चला सकूँगा, यदि वह उसके साथ सन्धि करके शत्रु की प्रजा को

निर्दयतापूर्वक लूटने एवं सताने वाला हो, यदि दूसरे राजा से सताया हुआ उसका राष्ट्र तंग आकर शीघ्र ही विजिगीषु को मिलने वाला हो और यदि लम्बे युद्ध में फँसा एवं क्षतिग्रस्त शत्रु शीघ्र ही अपने पर आक्रमण करने की संभावना न रखता हो, आदि।

निम्नलिखित संभावनाओं में विग्रह गुण का आश्रय लेने की सलाह दी जाती थी-- यदि राज्य की प्रजा अधिकांश में शस्त्रजीवी हो या कबीला ढंग की हो और पहाड़ जंगल, नदी, दुर्ग आदि की बहुतायत हो एवं राज्य में प्रवेश करने का एक ही मार्ग हो जहाँ दीर्घ समय तक शत्रु का आक्रमण रोका जा सके एवं प्रतिरोध किया जा सके, यदि अपने राज्य की सीमा पर अति दुर्भेद्य दुर्ग हो, जिसका सहारा लेकर वह शत्रु, शत्रु के दुर्ग आदि का विनाश कर सकता हो, यदि संकट एवं हानियों से हतोत्साहित शत्रु के पतन की संभावनाएँ बहुत सन्निकट हों और यदि ऐसी संभावना हो कि संकटकाल में अपनी जनता को किसी सुरक्षित मार्ग से बचाकर निकाला जा सकता हो।

यदि ऐसा प्रतीत होता था कि न तो शत्रु मेरे उद्योगों को नष्ट कर सकता है, न मैं ही उसे हानि पहुँचा सकता हूँ, इसलिए क्यों न मौन बैठ कर अपनी स्थिति सँभालूँ, तो आसन गुण का सहारा लिया जाता था।

इसी रीति से शेष गुणों के हानि-लाभों की विवेचना करके उनका आश्रय लिया जाता था।

सन्धि और विग्रह का समान लाभ होता हो तो सन्धि की जाती थी। विग्रह में हानि, व्यय, दूसरे की सीमाओ में प्रवेश और शत्रु द्वारा किये गये विष आदि के प्रयोग से संचित बल की क्षति होने का भय रहता था। इसी प्रकार आसन और यान से तथा द्वैधीभाव और संश्रय से समान लाभ की संभावना कर आसन एवं द्वैधीभाव का सहारा लिया जाता था। द्वैधीभाव से राजा अपने बल की वृद्धि करता है एवं संश्रय से दूसरे का बल बढ़ाता है। यदि प्रबल राजा का भय होता था तो उससे अधिक बलशाली राजा का संश्रय लिया जाता था। जब ऐसी संभावना नहीं मिलती थी तो बलवान् शत्रु का ही सहारा पकड़ना उचित समझा जाता था। परन्तु उससे दूर रहकर संश्रय लेना और संश्रयदाता को सन्तुष्ट रखना ही उचित समझा जाता था। प्रायः बलवान् राजाओं का संश्रय लेने और उनके निकट रहने पर वध एवं बन्धन सभी की सम्भावना रहती थी। जब भी कभी यह अनुभव होता था कि संश्रयदाता राजा पर स्वयं संकट आ गया है और उसके विरुद्ध विद्रोह आदि हो सकता है तो संश्रय लेने वाला दुर्बल राजा भाग खड़ा होता था एवं अपने राज्य का पुनर्गठन करता था।

बलवान के साथ विग्रह करना शास्त्र-वर्जित था और समान बलशाली के साथ अर्थहीन माना जाता था। परन्तु निर्बल राजा के साथ विग्रह टालना मूर्खता समझी जाती थी। यदि समान शक्ति का राजा सन्धि नहीं करता था तो उसे बार-बार हानि पहुँचाई जाती थी। वह तभी सन्धि करने के लिए उत्सुक बनाया जा सकता था। यदि हीनशक्ति राजा सदा विनम्र बना रहता था उससे विग्रह करना भी विवेकहीन समझा जाता था। ऐसा करने पर मित्र राजमण्डल में रोष फैलाता था और अपनी प्रकृतियों में असन्तोष पैदा होता था जिससे

राजा की लोकप्रियता नष्ट हो जाती थी। विजिगीषु के शक्तिशाली और शत्रु के निर्बल होने पर भी यदि विग्रह से विशेष लाभ दिखाई न देता हो तो संधि की ही उपादेयता समझी जाती थी। यदि आपत्ति अप्रतिकार्य हो तो बलवान् राजा भी निर्वल से सन्धि करता था।

यदि राज्य और प्रकृति की रक्षा के लिए कुछ भूमि देकर शत्रु को सन्तुष्ट करना संभव हो तो उचित समझा जाता था। इसे आदिष्ट सन्धि कहते थे। दी हुई भूमि में गुप्तचर छोड़ दिये जाते थे जो तोड़-फोड़ करते रहते थे एवं अनुकूल समय पर उसे वापिस ले लिया जाता था।

राजधानी और दुर्ग तथा उस भूमि को छोड़कर जहाँ कर संग्रह न किया गया हो और जो दीर्घकाल तक अपने किसी विशेष उपयोग में न आने वाली हो, ऐसी भूमि देकर प्रबल शत्रु से जो सन्धि की जाती थी उसे 'उच्छिन्न सन्धि' कहते थे। भूमि में उत्पन्न हुए पदार्थ को देकर जो भूमि छुड़ा ली जाती थी उसे 'अवक्रय सन्धि' कहते थे। परन्तु जिस सन्धि में उत्पन्न पदार्थों के अलावा कुछ और वस्तुएँ भी दी जायँ उसे 'परदूषण सन्धि' कहते थे।

ये सन्धियाँ प्रायः इस आशा के साथ की जाती थीं कि कालान्तर में और अनुकूल परिस्थितियाँ आने पर उन्हें शत्रु के हाथ से मुक्त करा लिया जायेगा।

निम्नलिखित परिस्थितियों में राजनीतिक राजविग्रह करके आसन ग्रहण करते थे-यदि विजिगीषु की आर्थिक स्थिति सुदृढ़ हो और शत्रु की निर्बल हो और यह सम्भावना हो कि आर्थिक संकट से पीड़ित उसके अमात्य आदि प्रजाजन विजिगीषु का ही पक्ष लेंगे, यदि विजिगीषु की आर्थिक स्थिति निर्बल होने पर भी अमात्य आदि प्रजाजनों के टूटने की सम्भावना न हो, यदि दूसरे देशों से आने वाले माल की, जो शत्रु देश में जा रहा हो, विजिगीषु के देश में आने की सम्भावना हो, उस विदेशी माल का आयात रोक सकने की सम्भावना हो जिसने उसके देश के माल का मूल्य गिरा रखा, व्यापारी मार्ग, जो आज दूसरे को लाभ पहुँचा रहे हों, कल उसे पहुँचाने लगेंगे, अथवा शत्रु राजा अपने विद्रोहियों एवं जंगल निवासियों का दमन नहीं कर सकेगा, यह भी सम्भावना हो कि वह विद्रोह दबाने में ही उलझ कर रह जाय, शत्रु के निर्बाध रूप में दूसरे पर आक्रमण करने से उसके विजयी होने की संभावना हो जिससे उसकी शक्ति बढ़ जाने का भय हो, अथवा विजिगीषु की उपेक्षा करके यह जिस देश पर हमला कर रहा है वहाँ थोड़ी सी हानि उठाकर बहुत लाभ उठा लेगा-- ऐसी सम्भावना हो, और यदि यह डर हो कि लूट का यह सामान पाकर वह तुरन्त विजिगीषु पर चढ़ बैठेगा। आदि।

(सम्पन्ना में वार्ता विपन्ना परस्य तस्य प्रकृतयों दर्भिक्षोपहता मामेष्यन्ति। विपन्ना में वार्त्ता सम्पन्ना परस्य। में प्रकृतयो न गमिथन्ति विगृह्य चास्य धान्यपशु हिरण्यान्याहरिष्यन्ति। स्वपण्योपथातीनि वा परपण्यानि निवर्तयिष्यामि। परवणिक्यधाद्रवा सारवन्ति मामेष्यन्ति विगृहीते नेतरमू। दूष्यामित्राटवी निग्रहं वा विगृहीतो न करिष्यति..........)

निम्नलिखित परिस्थितियों में विजिगीषु राजा शत्रु के विरुद्ध यान (अभियान-आक्रमण) करते थे। यदि शत्रु और यातव्य (जिस पर शत्रु आक्रमण करना चाहता है) समान विपत्ति

में हों, शत्रु के वश में कर लेने पर यातव्य विजिगीषु-का सहायक हो सकता था परन्तु शत्रु कभी नहीं, यदि गहरे संकट में फँसा यातव्य हो और अल्प संकट में शत्रु हो-तब भी शत्रु पर ही आक्रमण होने पर शत्रु का अल्पसंकट भी गहरा हो जाता है। आक्रमण न करने पर शत्रु अपना लघु संकट दूर भी कर सकता है। यदि तीन परिस्थितियाँ एक साथ आती थीं (१) यातव्य जिस पर संकट गहरा है परन्तु न्यायपूर्वक प्रजा का पालन करता है, (२) लघु व्यसन यातव्य परन्तु अन्यायपूर्वक प्रजा का पीड़न करने वाला (३) जिस पर अमात्य आदि प्रकृतियाँ कुपित हों, इन तीनों में तीसरे पर ही पहले आक्रमण किया जाता था, यद्यपि पहले पर गहरा संकट होता था और दूसरे पर भी संकट था। जिस पर गहरा संकट है, परन्तु न्यायपूर्वक राज्य करता है, उसके लिए अमात्य-जनपद आदि प्रकृतियाँ बलि चढ़ जाती हैं। जिस पर थोड़ा संकट है परन्तु अन्याय करता है, उसकी उपेक्षा कर देती हैं। यदि अमात्य आदि प्रकृतियाँ कुपित होती हैं तो बलवान् राजा का उच्छेद कर देती हैं।

अन्यायवृत्ति बलवान् तथा न्याय वृत्ति निर्बल राजाओं में से पहले पर ही आक्रमण किया जाता था। इसीलिए कि समय पाते ही उसके विरोध में पूरी प्रजा उठ खड़ी होती है।

यही कारण है कि राजा लोग अमात्य जनपद आदि प्रकृतियों को कुपित नहीं होने देते थे। यदि असन्तोष पैदा हो जाता था तो शीघ्र ही उसका कारण दूर करने का प्रयत्न करते थे।

आक्रमणों के सम्बन्ध में एक विचित्र प्रथा और भी थी। दो आक्रमणकारी आपस में सन्धि करते थे। विजिगीषु दूसरे आक्रमणकारी मित्र से कहता था-- आप इधर हमला कीजिए और मैं उधर करूँगा। जो मिलेगा समान बँटवारा कर लेंगे। यदि लाभ समान मिलता था तो सन्धि निभाई जाती थी। यदि समान नहीं मिलता था तो दोनों फिर आपस में लड़ते थे। वे भिन्न-भिन्न देशों पर भी मिल कर आक्रमण करते थे। 'तुम इस देश पर चढ़ाई करो और उस देश पर मैं चढ़ाई करूँगा' इस-लूट-खसोट का बाकायदा नाम रख रखा था जिसे 'परिपणित सन्धि' 'अपरिणित सन्धि' 'परिपणित देश सन्धि' और 'परिपणित काल सन्धि' के नाम से पुकारा जाता था।

इस प्रकार की सन्धियाँ करते समय ये आक्रमणकारी आमतौर पर अपने-अपने हित में घात लगाते थे। सुगम और बहुमूल्य पदार्थों वाले मार्गों तथा सुहावनी ऋतुओं में स्वयं आक्रमण करते थे एवं दुर्गम तथा निःसार पदार्थों वाले मार्गों एवं रोग फैलाने वाली ऋतुओं में अपने साझीदारों को आक्रमण पर भेजते थे।

सामन्तों को सामन्तों से लड़ा कर और यातव्य मित्र के समग्र पक्ष को नष्ट करके दूसरे की भूमि का अपहरण कर लेना एवं उसके समस्त पक्ष का उन्मूलन कर देना, कौटल्य कालीन भारत की सर्वश्रेष्ठ राजनीति एवं योग्यता थी।

सामन्तेनेव सामन्तं विद्वानायोज्य विग्रहे।
ततोअन्यस्य हरेद्भूमिं छित्वा पक्षं समन्ततः।।

ये सन्धियाँ नित्य की जाती थीं और नित्य तोड़ी जाती थीं। सन्धि करना और तोड़ना भी राजनीतिक दक्षता एवं पाण्डित्य का प्रतीक माना जाता था। यहाँ तक कि सन्धि तोड़ना, जो कि स्वयं सन्धि का खण्डन कर्म हैं, भी सन्धियों में सम्मिलित किया जाने लगा था। सन्धि के चार धर्म समझे जाते थे-अकृत-चिकीर्षा, कृतश्लेषण, कृतविदूषण और अवशीर्ण क्रिया।

अकृतिचिकीर्षा सन्धि वह थी जो दो राजाओं के मध्य सबसे पहली होती थी और जिसे शक्ति एवं साधनों के अनुसार निभाया जाता था। दूसरी सन्धि वह थी जिसे बीच-बीच में मिल कर संशोधित एवं परिवर्धित किया जाता था एवं दोनों पक्षों की ओर से अपने-अपने हित में, जिसे निभाते रहने का प्रयत्न किया जाता था। कृतविदूषण सन्धि वह थी जिनमें एक राजा दूसरे पर यह आरोप लगाता था कि उसने उसके राजद्रोहियों से मेल कर लिया है और इस लिए सन्धि चालू रखना अर्थहीन हो गया है। (परस्यापसंधेतां दूष्यातिसंधानेन स्थापयित्वा व्यतिक्रमः कृतविदूषणम्) किसी भृत्य अथवा मित्र के दोष से सन्धि के टूट फिर जोड़ सन्धि जोड़ना अवशीर्श क्रिया कहलाती थी।

जब दो राजा मिलकर कहीं आक्रमण करते थे और उन्हें मित्र, हिरण्य एवं भूमि का लाभ होता था तो वह मित्र राजा लाभ में माना जाता था जिसे पहले की अपेक्षा दूसरा और उसकी अपेक्षा तीसरा लाभ होता था। भूमि से हिरण्य एवं मित्र दोनों मिल जाते हैं तथा हिरण्य से मित्र लाभ हो जाता है। वे सन्धि करके आपस में घोषणा करते थे--'आओ, हम और आप दोनों मिलकर नये मित्र का लाभ प्राप्त करें' यह समसन्धि मानी जाती थी। 'आओ, तुम मित्र को और मैं हिरण्य का लाभ प्राप्त करूँ' और या कि मैं भूमि का लाभ प्राप्त करूँ और तुम हिरण्य का लाभ पाओ', यह विषय सन्धि मानी जाती थी। जिसमें अधिक लाभ होता था वह 'अतिसन्धि' थी।

'तुम और हम दोनों मिल कर नयी भूमि प्राप्त करें' ऐसी सन्धि करके जब दो आक्रमणकारी दूसरे देश पर चढ़ाई करते थे, तो वह 'भूमि सन्धि' कहलाती थी। भूमि का समान लाभ होने पर भी वही विशेष लाभ में माना जाता था जिसे बलवान् शत्रु को भूमि मिलती थी। इससे भूमि की प्राप्ति एवं बलवान् शत्रु का विनाश दोनों लाभ मिलते थे।

'तुम और हम दोनों मिल कर नया उपनिवेश बसावें' इस प्रकार की सन्धि करके जब राजा नये उपनिवेश बसाते थे उसे अनवसित सन्धि कहते थे। इसमें वही विशेष लाभ में रहता था जो अधिक उपजाऊ और सम्पन्न भूमि में उपनिवेश बसाता था। इसमें भी स्थल तथा उदक (जल वाली) भूमि में से दूसरी अच्छी है, जहाँ वर्षा की पराधीनता नहीं रहती और कुछ-न-कुछ पैदा हो ही जाता है।

स्थल भूमि में भी वह थोड़ी भूमि अच्छी समझी जाती थी जो समतल हो और जिसमें दो फसलें हो सकती हों, अपेक्षाकृत ऊबड़-खाबड़ भूमि के जो अधिक तो हो परन्तु जहाँ पानी न रुकता हो। औदक भूमियों में भी वही अच्छी समझी जाती थी जहाँ गेहूँ और धान्य पैदा होते हों। इस भूमि में भी कम या अधिक भूमि पर विचार करने पर धान्य पैदा करने वाली अल्प भूमि के मुकाबले अधिक जलवती भूमि अच्छी समझी जाती थी। उसमें

कहीं-न-कहीं तो कुछ पैदा हो ही जाता है और फिर राज्य के लिए दुर्ग एवं सेतुबन्ध आदि के निमित्त अधिक भूमि की आवश्यकता रहती है। भूमि के गुण तो घटाये बढ़ाये जा सकते हैं। (कृत्रिम हि भूमि गुणाः)

खानों तथा धान्य देने वाली भूमियों में कौटल्य दूसरी को अधिक लाभदायक मानते हैं। इसलिए कि दुर्ग एवं सेतुबन्ध आदि का निर्माण कार्य केवल धान्य से ही हो सकता है। (धान्यमूलो हि दुर्गादीनां नर्मणामारम्भः)

यदि व्यापार के लिए अनित्य वारिपंथ एवं स्थल पथ मिलता हो तो वारिपथ अच्छा समझा जाता था और दोनों ही नित्य हो तो स्थल पथ श्रेष्ठ समझा जाता था। (वारिस्थलपथ भोगयोरनित्यो वारिपथ भोगो नित्यः स्थल पथ भोग इति)

ऐसी भूमि जिसमें रहने वालों में एकता हो और दूसरी ऐसी जिसके निवासियों में फूट हो, इनमें दूसरी अच्छी समझी जाती थी। इसलिए कि राज्य उस पर सरलता से नियन्त्रण कर सकता है।

'तुम और मैं दोनों मिलकर दुर्ग का निर्माण करें' इसे कर्म सन्धि कहते थे। इसमें वही राजा लाभ में रहता था जो थोड़े व्यय से दुर्गम मार्ग पर दुर्गों का निर्माण करवाता था। इसमें भी स्थल, नदी और पर्वतदुर्गों में पहले से अगला श्रेष्ठ माना जाता था। सेतुबन्ध से बने दुर्गों में भी वही अच्छा माना जाता था जिसमें स्वाभाविक रूप से नित्य जल भरा रहता था। स्वाभाविक जल वाले दुर्ग में वह अच्छा था जहाँ कृषि योग्य भूमि भी हो।

द्रव्य वनों में भी वही राजा प्रदेशों को आबाद करके लाभ में रहता था जहाँ मूल्यवान् और विशेष रूप से भवन निर्माण आदि के योग्य लकड़ियाँ पैदा होती थीं। नदियों के तट की भूमि दैवाधीन नहीं होती जहाँ अकाल में भी कुछ उत्पन्न हो सकता है। व्यापार के लिए वारिपथ और स्थलपथों में वारिपथ ही श्रेष्ठ माना जाता था। वहाँ थोड़े खर्च एवं परिश्रम से अधिक माल इधर-उधर भेजा जा सकता है। परन्तु स्वयं कौटल्य ने प्राचीन आचार्यों के इस मत का खण्डन किया है। इसलिए कि जल का मार्ग कभी-न-कभी रुक सकता है, वह सदा एक समान नहीं रहता, उसमें खतरे बहुत रहते हैं, आपत्तियों का प्रतिकार करना कठिन होता है जब कि स्थल पथ में ये सब असुविधाएँ नहीं होतीं। जल मार्गों में भी कूलपथ (तट मार्ग) और संयानपथ (गहरे या समुद्र के बीच का मार्ग) से अच्छा समझा जाता था जिसमें माल की अदला-बदली होती रहती थी और तटीय बन्दरगाहों पर साथ ही विक्री भी संभव थी।

(वारिपथं तू कूल संयान पथयोः कूलपथः पण्य पट्टण बाहुल्याछेयान् नदी-पथी वा सातत्याद्विषह्याबात्वाच्च)

स्थल पथों में कुछ आचार्य दक्षिणापथ से उत्तरापथ को अच्छा मानते थे जहाँ हस्ती अश्व गन्ध, दाँत, चर्म, चाँदी और सुवर्ण आदि पणय बहुतायत से मिलते हैं। परन्तु कौटल्य दक्षिणापथ को अच्छा बताते थे जहाँ शंख, हीरा, मणि और मोती तथा सुवर्ण बड़ी मात्रा में मिलते थे।

व्यापारी मार्गों में पैदल मार्ग वाले पथों की अपेक्षा गाड़ी वाला पथ अच्छा समझा जाता था। देशकाल के अनुसार गधे और ऊँट का मार्ग भी ठीक समझा जाता था।

यदि बहुत से राजा मिलकर विजिगीषु पर आक्रमण कर देते थे तो यह राजनीति नहीं समझी जाती थी की युद्ध करके आत्मनाश किया जाय। प्रत्युत झुक कर सन्धि की जाती थी और आक्रमणकारियों की प्रत्येक अभिसन्धि (सन्धि की शर्त) स्वीकार करके भविष्य की योजनाएँ बनाना उचित समझा जाता था। जब परिस्थितियाँ अनुकूल हो जाती थीं और संचित शक्ति के आधार पर पुराना खोया प्रभुत्व पुनः प्राप्त किया जा सकता था तो किसी बहाने से ये अभिसन्धियाँ तुरन्त तोड़ दी जाती थीं।

परन्तु यह भी होता था कि विजेता शत्रु विजित राजा को अपने यहाँ बन्दी बनाकर रखें या राजकुमार को प्रतिभू (जामिन) के रूप में बन्द करके रखें और इस प्रकार उनकी स्वतंत्रता का अपहरण हो जाय। परन्तु कौटल्य कालीन भारत की राजनीति बहुत प्रौढ़ हो गयी थी और उसमें किसी प्रकार की भावुकता के लिए कोई स्थान नहीं था। विजेताओं की सभी अभिसन्धियाँ तत्काल स्वीकार कर ली जाती थीं। मान के लिए प्राण नहीं गँवाये जाते थे। परन्तु शत्रु दुर्ग का यह बन्धन तात्कालिक रूप में स्वीकार भले ही कर लिया जाता हो, उसके पीछे असली उद्देश्य शीघ्रातिशीघ्र किसी भी भाँति पुनः मुक्ति प्राप्त करना होता था। कौटल्य ने राजनीतिक एवं सैनिक उपाय बताने के अलावा विस्तार के साथ यह भी बताया है कि किसी प्रकार दुर्ग का राजनीतिक बन्दी सुरंग खुदवाकर, व्यापारियों, लकड़हारों, कहारों और सईस आदि के देश में वहाँ से निकल कर भाग सकता था।

इसी प्रसंग में दो शब्द युद्धों के सम्बन्ध में लिखने उचित होंगे। सिद्धान्त रूप में युद्ध प्रायः तीन प्रकार के होते थे-- प्रकाश युद्ध, कूटयुद्ध और तृष्णी युद्ध।

प्रकाश युद्ध वह कहलाता था जिसकी पहले से घोषणा हो जाती थी एवं जो पहले से घोषित समय एवं स्थान पर होता था। एक स्थान पर हमला दिखाकर दूसरे स्थान पर प्रबल आघात करना एवं पहले से किसी स्थान और समय की घोषणा किये बिना शत्रु पर बार-वार छापे मारना कूटयुद्ध कहलाता था और तृष्णी युद्ध में शस्त्रों का प्रयोग नहीं होता था। कहीं शत्रु सैनिकों और सहायकों को विष देना, गुमराह कर देना, आग लगा देना, दलदल में फँसा देना और सामने आये बिना उसके हौंसले पस्त कर देना।

> प्रकाध युद्धं निर्दिष्टो देशे काले च विक्रमः।
> विभीषण भवस्कन्दः प्रमादव्यसनार्दवम्।।
> एकत्र त्यागधातौ च कूट युद्धस्य लक्षणम्।
> योग गूढ़ो-पजापार्थ तुष्णीं युद्धस्य लक्षणम्।।

इन युद्धों में कौटल्य कालीन भारत जिन शस्त्रार्थों का प्रयोग करता था वे मुख्यतः निम्नलिखित थे -

स्थितयंत्र - एक स्थान पर रखे रहते थे या उन्हें धकेल कर एक से दूसरे पर ले जाया जाता था और उन्हें कई व्यक्ति मिल कर काम में लाते थे।

स्थित यंत्र ये थे –

सर्वतोभद्र - जिसमें बहुत से छेद होते थे और जिनसे चारों ओर लोहे या पत्थर के गोले फेंके जा सकते थे।

जामदाग्न्य - जिसके एक ही छेद से लोहे या पत्थर के बड़े-बड़े गोले फेंके जाते थे।

बहुमुख - किले की ऊँची दीवार पर बनी सुरक्षित गुमटी जहाँ से अनेक धनुर्धर बाहर बाणवृष्टि कर सकते थे।

विश्वासघाती-- एक विशाल काष्ठ-स्तूप जो छूते ही गिरने और उठने लगता था एवं अपनी पहुँच में आये व्यक्तियों पर प्रहार करता था।

संघाटी - जिसमें से शत्रुओं पर आग बरसायी जा सकती थी।

यानक - रथ जैसे पहियों पर चलाया जाने वाला घातक यंत्र।

पर्जन्यक - अग्नि शान्त करने के लिए पानी की बौछार करने वाला यन्त्र।

बाहुयन्त्र - पर्जन्यक का आधे आकार का छोटा यन्त्र।

ऊर्ध्वबाहु - आकाश में उठा हुआ और आधा लटका हुआ भारी लट्ठा।

अर्द्धबाहु - ऊर्ध्वबाहु से आधे आकार का और वही काम करने वाला यंत्र।

चलयन्त्र - जिन्हें इधर-उधर ले जाया जा सकता था। वे निम्न थे –

पंचालिक - परकोटे के जल में गड़ा बाँस का खम्भा जो शत्रुओं का प्रवेश रोकता था।

देवदण्ड - कील रहित भारी खम्भा जो किले के परकोटे पर रखा रहता था।

सूकरिका - सूत और चमड़े की बनी हुई मसक-सी जो बाहरी बाणों का प्रवेश रोकती थी।

मूसलयष्टि - खैर का बना हुआ मूसल।

हस्तिवारक - दो या तीन शूलों वाला डण्डा।

तालवृन्त - ताड़ के पत्तों के समान चमड़े का बना ढाल का काम करने वाला आवरण।

मुद्गर - लकड़ी का नीचे से मोटा और भारी तथा ऊपर से पतला और हल्का।

गदा, स्पृक्ता - एक प्रकार की गदा जिसमें कंगूरे या काँटे हों। कुद्दाल-कुदाली या कस्सी। आस्पोटिम - चमड़े का बना हथियार जिसमें रखकर पत्थर या मिट्टी के ढेले फेंके जा सकते थे। उद्घाटिम - मुद्गर के समान यन्त्र।

उत्पाटिम - खम्भे आदि उखाड़ फेंकने वाला यन्त्र। शतघनी - मोटी और लम्बी कीलों से युक्त बहुत बड़ा खम्भा जो अचानक गिरता और उठता था। त्रिशूल और चक्र।

हलमुख - शकित-सम्पूर्ण लोहे का बना हुआ तीक्ष्ण शस्त्र जिसे फेंककर मारा जाता था। प्रास-सम्पूर्ण लोहे का परन्तु लकड़ी की मूठ वाला छूरा। क्रन्त-एक प्रकार का छूरा।

हाटक-क्रन्त के समान हथियार जिसमें तीन काँटे लगे रहते थे। भिण्डिपाल-मोटे और बड़े शूलों वाला कुन्त। शूल। तोमर-गण्ड़ासा। बराहकर्ण-एक प्रकार प्रास। कणय-लम्बी मूठ का छूरा। कर्पण फेंककर मारा जाने वाला गँड़ासा। त्रासिका-सम्पूर्ण लोहे की छोटी छूरी। धनुष-जिन पर रखकर बाण चलाये जाते थे, ये थे –

ताल - ताड़ का बना हुआ। चाप-एक प्रकार के बाँस का बना हुआ।

दारव - किसी लचकीली और मजबूत लकड़ी का बना हुआ।

शाढार्ग - सींगों का बना हुआ।

ज्या - धनुष की डोरी इनसे बनती थी –

मूर्वा, अर्क (आखा) शण (सन) गवेधुका (गोधू) वेणु (बाँस जो रेशेदार होता है) और स्नायु (आँत)।

इषु - बाण निम्नलिखित वस्तुओं से बनाये जाते थे - बेणु - (हल्का बाँस) शर - (सरकण्डा) शलाका (किसी हल्की लकड़ी की छड़) दण्डासन - (आधा लोहा और आधा बाँस) नाराच - सम्पूर्ण लोहे का। इन बाणों के मुख, जिनका उद्देश्य काटना, भेदना और चोट करना था, लोहे, हड्डी तथा मजबूत लकड़ी से बनाये जाते थे।

खड्ग - तलवार तीन प्रकार की होती थी - निस्त्रिंश (टेढ़ी) मण्डलाग्र (अगला भाग गोलाकार) और असियष्टि-पतली और लम्बी।

त्सरू - तलवार की मूँठ निम्नलिखित वस्तुओं की बनती थी - ढंग (रौंडा) महिष (भैंसा) के सींग, हाथी के दाँत (वारण विषाण) दारू और क्षुरकल्प तेज धार के हथियार निम्नलिखित थे –

परशु (फरसा) कुठार (कुल्हाड़ा) पट्टस (दोनों किनारों पर त्रिशूल वाला दण्डा, खनित्र (खनकी) कुदाल-कुदाली। क्रकच-आरा। कांडच्छेदन-गंड़ासी। इसके अलावा निम्नलिखित प्रक्षेपास्त्र थे –

यन्त्र पाषाणा - छोटे-छोटे पत्थर जिससे फेंके जाते थे। गोष्पण पाषाण गोकिया। मुष्टि पाषाण-हाथ से फेंके पत्थर। रोचनी-चक्की का पाट।

दृषद - पाषाण शिलाएँ।

निम्नलिखित वर्म - कवच,आदि थे।

लोह जाल - सिर ढकने वाला लोहे का टोप। लोहजालिका - सिर के अलावा शरीर ढकने वाला लोहे का कपड़ा। लोह पट्ट-बाहों के अलावा शरीर ढकने वाला लोहा। लोह कवच-केवल पीठ और सीना ढकने वाला लोहा। सूत्रकंकण-कपास और सूत का बना कवच। शिशुमारक-उद्बिलाव के चमड़े का बना आवरण। खड्गी (गेंदा) धेनुक (नीलगाय) हाथी और बैल के चमड़े एवं खुर तथा सींगों से बने आवरण।

इनके अलावा और भी रक्षा कवच होते थे –

शिरस्त्राण - केवल सिर की रक्षा करने वाला, कण्ठत्राण - केवल गले का रक्षक, कूर्पास-आधी बाहों का रक्षक, कंचुक (घुटनों तक शरीर का आवरणं) आदि।

सेना चार प्रकार की होती थी – पैदल, हाथी, रथ और अश्वारोही। कौटल्य ने अपने शास्त्र में हस्ति सेना पर विशेष बल दिया है।

युद्ध और युद्धभूमि

कौटल्य कालीन भारत में व्याप्त राजतंत्र का मुख्य उद्योग युद्ध था और सारी अर्थव्यवस्था युद्ध की धुरी पर टिकी हुई थी। कभी राजा स्वयं दूसरों पर आक्रमण करता था और कभी दूसरे उस पर चढ़ाई करते थे। अन्तहीन युद्धों की श्रृंखला में बँधा राजतंत्र अहोरात्र युद्धों की चिन्ता में डूबा रहता था और ऐसे युग की कल्पना तक नहीं कर सकता था जब समाज में युद्धों की अनिवार्यता विवाद का विषय बन सकती हो। उस समय के बद्धकी (दस्तकारों), भवन-निर्माण-कला-प्रवीण और मुहूर्त साधने वालों का मुख्य कार्य यही था कि वे किस प्रकार अच्छे स्कन्धवारों (छावनियों) एवं दुर्गों का निर्माण करावें जहाँ चिरकाल तक ठहरकर राजा आत्मरक्षा के लिए घेराबन्दी से सुरक्षित रह सके अथवा जहाँ से वह शत्रु पर प्रबल वेग से आक्रमण कर सके। इन स्कन्धावारों और दुर्गों को इस प्रकार से बनाया जाता था कि इनमें जीवनोपयोगी सभी सामग्रियों का समुचित प्रबन्ध होता था, उनके बँटवारे के लिए नियमित बाजार (हाटक) होते थे और विभिन्न दिशाओं में सैनिकों, राजा, पुरोहित, अमात्य, विष्टि (बेगारी मजदूर) और शूद्रों तथा राजमाता-रानियों एवं राजपुत्रों के ठहरने की व्यवस्था होती थी। इनके चारों ओर खाई बनाकर जल भर दिया जाता था एवं संकटकाल में निकल भागने के लिए सुरंगों का प्रबन्ध रहता था। स्कन्धावारों में राजा की स्वीकृति के बिना मदिरा पीना और आपसी कलह करना वर्जित होता था एवं पूरा सैनिक अनुशासन कायम रखा जाता था। अभियान करने से पहले मार्ग में विभिन्न ग्रामों तथा जलाशयों के सन्निकट अरव्यों में सुविधाओं से पूर्ण आवासों की व्यवस्था कर दी जाती थी। रसद का सामान सवारियों से ले जाया जाता था, कुछ सैनिकों की पीठ पर ढोया जाता था और शेष का प्रबन्ध मार्ग में आने वाली बस्तियों से किया जाता था।

प्रयाण के समय सबसे पहले नायक (पदाति सेना की टुकड़ियों के छोटे-छोटे सेनापति) चलते थे, बीच में अन्त:पुर (रनवास) और राजा। दोनों बाजुओं पर घुड़सवार और अन्त में हस्ति सेना तथा रसद विभाग चलता था। रसद विभाग को प्रसार विभाग कहते थे, अपने ही देश की जनता से मिली सामग्री 'विविध' कहलाती थी एवं मित्र सेना का नाम 'आसार' था। अन्त:पुर को समरो के समय 'अपसार' कहते थे। इसलिए उन्हें इधर-उधर करने में विशेष असुविधाएँ होती थीं। सबसे पीछे सेनापति अपनी-अपनी सेनाओं के साथ चलते थे।

सामने से शत्रु का आक्रमण होने पर मकराकार व्यूह की रचना की जाती थी और पीछे की ओर से शकटव्यूह। बाजुओं का हमला होने पर वज्रव्यूह तथा चारों ओर से शत्रु के टूट पड़ने पर सर्वतोभद्र व्यूह की रचना करके युद्ध किया जाता था। इन व्यूहों की रचना के सम्बन्ध में आगे इसी अध्याय में बताया गया है। प्रयाण के समय सेना कम से कम एक योजन और अधिक से अधिक दो योजन (आठ) कोस, चलती थी।

प्रयाण के समय सेना के लिए निम्नलिखित कठिनाइयों पर विशेष ध्यान रखा जाता

था और राजा का व्यक्तिगत कर्त्तव्य समझा जाता था कि ऐसे अवसरों पर वह सेना को प्रोत्साहन देता रहे।

बियाबान जंगलों से गुजरते समय, जहाँ पानी न मिलता हो, जहाँ घास-ईंधन और पशुओं को पिलाने का पानी न मिले, दुर्गम मार्ग हों, जिसने चिरकाल तक शत्रु का प्रतिरोध किया हो, भूख-प्यास और लम्बे मार्गों पर चलने से खिन्न, गहरे, दलदलों तथा जलों में एवं नदी-दर्रों तथा पर्वतों पर चढ़ने-उतरने से बेचैन जिसे ऐसे मार्गों से गुजरना पड़े जहाँ केवल व्यक्ति चल सकता हो, पथरीले पहाड़ी तथा विषम स्थानों पर रुकी हुई जो पड़ाव एवं यात्रा के समय हथियारों से रहित हो, भोजन कर रही हो, लम्बे सफर से थकी, सोती हुई, ज्वर ग्रस्त हो, संक्रामक रोगों, महामारियों तथा दुर्भिक्ष से पीड़ित हो, जिसके हाथी और घोड़े बीमार हो गये हों, अपने युद्ध के प्रतिकूल भूमि में आ पड़ी हो और युद्ध के समय ऐसी ही अनेक आकस्मिक आपत्तियों से व्याकुल हो। राजा के लिए यह अनिवार्य समझा जाता था कि ऐसे अवसरों पर अपनी सेना के साथ विशेष उपकार करे और यदि शत्रु की सेना ऐसे ही संकट में आ फँसी हो तो निर्दय होकर हमला बोल दे।

प्रकाश युद्ध सदा ही अपने अनुकूल भूमि में और अपनी ही योजनाओं के अनुसार किया जाता था। परन्तु यदि इसमें सफलता नहीं मिलती थी तो राजा लोग प्रतिकूल भूमि एवं परिस्थितियों में कभी घोषित युद्ध नहीं करते थे। तब वे केवल कूटयुद्ध का सहारा लेते थे।

प्रकाश युद्ध में तब तक शत्रु की पराजय नहीं मानी जाती थी। जब तक उसकी सेना पूरी तरह नष्ट न हो जाय या आत्मसमर्पण न कर दे। सामने के आक्रमण से छिन्न-भिन्न सेना को पीछे के आक्रमण से नष्ट किया जाता था और यदि वह पीछे के आक्रमण से छिन्न-भिन्न होती थी तो सामने का आक्रमण तेज करके रौंदा जाता था। अपने बाजुओं के हमले से यदि उसमें भगदड़ मचती थी तो चारों ओर से हमला करके उसका सफाया कर दिया जाता था। रात के समय शत्रु स्कन्धावारों के आसपास छेड़छाड़ करके उन्हें रात भर जगाया जाता था और दिन में आक्रमण करके उनकी शारीरिक शिथिलता का लाभ उठाना बुद्धिमानी समझी जाती थी।

यदि निम्नलिखित परिस्थितियाँ सामने होती थीं तो राजा प्रकाश-युद्ध का नहीं प्रत्युत कूटयुद्ध का सहारा लेते थे –

धान्वन (मरुस्थल) हो, वन हो जिसमें छिपा जा सके, संकट (घने और नोकीले काँटों से युक्त झाड़ियाँ) हों, पंक (दलदल एवं कीचड़ हो, शैलं (टिब्बे) हों, निम्न (गहरे प्रदेश) हों, विषम (ऊँचा-नीचा भूभाग) हो नीहार (कुहरा) छाया हो और काली रातें हों।

कूटयुद्ध की विशेषता यह समझी जाती थी कि इससे स्वकीय पक्ष की शक्ति ज्यों की त्यों बनी रहती है तथा परपक्ष की शक्ति क्षीण होती रहती है।

आक्रमण करने से पहले राजा पूरी सेना इकट्ठी करके उसे सम्बोधित करते थे – 'इस राज्य से आप भी वेतन लेते हैं और मैं भी। मैं ही इसका मालिक नहीं हूँ। आपके

साथ मिलकर ही मुझे इस राज्य से लाभ उठाना है। जो मेरा शत्रु है वही आपका भी है। उसे मार डालिये।'

यज्ञों के अवसरों पर वेदों में यह उक्ति भी दोहराई जाती है - 'आपकी वही गति हो जो वीरों की होती है।' ये दो श्लोक भी हैं -

'विद्वान ब्राह्मण बहुत से यज्ञ तप एवं दान करके जिस पद को प्राप्त करते हैं उससे भी उन्नत पदों को वीर पुरुष युद्ध में प्राणों का परित्याग करके क्षण भर में पा लेते हैं।'

'उस अभागे व्यक्ति को, सलिल से पूर्ण नया शकारा जिस पर दर्भ ढकी हो और जो सुसंस्कृत हो, न मिले और वह नरक में जाय जो अपने मालिक के लिए युद्ध में प्राण नहीं त्यागता और नमकहलाली नहीं करता।'

(संहत्य दण्डं ब्रूयात्। तुल्यवेतनोअस्मि। भवद्भिः सह भोग्यमिदं राज्यम्। मयाअभिहितः परोअभिहन्तव्यइति। वेदेष्वप्यनुश्रूयते साप्त दक्षिणानां यज्ञानाम-वृभयेषु - 'सा ते गतिर्या शूराणाम्' अपीह श्लोको भवतः 'यान्यज्ञसंघेस्तपसा च विप्राः स्वर्गेषिणः पात्रचयेश्च यान्ति। क्षणेन तान्यपयान्ति शूराः प्राणान्सुयुद्धेषु परित्यजन्तः' 'नवं शरावं सलिलस्य पूर्ण संस्कृतं दर्भकृतोत्तरीयम्। ततस्य मा भून्नरकं स गच्छेद्यों भर्तृपिण्डस्य कृते न युध्येत्')

राजा के उपरान्त मंत्री और पुरोहित सैनिकों को प्रोत्साहन से भरते थे।

बहुत नियोजित ढंग से ज्योतिषी, भविष्यवक्ता और डकौत आदि घूम-घूम कर राजा की विजय के सम्बन्ध में और शत्रु की पराजय के बारे में भविष्यवाणी करते थे। सेना में सूत, मागध और कथावाचक एवं कवि लोग शूरों के स्वर्ग जाने की एवं कायरों के नरक में पड़ने की कहानियाँ सुनाते थे। सैनिकों की जाति, संघ, कुल और कामों की प्रशंसा में साक्के गाये जाते थे। पुरोहित शत्रु को नष्ट करने के लिए धाल धालते थे एवं अनुष्ठान करते थे। सत्री गुप्तचर, बढ़ई और मौहूर्तिक लोग अपने-अपने कार्यों की पूर्ति के सन्देश देते थे। यह भी बताते कि शत्रु की तैयारियों में अभी कितनी कमी है।

अन्त में सेनापति एकत्रित सैनिकों को सम्बोधित करता था - 'राजा की हत्या करने वाले को एक लाख पण (स्वर्ण मुद्रा) दी जायेगी। सेनापति एवं राजकुमार के हत्यारे को ५० हजार, शत्रु के विशिष्ट योद्धाओं के हत्यारे को दस हजार, हाथी और रथ के हत्यारे को ५ हजार, घोड़े और घुड़सवार के हत्यारे को एक हजार, नायक के हत्यारे को सौ और साधारण सिपाही का सिर काटने वाले को प्रति सिर बीस पण पुरस्कार दिया जायेगा। जोश के साथ काम करने पर वेतन और भत्ता दुगना कर दिया जायेगा और शत्रु देश के राज्य की लूट में जो माल किसी सिपाही को मिलेगा, वह उसी का समझा जायेगा।'

('सेनापति-रर्थमानाभ्यामभिसंस्कृतमनोकमाभाषेत् - शतसाहस्त्रों राजवधः। पंचाशत्साहस्त्रः सेनापतिकुमारवधः। दशताहस्त्रः प्रवीर मुख्यवधः पंचसाहस्त्रों हस्तिरथवधः साहस्त्रोअश्ववधः। शत्यः पति मुख्यवधः। शिरो विंशीतकम् भोगद्वैगुष्यं स्वयं ग्राहश्चेति।')

युद्ध के समय पैदल, घुड़सवार, रथी एवं हस्ति सैनिकों तथा धनुर्धारियों में कितने व्यवधान पर कौन खड़ा हो, किसके सहयोग के लिए कौन सहायक युद्ध करे तथा कौन मुख्य

युद्ध करे एवं कौन-सी टुकड़ी आगे बढ़े तथा कौन सी बाजू (पार्श्व) सँभाले या पीछे को देखे-इसके बड़े ही सूक्ष्म तथा विस्तृत नियम बने हुए थे जो कदाचित् दीर्घकाल तक घोर युद्ध करते-करते लोगों ने प्राप्त किये थे।

आक्रमण या धावा बोलने से पहले प्रधान सेनापति अपनी ही देखरेख में सेनापतियों द्वारा व्यूहों की रचना करवाते थे। प्रायः वही सेनापति प्रवीण माना जाता था जिसकी व्यूह रचना को शत्रु भेद नहीं पाता था और जो स्वयं एक इकाई की भाँति शत्रु पर प्रबल प्रहार करती थी या उसे अपने घेरे में ले लेती थी।

कौटल्य के अर्थशास्त्र से यह प्रतीत होता है कि व्यूह रचना के प्रवीण एवं आदि आचार्य शुक्राचार्य तथा वृहस्पति थे और अर्वाचीन आचार्यों ने अधिकांशतः उन्हीं के सिद्धान्तों का अनुसरण किया है। पक्ष (सेना के दो अग्रिम भाग) उरस्य (मध्य भाग) और प्रतिग्रह (पृष्ठ भाग) यह चार अवयव ही व्यूह रचना में आते हैं। परन्तु आचार्य वृहस्पति शुक्राचार्य के इन चार अवयवों में दो और जोड़ते थे अर्थात् दो पक्ष (अग्रिम भाग) दो कक्ष (पृष्ठ के किनारे के छोर) एक उरस्थ (मध्य भाग) और एक (अन्तिम भाग का सामूहिक रूप) परन्तु एक बात में दोनों आचार्य एक मत थे कि इनसे जो प्रकृति व्यूह बनते हैं वे चार प्रकार के होते हैं - दण्ड व्यूह, भोग व्यूह, मण्डल व्यूह और असंहत व्यूह। सेना को तिरछा खड़ा करना दण्ड व्यूह, विभिन्न अवयवों को घूमा-फिरा कर खड़ा करना भोग व्यूह, शत्रु की सेनाओं के चारों ओर सेना खड़ी करना मण्डल व्यूह और आक्रमण करते समय चार या छः टुकड़ियों में सेना बाँटकर आगे बढ़ना असंहत व्यूह कहलाता था।

उपर्युक्त अवयवों के विभिन्न जोड़-तोड़ से निम्नलिखित व्यूहों की रचना प्रचलित थी - प्रदर, दृढ़क, असह्य श्येन, चापकुक्षि प्रतिष्ठ, सुप्रतिष्ठ आदि, संजय, विजय, स्थूलकर्ण, विशाल विजय, चमूमुख, झषास्य, सूची, वलय और दुर्जय। ये सब दण्ड व्यूह के अवान्तर भेद थे।

गोमुत्रिका, शकट, मकर और पारिपतन्तक भोगव्यूह के भेद थे एवं सर्वतो भद्र, अष्टानीक, दुर्जय मण्डल व्यूह के भेद थे। वज्र अथवा गोथा, काक्पदी और अर्द्ध-चन्द्रिका असंहत व्यूह थे।

इन व्यूहों के भी बहुत से भेद थे जिनकी रचना रथ, अश्व एवं हस्ती आदि की सेनाओं के विभिन्न विन्यासों से होती थी और परिस्थितियों तथा आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए इनकी रचना की जाती थी।

सेनाओं को एकत्रित करने या छिन्न-भिन्न करने, पीछे हटने, आगे बढ़ने, चोट करने और बचाव आदि करने के लिए विभिन्न संकेत काम में लाये जाते थे; जिनके विशेषज्ञ प्रत्येक सैनिक टुकड़ी में रहते थे और उन संकेतों के अनुसार सेनाओं का संचालन करते थे। इसके अलावा प्रायः तुरी (बगुल) से आवाज की जाती थी या विभिन्न रंग की ध्वजाएँ काम में लायी जाती थीं।

युद्ध के अवसर पर भी प्रचार कार्य चलता रहता था। अपनी विजय के सन्देश दिये

जाते थे और शत्रुसेना में किंवदन्ती फैलाई जाती थी कि – 'तुम्हारे किले में आग लग गयी तेरा किला लूट लिया गया, तेरी सेना और सेनापतियों ने विद्रोह कर दिया है, जंगली जातियों ने विद्रोह कर दिया है, तुम्हारा जो शत्रु चुप बैठा था, वह भी मैदान में आ गया है, और इसी प्रकार के व्याकुलता लाने वाले समाचार सुनाये जाते थे।'

दर्ग दग्धं हृतं वा ते कोपः कुल्यः समुत्थितः।
शत्रुराटविको वेति परस्योद्वेगमाचरेत्।।

'किसी धनुर्धारी का छोड़ा हुआ धनुष अधिक से अधिक एक को मारता है और वह चूक भी सकता है। परन्तु बुद्धिमान व्यक्ति की बौद्धिक चोट गर्भ में बैठे शत्रु के भी प्राण ले लेती है।'

एकं हन्यान्न वा हन्यादिषुः क्षिप्तो धनुष्मता।
प्राज्ञेन तु मतिः क्षिप्ता हन्याद् गर्भगतानपि।।

नवविजित देश में विजेता का व्यवहार

नवविजित राज्य के प्रति क्या व्यवहार विजेता को करना चाहिए, इसके सम्बन्ध में कौटल्य ने विस्तारपूर्वक विचार किया है। विजय लाभ तीन प्रकार माना जाता था – नव (जो पहली बार अपने हाथ में आया हो) भूतपूर्व (जो पहले अपना था, शत्रु के हाथ में चला गया था और जिसे पुनः जीता गया हो) पित्र्य (पिता के शासनकाल में अपना था और उसी समय शत्रु ने छीन लिया हो और अब जिसे प्राप्त किया गया हो।)

नया राज्य प्राप्त करके शत्रु के दोषों को अपने सद्गुणों तथा उदारता से ढक देना जरूरी था। अपने धर्म-कर्म का पालन करते हुए प्रजा के साथ अनुग्रह एवं परिहार (करों में छूट) तथा दान और मान से प्रजाओं का मनोरंजन करता था। युद्ध के समय शत्रु के कर्मचारियों (कृत्यपक्ष-पंचमांगियों) के साथ जो वायदे किये हों उन्हें पूरा करना उचित समझा जाता था। यदि संभव होता था तो वायदों से अधिक भी किया जाता था। वायदाखिलाफी करने वाला राजा का विश्वासघाती समझा जाता था और प्रजाजन उससे घृणा करते थे। विजित देश के देवता, सामाजिक रीति-नीति, वेशभूषा और आचार-व्यवहार का वह आदर करता था और प्रोत्साहन देता था। (समान शील वेष भाषा करतामुपगच्छेत् देश देवत समाजोत्सव विहारेषु च भक्ति मनुवर्त्तेत) इसमें मुख्य बात विजित देश की भाषा की रक्षा करना भी रखा गया है।

देश, ग्राम, जाति और संघों में उसके गुप्तचर प्रचारक निरंतर यह कहते फिरते थे कि नया राजा कितना अच्छा है। पुराना इसके मुकाबिले कितना बुरा था। वह राज्य में अच्छा प्रशासन चलाता था और जनता में सुरक्षा की भावना फैलाता था। उस राज्य के पुराने वीरों, विद्वानों धार्मिक व्यक्तियों और संस्थाओं की वह मान्यता करता था और उनके साथ उपकार से पेश आता था। दीन-हीनों, अनाथों एवं रोगियों के प्रति विशेष व्यवहार करता था।

वर्ष के चार महीनों के वर्ग बनाकर एवं प्रत्येक वर्ग में १५ दिन तक मृत्युदण्ड निषिद्ध कर दिया जाता था। सभी पौर्णमासियों में से चार पौर्णमासियों में मृत्युदण्ड वर्जित हो जाता था। राजा के सिंहासनारूढ़ होने के दिन भी। जो समाज विरोधी कार्य करते थे उन्हें दण्ड देने का काम न्यायालयों को सौंप दिया जाता था। जरायम पेशा म्लेच्छ जातियों को दूर-दूर बसा दिया जाता था और जो अधिकारी विरोधी स्वभाव के या भ्रष्टाचारी होते थे उनका दूर-दूर तबादला (स्थान विपर्यास) कर दिया जाता था।

जिस दोष के कारण पहले राज्य या उसका हिस्सा छिन गया था उसे वह कभी उभरने नहीं देता था। जिस गुण से विजय लाभ होता था उसे चौगुना बढ़ाया जाता था। यदि पिता के दोषों से ऐसा होता था तो उन्हें दबाकर पिता के गुण ही उभार कर लाये जाते थे।

राजदूतों की योग्यता और नियुक्तियाँ

राजदूत राजा का मुख समझा जाता था। (दूतमुखा हि राजानः) उसके सही या गलत व्यवहार पर दूसरे राज्यों में राजा की बनी हुई स्थिति बिगड़ जाती थी और बिगड़ी हुई बन जाती थी। विदेशी नीति में राजदूतों की स्थिति सर्वोपरि मानी जाती थी। बड़े-बड़े राजाओं के पास जो राजदूत भेजे जाते थे उनकी योग्यता अमात्यों से कम नहीं होती थी। (अमात्यसम्पदापेतः) और उन्हें निसृष्टार्थ के नाम से पुकारा जाता था। इसके अलावा दो प्रकार के राजदूत और माने जाते थे – परिमितार्थ और शासनहर। इनकी योग्यता भी अमात्यों से मिलती-जुलती होती थी। राजदूतों के मुख से गैर जिम्मेदारी की बातें कभी नहीं कहलाई जाती थीं। जब राजा अमात्य परिषद् के साथ बैठकर किसी विवादास्पद प्रश्न के सम्बन्ध में अन्तिम निर्णय कर लेता था तभी राजदूत दूसरे राजाओं के सामने मुँह खोलता था।

(उदध्तमंत्रों दूत प्रणिधिः) अर्थात् दूत तभी भेजा जाता जब राज्य का निश्चित मत हो चुका हो।

किसी दूसरे देश में राजदूत की नियुक्ति के समय उसे ठाट-बाट के साथ भेजा जाता था और राजकीय यात्रा की भाँति उसका प्रयाण होता था। राजदूत भी स्वामी के प्रति परम कर्त्तव्यनिष्ठा के साथ जाता था और जो सन्देश उसे देना होता था उसके पूर्व-अपर परिणामों की पहले से कल्पना करता था। जो कहता था वह सुविचारित होता था।

दूसरे देश में रहता हुआ राजदूत केवल राजा से ही अपना सम्पर्क नहीं रखता था प्रत्युत प्रमुख शासन अधिकारियों अरण्य रक्षकों सीमान्त पालकों और जनपदों एवं नगरों के पालकों के साथ भी सौहार्दपूर्ण सम्पर्क कायम करता था।

(अटव्यन्तपाल पुरराष्ट्रमुख्यैश्च प्रति संसर्ग गच्छेत्)

वह भौगोलिक दृष्टि से इस बात का पता भी लगाता था कि यदि भविष्य में इस राज्य से युद्ध होता है तो अपनी सेनाओं के लिए उपयुक्त स्थान कौन सा होगा और शत्रु को किस प्रकार पछाड़ा जा सकेगा, आदि।

उस राज्य के दुर्गों की स्थिति एवं संख्या, राज्य की भौगोलिक स्थिति सैनिक तथा आर्थिक स्थिति और उसकी निर्बलताओं का भी वह पता लगाता था।

(दुर्ग राष्ट्र प्रमाणं सार वृत्ति गुप्तिच्छिद्राणि चोपलभेत)

परन्तु वह राजकीय आदेशों के बिना कभी राजकीय स्थानों में प्रवेश नहीं करता था। वह प्राणों का संकट उपस्थित होने पर भी अपने राजा का सन्देश कहता था एवं उसके प्रति अपने कर्त्तव्यों का पालन करता था।

राजदूत इतना व्यवहारपटु एवं प्रगल्भ होता था और लोगों की मनोवैज्ञानिक स्थिति भाँपने में वह इतना प्रवीण होता था कि शीघ्र ही राजदरबार में रहकर वह सब कुछ समझ जाता था और विरोधी राजा के मन में क्या है तथा किस समय उसके साथ कैसा व्यवहार करना चाहिए, इसमें वह चूक नहीं करता था।

यदि किसी अवसर पर वह अपनी बात पर राजा को असन्तुष्ट एवं क्रुद्ध भी देखता था तो कहता था – 'मेरी बात पर क्रोध क्यों करते हैं। मैं तो दूसरे की बात कहता हूँ। राजाओं के मुँह राजदूत होते हैं। जैसे आपके हैं वैसे ही दूसरे राजाओं के भी। (दूतमुखा वे राजानस्त्वं चान्येच) यदि राजा कुपित होकर उसका वध करने का आदेश देता था तो वह निर्भीक होकर कहता था – 'यदि राजदूत के रूप में कोई चाण्डाल भी कटु एवं अप्रिय बात कहता है तो अवध्य ही रहता है। फिर मैं तो ब्राह्मण हूँ। शब्द दूसरे के हैं। मैं तो केवल कहने वाला हूँ।'

(उद्यतेर्ष्वपि शस्तेषु यथोकतं वक्तार स्तेषामन्तावसायिनोअप्यवध्याः किमङ्ग पुनर्ब्राह्मणः। परस्यतद् वाक्यमेष दूतधर्म इति।) अमात्यों की भाँति राजदूत भी प्रायः ब्राह्मण ही रखे जाते थे। इसके अन्य कारणों के अलावा एक कारण यह भी था कि कुपित राजा दूत का कहीं वध न कर दे।

यदि दूत का अधिक सम्मान होता था तो वह धैर्य नहीं खोता था एवं राजा के मुँह नहीं लगता था एवं उसकी आज्ञाओं के बिना देश नहीं छोड़ता था। शत्रु देश में रहता हुआ वह अपने को बलवान नहीं समझता था। कटु वाक्य सुनने की उसमें क्षमता होती थी। मदिरा और स्त्रियों से वह दूर रहता था। अपने कमरे में अकेला सोता था।

उस देश में तापस, वैदेहक आदि के वेश में रहने वाले अपने गुप्तचरों से कृत्यपक्ष तथा अकृत्यपक्ष का पता लगता था, उनसे सम्पर्क करता था और राजा से असन्तुष्ट सभी व्यक्तियों की सूची बनाने का प्रयत्न करता था ताकि युद्ध छिड़ने पर वे स्वामी के काम आ सकें।

मन्दिर, देवालय, नदी तट, गृहचित्र तथा लेख एवं संकेत आदि से अथवा जिस स्थान और व्यक्ति से भी उस राज्य के कार्यकलापों के सम्बन्ध में कुछ ज्ञान हो सकता था, वह प्राप्त करने का प्रयत्न करता था। राजा के बार-बार पूछने पर भी वह अपने स्वामी की सेना, शक्ति एवं आर्थिक स्थिति के सम्बन्ध में कुछ नहीं बताता था। 'आप सभी कुछ जानते हैं।' कहकर टाल देता था। अधिक आग्रह करने पर जिससे स्वामी का हित हो ऐसी सूचना

दे देता था।

यह सब करते हुए भी विशेष परिस्थितियों में राजदूत को यह अधिकार होता था कि यदि अप्रिय सन्देश देने के कारण वह गिरफ्तार किया जा सकता था, उसकी हत्या का आदेश मिल सकता था या दूसरी कोई आपत्ति आने की संभावना होती थी तो चुपके से और बिना राजा की स्वीकृति के ही देश छोड़ कर जा सकता था।

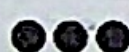
ये राजदूत उच्चकोटि के विद्वान, ब्राह्मण, प्रगल्भ, वाक्‌पटु और गुप्तचर विद्या में परम निष्णात होते थे। दूसरे राज्यों में रहते समय उनके कर्त्तव्य निम्नलिखित होते थे–

शत्रु देश में स्वामी का सन्देश देना और शत्रु का सन्देश लाना, पहले की गयी सन्धियों का पालन करवाना, अवसर आने पर अपना प्रभाव एवं प्रताप दिखाना, शत्रु के कृत्यपक्ष का संगठन करना, शत्रु के मित्रों को उससे पृथक् करना, विष आदि दिलवा कर राज्य में अशान्ति पैदा करना और उसके सेनापतियों आदि को मरवाना या भगा देना।'

बन्धु एवं रत्नों का अपहरण करना, स्वामी के गुप्तचरों से ठीक-ठीक काम लेना, यथावसर अपना साहस दिखाना, दृढ़तापूर्वक आधि (जमानत) असीद के रूप में बन्दी स्वामी के पुत्र आदि की रक्षा करवाना और छुड़वाना और मारण आदि विधियों से प्रमुख राज सेवकों की हत्या करवाना।

प्रेषणं सन्धिपालत्वं प्रतापो मित्र संग्रहः।
उपजापः सुहृद्भेदो गूढ़दण्डातिसारणम।।
बन्धुरत्नापहरणं चार ज्ञानं पराक्रमः।
समाधिमोक्षो दूतस्य कर्म योगस्य वाश्रयः।।

राजा यह जानता था कि दूसरे देश का राजदूत भी यही सब कार्य करता है। इसलिए, उसके कार्यों तथा गतिविधियों पर कड़ी निगाह रखी जाती थी।



अध्याय दस

राजतंत्र का संकट

राजतंत्र ऊपर से देखने में जितना वैभवशाली और दुर्दमनांयेय प्रतीत होता था, जिसे देखकर भय से रोंगटें खड़े हो जाते थे वह अन्दर से उतना ही खोखला, आडम्बरपूर्ण, सशंक, भयभीत एवं चिन्तातुर था। राजतंत्र की धुरी राजा होता था। वह निरंकुश था। उसकी इच्छा ही कानून थी। शास्त्रकारों ने उसकी प्रशंसा के स्तोत्र पढ़कर उसे ईश्वर के स्थान पर बैठा दिया था। परन्तु वह कितना छोटा एवं क्षुद्र व्यक्ति था, और कदम-कदम पर उसे कितना कृत्रिम जीवन व्यतीत करना पड़ता था, उसे उसका बड़े से बड़ा आडम्बर भी छिपा नहीं सकता था।

राजा और राजतंत्र जो सर्वशक्तिमान् थे अपने घरों में, अपनी पत्नियों, पुत्रों और घरेलू नौकरों तक से सशंक रहते थे और अपने बन्द कमरों में भी उन्हें सुख की नींद नहीं आती थी। राजतंत्र, जिसका मुख्य काम दूसरे देशों की विजय करना और विजित देशों पर अपना नियंत्रण रखना था, अपनी पूरी शक्ति लगाकर भी राजा को अभयदान नहीं दे सकता था और उसे सुख की नींद सुलाने में असमर्थ था। यही कारण है कि कौटल्य ने सबसे पहले राजा की रक्षा के प्रश्नों पर विचार किया है और उसे अभयदान देने का प्रयत्न किया है। परन्तु यह सब होने के बाद भी राजाओं को अभयदान न दिया जा सका जो पूरे समाज एवं संसार को अभयदान देने चले थे।

कौटल्य का विश्वविख्यात अर्थशास्त्र अपने प्रारम्भिक अध्यायों में राजतंत्र की सबसे बड़ी समस्या राजा की रक्षा से प्रारम्भ होता है और यही उसका पर्यवसान होता है। उन उपायों पर थोड़ा विस्तार के साथ प्रकाश डाले बिना यह परिणाम निकालना उचित नहीं होगा कि राजतंत्र की मुख्य धुरी, स्वयं राजा, राजतंत्र में कितना असुरक्षित था और शेष प्रजाजनों की दयनीय दशा का आभास स्वयं उसी से मिल जाता है। राजरक्षा के मुख्य उपाय निम्नलिखित थे।

राजमहल से राजा की रक्षा

राजमहल में राजा जिस कमरे में सोता था, कई कक्षाएँ पार करके वहाँ पहुँचता था। शैय्या से उठते ही धनुर्विद्या में दक्ष बहुत-सी नारियाँ उसे घेर लेती थीं। वहाँ पुरुष चाहे जितना विश्वसनीय हो, प्रवेश नहीं पा सकता था। वे धनुर्धर नारियाँ धनुष-बाण हाथ में लिये उसे दूसरी कक्षा तक पहुँचाती थीं। दूसरी कक्षा में आने के बाद बूढ़े कंचुकी और कुर्त्ता-पगड़ी पहने दूसरे रक्षक एवं विश्वसनीय नपुंसक उसकी रक्षा करते थे। तीसरी कक्षा में कूबड़े बौने और भील लोग शस्त्र हाथ में लिये उसके साथ चलते थे। चौथी कक्षा में हाथों में भाले लिये मंत्री, सम्बन्धी रिश्तेदार एवं स्वागताध्यक्ष संरक्षण देते हुए साथ चलते थे।

इसके उपरान्त वह ऐसे लोगों को साथ लेकर चलता था जो वंश पंरम्परा से साथ रहते आए हों, जिनके साथ सन्निकट सामाजिक सम्बन्ध हों, जो साथ पढ़े हों, उसमें अनुराग एवं आस्था रखते हों, और जिनकी निष्ठा भूतकाल के कामों में देखी जा चुकी हो। ऐसे लोग कभी अंगरक्षक नहीं बनाये जाते थे, जिनके ऊपर विशेष एहसान न किये गये हों, जो एक बार कभी भी साथ छोड़कर वापस आ गये हों और जिन पर कभी सन्देह किया गया हो।

राजा का भोजन बनाने वाला महानसिक ऐसे गुप्त स्थान में भोजन बनाता था जहाँ चिड़िया भी पर नहीं मार सकती थीं और बनने के बाद राजा को परोसने से पहले वह स्वयं उसे चख लेता था। परन्तु फिर भी विश्वास नहीं किया जाता था, भोजन करने से पहले राजा थोड़ा अंश पक्षियों तथा क्षुद्र प्राणियों को देता था और कुछ बलिक के नाम पर आग में फेंकता था। भोजन में विष हो तो पक्षी एवं क्षुद्र पशु मर जाते हैं तथा अग्नि की ज्वाला हल्की नीली हो जाती है और उसमें चट-चट का शब्द होता है।

(अग्नेर्ज्वाला धूमनीलता शब्दस्फोटस्य विषयुक्तत्य वयसो विपत्तिश्चि)

थोड़ा-सा भी सन्देह होने पर विशेषज्ञ लोग भोजन की जाँच करते थे और यह देखते थे कि भोजन की भाप मोर की गर्दन के समान थोड़ी नीली तो नहीं है, जल्दी शीतल तो नहीं पड़ गयी है, उसका रंग तो नहीं बदल गया है, सब्जी फटी-फटी सी तो नहीं हो गयी है तथा सब्जी और रसा अलग-अलग तो नहीं हो गये हैं। सब्जियाँ विष मिलने पर शीघ्र सूख जाती हैं और उनके रसे में आकृति दिखने लगती है। घी, तेल और गन्ने के रस आदि में विष की नीलीं रेखा-सी पड़ जाती है तथा दूध में ताम्बे जैसी, शराब और पानी में काले रंग की एवं दही में श्याम और शहद में सफेद रंग की रेखाएँ पड़ जाती हैं।

यदि फलों में विष मिलाया जाता है तो वे शीघ्र ही मुरझा कर सिकुड़ से जाते हैं तथा उनका स्वाभाविक स्वाद नष्ट हो जाता है। उनमें दुर्गन्ध पैदा हो जाती है तथा पकाने पर उनका रंग बन्दर जैसा हो जाता है।

राजा की शैय्या पर जो वस्त्र प्रयोग में लाये जाते थे उनकी दैनिक परीक्षा की जाती थी और इस बात पर ध्यान दिया जाता था कि विष के प्रयोग से कहीं श्वेत चादर पर दाग तो नहीं आ गया है, ऊन के कपड़ों के रोएँ एकदम कुछ स्थानों पर कैसे उड़ गये हैं। इसी प्रकार चाँदी तथा सोने के पात्रों एवं आभूषणों पर विष के प्रयोग से काला धब्बा पड़ जाता है जिसे देखकर अंगरक्षक चौकन्ने हो जाते थे।

यदि ऐसा हो जाता था तो राजमहल में खलबली मच जाती थी। वह व्यक्ति पकड़ लिया जाता था, जिसका मुँह सूख गया हो और जबान लड़खड़ा रही हो, जिसे असमय पसीना आ रहा हो, जो बार-बार जंभाई लेता हो, शरीर काँप रहा हो, लड़खड़ा कर चलता हो, वेमतलब कान लगा कर सुनता हो, बेचैन-सा दिखता हो और जिसने अपना मानसिक सन्तुलन खो दिया हो।

(विषप्रदस्य तु शुष्क श्याव वक्त्रता वाक्संगः स्वेदों विजृम्भणं वेपथुः प्रस्खलनं वाह्यविप्रेक्षणवेगः स्वकर्मणि स्वभमौ चानवस्थानीमी)।

यही कारण है कि विष उतारने वाले और वैद्य सदा ही राजा के पास रखे जाते थे। (तस्यमादस्य जांगलीविदो भिषजाश्चासन्नाः स्युः)

परन्तु उन वैद्यों की भी यही दुर्दशा थी। वे तब तक राजा को कोई औषधि नहीं दे सकते थे जब तक स्वयं पहले न खा लें या किसी अंन्य को खिला कर देख न लें। मदिरा और पानी का गिलास भी राजा तब तक नहीं पी सकता था जब तक दूसरा कोई पहले न पी ले।

राजा के नाई, धोबी तथा दूसरे परिचारकों और स्नान आदि कराने वालों पर कड़ी दृष्टि रखी जाती थी और उनके लिए बहुत कठोर प्रतिबन्ध थे।

जब बाहर से नट, नर्तक, वादक, जादूगर और दूसरे कलाकार राजा के मनोरंजन के लिए आते थे तो उन्हें स्नान करवाया जाता था, कपड़े बदलवाये जाते थे और वे जो बाजे आदि साधन प्रयोग में लाते थे, उन्हें राजमहल से ही दिया जाता था। वे अपने बाजे आदि साथ नहीं ला सकते थे। परन्तु इन प्रतिबन्धों का पालन करने के बाद भी वे ऐसे खेल नहीं दिखा सकते थे जिनमें शस्त्र, अग्नि और विष काम में लाये जाते हों।

बड़े राजकीय अधिकारी के साथ ही राजा यान वाहनों पर चढ़ता था। नौका के लिए और भी कड़ा प्रतिबन्ध था। जो नाव से बँधी हो या वायु के वेग से चलती हो उस पर चढ़ना वर्जित था। नाव के साथ-साथ तटों पर रक्षा-पुरुष चलते थे। नदी के पानी में तभी स्नान किया जा सकता था जब पहले उसमें मछुये उतर चुके हों। उसी उद्यान में भ्रमण कर सकता था पहले जिसमें सपेरों ने सब कुछ देख लिया हो। यदि जंगल में शिकार खेलना हो तो पहले शिकारी कुत्तों तथा शिकारियों द्वारा चोरों एवं व्याघ्र आदि की ओर से निर्भय हो जाना चाहिए।

यदि कोई नया महात्मा या सिद्ध पुरुष आया हो और उसके दर्शन करने की इच्छा हो तो शस्त्रधारी पुरुष उस समय भी साथ रहते थे। राजमार्ग पर प्रयाण करते समय दोनों ओर शस्त्रधारी पुरुष खड़े रहते थे एवं जनता के बीच जाना राजा के लिए सर्वथा वर्जित था। राजा देवस्थानों में भी तभी जा सकता था जब शस्त्रधारी पुरुषों की एक टुकड़ी तथा जिम्मेदार सुरक्षा अधिकारी साथ-साथ अनुगमन करें।

रानी से राजा की रक्षा

जिस कमरे में रानी सोती थी वहाँ राजा का सोना वर्जित था। राजा अपने कमरे में भी रानी को नहीं सुला सकता था। अन्तःपुर (रनिवास) में अपने निवास स्थान में ही राजा किसी विश्वसनीय दासी के हाथों रानी को बुलाता था। किसी रानी को लक्ष्य करके राजा स्वयं उसके निवास स्थान पर नहीं जा सकता था।

(अन्तर्गहगतः स्थविरस्त्री परिशुद्धां देवी पश्येत्। कांचिदभिगच्छेत्)

इसलिए ऐसा किया जाता था कि स्वयं रानी भी अपने पति के विरोध में कोई षड्यन्त्र रच सकती थी। देवी के घर में छिपे उसके भाई ने अपने बहनोई भद्रसेन की हत्या कर दी थी। अपनी माता की शैय्या के नीचे छिपे राजपुत्र ने अपने पिता कारूश राजा का वध कर

दिया था। इसी प्रकार, स्वयं रानी ने खीरों में विष मिला कर अपने पति काशीराज को खिलाया और मार डाला।

(देवीगृहे लीनो हि भ्राता भद्रसेन जघान। मातुः शय्यान्तर्गतश्च पुत्र कारूशम् लाजान्मधुनेति विषेण पर्यस्य देवी काशीराजम्)

विष में बुझे हुए नूपुर (पायजेब) से वैरन्त्य राजा को स्वयं उसी की रानी ने मार दिया, मेखला (करधनी) की मणि से सौवीर राजा को उसकी रानी ने आदर्श (शीशे) के द्वारा जालूथ की रानी, और अपनी बेणी में शस्त्र छिपा कर विडूरथ राजा की रानी ने अपने पति के प्राण ले लिये। इसीलिए, ये रानियाँ राजाओं की दृष्टि में नागिन के समान हैं जिनके कमरे में वे प्यार की प्यास बुझाने भी नहीं जा सकते थे। यह था उनका पति-पत्नी सम्बन्ध।

इन रानियों से सशंक राजतंत्र कभी उन्हें साधुओं, मुण्डक, मुण्डों और जटाधारियों एवं वंचकों से मिलने नहीं देता था। बाहर की दायियाँ भी उनसे नहीं मिल सकती थीं। इन रानियों के सम्बन्धी और यहाँ तक कि सगे भाई भी विशेष अवसरों पर राजा की स्वीकृति से ही मिल सकते थे।

जब वेश्याएँ और गणिकाएँ राजा के पास जाती थीं तो अच्छी तरह स्नान करके एवं नये वस्त्रों तथा अलंकार आदि से सुसज्जित होकर ही जा सकती थीं।

इन रानियों के नैतिक आचरण की निगरानी वे बूढ़े सरकारी कर्मचारी करते थे जिनकी आयु ८० वर्ष के आस-पास होती थी और वे बूढ़ी दासियाँ करती थीं जिन पर राजा को भरोसा होता था। वे इन रानियों को यही शिक्षा देती थीं कि उन्हें अपने स्वामी के हित में रहना चाहिए।

(शौचाशौचं विद्युः स्थापयेयुश्च स्वामिहिते)

यह कितनी बड़ी विडम्बना है कि रानी के चाल-चलन की निगरानी एक बुढ़िया दासी करती थी और उसकी गलत रिपोर्ट पर रानी को सरेआम फाँसी पर चढ़ाया जा सकता था।

अन्तःपुर में कोई भी वस्तु बिना मोहर के अन्दर या बाहर नहीं आ जा सकती थी एवं प्रत्येक व्यक्ति को वहीं जमे रहना पड़ता था जहाँ उसका काम नियत था। ऐसा न होने पर सुरक्षा की सम्पूर्ण व्यवस्था अस्त-व्यस्त होने का डर था।

राजपुत्रों से राजा की रक्षा

ये राजपुत्र कर्कट (केकड़े) के समान होते हैं जो अपने जनक को खाकर पनपते हैं। इसीलिए राजा उन्हें जन्म से लेकर अन्त तक अपने चंगुल से बाहर नहीं होने देता था। प्रत्येक राजा अपनी सन्तान से सशंक रहता था।

(कर्कट सधर्माणो हि जनकभक्षा राजपुत्राः)

राज्य या राजतंत्र की रक्षा तो तभी होगी जब स्वयं राजा की रक्षा हो। राजा के लिए जैसे दूसरे लोग खतरा हैं उसी प्रकार अपने हैं और सबसे पहला भय रानियों तथा राजपुत्रों

से समझा जाता था।

(रक्षितो राजा राज्यं रक्षत्यासन्नेभ्थः परेभ्यश्च। पूर्व दारेभ्यः पुत्रेभ्यश्च)

इन राजपुत्रों से राजा की रक्षा किस प्रकार की जाय, इस सम्वन्ध में भारतीय आचार्यों में सदियों तक वाद-विवाद चलता रहा है।

भरद्वाज ऋषि का मत था कि ज्यों ही यह आभास हो कि राजकुमार पिता से निष्ठा नहीं रखते उनका चुपचाप वध करवा देना चाहिए। आचार्य विशालाक्ष ने इस मत का खण्डन किया और कहा कि ऐसा करना क्रूरता एवं घोर पाप है तथा इससे क्षत्रिय बीज का नाश भी हो सकता है। इसलिए, उसे किसी एकान्त स्थान में बन्दी बनाकर रखा जाये।

परन्तु पाराशर आचार्य यह मत भी नहीं मानते। वे कहते हैं कि यह तो आस्तीन में साँप रखना है। जब वह सोचेगा कि पिता अपने वध के भय से मुझे बन्दी बनाकर रखता है तो वह अवश्य ही उसकी हत्या का प्रयत्न करेगा। इसलिए, राजकुमार को सीमान्तों पर सीमा रक्षकों के सेनापति के पास रख देना चाहिए।

आचार्य पिशुन (नारद) इस मत के अत्यन्त विरोधी हैं। वे कहते हैं कि यह तो मेढ़े जैसी बात हुई अर्थात् मेढा जैसे दूसरे मेढे पर जोर की चोट करने के लिए पीछे हटता है उसी प्रकार राजकुमार सीमान्तों पर रहकर तथा दुर्ग एवं सीमा-सेना-अधिकारियों से मैत्री सम्बन्ध स्थापित करके और भी भयानक हो सकता है। इसीलिए राजकुमार को देश से निकाल कर किसी अन्य अधीन सामन्त के यहाँ रख छोड़ना चाहिए।

परन्तु आचार्य कौणपदन्त (भीष्म) इस मत के भी विरोधी हैं। यह तो राजकुमार को बछड़ा बनाना है। जैसे बछड़े को दिखाकर लोग गाय दुहते हैं उसी प्रकार राजकुमार को दिखाकर सामन्त राजा को दुहता रह सकता है। इसलिए राजकुमार को उसके नाना के घर छोड़ देना चाहिए।

परन्तु वातव्याधि (आचार्य उद्धव) इस मत को पसन्द नहीं करते। नाना के यहाँ उसे रखना एक ध्वजा के समान है। जैसे ध्वजा फैलाकर जोगी और सपेरे भोगा करते हैं उसी तरह राजकुमार को दिखा-दिखा कर उसके नाना-मामा एक धन्धा बना लेंगे। इसलिए उसे उम्र से पहले ही स्त्रियों आदि के चक्कर में फँसा देना चाहिए ताकि राजा के खिलाफ काम करने की उसे फुर्सत ही न रहे।

परन्तु आचार्य कौटल्य इस सिद्धान्त के विरुद्ध हैं। वे कहते हैं कि कच्ची आयु में राजकुमार को विषयों में फँसाना जीवित को मार देना है। घुण खाई लकड़ी की भाँति जिस राजकुल का राजकुमार सुसंस्कृत नहीं होता वह शीघ्र ही पतन की ओर बढ़ जाता है। सरल स्वभाव वाले राजकुमारों को कौटल्य ने कच्चे घड़े के समान बताया है जो सामने आयु दूध, घी या पानी को चूस लेते हैं। इसलिए उन्हें बचपन से ही अच्छी शिक्षा दी जाये और उन्हें सुमार्ग पर लाया जाये। जब भी कभी उसकी रुचि विषयों की ओर जाये उसे समझदारी के साथ रोका जाये।

उसे वे लोग समझाते थे जो उसके सम्पर्क में रहते थे कि तुम अपने पिता की हत्या नहीं कर सकोगे। पता चलने पर तुम्हारी ही हत्या कर दी जायेगी। और यदि किसी प्रकार तुम सफल भी हो गये तो नरक में जाओगे। सम्पूर्ण प्रजा तुम्हें पिता का हत्यारा कहेगी। यह भी हो सकता है कि क्रुद्ध प्रजाजन तुम्हें और भी बुरी तरह मार डालें।

फिर भी यदि वह विद्रोह ही करता था और इकलौता पुत्र होता था तो उसे बन्दी बना लिया जाता था। अनेक भाई होते थे तो ऐसे प्रदेशों में भेज दिया जाता था जहाँ उसे वैभव के साधन कम मिले और जहाँ की प्रजा उसके उकसाने से राजद्रोह में भाग न ले सके।

यदि सभी राजकुमार दुर्बुद्धि हों तो अपने पोते के होने की प्रतीक्षा राजा करता था, इस आशा से कि कदाचित् वही राज्य संचालन के योग्य हो। ऐसा भी संभव प्रतीत नहीं होता था तो अपने धेवते को राज़ा इसके लिए तैयार करता था।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि राजा की मृत्यु के उपरान्त जो राजकुमार राजतंत्र की धुरी बनने वाले होते हैं, स्वयं उन्हीं से राजा और राजतंत्र कितने सशंक रहते हैं। उनके जन्म पर आह्लादित होने की अपेक्षा राजतंत्र इसी चिन्ता में फँस कर मर जाता है कि इन राजकुमारों का क्या किया जाये और इनका नाता कैसे बन्द किया जाये?

ये हैं शक्तिशाली राजतंत्र के भयानक अन्तर्विरोध !

बन्दी राजकुमार

राजकुमारों से सशंक राजा उन्हें उनकी योग्यता एवं स्वभाव के विपरीत कार्यों में नियुक्त करके परेशान करता था और उनका प्रभाव घटाने का प्रयत्न करता था। राजकुमार मन मार कर वह कार्य करते थे और यदि देखते थे कि पिता की आज्ञाओं का अक्षरशः पालन करने से मृत्यु का भय उपस्थित हो सकता है अथवा सभी मंत्रियों एवं जनपदों का कोष मिल सकता है तो आज्ञाएँ शिरोधार्य करना स्वीकार कर देते थे। ऐसी विशेष परिस्थितियाँ यदि उत्पन्न नहीं होती थीं तो वे पिता के आदेशों का अक्षरशः पालन करते थे। यदि फिर भी राजा द्वेष करता रहता था एवं उसके विरुद्ध आचरण करता था तो वह पिता की आज्ञा से अरण्यवासी होकर तपस्या करने चले जाते थे। यदि वहाँ भी प्राणों का भय रहता था तो किसी सत्यनिष्ठ सामन्त के शरणागत हो जाते थे।

शरणागत राजकुमार चुप नहीं बैठता था। किसी बलवान सामन्त या राजा की कन्या से विवाह करता था। सेना संगठित करने का प्रयत्न करता था और अपने पिता के राज्य में जितने भी मुख्य व्यक्ति पिता के विरुद्ध होते थे उन्हें अपने पक्ष में जोड़ता था एवं सीमा रक्षकों, उनके सेनापति तथा जंगली जातियों से अपना गहरा सम्पर्क स्थापित करता था। यदि वह अकेला पड़ जाता था तो व्यापार आदि से धन संग्रह करता था। यदि यह भी संभव नहीं था तो वह पाखण्डियों, चोरों, दस्युओं तथा विष का प्रयोग करने वाले लोगों का गिरोह बनाता था और अपनी आर्थिक स्थिति दृढ़ करने का प्रयत्न करता था।

(पाषण्ड संघ द्रव्यमश्रोत्रिय भोग्यं देवद्र व्यमाद्यविधवा द्रव्यं वा गूटमनुप्रविश्य सार्थपानपात्राणि

च मदनरसयोगेनातिसंधायापसरेत्)।

अथवा वह अपनी माता के सेवकों से सम्पर्क बढ़ा कर साधन जुटाता था। अथवा वह बढ़ई लुहार आदि शिल्पियों, कुशीलव, चिकित्सक, वग्जीवन (कथावाचक) और पाखण्डी आदि का गिरोह संगठित करके एवं स्वयं भी इसी रूप में रहकर राजा की शस्त्र एवं विष आदि के प्रयोग से हत्या कर देता था। फिर वह राजा के मात्य एवं सेनापति आदि से कहता था – 'मैं ही राजकुमार हूँ। आप लोगों के साथ मिलकर राज्य का भोग करना चाहता हूँ। जो चाहते हों, मेरे साथ रहकर काम करें। पहले से दुगना वेतन एवं भत्ता मिलेगा।'

(अहमसौ राजकुमारः सहभोग्यमिदं राज्यमेकोनार्हति भोकतुम। तत्र ये कामयन्ते भर्त तानहं द्विगुणेन भक्तवेतनेनोपस्थास्य इति)।

और प्रायः यही होता कि राजकुमार को राजा स्वीकार कर लिया जाता था। वह अपने पिता का वध करके और बुरे-बुरे सामाजिक पाप कृत्य करके जिस राजसिंहासन पर पाँव रखता था, विद्वान ब्राह्मण उसकी स्तुति करने लगते थे –

'यह महान् देवता है, ईश्वर का अवतार है। यह चाहे बालक हो या कितना ही निर्वल हो, इसका तिरस्कार एवं उपेक्षा मत करो।' षड्यन्त्रों तथा पाप पर आधारित राजतंत्र का यही खोखलापन था।

(बालो पि नावमन्त्यो . . . . . .।
महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति।। मनुस्मृति)
(चरित्रं संग्रहे पुसां राज्ञामाज्ञ तु शासनम्।। कौटल्य)

सर्वसाधारण प्रजाजनों को राजा के आचरण से शिक्षा लेनी चाहिए। 'राजाओं की आज्ञा ही शासन और कानून है।'

इन्हीं राजाओं की आज्ञा जिनका वर्णन ऊपर किया गया है।

(इन्द्र यमस्थानमेतद्राजानः प्रत्यक्ष हेऽप्रसादाः। तानवमन्यमानान्दैवोअपि दण्डः स्पृशति। तस्माद्रोजानों नावमन्तव्याः. – कौटल्य)

'राजा इन्द्र और यम के स्थान पर माने जाते थे, जिनकी प्रसन्नता एवं प्रकोप प्रत्यक्ष परिणाम दिखाते हैं। जो उनकी उपेक्षा करता है उसे दैविक आपत्तियाँ भी पकड़ती हैं। इसलिए राजाओं का तिरस्कार कभी मत करो' – कौटल्य।

और ये राजा और राजतंत्र किस् सामाजिक नैतिकता पर आधारित थे, यह आगे की पंक्तियों से और भी स्पष्ट होगा।

मंत्रिपरिषद् और मंत्रणा

आत्मरक्षा के लिए अनवरत चिन्तित राजा के लिए दूसरी सबसे बड़ी समस्या यह थी कि वह राज्य का संचालन कैसे करे, प्रजाजनों को किस प्रकार साथ रखे, राज्य का विस्तार एवं सुरक्षा किस प्रकार हो और राज्य की आर्थिक स्थिति सुदृढ़ किस प्रकार की जाये। स्पष्ट

है कि जिस किसी भी तरह राज्य पर अधिकार तो राजा का हो गया है, परन्तु यदि अकेला ही उस अधिकार को सँभाल कर रखता है तो राजतंत्र का इतना विशाल और महादैत्य उसके अकेले के नियंत्रण में नहीं रह सकता। इसलिए, सहयोगियों की आवश्यकता होती थी। परन्तु सहयोगियों में किस पर भरोसा किया जाये और किसे अधिकारों का अंशदान किया जाये यह गम्भीर समस्या थी। जैसे स्वयं राजा ने दूसरों के साथ विश्वासघात करके राजतंत्र पर अधिकार जमाया है? वही आचरण दूसरे क्यों नहीं करेंगे – यह विश्वास कैसे किया जा सकता है? जिसने दूसरों के प्रति विश्वास प्रकट नहीं किया वह दूसरों पर भी कैसे विश्वास कर सकता था? इसीलिए, राजाओं के सम्बन्ध में कहा गया है कि उनकी प्रीति स्थायी नहीं होती और वे सदा सशंक रहते हैं।

फिर भी इतना विशाल राजतंत्र एक व्यक्ति के हाथों में नहीं सँभल सकता। राजा के लिए अनिवार्य था कि वह अपनी मंत्रिपरिषद् की स्थापना करे, उससे मंत्रणा करे और अपनी राजनीतिक महत्त्वाकांक्षाओं की पूर्ति के लिए उसे साधन बनाये। परन्तु राजा के लिए राज्य या राजतंत्र ऐसा था जैसे कोई चोर सेन्ध मार कर बहुमूल्य सम्पदा अपहरण तो कर लेता है, पर उसे सँभाल कर एवं छिपा कर किसके पास रखे, वह नहीं जानता। उसे यही व्याकुलता रहती है कि सारा समाज उसका शत्रु है और जिसके पास सम्पदा छिपा कर रखेगा वही उसका मालिक बन जायेगा। दुनिया की दृष्टि में महासुखी और इन्द्र के समान 'वैभव सम्पन्न' राजा की मानसिक स्थिति उस सेन्ध मारने वाले से बेहतर नहीं थी।

फिर भी राजा को सहयोगियों की आवश्यकता थी और वे उसे मिल गये। अमात्यों, मंत्रियों की नियुक्ति के सम्बन्ध में चिन्तित राजा को शास्त्रकारों ने सहायता दी –

भरद्वाज ऋषि कहते हैं कि अपने सहपाठियों को अमात्य बनाया जाये। उन्हीं पर सबसे अधिक विश्वास किया जा सकता है।

परन्तु विशालाक्ष कहते हैं कि साथ खेलने-कूदने से वे राजा के साथ मित्र जैसा व्यवहार करते हैं। उसकी उपेक्षा भी कर सकते हैं। फिर राजा की शान कैसे कायम रहेगी जो राजतंत्र के लिए अनिवार्य है। अतः अपने समान शील और व्यसनी लोगों को मंत्री बनाया जाये। वे राजा से डरते रहते हैं कि कहीं वह उनका भण्डाफोड़ न कर दे।

पाराशर कहते हैं कि यह तो समान दोष हुआ। यदि भण्डाफोड़ का डर उन्हें है तो साथ ही राजा को भी है। वह उनसे डरता रहता है। जिन-जिन को किसी की निर्बलता का पता रहता है, आमतौर पर उनसे हर व्यक्ति डरता रहता है। जो आपत्तियों के समय अपना सर्वस्व दाँव पर लगा कर राजा का साथ दें, उन्हें मंत्री बनाया जाये।

पिशुन (नारद) इसे अमात्यों का भक्ति गुण तो मान सकते हैं, बुद्धि गुण नहीं। परन्तु मंत्रियों में बुद्धि गुण का होना आवश्यक है। अतः ऐसे व्यक्ति मंत्री बनाये जायँ जो नीतिशास्त्र के पारंगत हों तथा अपने सुपुर्द किये गये कार्यों को उससे भी अधिक करके दिखावें जितना बताया गया हो।

कोणपदन्त (भीष्म) कहते हैं कि मंत्रियों में केवल इतने गुणों का होना ही तो पर्याप्त

धारणाएँ प्रचलित थीं।

ब्राह्मणेवैधितं क्षत्रं मंत्रिमंत्राभिमंत्रितम्।
जपत्यजितमत्यन्तं शास्त्रानुगत शास्त्रितम्।।

(कौटल्य)

प्रधानामात्य, अमात्यों और पुरोहित की नियुक्ति के पश्चात् राजा की तीसरी मुख्य समस्या यह आती थी कि वे अपने कितने रहस्य उनके सामने खोल कर रखे तथा गम्भीर राजकीय समस्याओं के सम्बन्ध में उन्हें विश्वास में लेकर किस प्रकार मंत्रणा करे?

इस सम्बन्ध में भी कुछ मान्य सिद्धान्तों की स्थापना की गयी थी जो संक्षेप में निम्नलिखित थे –

सभी कार्य मंत्रणा के पश्चात् प्रारम्भ होते थे। इसलिए मंत्रणा सर्वोपरि महत्त्व रखती थी। (मंत्रपूर्वाः सर्वाम्भाः) इसलिए, मंत्रणा का स्थान अत्यन्त गोपनीय रखा जाता था। वह चारों ओर से टका रहता था। वहाँ बाहर का शब्द अन्दर और अन्दर का बाहर नहीं आ सकता था। वहाँ चिड़ियाँ भी पर नहीं मार सकती थी, इसलिए कि सुंना जाता है कि एक राजा की मंत्रणा के भेद तोता और मैना (शुक-सारिका) ने दूसरे राजा को बता दिये थे और एक को कुत्ते से पता चल गया था। बिना स्वीकृति के कोई मंत्रणा-स्थान में प्रवेश नहीं कर सकता था और मंत्रणा की बाहर सूचना देने वाले का सिर काट लिया जाता था (उच्छिद्येत् मंत्रभेदी) परन्तु कभी-कभी बिना कहे भी दूत, अमात्य एवं राजा की चेष्टाओं से बुद्धिमानों को मंत्र का भेद ज्ञात हो जाता है। इसलिए अपने आकार तथा चेष्टाओं पर पूरा नियमन रखा जाता था।

प्रमादी शराबी, सोते में बड़बड़ाने वाला और कामी व्यक्ति मंत्र की रक्षा करने में असमर्थ समझा जाता था। दीवार के पीछे लग कर सुनने वाला और अपमानित व्यक्ति भी मंत्र की रक्षा नहीं कर सकता। इन सबसे भी मंत्र की विशेष रक्षा की जाती थी।

(प्रमादमदसुप्तप्रलापकामादिरुत्सेकः। प्रच्छन्नोअवमतो वा मंत्रं भिनत्ति)

क्योंकि मंत्रभेद के परिणाम भयानक होते थे, यही कारण है कि राजतंत्र के शास्त्रकारों ने इस पर गम्भीरता से विचार किया तथा अपनी सम्मतियाँ रखीं –

भरद्वाज - राजा को स्वयं अकेले में मंत्रणा करनी चाहिए। मंत्रियों के भी मंत्री होते हैं। उनके भी दूसरे मंत्री होते हैं और इस प्रकार यह ऐसी श्रृंखला है कि मंत्रणा करते-करते अपने आप ही उसका भेद खुल जाता है। अतः राजा जो करना चाहता है उसका तभी पता लगना चाहिए जब वह प्रारम्भ हो जाय और प्रारम्भ किये का पता उसके पूरा होने के बाद चलना चाहिए।

तस्मान्नास्य परें विद्युःकर्म किंचिच्चिकीर्षितम्।
आरब्धास्तु जानीयुरारब्ध कृतमेव तु।।

विशालाक्षः – अकेले व्यक्ति की मंत्रणा कैसी? राजकार्य प्रत्यक्ष एवं परोक्ष दोनों प्रकार

के होते हैं। सभी का पता राजा को नहीं होता। मंत्रणा करने का उद्देश्य यह होता है कि जिसका पता नहीं, उसे जाना जाये, जाने हुए का निर्णय करना, निर्णय किये हुए को पक्का किया जाये, जिसमें सन्देह हो उसका निवारण किया जाये, एक देश के सम्बन्ध में जो लागू होता हो वह अन्यत्र लागू हो सकता है कि नहीं। इसलिए बुद्धिमानों के साथ बैठकर ही मंत्रणा की जा सकती है न कि अकेले में बैठकर।

पाराशर - यह तो मंत्र जानने का प्रकार मात्र हुआ, मंत्र की रक्षा तो न हुई। जिसके सम्बन्ध में उसे मंत्रणा लेनी हो, वैसी ही किसी घटना का उल्लेख करके बहाने से मंत्रणा ली जाये। अमुक कार्य यों हुआ सुना जाता है। यदि उसे यों न करके दूसरी प्रकार करते तो क्या परिणाम होता, आदि। इस उपाय से मंत्र भी मिल जाता है और उसकी रक्षा भी हो जाती है।

पिशुन (नारद) - यह प्रकार सही नहीं है। इस प्रकार से पूछने पर मंत्री लोग या तो गम्भीरता से सोचकर उत्तर नहीं देते, केवल पहेलियाँ-सी बुझा देते हैं और या फिर उसे दूसरों को बता देते हैं। अतः जिन मंत्रियों के सहयोग से कोई कार्य करना हो, केवल उन्हीं से मंत्रणा की जाये। शेष मंत्रियों को सम्मिलित न किया जाये। इससे मंत्रणा मिल जाती है और उसका क्षेत्र सीमित बना रहता है।

कौटल्य - यह अनवस्था है और इसका कहीं अन्त नहीं हो सकता है। जिस विभाग का कार्य जिन व्यक्तियों द्वारा होता है, वे एक या दो नहीं होते। फिर किसको-किसको वहाँ एकत्रित किया जा सकता है? तीन या चार मंत्रियों के साथ बैठकर तो मंत्रणा करनी ही चाहिए। एक मंत्री के साथ बैठकर मंत्रणा करते समय बहुत-सी जटिल समस्याओं को कोई समाधान नहीं मिलता। अकेला मंत्री स्वेच्छाचारी एवं अभिमानी भी हो सकता है। दो के साथ मंत्रणा करने पर यदि कभी वे दोनों ही आपस में मिल जायँ तो सर्वनाश हुआ समझो। दोनों आपस में विग्रह कर बैठें तो भी सर्वनाश हो जाता है। तीन या चार के मिलकर बैठने से यह दोष पैदा नहीं होता और सभी काम ठीक हो जाते हैं।

मंत्र के मुख्यतः पाँच अंग होते थे जिन्हें राजा प्रत्येक से पृथक-पृथक पूछता था-

(१) कार्य का प्रारम्भ कैसे किया जाय (कर्मणामारम्भोपायः)? (२) इस पूरे कार्य में कितने पुरुष, दुर्ग आदि साधन एवं धन की आवश्यकता होगी? (पुरुष द्रव्य सम्पत्)? (३) किसी देश में और कितने समय में यह कार्य सम्पन्न हो सकता है (देशकाल विभाग)? (४) इसमें क्या-क्या बाधाएँ आ सकती हैं, वे कितनी हानि पहुँचा सकती हैं, कितना और कैसे निवारण हो सकता है आदि (विनिपातः प्रतीकारः)? (५) जो कार्य-सिद्धि होगी उससे हानि की अपेक्षा कितना लाभ होगा, उस कार्य के सम्पादन के पश्चात् स्वयं राजा की और शत्रु की तुलनात्मक स्थिति क्या होगी? आदि (कार्यसिद्धिः)। कौटल्य कहते हैं कि मंत्रणा के इन गम्भीर विषयों पर न तो राजा अकेला विचार कर सकता है और न वह अर्थहीन भीड़ में बैठकर ही किसी परिणाम पर पहुँच सकता है।

मानव - (मनु के अनुयायी) मंत्रि परिषद् कम से कम १२ सदस्यों की होनी चाहिए।

वृहस्पति - सोलह से कम की नहीं।

शुक्राचार्य - बीस से कम की नहीं।

कौटल्य - राज्य की जितनी सामर्थ्य एवं आवश्यकता हो। वे स्वकीय एवं परकीय पक्ष की विवेचना करते हैं। जो मंत्री पास में रहते हों उनके साथ बैठकर मंत्रणा करनी चाहिए और जो दूर रहते हैं उनके साथ पत्र-व्यवहार से करनी चाहिए। इन्द्र की मंत्रिपरिषद् में एक हजार मंत्री थे। वे ही इन्द्र की आँखें थी। इसीलिए दो आँख वाले इन्द्र को सहस्त्राक्ष कहते हैं। (इन्द्रस्य हि मंत्रिपरिदृषीणां सहस्त्रम्। स तच्चक्षुः। तस्मादिचे द्वयक्षं सहस्त्राक्षमाहुः अधिकांश मंत्रियों की जो सम्मति होती थी, बहुमत से वही मान्य हो जाती थी।

राजा और राजतंत्र

कौटल्य ने राजतंत्र की संक्षिप्त व्याख्या करते हुए एक स्थान पर कहा है कि – राजा और राज्य यह समस्त राजतंत्र का संक्षिप्त रूप है। (राजा राज्यमिति प्रकृति संक्षेपः) और यह स्पष्ट हो ही चुका है कि पूरे राजतंत्र की धुरी राजा है। यह भी सुस्पष्ट है कि राजतंत्रों की स्थापना और उनका उत्थानपतन किन नैतिक आधारों पर होता है। जिस राज्य या राजतंत्र की प्राप्ति के लिए राजा प्रत्येक प्रकार के उचित एवं अनुचित कार्यकलाप करते थे, वही राज्य की रक्षा के लिए अपना अस्तित्व लगा देता था। राजतंत्र ने प्रत्येक व्यक्ति और संस्था की अपने अनुशासित ढंग से परिभाषाएँ की हैं। फिर राजा का अनुशासन क्या हो और वह अपनी इच्छा लहरियों पर ही चढ़ता-उतरता रहे या समाज उसके लिए भी किसी अनुशासन की स्थापना करता था, यह प्रश्न महत्त्वपूर्ण है। परन्तु दुर्भाग्य से राजतंत्र के प्रामाणिक भाष्यकार और राजा को आदर्श व्यक्ति के रूप में समाज के सामने प्रस्तुत करने वाले कौटल्य भी यह नहीं बता सके कि उस पर क्या अनुशासन हो सकता है तथा उसकी अनुशासित शक्ति क्या होगी? केवल इतना बता दिया गया है कि अमुक कार्यों को करने वाला राजा आदर्श होता है और उसका राज्य कभी पराजय का मुँह नहीं देखता। इनके विपरीत कार्यों को करने वाला राजा नरक में जाता है और अन्त में उसका राज्य नष्ट हो जाता है, आदि। प्रश्न यह है कि इतने असीम अधिकारों को लेकर समाज को अपने संकेतों पर नृत्य करने के लिए बाध्य करने वाला व्यक्ति स्वयं भी किसी के अनुशासन में है या नहीं, अथवा वह अपने कार्यकलापों के लिए किसी के सम्मुख जवाबदेह है या नहीं? इन प्रश्नों का उत्तर केवल नहीं में मिलता है। उस समय समाज में जैसी प्रचलित प्रथाएँ थीं और समाज जिन दीन-हीन दशाओं में रह रहा था, वास्तव में इन प्रश्नों का उंत्तर नहीं से भिन्न हो भी क्या सकता था? राजा को समाज ने अपनी इच्छा से कभी स्वीकार किया हो और उसके कठोर अनुशासन को कभी स्वेच्छा से मान्यता दी हो तो इन प्रश्नों के उत्तर ढूँढ़े जा सकते थे और मिल भी सकते थे। परन्तु राजतंत्र के प्रचारक चाहे जितना प्रचार करें कि 'मत्स्यन्याय से पीड़ित जनता ने दुःखी होकर वैवस्वतवंश के मनु को अपना प्रथम राजा माना और उसे कर देना प्रारम्भ किया', वास्तविकता यही है कि ये राजा कभी किसी

ने चुने या माने नहीं थे प्रत्युत एक विशेष सामाजिक परिस्थिति का लाभ उठाकर कुछ व्यक्तियों ने प्रचलित सामाजिक अनुशासनों को तोड़ा था और समाज पर बलात्कार करके अपना स्वेच्छाचारी प्रभुत्व कायम किया था। वे पूर्णतया निरंकुश थे और निरंकुश होने के कारण ही उन पर समाज का कोई विधि-विधान एवं अनुशासन लागू नहीं होता था। यह बात बाद में सोचने की है कि राजतंत्रों के जन्म एवं विकास से सामाजिक प्रगति को बढ़ावा मिला या नहीं और यदि मिला तो किस मूल्य पर और कितनी मात्रा में।

फिर भी, राजतंत्रों की निःसंदिग्ध विजय के उपरान्त और जब स्वयं राजाओं तथा समाज को यह पूरा विश्वास हो गया कि अब राजतंत्र ठहरने के लिए आया है, व्यवस्था एवं परिपाटी के रूप में उसकी विजय हो गयी है तथा वह कोई उठाऊ चूल्हा नहीं रह गया है तो स्वयं राजतंत्रवादी बुद्धिजीवियों एवं राजाओं के लिए यह सोचना अनिवार्य हो गया कि वे राजा का ऐसा आदर्श रूप प्रस्तुत करें जो समाज को मान्य होता चला जाये, समाज का उसके प्रति प्रतिरोध समाप्त हो जाये तथा वह समाज की सामान्य परिस्थितियों में भी निभाया जा सके। इसके लिए 'मर्यादा' पुरुषोत्तमों, 'आदर्श राजाओं' और 'दयालु राजाओं' की कल्पनाएँ की गयीं तथा उनके जीवन-चरित्र प्रकाशित किये गये। महामात्य कौटल्य ने जहाँ समाज के प्रत्येक वर्ग एवं संस्था की विवेचना की है, 'स्वयं आदर्श' एवं घृणित राजाओं के सम्बन्ध में भी विस्तार के साथ विचार किया है। कौटल्य यह समझते थे कि आदर्शहीन एवं चरित्रहीन राजा राजतंत्र का सबसे बड़ा अभिशाप एवं संकट है और वे निर्भीक होकर केवल यही भविष्यवाणी कर सकते थे कि उसका पतन अनिवार्य है।

कौटल्य समझते थे कि राजा को काम, क्रोध, लोभ, मान, मद और हर्ष की भावनाओं पर नियंत्रण करके विद्या तथा विनय का मार्ग ग्रहण करना चाहिए। उन्होंने राजाओं को बताया कि केवल भला कहलाने के लिए ही इन सद्‌गुणों का स्वीकार करना राजा के लिए अनिवार्य नहीं है प्रत्युत अपने राज्य का अस्तित्व बना कर रखने के लिए अनिवार्य है।

(विद्याविनयहेतुरिन्द्रियजयः कामक्रोधलोभमानमदहर्षत्यागात्कार्यः। तद्विरुद्धवृति हि रवश्येन्द्रियश्चातुरन्तोअपि राजा सद्यो विनश्यति)

अर्थात् यदि वह मनमानी करता है एवं इन्द्रियाँ उसके वश में नहीं हैं तो वह चक्रवर्ती राजा भी क्यों न हो नष्ट हो जाता है। इसके लिए कौटल्य ने स्वेच्छाचारी राजाओं को भयभीत करने के लिए कुछ उदाहरण भी दिये हैं –

भोज वंश का दण्डकयं नामक राजा काम के वशीभूत होकर ब्राह्मण कन्या के पीछे अपने बन्धु-बान्धवों तथा राज्य के समेत नष्ट हो गया था। वैदेह वंश के कुराल नाम के राजा का भी यही हाल हुआ था।

क्रोध से बुद्धि खोकर जनमेजय ने ब्राह्मणों का तिरस्कार किया था और सर्वस्व मारा गया था और तालजंघ राजा ने भृगुओं पर क्रुद्ध होकर अपना सर्वनाश किया था।

इला का पुत्र पुरुरवा लोभ के वशीभूत होकर चारों वर्णों की जनता से क्रूरतापूर्वक कर संग्रह करता था अतः मारा गया था। इसी प्रकार सौवीर देश का राजा अजबिन्दु भी।

मानी रावण ने सीता का अपहरण करके लंका दहन करवाया तथा अपना सर्वनाश किया तथा दुर्योधन ने भाइयों का भाग दबाकर अपने को नष्ट किया।

मद के कारण डम्भोद्भव नामक राजा और इसी प्रकार हैह्यवंश का राजा सहस्त्रवाहु परशुराम के हाथों मारा गया।

हर्ष के वशीभूत होकर वातापि दानव ने अगस्त्य ऋषि के साथ छेड़छाड़ की तथा वृष्णि (यादव) संघ ने द्वैपायन ऋषि के साथ; वे दोनों ही नष्ट हो गये।

अतः राजा को प्रारम्भ से ही और विद्यार्थी जीवन से ही यह उपदेश दिया जाता था कि वह राजर्षियों जैसा व्यवहार करे। उसे कहा जाता था कि वह वृद्धों के सहवास से अपनी बुद्धि विकसित करे, गुप्तचरों के सहयोग से अपने और पराये देश की स्थिति देखे, उद्योग द्वारा राजकीय सम्पदाओं में वृद्धि करे, राजकीय नियमों से प्रजाओं को अनुशासन में रखे, विद्या के प्रचार से प्रजा को शिक्षित एवं विनीत करे, उचित पात्रों में और न्यायोचित मदों में धन का व्यय करके प्रजा को अपना अनुगामी बनाये, और प्रजा के हित में अपने वैभव में समृद्धि देखे।

रात दिन सोते रहना, चपलता, मिथ्यावादिता, उद्धत वेश-भूषा और बुरे व्यक्तियों के साथ उठना-बैठना तथा अधर्म और अनर्थ से युक्त आचरण बुरी दृष्टि से देखा जाता था।

काम का सेवन करना बुरा नहीं माना जाता था - यदि वह अर्थ और धर्म का विरोधी न हो। उसे सुखविहीन जीवन बिताने को नहीं कहा जाता था। क्योंकि धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के कार्यों में से अकेला कोई भी यदि अधिक मात्रा में सेवन किया जाता है तो शेष सभी कुछ नष्ट हो जाता है, सदाचार की सर्वमान्य धारणा थी। इसलिए, सन्तुलन रखा जाता था।

फिर भी कौटल्य का यही मत है कि इन चारों में अर्थ ही प्रधान है। धर्म और काम अर्थ के अभाव में धरे रह जाते हैं। आचार्य और अमात्यों का जीवन देखकर आदर्श राजां प्रेरणां लेता था एवं उनका अनुसरण करता था।

(अर्थ एवं प्रधान इति कौटल्यः अर्थमूलो हि धर्मकामाविति। मर्यादां स्थापयेद्राचार्यानमात्मान्वा)

अमात्य और आचार्य प्रमाद के अवसरों पर उसे सावधान करते थे।

राजा को यह बताया जाता था कि जैसे गाड़ी का एक पहिया दूसरे की सहायता के बिना नहीं चलता, उसी प्रकार अमात्य-पुरोहित आदि के सहयोग के बिना अकेला राजा राजतंत्र का भार वहन नहीं कर सकता।

सहायसाध्यं राजत्वं चक्र मेकं न वर्तते।
कुर्वीत सचिवांस्तमात्तेषां च श्रृणुयान्मतम्।।

राजा के उठने के साथ सब भृत्य उठते थे। उसके प्रमाद करते ही सब प्रमाद करते थे और उसका किया कराया खा जाते थे। शत्रुओं से भी मिल जाते थे। इसीलिए राजा को

कड़ी दिनचर्या के बन्धनों में बँध कर काम करने की प्रेरणा दी जाती थी और यह परिपाटी बन गयी थी कि आदर्श राजा दिन के प्रथम भाग में रक्षा व्यवस्था और अपव्यय देखते थे। दूसरे भाग में नगर निवासियों तथा जनपद निवासियों की समस्याओं पर विचार करते थे। तीसरे भाग में स्नान, भोजन और स्वाध्याय। चौथे में गत दिवस का शेष धन और उस दिन की आय सँभालना तथा अध्यक्षों को देखना पाँचवें में मंत्रिपरिषद् के सदस्यों के साथ पत्र व्यवहार तथा गुप्तचरों के विशेष महत्त्व के समाचार, यदि कोई हों। सातवें में हस्ती, अश्व, रथ एवं आयुधों का निरीक्षण। आठवें में सेनापति के साथ मिलकर विक्रम की चिन्ता, यदि कोई हो। दिन छिप जाने पर सन्ध्योपासन।

रात्रि के प्रथम भाग में गूढ़ पुरुषों (विशेष गुप्तचरों) को देखें, दूसरे में स्नान, भोजन और स्वाध्याय। तीसरे में तुरी के घोष के साथ उठें और सो जाएँ एवं चौथे तथा पाँचवें भाग में सोयें। छठे भाग में तुरी की ध्वनि के साथ उठकर अर्थशास्त्र एवं दिन के कार्यों के सम्बन्ध में सोचें। सातवें भाग में गूढ़ बातों पर विचार करें तथा गूढ़ पुरुषों को भेजें। आठवें में ऋत्विग् आचार्यों और पुरोहित के साथ मांगलिक कृत्य करें तथा चिकित्सक, महानसिक (लंगर खाना आदि) को देखें।

इस प्रकार, परम्पराएँ स्थापित करके राजा को उसकी शक्ति एवं आवश्यकताओं के अनुसार इस प्रकार कार्य में लाया जाता था कि वह कार्य ही उस पर स्वयं प्रेरित अनुशासन का कार्य करता था।

राजा जब उपस्थान (दरबार में) जाता था तो उसके द्वार खोल दिये जाते थे। पीड़ितों को राजा से खुलकर फरियाद करने का मौका दिया जाता था और यह माना जाता था कि जो राजा प्रजा को दर्शन नहीं देता व उसके साथ न्यायं नहीं करता उसके विरुद्ध प्रजा में असन्तोष व्याप्त हो जाता था।

(उपस्थानगतः कार्योथिनामद्वारासंगं कारयेत्। दुर्दर्शो हि राजा कार्याकार्य विपर्यासमासन्नैः कायेत्। तेन प्रकृतिकोपमरिवश वा गच्छेत।)

प्रजासुख सुखं राज्ञः प्रजानां च हिते हितम्।
नात्मप्रियं हितं राज्ञः प्रजानां तु प्रियं हितम्।।

प्रजाओं के सुख में राजा का सुख है, प्रजाओं के हित में राजा का हित है। राजा का अपना प्रिय और हित कुछ नहीं है। प्रजा का हित और प्रिय ही उसका हित एवं प्रिय है।

राजमहलों से बाहर का संकट

दमन और हिंसा पर आधारित राजतंत्र के लिए राजमहलों से बाहर का संकट भी कम भयानक एवं हृदयहीन नहीं होता था। इसमें राजा को प्रत्येक कदम पर सावधान रहना पड़ता था। दोनों ओर आगे-पीछे पाताल तक पहुँचने वाले गहर थे जिनमें पाँव फिसलते ही समाज के शिखर पर बैठा राजा पाताल के कब्रिस्तानों में पहुँचता था। राजा के प्रति कोप

(विद्रोह) दो प्रकार का होता था। एक आभ्यन्तर और दूसरा बाह्य। घर में रहने वाले सर्प की भाँति आभ्यन्तर कोप बाह्य कोप से भयानक समझा जाता था।

(अभियादाभ्यन्तरः कोपो बाह्य कोपात्पापीयान्)

आभ्यन्तर कोप भी दो प्रकार का होता था – एक अन्तरमात्य कोप और दूसरा बाह्यमात्य कोप। जो अमात्य राजधानी एवं महल में रहकर कार्य करते थे उनका कोप दूसरा था। यही कारण है कि राजा प्रायः राजकोष और सेना का नियंत्रण कभी अमात्यों के हाथों में नहीं देते थे।

(तस्मात्कोशदण्डशक्तिमात्मसंस्थां कुर्वीत)

इस संकट के निवारण का यही एकमात्र उपाय भी था।

राजतंत्र का नियंत्रण यदि शास्त्रविहीन और चलित शास्त्र (राजनीति जानकर भी जो स्थिर न रहता हो) राजाओं के हाथों में आ जाता था तो शास्त्रविहीन राजा ही राजतंत्र के लिए कम संकट का कारण समझा जाता था।

उसे बुद्धिमान लोग समझा-बुझा कर सीधे मार्ग पर ला सकते थे, जबकि चलित शास्त्र राजतंत्र का वास्तविक संकट बन जाता था।

वह अहंकार से भरा रहता था। उसे अपनी निजी सम्पत्ति समझता था और अभद्र व्यवहार से प्रजाओं को कुपित कर देता था जबकि रोगी राजा पुरानी परिपाटी के अनुसार एवं अमात्य आदि के सहयोग से राज्य का कार्य चलाता रहता था। इसके अलावा, नया राजा बाहरी आक्रमण होने पर या प्रजाओं के विद्रोह करने पर एक ही हमले में भाग खड़ा होता था। नया होने के कारण उसे राज्य एवं प्रजा से लगाव नहीं होता था और न प्रजा को उससे।

यदि आभिजात्य वर्ग का निर्बल राजा हो और निम्नकुलीन राजा बलवान् हो तो दोनों में से दूसरे को बड़ा संकट माना जाता था। इसलिए कि कुलीन घर के निर्बल राजा का प्रजा अनुशासन मान लेती थी और निरभिजात्य वर्ग के बलवान के लिए प्रजा को साथ रखना कठिन था।

यदि राजा कामी और क्रोधी होता था तो पहले के मुकाबले दूसरा संकट का बड़ा कारण समझा जाता था। प्रायः कोप के वशीभूत होकर ही राजाओं ने प्रजाओं को विद्रोह में प्रवृत्त किया तथा नष्ट हो गये। कामी राजा व्यक्तिगत रूप से क्षय, व्यसन और बीमारियों से पीड़ित हो जाते थे। परन्तु राजतंत्र का कार्य फिर भी किसी न किसी भाँति चलता रहता था।

इसके अलावा, यह माना जाता था कि मानी राजा प्रभावहीन हो जाता है, उसका तिरस्कार होने लगता है और इसीलिए भविष्य में एक न एक दिन वह राजतंत्र के लिए गम्भीर संकट का कारण बन सकता है। परन्तु क्रोधी राजा से सभी द्वेष करने लगते हैं, उसके समर्थकों की संख्या घटने लगती है और राजनीतिज्ञ ऐसे राज्य के लिए तत्काल संकट

आने की घोषणा कर देते थे।

जो राजा वाणी से दूसरों को अपमानित करता था और दूसरा मीठा बोलकर आर्थिक हानि पहुँचाता था, इन दोनों में कौटल्य ने दूसरे को बड़ा संकट माना है, इसलिए कि वाणी का अपमान तो आर्थिक पुरस्कार से भुलाया जा सकता है, परन्तु जो आर्थिक हानि पहुँचाता है उसे लोग नहीं भुला पाते।

शारीरिक क्षति पहुँचाने वाले और आर्थिक हानि पहुँचाने वाले राजाओं में पहले को कौटल्य ने बुरा बताया है। अधिक पुरस्कार पाकर भी लोग शारीरिक दण्ड को याद रखते हैं।

शिकार और जुआ खेलने की बीमारी राजाओं में आमतौर पर थी। कौटल्य पहली से दूसरी को बड़ी बीमारी मानते हैं जो सम्पूर्ण राज्य को ले डूबती है तथा राजकार्यों से राजा को पूर्णतया विमुख कर देती है। धर्मपूर्वक कमाया धन अधर्म के कार्यों में व्यय होता है तथा जुए के खिलाड़ी मल-मूत्र त्यागने तक से निवृत्त होकर जिस व्यसन में फँसते हैं वह उनके स्वास्थ्य एवं मनोबल सभी को नष्ट कर देता है।

कौटल्य ने अनेकानेक उदाहरण देते हुए बताया है कि किस प्रकार जुए की लत में फँसकर बड़े-बड़े राज्य धराशायी हो गये और प्रभावशाली राजा दर-दर के भिखारी बने।

इसी प्रकार काम, क्रोध आदि व्यक्तिगत बुराइयों की तुलनात्मक विवेचना करके उस समय के राजनीतिक राजाओं को इन संकटों से दूर रखने का प्रयत्न करते थे। वस्तुतः ये राजाओं के व्यक्तिगत व्यसन न रहकर राजतंत्र के संकट का कारण बनते थे।

यदि किसी जनपद या राज्य पर स्वचक्र (अपने देश के राजा) का उत्पीड़न हो और किसी दूसरे पर परचक्र (परदेशी राजा) का उत्पीड़न हो तो कुछ आचार्य यह मानते थे कि पहले से दूसरा सह्य है। परन्तु कौटल्य परचक्र के उत्पीड़न को अधिक असह्य मानते थे और कहते थे कि स्वचक्र के उत्पीड़न के विरोध में राजा, अमात्य, पुरोजि अथवा किसी न किसी से सम्पर्क करके सुविधा ली जा सकती है। वह कभी समान उत्पीड़न भी नहीं करता था। परन्तु परचक्र का उत्पीड़न सर्वदेशीय होता है। उसे किसी से कोई सहानुभूति नहीं होती। वह कर न मिले तो आग लगा सकता है। फसलें नष्ट कर सकता है और सर्वनाश कर सकता है। किसी से सहानुभूति की याचना भी नहीं की जा सकती।

(नेति कौटल्यः। स्वचक्रपीडनं प्रकृति पुरुष मुख्यपग्रह विधाताभ्यां शक्यते वारपितुमेकदेशं वा पीडयति। सर्वदेश पीउनं तु परचक्रं किलापक्षात दाह विध्वंसनोपवाहनैः पीडयतीति)।

किसी राज्य की प्रजा मनोरंजनों में आसक्त हो या राजा हो तो कौटल्य दूसरे को अधिक बुरा मानते हैं। प्रजाजन मनोरंजनों पर कम खर्च करते हैं। फिर मनोरंजन के बाद हल्के होकर काम में लग जाते हैं। परन्तु राजा के मनोरंजन बहुत महँगे पड़ते हैं। उसके नाम पर राजा के चाटुकार प्रजा को लूट लेते हैं और स्वयं राजा राजकोष रिक्त कर देने का कारण बनते हैं।

सन्निधाता (राजांश को कोष में जमा करने वाला) और समाहर्त्ता (राजांश का संग्रह करने वाला) यदि ये दोनों बेईमान हो जायँ तो कौटल्य दूसरे को अधिक भयानक मानते हैं। सन्निधाता राजकोष में से ही कुछ अपहरण कर सकता है जिसे पकड़ना सरल है। परन्तु समाहर्त्ता तो प्रजाजनों से ही राजांश की भाँति अपना अंश इकट्ठा करवाने लगता है तथा राजा के प्रति प्रत्यक्ष विद्रोह की भावना उत्पन्न करता है।

यदि सीमान्त रक्षक अधिक शुल्क आदि लेकर तथा व्यापारी अधिक महँगा बेचकर राजतंत्र के लिए संकट उत्पन्न करते थे तो कौटल्य ने दूसरे को अधिक असह्य बताया है। सीमान्त रक्षक तो इस पण का प्यार पण ले सकते थे। परन्तु व्यापारी एक पण मूल्य पर सौ पण और एक घड़े पर सौ घड़े मूल्य बढ़ा सकते हैं।

(वैदेहकास्तु संभूय पण्यानामुत्कर्षापकर्ष कुर्वाणाः पणे पणशतं कुम्भे कुम्भ-शतमित्याजीवन्ति)

जब सेना में निम्नलिखित ३४ प्रकार के व्यसन आ जाते थे तो वह स्वयं राजतंत्र के लिए संकट समझा जाता था –

अमानित, विमानित, (तिरस्कृत) अभृत (जिसका अच्छा भरण पोषण न हो) व्याधित, नवागत, दूरायात (दूर से चलकर आयी हुई) परिश्रान्त, परिक्षीण (जिसका कोई हिस्सा नष्ट हो गया हो) प्रतिहत (युद्ध में पिटी हुई) हताग्रवेग (जिसका अग्रिम जत्था खेत आया हो) अनृतु प्राप्त, अभूमि प्राप्त, आशा निर्वेदी (हताश) परिसृप्त (नेताविहीन) कलत्रगही (स्त्री निन्दक) अन्तःशल्य (हृदय में द्वेष रखने वाली) कुपित मूल (अपनी टुकड़ी के मुखिया असन्तुष्ट) भिन्न गर्भ (जिसमें आपसी एकता न हो) अपसृत (किसी एक मोर्चे से भागी हुई) अतिक्षिप्त (कई मोर्चों से भागी हुई) उपनिविष्ट (शत्रु के सन्निकट मोर्चों पर रहने वाली) समाप्त (शत्रु के साथ ही ठहरने और आक्रमण करने वाली) उपरुद्ध (एक ओर से घिरी हुई) उपक्षिप्त (चारों ओर से घिरी हुई) छिन्न धान्य (जिसके रसद आने का रास्ता कट गया हो) छिन्न पुरुष वीवध (रसद लाने वाले व्यक्तियों से सम्पर्क टूट गया हो) स्वविक्षिप्त (अपने ही देश में इधर-उधर भटकती हुई) मित्रविक्षिप्त (मित्र देश में भटकती हुई) इष्टायुक्त (शत्रु के भेदियों के समेत) दुष्टपार्ष्णिग्राह (पीछे से हमला करने वाले शत्रु के भेदिये जिसमें हों) शून्यमूल (राजधानी की रक्षा के लिए बचाकर रखी गयी थोड़ी सी सेना) अस्वामिसंहत (राजा और सेनापति से विहीन) भिन्नकूट (जिसका मुखिया बिगड़ गया हो) और अन्ध (जो युद्ध के सम्बन्ध में कोई जानकारी न रखती हो।)

सेना में ये व्यसन गम्भीर माने जाते थे। परन्तु साथ ही कौटल्य ने यह बताया है कि किन परिस्थितियों में एक-दूसरे की तुलना में ये सेनाएँ भी राज्य की रक्षा एवं विस्तार के काम में आ सकती हैं।

इसके अलावा, सेनाओं के सम्बन्ध में तत्कालीन भारत में कुछ विचित्र परम्पराएँ तथा मान्यताएँ थीं। कौटल्य से पहले के आचार्य सेना में ब्राह्मण सैनिकों को सर्वश्रेष्ठ मानते थे। परन्तु कौटल्य ने ब्राह्मण सैनिकों का परिहास करते हुए कहा कि एक बार शत्रु के प्रणाम करते ही ब्राह्मण का सारा तेज क्षीण हो जाता है।

(प्रणिपातेन ब्राह्मणबलं परोअभिहारयेत्)

वैसे चारों वर्णों के लोग उस समय समान रूप से सेना में भर्ती होते थे।

जैसा कि पहले भी लिखा जा चुका है मंत्री, पुरोहित, सेनापति और युवराज के विद्रोह को अन्तःकोप कहा जाता था। यदि राजा यह समझता था कि यह विद्रोह उसके अपने दोषों के कारण उत्पन्न हुआ है तो उसे दूर करके स्थिति सँभाल लेता था। परन्तु यदि उन्हीं की महत्त्वाकांक्षा आदि इसके कारण होते थे तो उन्हें उचित दण्ड देकर सीधा कर लेता था। महापराध करने पर भी पुरोहित को केवल बन्दी बनाया जा सकता था या देश निकाला दिया जा सकता था। उसका वध करना वर्जित था। युवराज को भी यही दण्ड दिया जा सकता था। हाँ यदि दूसरा गुणवान राजपुत्र होता था तो उसे प्राण दण्ड भी दिया जा सकता था। इन्हीं दोनों की भाँति मंत्री तथा सेनापति के साथ व्यवहार किया जाता था। यदि मंत्री और सेनापति ब्राह्मण होते थे तो मृत्यु दण्ड के अलावा उन्हें सब दण्ड दिये जा सकते थे।

अन्तरमात्य कोप की श्रेणी में ही वे विद्रोह भी आते थे जिन्हें दौवारिक (मुख्य स्वागत अधिकारी) अन्तर्शिक (रनवास के संरक्षक सेनाधिकारी) और ऐसे ही अन्य मुख्य अधिकारी करते थे। उन्हें भी पूर्वोक्त उपायों से तत्काल शान्त करने के उपाय काम में लाये जाते थे।

बाह्य कोष निम्नलिखित माने जाते थे –

राष्ट्र (पुलिस शक्ति का मुख्य अधिकारी जो कानून एवं व्यवस्था की रक्षा करता था) अन्तपाल (सीमान्तों की रक्षक सेना का मुख्य अधिकारी) आटविक (जंगलों की सुरक्षा सेना का सेनापति) और दण्डोपनत (बलपूर्वक अपने नियन्त्रण में रखा हुआ विद्रोही सामन्त), ये सब अधिकारी आपस में मिलकर या पृथक-पृथक जो राजविद्रोह संगठित करते थे वह बाह्य कोप कहलाता था। राजा या तो इन्हें आपस में संघर्षरत करके इनकी शक्ति नष्ट करता था, अथवा मुख्य सेना भेजकर इन्हें दबाता था या उनके विश्वासपात्र राजअधिकारियों से सम्पर्क करवाकर उन्हें शान्त कर देता था। परन्तु प्रत्येक स्थिति में, इन विद्रोहियों को मुख्य शत्रु राजा के साथ सम्पर्क करने से रोका जाता था।

यद्यपि राजतंत्र के अन्तर्विरोधों के कारण कदम-कदम पर उसमें संकटों तथा विद्रोहों का सामने आना स्वाभाविक था, फिर भी उस समय के राजनीतिज्ञ यही मानते थे और इसमें सत्यांश भी था कि – सन्धि, विग्रह आदि ६ गुणों का गलत प्रयोग होने से राज्य के सामने ये संकट आते हैं। इसीलिए कौटल्य ने अर्थशास्त्र के ६वें अधिकरण में विस्तार के साथ इस बात पर विचार किया है कि कौन से गुण के स्थान पर किसी दूसरे गुण के प्रयोग से क्या संकट उत्पन्न हो सकता है और वह कैसे शान्त किया जा सकता है।

उसमें इस बात पर भी बड़े धैर्य के साथ विचार किया गया है कि यदि नगरों तथा जनपदों के गणमान्य नागरिक राजा के विरुद्ध विद्रोह में सम्मिलित हो जाते हैं तो धैर्यशाली राजा को कौन से गुण का आश्रय लेना चाहिए तथा साम, दाम, दण्ड और भेद की नीतियों में से किसका प्रयोग करना चाहिए। प्रत्येक स्थिति में कौटल्य ने राजा को सलाह दी है कि इन गणमान्य नागरिकों एवं जनपद निवासियों के विरोध में दण्ड का सहारा नहीं लेना

चाहिए। यदि दण्ड का प्रयोग किया जाता है तो उसका कोई सुपरिणाम नहीं निकल सकता एवं उससे दूसरा अनर्थ भी खड़ा हो सकता है।

(दण्डों हि महाजनं क्षेप्तुमशक्यः। क्षिप्तों वा तंचार्थ न कुर्यात्। अन्यं धानर्थंमुत्पादयेत्)

यहीं कौटल्य ने राजा को यह चेतावनी भी दी है कि आमतौर पर मंत्री, पुरोहित, सेनापति और युवराज तभी विद्रोह के लिए तैयार होते हैं जब स्वयं राजा काम, क्रोध, लोभ एवं मद के वशीभूत हो जाता है। उसकी निरंकुशता स्वेच्छाचारिता अन्तःकोप संगठित करने की उत्तेजना देती है तथा सन्धि विग्रह आदि गुणों (नीतियों) का गलत प्रयोग अन्तपाल, आरण्यपाल आदि को उत्तेजित करके बाह्य कोप का कारण बनता है।

(कामादिरुत्सेकाः स्वाः प्रकृतिः कोपयति। अपनयो बाह्याः। तदुभयमासुरी वृत्तिः स्वजनविकारः कोपः)।

इस सम्बन्ध में कौटल्य ने राजाओं को नेक सलाह देते हुए कहा है कि –

तस्मान्नौत्पादये देनान् दोषान् मित्रोपघातकान्।
उत्पन्नान्वा प्रशमयेद् गुणेर्दोषोपघातिभिः।।
यतोनिमित्तं व्यसनं प्रकृतीनामवाप्नुयात्।
प्रागेव प्रतिकुर्वीत तन्निमित्तमतन्द्रितः।।

राजा अपने में वे दोष पैदा न होने दे जो मित्रों को दूर भगाते हैं। यदि हो भी जाएँ तो उन दोषों को दबाने वाले गुण पैदा करके शान्त कर दे।

जिस कारण से अमात्य सेनापति आदि प्रकृतियाँ विद्रोह करने को बाध्य होती हैं उसे पहले ही सावधान होकर दूर कर देना चाहिए।

महामात्य कौटल्य के ही शब्दों का उद्धरण करते हुए इस पूरे अध्याय में सामन्ती अर्थव्यवस्था एवं राजतंत्र के संकट के सम्बन्ध में यह दिखाया गया है कि यह व्यवस्था किस प्रकार पूरे समाज का प्रतिरोध करके उसके कन्धों पर चढ़ी हुई थी और एक दो शताब्दियों तक नहीं प्रत्युत हजारों वर्षों तक चढ़ी रही। संकट आते थे, उनका प्रतिकार कर दिया जाता था, या वे राजतंत्र के एक कुल का अन्त कर देते थे और उसके स्थान पर उससे भी अधिक आततायी कोई दूसरा सामन्त राजतंत्र का झण्डा फहराने लगता था।

परन्तु उसके संकट और अन्तर्विरोध न तो दूर हुए और न हो सकते थे। आज विश्व में समाजवादी क्रान्तियों के विजय अभियान के साथ वे राजतंत्रों की चिन्ताओं में उसके साथ ही जल रहे हैं तथा मानव मुक्ति की उमंगों के साथ उनका धुँआ आकाश में मँडरा रहा है।

उपसंहार

मध्ययुगीन भारत और राजतंत्र के संस्मरण

आज बीसवीं सदी में २६ सौ वर्ष पुराने इतिहास तथा घटनाओं के सम्बन्ध में

मानव जीवन के उषाकाल का अमर साहित्य है।

आदिम साम्यवादी व्यवस्था की आर्थिक रूपरेखा क्या थी? मानव समाज में पैदावार के साधनों का समुन्नत विकास नहीं हो पाया था। सम्पूर्ण प्रकृति, धरती और आकाश रहस्यों से भरे हुए प्रतीत होते थे। मानव समाज शैशव कालीन व्यवस्था में था और उसके जिज्ञासा भरे प्रश्न बच्चों का कौतूहल तथा भोलापन प्रकट करते थे। जब समाज अपने वयोवृद्धों से, जिन्हें वह ऋषि कहता था, विभिन्न प्रश्न करता था तो वे ऋषि वैज्ञानिक भाषा में नहीं प्रत्युत काव्यमय भाषा में प्रश्नों का समाधान करते थे। वे गद्गद होकर कहते थे 'पश्यदेवस्यकाव्यं न ममार न जीर्यति' (देव का काव्य देखो न मरता है, न जीर्ण होता है)।

जब अधिक जिज्ञासाएँ सामने आती थीं और कौतूहलपूर्ण समाज किसी निश्चित उत्तर के लिए आग्रह करता था तो ऋषि दम्भी तथा अहंकारी बनकर झूठ नहीं बोलते थे प्रत्युत 'नेतिनेति' कहकर उसकी जिज्ञासा कायम रखते थे। उनके पास रहने के मकान नहीं थे, उदरपूर्ति का कोई निश्चित साधन नहीं था। शरीर ढकने के लिए वस्त्रों का अभाव था और वे समूह के रूप में निर्जन वनों में चक्कर काटते हुए कहीं वृक्षों के फल इकट्ठे कर लेते थे, कहीं कन्द और मूल का संचय कर लेते थे तथा कभी ऐसे पशुओं को घेर कर आखेट कर लेते थे जो उनके तत्कालीन हथियारों के अनुरूप थे।

वैज्ञानिक समाजशास्त्री इस समाज व्यवस्था का नाम कौटुम्बिक समाज व्यवस्था रखते हैं। इसमें पैदावार या जीविका का मुख्य साधन पशुपालन था। पशु सबसे बड़ा धन समझा जाता था। परन्तु यह धन व्यक्तिगत सम्पत्ति के रूपों में न होकर पूरे समूह या कबीले की सम्पत्ति समझा जाता था। यह कुल या कबीला अपने झुण्ड के पशुओं के साथ एक स्थान से दूसरे स्थान पर भटकता फिरता था जहाँ उसके पशुओं के लिए चरने को हरी भूमि तथा पीने का पानी मिल जाता था। जिस कुल के पास जितने अधिक पशु होते थे वह उतना ही समृद्ध समझा जाता था। ये कुल एक दूसरे के पशुओं का अपहरण करते थे एवं आवश्यकता पड़ने पर एक दूसरे के साथ पशुओं के लिए युद्ध भी करते थे। आदिम साम्यवादी युग का पूरा इतिहास पशुपालन, पशुओं के अपहरण, पशुओं के लिए युद्ध तथा उनके संरक्षण का इतिहास है। वैदिक साम्यवादी युग के नागरिकों का सबसे बड़ा देवता वही था जो उनके खोए हुए पशुओं का पता बता दे और उनकी रक्षा करे।

स्पष्ट है कि जिस समाज व्यवस्था का आर्थिक मूल आधार पशुपालन था उसका सामाजिक और सांस्कृतिक रूप बहुत सीधा-सादा और प्राकृतिक ही हो सकता था।

पशुपालन के लिए अनिवार्य रूप से अपेक्षित हरी भूमि ने विभिन्न कुलों के मनों में अपने लिए आकर्षण पैदा किया। एक कबीला दूसरे कबीले के अधिकार में आयी हरी भूमि को अपने अधिकार में करने के लिए युद्ध करता था, भूमि तथा पशुओं पर अधिकार कर लेने के बाद वह पराजित कुल की स्त्रियों तथा पुरुषों पर भी अधिकार कर लेता था। कुछ देशों में यह परिपाटी प्रचलित थी कि पराजित कुल के व्यक्तियों को उत्सव के रूप में बलि चढ़ाकर कबीले के लोग खा जाते थे। परन्तु भारतवर्ष में इसके प्रमाण नहीं मिलते।

पराजित कबीले के पुरुष और स्त्रियाँ विजेता कुल के पशुओं का पालन करते थे एवं उनकी स्त्रियाँ तथा पुरुष दास बना लिये जाते थे। ये दास और दासियाँ विजेता कुल के लिए काम करते थे। इससे विजेता कुल के व्यक्तियों का जीवन अधिक सुविधाजनक हो जाता था और इन निठल्ले लोगों ने मानव सभ्यता एवं कला की प्रथम रचना की थी। इस युग में आर्थिक प्रगति का मुख्य साधन दास थे। कबीले एक दूसरे को दास बनाने के लिए आपस में युद्ध करते थे। पहले एक कबीला हारे हुए कबीले का स्वामी होता था। परन्तु बाद में ऐसी स्थिति पैदा होती गयी कि विजेता और विजित दोनों ही कबीलों पर कुछ प्रभावशाली व्यक्तियों का प्रभुत्व हो गया। इन्हें स्वामी कहते थे। भारतवर्ष में इन स्वामियों के सैकड़ों हजारों राज्य थे। अजन्ता और एलोरा की गुफाएँ तथा मोहनजोदड़ों और हड़प्पा सभ्यता के नमूने इन्हीं दासों की कलाकृतियाँ हैं, जिन्हें उन्होंने अपने स्वामियों के कोड़े खा-खा कर रचा था। इन दासों को बाजार में बेचा जा सकता था, उन्हें पुरस्कार स्वरूप भेंट दिया जाता था, क्रोध आने पर स्वामी उनकी हत्या कर सकता था, वह उन्हें कोड़ों से मार दे सकता था एवं गर्म लोहे से दाग सकता था। समाज में ऐसा कोई कानून प्रचलित नहीं था जिसकी दुहाई लेकर दास अपने स्वामियों के खिलाफ न्याय की भीख माँग सकते थे। समाज में यह कानून प्रचलित था कि कोई दास अपने मालिक के खिलाफ विद्रोह करके भाग खड़ा होता था तो राज्य उसे ढूँढ़कर मालिक के सुपुर्द कर देता था। समाज में एक ओर तो मुट्ठी भर मालिक थे। कोई यह कल्पना तक नहीं कर सकता था कि दासों के न रहने पर कोई समाज व्यवस्था कायम भी रह सकती है। इसीलिए कि सभी कुछ और समाज का पूरा कार्यकलाप दासों की श्रम शक्ति पर निर्भर करता था।

जैसा कि ऊपर बताया है भारत में दूर-दूर तक दास स्वामियों के राज्य थे। उसमें समाज का यह आर्थिक प्रश्न छिपा नहीं रह जाना चाहिए कि दास अपने स्वामियों के लिए केवल पशुपालन का ही काम नहीं करते थे, उन्होंने खेती के विकास में भी, प्रारम्भिक कदम उठाये थे। दासों की श्रम शक्ति की कोई कीमत नहीं थी। मालिक उन्हें बेकार भी बैठने नहीं देते थे। विशेष ऋतुओं के अवसरों पर जब यह देखा जाता था कि कुछ अवसरों पर विशेष प्रकार के पौधे उगते हैं एवं ऋतु विशेष में उनके फल या बीज पककर झड़ जाते हैं तो स्वाभाविक तौर पर उनमें यह जिज्ञासा पैदा हुई होगी कि इन फलों और बीजों को खाकर क्यों न देखा जाये तथा जिन ऋतुओं में विशेष ये पौधे उगते हैं क्यों न उन्हें बो कर देखा जाये। इस प्रकार के प्रयोगों के उपरान्त कदाचित् हजारों वर्षों के पश्चात् आधुनिक खेती का बीजारोपण हुआ होगा। जिस दिन समाज में यह चेतना पैदा हुई होगी कि खेती से जीविका के साधन बटोरे जा सकते हैं, उस दिन समाज का पूरा आर्थिक दृष्टिकोण ही बदल गया होगा।

दास स्वामियों के राज्य, जो अजेय प्रतीत होते थे, इसके पैर कृषि आर्थिक पक्ष के समाज में प्रवेश करते ही हिलने लगे। वैदिक साम्यवादी काल की एक ही मीठी यादगार बाकी थी कि मनुष्यों में सामाजिक समानता थी। दास प्रथा के युग में यद्यपि आर्थिक सुविधाएँ अपेक्षाकृत अधिक थीं, परन्तु दासों और उनके स्वामियों के बीच बैठे हुए समाज में निरन्तर

क्लेश एवं यातना का बोलबाला था। इसके उपरान्त जब खेती का प्रारम्भिक विकास हुआ तो एक ओर तो समाज में अनिश्चितता की आशंकाएँ दूर हुईं और दूसरी ओर इस आशा ने समाज को भरपूर कर दिया कि अब जीवन प्रकृति पर निर्भर नहीं रहेगा। बल्कि अधिक ठोस एवं भरोसे का आर्थिक साधन मिल जाने से जीवन का सर्वांगीण विकास किया जा सकता है।

खेती के विकास के साथ ही समाज के सामने सैकड़ों प्रकार की नयी समस्याएँ सामने आकर खड़ी हो गयीं। भूमि के प्रति समाज का दृष्टिकोण ही बदल गया। अब उसका महत्त्व केवल पशुओं की दृष्टि से बाकी नहीं रह गया था। इसके अलावा, पशुपालन का पुराना दृष्टिकोण भी अब अनुपयोगी हो चुका था। जो पशुपालन केवल दूध और मांस के लिए लाभदायक समझा जाता था, अब खेती में पालतू जानवरों की उपयोगिता का बोध लाने के बाद पशुपालन का अतिशय महत्त्व बढ़ चुका था और उसका दृष्टिकोण ही भिन्न हो गया था। जब प्रत्येक कुल (कबीला) पशुओं, चारागाह तथा दासों के लिए संघर्ष न करके खेती के उपयोग आने वाली भूमि के लिए संघर्षशील था। पूरा समाज और प्रत्येक व्यक्ति खेती का विकास करने की ओर लालायित था।

परन्तु खेती के विकास में पुराना आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक ढाँचा मुख्य बाधा था। दासों के स्वामी, जिनके अत्यत्त संकुचित स्वार्थ थे और जिनका सामाजिक दृष्टिकोण अत्यन्त सीमित था, खेती के विकास का कष्टदायक एवं महान् अभियान नहीं चला सकते थे। इसी प्रकार दूसरी ओर विशाल सामाजिक शक्ति जिसे दास कहा जाता था और जिसे पैदावार बढ़ाने में कोई व्यक्तिगत रुचि नहीं होती थी, इस कष्टदायक काम में प्रवृत्त क्यों होती? यही कारण है कि पूरा समाज पुरानी व्यवस्था के विरुद्ध विद्रोह पर उतर आया। समाज के सामने केवल दो विकल्प रह गये थे। या तो वह दास प्रथा के चौखटे में, जिसमें कौटुम्बिक व्यवस्था के प्रबल अवशेष विद्यमान थे, बना रहे और नवीन सामन्ती अर्थव्यवस्था के विकास को रोक दे अथवा उस चौखटे को तोड़कर सामन्ती अर्थव्यवस्था के अनुरूप एक नयी आर्थिक व्यवस्था का पुनर्गठन करे। इसमें सन्देह नहीं है कि जिन वर्गों का पुरानी अर्थव्यवस्था में स्वार्थ बँधा हुआ था, उन्होंने सामन्तवादी क्रान्ति के विरोध में अपना सर्वस्व दाँव पर लगाकर प्रतिक्रान्ति संगठित की। परन्तु सनातन काल से यह परिपाटी चली आयी है कि नयी और पुरानी अर्थव्यवस्थाओं के संघर्ष में सदा ही नयी शक्तियाँ विजयी होती रही हैं। ऐसा केवल इसीलिए होता है कि पुरानी व्यवस्था के पास समाज को देने के लिए कुछ शेष नहीं रह जाता है जबकि नयी व्यवस्था नयी सामाजिक आकांक्षाओं का आश्वासन लेकर आती है।

इस पुस्तक में सामन्ती अर्थव्यवस्था के विषय अभियान की रूपरेखा का चित्रण किया गया है।

सामन्तवाद ने सबसे पहले मूल आर्थिक विकास के प्रयास किये। दास प्रथा के युग में अछूती भूमि का कृषि के अन्तर्गत लाना उसका मुख्य कार्य था। यह स्पष्ट है कि जंगलों को काटना और उस भूमि को खेती के अन्तर्गत लाना मुनष्यों के व्यक्तिगत प्रयासों से

सम्भव नहीं था। इसीलिए राज्य की ओर से जंगल काटे गये। विशाल राजकीय कृषि फार्म संगठित किये गये, सहकारी कृषि फार्मों का जाल फैलाया गया। इन राजकीय फार्मों में दासों, कर्मकरों, (दैनिक मजदूरों) राजबन्दियों तथा दस्तकारों से काम लिया जाता था। स्पष्ट है कि दास सामन्ती अर्थव्यवस्था के अनुरूप नहीं थे। जब तक कृषि कार्य में संलग्न व्यक्तियों में व्यक्तिगत रुचि पैदा नहीं की जाती तब तक कठिन कृषि का अग्रसर होना संभव नहीं समझा गया। इसीलिए दास प्रथा पर रोक लगायी गयी। दासों में कृषि के प्रति रुचि उत्पन्न करने के लिए उन्हें बटाईदार और पट्टेदार बनाया गया। कृषि भूमि राजकीय कृषि फार्मों से बाहर निकाल कर व्यक्तिगत किसानों को लगान एवं पट्टे पर दी गयी। घुमन्त समाज व्यवस्था पर रोक लगाकर जनसंख्या को बस्तियों में (ग्रामों तथा नगरों में) आबाद किया गया। इसके लिए नये उपनिवेश बसाये गये। राजव्यवस्था के सुचारु संचालन के लिए किसानों आदि पर भूमिकर व्यवस्था आदि की गयी। खेती में सिंचाई की व्यवस्था कर दी गयी और इसके लिये जलाशयों तथा चल प्रतीलियों का प्रबन्ध किया गया। इस अर्थव्यवस्था की रक्षा के लिए सीमान्तों पर चौकियाँ कायम की गयीं। अरण्यपाल राजकीय वनों का संरक्षण एवं देखभाल रखते थे। जो लोग अपने खेतों में पूरी पैदावार नहीं करते थे, राज्य उनसे भूमि लेकर दूसरों को दे देता था।

इस प्रकार पूरा समाज कृषि अर्थतंत्र के विकास में दत्तचित्त था। ऐसा प्रतीत होता था कि जैसे भारत देश की एक-एक इंच भूमि कृषि के अन्तर्गत लाये बिना यह समाज चैन से नहीं बैठेगा। पुरानी अर्थव्यवस्था में केवल दास ही कर्त्ता-धर्त्ता थे और पूरा समाज अपना पेट भरने के लिए शिकारी बनकर कभी बन्दरों की भाँति पेड़ों के फल तोड़ने के लिए उछल-कूद किया करता था, कभी सैकड़ों व्यक्ति किसी हिरण को मारने के लिए हाथ में डण्डे लिये उसे घेरते फिरा करते थे, कभी सेह की भाँति अपना पेट भरने के लिए पौधों और लताओं की जड़ें खोदते फिरते थे और कभी जलाशयों में मछलियाँ पकड़ने के लिए उछल-कूद किया करते थे और उनका पूरा जीवन जंगली जानवरों जैसा बना हुआ था। किन्तु अब उनके चेहरों पर आशा एवं स्थिरता की नयी किरण चमक उठी थी।

कृषि अर्थतंत्र का विकास क्या हुआ, पूरा समाज नयी आर्थिक हलचलों से भरपूर हो गया। यह आर्थिक विकास का पुराना नियम है कि जब समाज किसी नयी आर्थिक प्रणाली को स्वीकार करता है तो उस मूलाधार के चारों ओर केन्द्रित होकर हजारों प्रकार की आर्थिक उपशाखाएँ जन्म लेती एवं विकसित होती हैं। ये आर्थिक उपशाखाएँ आमतौर पर मुख्य आर्थिक शाखा की पूरक एवं सहायक के रूप में समाज में काम करती हैं। कृषि अर्थ-तंत्र के विकास ने, जो कि समाज की मुख्य आर्थिक प्रणाली थी, धातु उद्योग को प्रोत्साहन दिया। नयी स्थापत्य कला ने समाज में प्रवेश किया। नये काष्ठ उद्योग ने समाज को चमत्कृत किया तथा वस्त्र उद्योग अपने नये-नये रूपों में अवतरित हुआ। इस प्रकार सैकड़ों प्रकार के शिल्पकार दस्तकार एवं दूसरे उद्योग धन्धों में लगे हुए वर्ग एवं व्यक्ति समाज में चहल-पहल करने लगे। प्रतीत यह होता था कि लोगों के पास काम करने वालों की कमी है, न कि काम की। पूरे समाज का आर्थिक ढाँचा एकदम बदल गया।

कृषि अर्थतंत्र के विकास के परिणामस्वरूप जब लोगों के पास अतिरिक्त (सरप्लस) उत्पादन होने लगा तो प्रारम्भिक विनिमय प्रथा ने वाणिज्य एवं व्यापार प्रथा का आविष्कार किया। हजारों व्यक्ति माल से लदे हुए पोत एवं भारी नौकाएँ लेकर नदियों, महानदियों एवं स्थल मार्गों तथा जल मार्गों में विचरण कर रहे थे और इस प्रकार सामन्ती कृषि अर्थव्यवस्था ने व्यापार द्वारा भारत का सम्बन्ध देश-देशान्तरों के साथ जोड़ा। इस व्यापारिक सम्बन्ध ने दूसरे देशों के साथ केवल आर्थिक सम्बन्ध ही नहीं कायम किये प्रत्युत सांस्कृतिक योगदान भी दिया और रिश्ते कायम किये। इस प्रकार भारतीय संस्कृति का दूसरे देशों की संस्कृतियों के साथ घनिष्ठ सम्पर्क कायम हुआ और इस सम्पर्क ने उसे और भी समृद्ध किया।

यह सर्वमान्य सिद्धान्त है कि जब किसी देश की अर्थव्यवस्था बदल जाती है तो उस मूल प्रवृत्ति के आधार पर समाज का राजनीतिक, सांस्कृतिक, सामाजिक और दार्शनिक रूप भी बड़ी तेजी के साथ बदलता है। इसी के परिणामस्वरूप सामन्त अर्थव्यवस्था ने भारत में प्रचण्ड राजतंत्र को जन्म एवं प्रोत्साहन दिया। जिन राजतंत्रों का पहले ज्ञान तक नहीं था उनका वैभव कृषि अर्थतन्त्र के विकास के साथ-साथ भारतीय क्षितिज पर चकाचौंध पैदा करने लगा। एक महाराजाधिराज की छत्रछाया में सैकड़ों राजा एवं सामन्त काम करते थे। इन राजाओं के राज्यों के विस्तार को लेकर परस्पर युद्ध होते रहे जिसमें राजा उनके मित्र एवं सहयोगी होते थे। कुछ से उसकी मुख्य शत्रुता होती थी। कुछ के मित्र होते थे। कुछ उसके मित्र होते थे। कुछ राजा इन संघर्षों में तटस्थ बने रहते थे और इस प्रकार एक बहुत जटिल वैदेशिक नीति का अनुसरण करते हुए यदि कोई राजा भूल कर बैठता था तो उसका सर्वनाश निश्चित होता था और न यह सम्भव ही था कि कोई राजा अकेला ही इन जटिल विदेश नीति की समस्याओं का समाधान स्वयं ढूँढ़ सके। इसके लिए योग्य अमात्यों एवं अमात्य परिषद् की नियुक्ति अनिवार्य होती थी।

जिस समाज व्यवस्था में राज्यों के विस्तार तथा आत्मरक्षा की समस्या नंगी तलवार की भाँति हर घड़ी सिर पर टँगी रहती थी वहाँ बल-प्रयोग के बिना राजतंत्र का अस्तित्व असंभव था। इसीलिए, राजतंत्र के साथ-साथ सैनिक संगठनों को अतिशय महत्त्व दिया जाता था। यही कारण है कि राजतंत्र का अस्तित्व सैनिक बल पर आश्रित समझा जाता था। जिसकी जितनी प्रबल सेना होती थी वह उतना ही प्रभावशाली राजा समझा जाता था। इस आवश्यकता ने हथियारों, सैन्य संगठन और युद्ध कला को जन्म दिया।

पुराने दासों वाले समाज में जो सामाजिक संगठन थे वे इस जटिल सामन्ती समाज के लिए सर्वथा अनुपयुक्त समझे जाने लगे। किसी समाज में यदि व्यक्तियों के कर्त्तव्य बढ़ जाते हैं तो उसी मात्रा में अधिकार भी बढ़ते हैं। दास प्रथा वाले समाज में बहुसंख्यक मानव समुदाय के कोई अधिकार नहीं थे। परन्तु उसी मात्रा में उनके कर्त्तव्य भी बहुत सीमित थे। सामन्ती अर्थव्यवस्था ने और उसके संचालक राजतंत्र ने जब मानव समुदाय के लिए अनेकानेक एवं जटिल कर्त्तव्य निश्चित किये तो उसी मात्रा में उनके अधिकार भी निर्धारित किये गये। अधिकारों के बिना जटिल कर्त्तव्यों का पालन करना असंभव होता है। यही

कारण है कि समाज के विभिन्न वर्गों के कर्त्तव्य एवं अधिकार निश्चित किये गये। सर्वप्रथम प्रत्येक वर्ग का चाहे वह निम्नतम जातीय क्यों न हो, आर्थिक जीविका का साधन सुनिश्चित किया गया। किसी भी बड़े से बड़े अधिकारी पुरुष को दूसरे के जीविका साधनों में हस्तक्षेप करने पर कानून द्वारा पाबन्दियाँ लगायी गयीं। दास प्रथा जो कि विकसित समाज की अर्थव्यवस्था में अर्थहीन बोझ बन गयी थी, अनुपयोगी समझ कर तोड़ दी गयी और उत्पादक-श्रम पर समाज ने अधिक बल देना शुरू किया।

भारत देश में लिच्छवी, कुरु, और पांचाल आदि नाम से बहुत से संघीय राज्य काम कर रहे थे। इन संघीय राज्यों के मुख्य अधिकारी यद्यपि राजा नहीं होते थे और उनका जनता द्वारा निर्वाचन होता था परन्तु फिर भी वे राजा के नाम से पुकारे जाते थे। ये संघ राज्य पुराने वैदिक साम्यवादी युग के प्रबल अवशेष और उदीयमान सामन्ती अर्थव्यवस्था के विकास के लिए बाधा स्वरूप थे। यही कारण है कि कौटल्य कालीन भारत में सुनियोजित ढंग से इन संघ राज्यों का उच्छेदन किया गया।

राजतंत्र यद्यपि विजयी हो चुका था परन्तु फिर भी उसके दमनकारी रूप के सामने बहुसंख्यक जनता ने आत्मसमर्पण नहीं किया था। यही कारण है कि राजतंत्रों को सदा ही दमन का हथियार उठाकर तैयार रहना पड़ता था। इसका मूल कारण यही था कि हजारों वर्षों तक वैदिक साम्यवादी युग में पूर्ण स्वाधीनता और समानता के आनन्द का उपभोग करके मानव समुदाय इन राजतंत्रों को अपने लिये अभिशाप समझता था।

मानव समाज की संस्कृति भी आर्थिक एवं सामाजिक ढाँचे में परिवर्तन के साथ परिवर्तित हो जाती है। परन्तु यह नहीं माना जा सकता कि जितनी तेजी के साथ समाज का आर्थिक ढाँचा बदलता है और उसके साथ ही राजनीतिक रूप बदल जाता है, उतनी ही तेजी और मात्रा में सांस्कृतिक कायापलट भी हो जाता है। संस्कृतियाँ आमतौर पर लम्बे युगों में जाकर और धीरे-धीरे बदलती हैं। सामन्ती अर्थव्यवस्था के विषय-अभियान के साथ ही लोगों की सांस्कृतिक चेतना भी बदली। उनका जीवन-दर्शन बदला, रूढ़ियाँ और मान्यताएँ बदलीं। पाप तथा पुण्य की धारणाएँ बदलीं और इस सामन्ती संस्कृति के परिवर्तन के साथ समाज का रूप पूरी तरह बदल गया। इस पुस्तक में सामन्तवाद के इसी विषय अभियान की सैद्धान्तिक कहानी दी गयी है।

परन्तु यह सोचना सही न होगा कि समाज में सब कुछ शान्तिपूर्वक एवं ठीक-ठीक चल रहा था। ऊपर से निर्द्वन्द्व एवं निश्छल दिखने वाले सामन्ती समाज के अन्दर धीरे-धीरे और कभी बड़ी तेजी के साथ विद्रोह की ज्वाला भड़कती रहती थी।

यद्यपि भारत की विशेष परिस्थितियों में शिल्पकारों तथा वाणिज्य व्यवसाय करने वालों ने सदा ही राजतंत्र को सहयोग दिया है, इतिहास में कभी खुला विद्रोह नहीं किया और यह भी सही है कि इस शिल्प एवं वाणिज्य का रूप विशुद्ध सामन्तवादी था, परन्तु फिर भी यह एक नयी व्यवस्था, जिसे हम पूँजीवादी व्यवस्था कहते हैं, का सूत्रपात हुआ। आगे चलकर दूसरे देशों में इसी शक्तिशाली सामन्तवाद की जड़ें इन दोनों तत्त्वों के नेतृत्व में जनता ने खोद डाली। जिस व्यवस्था ने दूसरे देशों में सामन्तवाद एवं राजतंत्र के प्रति विद्रोह का

सिंहनाद किया वे परिस्थितियों के विशेष कारणों से भारत में सुव्यवस्थित ढंग से विकसित नहीं हो सकीं।

इन परिस्थितियों का विकास भारत में सामन्तवाद के निर्बल हो चुकने के बाद पूरे एक हजार वर्ष तक विदेशियों के आक्रमण होते रहने में और पिछले दो सौ वर्षों से साम्राज्यवादी प्रभुत्व की स्थापना में दबकर रह गया है। भारत की राष्ट्रीय शक्तियाँ जो पूँजीवादी, जनवादी क्रान्ति के विजयाभियान के लिए या भारतीय सामन्तवाद के दुर्ग पर आघात करती वे विदेशी आक्रमणकारियों के खिलाफ जूझती रहीं और ज्यों ही विदेशी आक्रमणकारियों की ओर से जनवादी ताकतों की दृष्टि हटी इस सामन्ती अर्थव्यवस्था के बचे-खुचे अवशेषों को निर्मूल करने में उसकी दृष्टि लगी।

इस पुस्तक में एक बहुत प्रामाणिक ऋषि, कौटल्य की कृति को आधार बनाकर सामाजिक विकास का जो चित्र प्रस्तुत किया गया है उसमें केवल एक पड़ाव पर मानव समाज की जो स्थिति थी उसका दिग्दर्शन किया गया है। परन्तु यह नहीं भूलना चाहिए कि मानव समाज के अभियान का वह एक पड़ाव मात्र था। यह पड़ाव न तो आदिम था और न अन्तिम। उसके पहले के दो पड़ावों पर जिस प्रकार मानव समाज स्थिर होकर नहीं टिका उसी प्रकार सामन्ती व्यवस्था के पड़ाव पर भी न तो वह टिक सकता था और न टिका। यही सिद्धान्त पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के चौथे पड़ाव पर भी लागू होता है।

मानव समाज का कारवाँ मंजिल दर-मंजिल बढ़ता चला जा रहा है और अब समाज के अन्तिम पड़ाव की मंजिल बहुत सन्निकट है और वह मंजिल है विश्वबन्धुत्व, समाजवाद और स्थायी शान्ति की।



अध्याय-ग्यारह

चाणक्य नीति:चाणक्य के ही शब्दों में

इस पुस्तक में यह अध्याय विशेष महत्त्व का है। लेखक ने अपनी ओर से न तो कुछ भी जोड़ा है और न घटाया है। चाणक्य के ही शब्दों में चाणक्य नीति प्रस्तुत की गयी है। केवल हिन्दी अनुवाद किया है, उनके लिए जो चाणक्य की भाषा नहीं समझते।

पाठक पूरी पुस्तक पढ़ चुके हैं उनकी राय भी कुछ न कुछ बन ही गयी होगी। वे जान गये हैं कि कौटल्य कौन था, किन परिस्थितियों में भारत के राजनीतिक क्षितिज पर चमका था और उसने संयुक्त भारत के पुनर्गठन के लिए क्या किया था और वह भारत को कैसा रूप देना चाहता था। यह भी स्पष्ट हो गया है कि नन्द साम्राज्य के उच्छेद और मौर्य साम्राज्य की स्थापना के पीछे उनकी कोई निजी महत्त्वाकांक्षा नहीं थी। दो बार उन्हें स्वयं को सम्राट् घोषित करने का अवसर मिला था। एक बार जब उन्होंने अलक्षेन्द्र महान् के लौट जाने के पश्चात् उत्तरी भारत के ३७ गणतंत्री राज्यों तथा राजतन्त्रों का स्वेच्छापूर्वक उत्तरीय भारत संघ स्थापित किया था, बहुसंख्यक गणतंत्री प्रमुख उन्हें ही अपना सम्राट घोषित कर रहे थे। इसलिए कि वे ही अकेले इस योजना के मूल प्रेरक एवं संस्थापक थे। परन्तु उन्होंने सम्राट् बनना स्वीकार नहीं किया। विपरीत इसके पर्व या पोरस को ही सम्राट् बनाया जिसने सभी राजतंत्री व्यवस्था के राज्यों में अकेले ही अलक्षेन्द्र से लोहा लिया और सुनिश्चित हार पायी थी। कौटल्य ने इस वीरता के पुरस्कार स्वरूप ही उसे उत्तरी भारत का सम्राट पद देकर उपकृत किया था।

दूसरा अवसर तब आया था जब पाटलिपुत्र और तक्षशिला के एकीकरण के फलस्वरूप अखंड भारत के रूप में एक विशाल भारत की स्थापना की गयी थी। पाठक यह भी जानते हैं कि इसकी स्थापना अकेले विष्णुगुप्त कौटल्य के प्रयासों से ही सम्भव हुई थी। लोग यह आशा करते थे कि कौटल्य स्वयं को सम्राट घोषित करेंगे। परन्तु जनाकांक्षाओं के विपरीत उन्होंने चन्द्रगुप्त मौर्य को सम्राट घोषित किया जो नाटक के इस रंगमंच पर किसी भी भूमिका में विद्यमान न होकर एक पराजित सेनापति के रूप में विन्ध्याचल की पहाड़ियों और बीहड़ों में निर्वासित जीवन बिता रहा था।

वास्तव में कौटल्य का राजनीतिक उद्देश्य तो उसी समय पूरा हो गया था जब उन्होंने उत्तरी भारत में एक संयुक्त राष्ट्रीय सरकार की स्थापना के उपरान्त पूरे देश में अखण्ड भारत की शक्तिशाली सरकार की स्थापना कर दी थी। परन्तु वह राजनेता कम थे और ऋषि अधिक थे। उनकी माता, द्रमीला की भी उन्हें एक आदर्श महर्षि बनाने की इच्छा थी। परन्तु मौर्य के अनुरोध पर परिस्थितियों से विवश होकर उन्होंने चन्द्रगुप्त मौर्य को प्रधान मंत्री बनना स्वीकार कर लिया था। मरते समय चन्द्रगुप्त मौर्य ने ही उनसे यह निवेदन किया

था कि वह उनके पुत्र सम्राट बिन्दुसार का भी उसी प्रकार मार्ग-दर्शन करें जिस प्रकार उनका किया था। अपने एक सौ दस वर्ष के लम्बे जीवनकाल में विष्णु गुप्त कौटल्य ने पच्चीस वर्ष अध्ययन एवं अध्यापन में व्यतीत किये, पाँच वर्षों तक भारत के एकीकरण में जुटे रहे और सफल रहे तथा लगभग छप्पन वर्षों तक वे अखण्ड भारत के प्रथम प्रधान मंत्री बने रहे। इस प्रकार लगभग अस्सी वर्ष की आयु तक कर्मठ राजनेता के रूप में लम्बा संघर्ष बिताने के उपरान्त वह तपोवन में एक महर्षि के रूप में जीवन व्यतीत करते हुए दिखाई देते हैं। इस प्रकार उन्होंने अपने जीवन के अन्तिम गौरवपूर्ण तीस साल अपनी माता की इच्छानुसार एक ऋषि के रूप में ही व्यतीत किये।

इन एक सौ दस वर्षों में वह इतने व्यस्त रहे कि अपने सम्बन्ध में और विवाहित जीवन व्यतीत करने के बारे में उन्हें सोचने की फुर्सत ही नहीं थी।

चाणक्य नीति इसी काल की रचना है। इसमें कुल मिलाकर पाँच सौ एकहत्तर सूत्र हैं। ये सब सूत्र सामाजिक एवं व्यक्तिगत जीवन की सफलताओं के साथ बाँधने वाले सूत्र हैं। ये सूत्र उनके गहनतम चिन्तन और अनुभवों के परिणाम हैं। जो भी इन्हें हृदयंगम कर लेगा, वह जीवन में कभी विफल नहीं होगा। वास्तव में जीवन की विभिन्न परिस्थितियों में सामने आने वाली जटिलताओं का समाधान करने के लिए ये सूत्र बहुत अच्छे उपचार (नुख्सें) हैं। यहाँ बिना किसी टिप्पणी उन्हें ज्यों का त्यों दिया जा रहा है। इनका अध्ययन करके ही कौटल्य के सम्पूर्ण व्यक्तित्व का बोध होता है। इस व्यक्तित्व का ही यह चमत्कार था कि इस स्वप्नद्रष्टा महर्षि ने अपनी पूज्य माता की इच्छा के अनुसार पाँच हजार टुकड़ों में बिखरे भारत को स्वेच्छा से एक सूत्र में पिरो दिया और बाद में जीवन के तीस महत्त्वपूर्ण वर्ष ऋषि बनकर तपोवन में व्यतीत किये।

परन्तु भारत का एकीकरण और उसकी अपार शक्तिमत्ता में ही कौटल्य की रुचि नहीं थी। वह भारतीयों के नैतिक मनोबल, बुद्धिमत्ता, दूरदर्शिता और उच्च अनुशासन तथा सुशीलता में भी उतनी ही रुचि रखते थे। उनका विश्वास था कि इन गुणों के अभाव में कोई राष्ट्र समृद्ध एवं अनुकरणीय नहीं होगा। उन्होंने भारत के लिए महान् अर्थशास्त्र की रचना की थी तो भारतीयों के लिए चाक्य नीति का वरदान दिया है। वह नीचे लिखा है।

चाणक्य नीति

धर्म सुख का मूल है (१)। धर्म का मूल अर्थ (२)। अर्थ का मूल राज्य है (३)। राज्य का इन्द्रियों पर विजय पाना है (४)। विनय से इन्द्रियों पर विजय मिलती है (५)। वृद्धों के पास बैठने से विनय प्राप्त होता है (६)। वृद्धों की उपासना का मूल विज्ञान है (७)। विज्ञान से स्वयं को सम्पन्न करना आवश्यक है (८)। विज्ञान से सम्पन्न व्यक्ति ही जीवात्मा होता है अर्थात् अपने आपको अपने वश में कर सकते हैं (९)। जीवात्मा को सभी प्रकार के अर्थ प्राप्त होते हैं (१०)। अर्थ सम्पदा से प्रकृति सम्पदा मिलती है (११)। प्रकृति सम्पदा से राजा (नेता) के अभाव में भी राज्य का संचालन होता है (१२)। प्रकृतियों का विद्रोह सभी विद्रोह में गंभीर होता है (१३)। अवनीत राजा की सेवा करने से सेवा न करना अधिक

कल्याणकारी है (१४)। स्वयं को भली-भाँति आत्मनिर्भर बनाकर सहायकों का संग्रह किया जाय (१५)। जिसके पास सहयोगी ही नहीं है, वह मंत्र का निश्चय कैसे कर सकता है (१६)। अकेला पहिया तो रथ नहीं चला सकता, उसके लिए दो पहिये आवश्यक हैं (१७)। सहयोगी या सहायक वही अच्छा है जिसके सुख-दुख अपने से मेल खाते हैं (१८)।

स्वाभिमानी राजा अपने ही समान स्वाभिमानी व्यक्ति के साथ मंत्रणा करे (१६)। किसी अविनीत चाटुकार व्यक्ति से यह सोचकर मंत्रणा कदापि न करे कि वह स्नेही व्यक्ति है (२०)। मंत्री वही ठीक है जिसने शास्त्रों का अध्ययन कर रखा हो और जिसका व्यक्तिगत आचरण गुप्त तरीकों से भी देखा जाँचा जा चुका हो (२१)। सभी कार्यकलाप मंत्रणा के बाद प्रारम्भ होते हैं (२२)। यदि मंत्रणा गुप्त रहती है तो कार्य सिद्ध होते हैं (२३)। जो मंत्रणा का भण्डाफोड़ कर देता है, वह कार्य का सत्यानाश करता है (२४)। असावधानी से शत्रु की पकड़ में फँस सकता है (२५)। प्रत्येक कोने से और हर तरह से मंत्रणा की रक्षा होनी ही चाहिए (२६)। मंत्र (मंत्रणा) की रक्षा से राज्य का विस्तार होता है (२७)। सर्वाधिक महत्त्व मंत्र रक्षकों को ही दिया जाता है (२८)। जिसे कोई कार्य दिखता ही नहीं है, उस अन्धे के लिए मंत्रणा दीपक के समान है (२६)। मंत्रणा ऐसा नेत्र है जिससे दूसरों के छेद बड़ी सरलता से दिखते हैं (३०)।

मन्त्रणा करते समय ईर्ष्या कभी नहीं करनी चाहिए (३१)। यदि तीन मंत्रियों की सहमति किसी प्रश्न पर मिल जाती है तो विश्वास करना चाहिए (३२)। सच्चे मंत्री वे ही हैं जो कार्य और अकार्य का तत्वार्थ जान सकें और अपनी निश्चित राय बनाकर राजा की सहायता करें (३३)। छः कानों में पड़ते ही मंत्र फूट जाता है (३४)। मित्र वही है जो आपत्तियों के समय स्नेह से आर्द्र रहे (३५)। जिसके पास बड़ी संख्या में मित्र हों उसका उसी मात्रा में बल बढ़ता है (३६)।

बलवान राजा अप्राप्त लाभ की प्राप्ति के लिए प्रयास करता है (३७)। आलसी व्यक्ति को अप्राप्त लाभ कभी नहीं मिलता (३८)। आलसी व्यक्ति तो प्राप्त लाभ की रक्षा तक नहीं कर पाता (३६)। आलसी व्यक्ति यदि किसी प्रकार प्राप्त लाभ की रक्षा भी कर लेता है तो वह उसे बढ़ा तो सकता ही नहीं है (४०)। वह अपने अधिकारियों तक को कार्यों पर प्रेषित नहीं कर सकता (४१)।

उपलब्ध लाभ आदि चार मिलकर राजतंत्र बनते हैं (४२)। नीतिशास्त्र राजतंत्र के अधीन है अर्थात् राज्य के लिए ही नीतिशास्त्र है (४३)। तन्त्र और आवाप राजसत्ता के ही अधीन है (४४)। तन्त्र लक्ष्य अपने राज्य में शान्ति एवं व्यवस्था की रक्षा करता है (४५)। दूसरे राज्यों से सम्बन्धित राजनीति आवाप कहलाती है (४६)। सन्धि और विग्रह की विवेचना मण्डल होती है। राजा कहलाने का अधिकारी वही व्यक्ति है जो नीतिशास्त्र का अनुगमन करता हो (४८)। अपने राज्य की सीमा से लगे देश का राजा स्वाभाविक शत्रु होता है (४६)। परन्तु उस देश की सीमा से दूसरी ओर राज्य करने वाला राजा मित्र होता है (५०)। फिर भी, कोई अकारण मित्र एवं शत्रु नहीं होता (५१)। शक्ति क्षीण हो तो सन्धि

करनी चाहिए (५२)। वह तेज ही है जो दो को आपस में जोड़ता है (५३)। ठण्डा लोहा कभी ठण्डे लोहे के साथ नहीं जुड़ता (५४)।

बलवान् राजा को बलहीन के साथ विग्रह (युद्ध) करना चाहिए (५५)। अपने से अधिक बलवान् अथवा अपने समकक्ष राजा के साथ कभी युद्ध न करे (५६)। बलवान शत्रु के साथ युद्ध करना पैदल और गजारोही व्यक्तियों के बीच युद्ध करने के समान है (५७)। जैसे कच्चा घड़ा पक्के घड़े से टकराकर फूट जाता है, वैसे ही वह नष्ट हो जाता है (५८)। शत्रु के संभावित प्रयत्नों की कल्पना पहले ही कर लेनी चाहिए (५९)। अथवा अनेक शत्रु उठ खड़े हों तो सभी से एक साथ सन्धि कर लेनी चाहिए, अनेक मोर्चों पर युद्ध ठानना बुद्धिमत्ता नहीं है (६०)।

यदि शत्रु से प्रबल विरोध की आशंका हो तो दुःसाहस करने के स्थान पर आत्म रक्षा का प्रयास करना चाहिए (६१)। शक्ति अत्यधिक क्षीणं हो तो किसी शक्तिशाली राजा की शरण लेनी चाहिए (६२)। निर्बलों का सहारा कभी न लें। इससे केवल दुख मिलता है (६३)। जैसे अग्नि के पास बैठकर व्यक्ति सँभल कर अग्नि का सेवन करते हैं, प्रमाद नहीं करते, उसी तरह, बलवान राजा के संरक्षण में रहना चाहिए (६४)। राजा के प्रतिकूल आचरण कभी न करे (६५)। कभी उद्धत वेश धारण न करे (६६)। देवी-देवताओं का मजाक न बनाये (६७)। यदि बलवान् राजा आपस में ईर्ष्या रखते हों तो उनमें द्वैधीभाव उत्पन्न करना चाहिए। (६८)।

व्यसनी व्यक्ति के कार्य कभी सिद्ध नहीं होते (६९)। जिसका अपनी इन्द्रियों पर वश नहीं है, वह चतुरंग सेना (पैदल हाथी घुड़सवार और रथ सेना) के रहते हुए भी नष्ट हो जाता है (७०)। जुवारी को कभी सफलता नहीं मिलती (७१)। शिकारी राजाओं के धर्म और अर्थ दोनों नष्ट हो जाते हैं (७२)। अर्थ कामना करना व्यसन नहीं है (७३)। कामासक्त व्यक्ति किसी कार्य को अन्तिम लक्ष्य तक नहीं पहुँचा सकता (७४)। किसी विशिष्ट व्यक्ति के प्रति कठोर वचन कहना उसे अग्नि में जला देने के समान है (७५)। कठोर दण्ड देने से राजा के प्रति विद्वेष (विद्रोह) फैल जाता है (७६)। अर्थ की प्राप्ति से जो सन्तुष्ट रहने लगता है, उस राजा का लक्ष्मी परित्याग कर देती हैं (७७)।

शत्रु की अधीनता दण्डनीति पर ही आधारित है (७८)। दण्डनीति से ही वह प्रजाओं की रक्षा करता है (७९)। दण्ड से ही सम्पदाओं का विस्तार होता है (८०)। दण्ड अभाव में मंत्रीगण भी अपने दायित्वों का पालन नहीं करते (८१)। दण्ड के कारण वे लोग अकरणीय कार्य नहीं करते (८२)। दण्डनीति से ही अपनी रक्षा भी संभव है (८३)। अपनी रक्षा होने पर सभी कुछ बचा रहता है (८४)। वृद्धि और विनाश किसी और पर नहीं अपने आप पर ही निर्भर करते हैं (८५)। पूरी तरह विचार-विनिमय कर लेने अर्थात् विज्ञान (विशेष ज्ञान) बाद ही दण्ड का प्रयोग करना चाहिए। (८६)।

राजा चाहे जितना दुर्बल हो, तिरस्कार नहीं करना चाहिए (८७)। आग दुर्बल नहीं होती (८८)। लोकाचार और मर्यादाएँ दण्ड के आधार पर होती हैं (८९)। अर्थ की प्राप्ति

व्यवसाय पर निर्भर करती है (६०)। धर्म और काम दोनों ही अर्थमूलक होते हैं (६१)। प्रत्येक कार्य की सफलता अर्थ पर आत्मनिर्भर है (६२)। अर्थ हो तो थोड़े ही प्रयास से कार्य सिद्धि हो जाते हैं (६३)। कार्य प्रारम्भ करने से पहले सभी बातों पर विचार कर लिया जाय तो कुछ भी दुष्कर नहीं होता (६४)। बिना सोचे-समझे और साधनों के अभाव में किया हुआ कार्य नष्ट हो जाता है (६५)। कार्य सिद्धि के इच्छुक लोगों के लिए सबसे पहली आवश्यकता उपाय ही है (६६)।

प्रत्येक कार्य का निष्पादन पुरुषार्थ से ही होता है। वही लक्ष्य होना चाहिए (६७)। भाग्य भी पुरुषार्थ के पीछे चलता है (६८)। दैव विपरीत हो तो कभी-कभी पुरुषार्थ भी काम नहीं आता (६९)। जो मार्ग में आयी बाधाओं का समाधान नहीं कर पाता, वह लक्ष्य तक नहीं पहुँचता (१००)। कार्य आरम्भ करने से पहले सभी सम्बद्ध प्रश्नों पर विचार करना चाहिए (१०१)। कार्य आरम्भ हो जाने पर उसे लम्बा नहीं खींचना चाहिए (१०२)। जिसका मन डाँवाडोल रहता है, उसे कार्यों में सफलता नहीं मिलती (१०३)। हाथ में आयी सफलता को छोटी समझ कर तिरस्कार कर देना सभी सफलताओं को बिगाड़ देना है (१०४)। ऐसे कार्य दुर्लभ हैं जिनमें कोई त्रुटि ही न हो (१०५)। उन कार्यों को आरम्भ न करें जिनमें आदि से अन्त तक बाधाएँ हों (१०६)।

समय की गति अर्थात् परिस्थितियों की पूरी समझ रखने वाला व्यक्ति ही कार्य सिद्ध करता है (१०७)। जो समय बीत जाने पर कार्य आरम्भ करता है, उसका फल तो समय ही पी जाता है (१०८)। कार्यारम्भ करने में अनुकूल समय का एक क्षण भी व्यर्थ न गँवाएँ (१०९)। कार्यारम्भ करने से पहले यह सोचना आवश्यक है कि देश कैसा है और विजय मिलने पर लाभ कितना होगा (११०)। परिस्थितियों की अनुकूलता के अभाव में बना हुआ काम भी नष्ट हो जाता है (१११)।

नीतिशास्त्र के विद्वान् सदा ही देश और काल के अर्थात् परिस्थितियों के सम्बन्ध में विचार करते हैं (११२)। सोच-विचार कर काम करने वाले के पास लक्ष्मी चिरकाल तक ठहरती हैं (११३)। और सभी सम्पदाएँ सर्वांगों के साथ प्राप्त होती हैं (११४)। कोई व्यक्ति चाहे जितना भाग्यशाली हो, यदि बिना सोचे-समझे कार्य करता है तो लक्ष्मी उसे छोड़ देती है (११५)। प्रत्यक्ष ओर अनुमान प्रमाणों से वस्तु स्थिति का ज्ञान करना चाहिए (११६)।

जो अधिकारी और कर्मचारी जिस कार्य में कुशल हो, उसे उसी से लगाना चाहिए (११७)। उपाय जानने वाला कुशल व्यक्ति दुःसाध्य कार्य को भी कर डालता है (११८)। अज्ञानी (अकुशल) व्यक्ति यदि किसी कार्य में सफल भी हो जाय तो उसे बहुत नहीं मान बैठना चाहिए (११९)। मनमाने ढंग से कार्य करने वाले कीड़े भी अक्षर बना देते और दीमक लकड़ी खाते समय चित्र बना डालते हैं (१२०)। जो कार्य पूरा हो जाये उसी का प्रचार करना चाहिए (१२१)। बुद्धिमान् लोगों के अधूरे कार्य भी किसी न किसी त्रुटि से नष्ट हो जाते हैं (१२२)।

दैनिक प्रकोप शान्ति-पाठ आदि कार्यों से शान्त किये जायँ (१२३)। मानवीय त्रुटियों

का निवारण कौशल से किया जाय (१२४)। काम बिगड़ जाने पर मूर्ख त्रुटियों का वर्णन करते हैं (१२५)। कार्य सिद्धि का इच्छुक व्यक्ति बहुत सीधा-सादा और सरल नहीं होना चाहिए (१२६)। बछड़ा भी जब माता का दूध पीता है तो थुथड़ी मारता है (१२७)। प्रयत्न कम कर देने पर कार्य सिद्ध नहीं होता (१२८)। जो बात-बात में भाग्य का रोना रोते हैं, उनके कार्य कभी सिद्ध नहीं होते (१२६)।

कार्य से बाहर रहने वाला व्यक्ति अपने आश्रितों की देखभाल और पालन-पोषण नहीं कर सकता (१३०)। जो अपने कार्यों की स्वयं देखभाल नहीं करता वह अन्धा है (१३१)। अपने कार्यों की परीक्षा प्रत्यक्ष और अनुमानों से करते रहना चाहिए (१३२)। सोच-समझ कर जो कार्य नहीं करता लक्ष्मी उसका परित्याग कर देती हैं (१३३)। परीक्षा करके सबसे पहले विपत्ति का निवारण करना चाहिए (१३४)। कार्य आरम्भ करने से पहले अपनी शक्ति का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए (१३५)। जो व्यक्ति स्वजनों की तृप्ति के पश्चात् बना भोजन करता है, वह अमृत पान करता है (१३६)। प्रत्येक कार्य से आय का स्रोत खुलना चाहिए (१३७)। कामचोर व्यक्ति स्वयं काम से बचता है और उसके अधीनस्थ भी काम नहीं करते (१३८)।

स्वामी के अवनशील आदि गुणों का ज्ञान प्राप्त करके कार्यार्थी को कार्य प्रारम्भ करना चाहिए (१३६)। जो गाय का स्वभाव जानता है वही उसे दुहता है (१४०)। स्वाभिमानी व्यक्ति अपने आन्तरिक भाव क्षुद्र व्यक्तियों के सम्मुख प्रकट नहीं करता (१४१)। बहुत मीठे व्यक्ति का उसके आश्रित भी तिरस्कार करते हैं (१४२)। तीखे स्वभाव और दण्ड वाला व्यक्ति सभी के लिए चुभने वाला है (१४३)। उचित दण्ड देने वाला ही सही है (१४४)।

शास्त्रों का ज्ञाता और निजी राजा भी यदि दुर्बल है तो लोग उसका तिरस्कार करते हैं (१४५)। अधिक भार से आदमी खिन्न होता है (१४६)। जो सभा में दूसरों के दोषों का वर्णन करता है, वह वास्तव में अपनी ही दोषबहुलता का भण्डा फोड़ता है (१४७)। बलहीन घ्यक्तियों का क्रोध किसी दूसरे का नहीं उनका स्वयं का नाश करता है (१४८)। सत्यनिष्ठा रखने वालों के लिए कुछ भी पाना असंभव नहीं है (१४६)। साहस से कार्य सिद्ध नहीं होता (१५०)। विपत्तियों का मारा हुआ उनके टल जाने पर भूल जाता है (१५१)।

समय बीत जाने पर कार्यों में बाधा आती है जिसका निवारण कठिन होता है (१५२)। सुनिश्चित विनाश से संदिग्ध विनाश अच्छा है (१५३)। दूसरों का धन अमानत रखने वाले केवल अपना ही स्वार्थ पूरा करते हैं (१५४)। दान धर्म है (१५५)। वेश्या-वृत्ति से संचित धन अनर्थकारी है (१५६)। काम वही ठीक है जिससे धर्म और अर्थ की हानि न होती हो (१५७)। इसके विपरीत, काम अनर्थकारी होता है (१५८)। पूरी तरह सरल और निष्कपट व्यक्ति दुर्लभ होता है (१५६)। सम्मान के साथ मिलने वाले ऐश्वर्य को भी स्वाभिमानी सज्जन पुरुष तिरस्कारपूर्वक त्याग देते हैं (१६०)। गुणों के भण्डार को भी अकेला एक ही दोष ग्रस लेता है (१६१)। शत्रु यदि सज्जन हो तो युद्ध नहीं करना चाहिए (१६२)। किसी दशा में भी मर्यादा का उल्लंघन नहीं करना चाहिए (१६३)। शेर भूखा भी

क्यों न हो तिनके नहीं खाता (१६४)। प्राण खोकर भी विश्वास की रक्षा करनी चाहिए (१६५)। चुगली करने और सुनने वाले का उसके पुत्र और पत्नी भी त्याग कर देते हैं (१६६)।

सही और लाभदायक बात बालक भी क्यों न कहे, सुननी चाहिए (१६७)। बात सच्ची भी क्यों न हो यदि अविश्वसनीय लगती हो, तो नहीं कहनी चाहिए। थोड़े दोष के कारण गुण-बहुल व्यक्ति और वस्तु का परित्याग नहीं किया जाता (१६९)। पशुओं में भी दोष मिल जाते हैं (१७०)। ऐसा कोई रत्न नहीं जो खण्डित न हो (१७१)। मर्यादा से बाहर की किसी बात पर विश्वास न करे (१७२)। शत्रु के हित में किया गया प्रिय कार्य भी शत्रुता करना ही माना जाता है (१७३)। ढेंकुली झुककर भी कुएँ का पानी खींच लेती है (१७४)।

सज्जनों की राय का उल्लंघन न करे (१७५)। गुणियों के पास बैठकर निर्गुण भी गुणवान हो जाता है (१७६)। दूध में मिला पानी दूध ही कहलाता है (१७७)। गुलाब के फूल की मिट्टी में गुलाब की सुगन्ध आती है (१७८)। सोने के साथ मिलकर चाँदी भी सोना कहलाती है (१७९)। बुद्धिहीन व्यक्ति उपकार करने वाले का भी अपकार ही करता है (१८०)। पाप कर्म करने वाले लोकनिन्दा से नहीं डरते (१८१)।

शत्रु भी उत्साह भरे लोगों के वश में आ जाते हैं (१८२)। राजाओं का वास्तविक धन विक्रम (वीरता) है (१८३)। आलसी व्यक्ति के लिए इस संसार में कुछ नहीं है (१८४)। उत्साहहीनता से भाग्य भी गिर जाता है (१८५)। जैसे मछियारा काम के योग्य तुल ढूँढ़ लेता है, उसी प्रकार, कार्यार्थी उपयुक्त अर्थ की खोज कर लेता है (१८६)। जिस पर कोई भी विश्वास नहीं करता और जो अविश्वास है, उन पर विश्वास न करें (१८७)। विष तो सभी समय विष ही रहेगा (१८८)।

आर्थिक योजनाओं में शत्रु को कभी सहयोगी न बनाएँ (१८९)। अर्थसिद्धि में शत्रु पर विश्वास न करें (१९०)। सभी सम्बन्ध अर्थ पर आधारित होते हैं (१९१)। शत्रु का पुत्र भी, यदि मित्र हो, रक्षा करनी चाहिए (१९२)। जब तक शत्रु के दोषों का पता चले तब तक उसे वहन करें (१९३)। दोषों (कमियों) का पता चलते ही प्रचार करना चाहिए (१९४)। अपनी कमियाँ प्रकाशित न होने दें (१९५)। शत्रु सदैव कमियों पर प्रहार करते हैं (१९६)। शत्रु चाहे अपनी मुट्ठी में भी क्यों न हो, विश्वास न करें (१९७)।

अपने लोगों का दुर्व्यवहार रोके। किसी के अधिकारी जब दुर्व्यवहार करते हैं तो उसका दायित्व स्वामी पर ही जाता है (१९८)। जरा सा तिरस्कार या दुर्व्यवहार भी स्वाभिमानियों को दुःखी कर देता है (१९९)। शरीर के किसी एक अंग का विकार भी मनुष्य को व्याकुल कर देता है (२००)। सदाचारी और सुशील व्यक्ति शत्रु पर भी विजय पा लेता है (२०१)। नीच लोगों का तिरस्कार अच्छा लगता है (२०२)। नीच व्यक्ति को कभी नेक सलाह नहीं देनी चाहिए (२०३)। नीच व्यक्तियों पर विश्वास नहीं करना चाहिए (२०४)। नीच पुरुष का चाहे सत्कार ही किया जाय, पर बदले में वह पीड़ा ही पहुँचाता है (२०५)। जंगल की आग चन्दन को भी जला ही देती है (२०६)। किसी व्यक्ति का कभी अपमान

न करे (२०७)। क्षमा कर देने के लिए किसी को बाध्य न करें (२०८)। स्वामी की ओर से अकेले में कही गयी बात को नीच व्यक्ति बढ़ा-चढ़ाकर और बार-बार दूसरों के सामने कहता है (२०६)। अनुराग की सूचना फल स्वयं दे देता है (२१०)। ऐश्वर्य बुद्धिमत्ता का ही फल है (२११)। जो देना है उसे भी मूर्ख व्यक्ति बड़ी कठिनाई से देता है (२१२)। महान् ऐश्वर्य पाकर भी अभिमानी व्यक्ति नष्ट हो जाता है (२१३)। धैर्यहीन एवं झटपट लाभ पाने को अधीर व्यक्ति कुछ प्राप्त नहीं कर पाता है (२१४)।

दुर्जनों के पास कभी नहीं बैठना चाहिए (२१५)। शराबी के हाथ में दूध भी शराब ही माना जाता है (२१६)। संकटों के समय उचित निर्णय करना बुद्धि ही का काम है (२१७)। कम खाना ही स्वास्थ्य का मूल है (२१८)। यदि अजीर्ण हो गया हो अर्थात् कुछ भी हजम न होता हो तो पथ्य और अपथ्य सभी कुछ वर्जित है (२१६)। पहले खाया हुआ पच जाने पर खाने वाले पुरुषों को कोई व्याधि नहीं सताती (२२०)। वृद्धावस्था में बढ़ती हुई व्याधि की कभी उपेक्षा न करें (२२१)। अजीर्ण होने पर भोजन करना दुःख ही दुःख है (२२२)। व्याधि शत्रु से भी अधिक दुःखद होती है (२२३)।

कोष की स्थिति देखकर ही दान किया जाय (२२४)। जिसकी इच्छाएँ बढ़ी हुई हों, उसे काबू में करना आसान है (२२५)। यदि अनेक कार्य सामने हों, तो उसे ही करना चाहिए जिससे अधिक लाभ हो और भविष्य में भी हित साधन होता हो (२२६)। युद्ध के अवसर पर राजा को स्वयं ही स्कन्धावार का निरीक्षण करना चाहिए (२२७)। मूर्ख लोग दुःसाहस के अभ्यस्त होते हैं (२२८)। मूर्खों से लड़ाई-झगड़ा और बहस-विवाद नहीं करना चाहिए (२२६)। मूर्खों में बैठकर उन्हीं जैसी बातें करनी चाहिए (२३०)। लोहा लोहे से ही काटा जा सकता है (२३१)। बुद्धिहीन पुरुष किसी का मित्र नहीं होता (२३२)।

धर्म से ही समाज का धारण (निर्वध्न) होता है (२३३)। धर्म और अधर्म मृत व्यक्ति का भी अनुगमन करते हैं (२३४)। दया, धर्म की जन्मभूमि है (२३५)। सत्य और दान धर्म के मूल हैं (२३६)। धर्म के द्वारा ही जनता का मन जीता जा सकता है (२३७)। धार्मिक व्यक्ति की मृत्यु भी रक्षा करती है (२३८)। जहाँ कहीं धर्म के विपरीत पाप का जितना विस्तार होता है वहाँ उतनी मात्रा में धर्म का तिरस्कार होता है (२४०)। उपस्थित विनाशों का आकार उनकी प्रकृति और हानि की मात्रा से जाना जा सकता है (२४१)। धर्म विरोधी कार्यों की ओर झुकाव से अधर्म की वृद्धि का आभास मिलता है (२४२)।

चुगलखोर (पिशुन) बात को गोपनीय नहीं रख सकता (२४३)। दूसरों की गुप्त बातें कान लगाकर सुनना वर्जित है (२४४)। अपने खुशामदी को दायित्व सौंपना पाप है (२४५)। अपने विश्वस्त एवं हितैषी व्यक्तियों का उल्लंघन नहीं करना चाहिए (२४६)। दुष्ट तो माता भी क्यों न हो, त्याग देना चाहिए (२४७)। अपने हाथ में भी सड़न उत्पन्न हो गयी हो तो काट देना चाहिए (२४८)। अपना हितचिन्तक पराया भी हो, वह बन्धु ही है (२४६)। सूखे जंगल में भटककर भी औषध मिलती हो तो लेनी चाहिए (२५०)। चोरों पर विश्वास कभी

नहीं करना चाहिए (२५१)। जो कार्य सरलता से हो जाते हैं, उनकी उपेक्षा कभी नहीं करनी चाहिए (२५२)। व्यसन तो थोड़ा सा भी क्यों न हो, हानिकर है (२५३)।

स्वयं को अमर सोचकर आर्थिक साधनों का संचय करना चाहिए (२५४)। जिसके पास अर्थ होता है, उसी का सब आदर करते हैं (२५५)। महान् इन्द्र भी क्यों न हो, यदि दीवाला निकल जाता है तो कोई नहीं पूछता (२५६)। दरिद्र होकर जीना तो जीवित रहकर मरना है (२५७)। जिसके पास पैसा है, वह कुरूप भी सुन्दर कहा जाता है (२५८)। पैसे वाला चाहे कंजूस ही क्यों न हो याचना करने वाले उसे नहीं छोड़ते (२५९)। पैसे वाला खराब खानदान (अकुलीन) का भी कुलीन माना जाता है (२६०)। अनार्य (निकृष्ट-गुलाम) का क्या अपमान जो उसे अनुभव ही नहीं करता (२६१)। जिनके पास ज्ञान और कारीगरी है, उन्हें जीविका का कोई भय नहीं होता (२६२)। जितेन्द्रिय व्यक्ति को विषय भोग का डर नहीं (२६३)। जिनकी मनःकामनाएँ और उद्देश्य पूरे हो चुकते हैं उन्हें मृत्यु का भय नहीं है (२६४)।

सज्जन दूसरे व्यक्ति के काम को अपना ही काम मानकर करते हैं (२६५)। दूसरों के धन पर दाँव नहीं लगाना चाहिए (२६६)। जो दूसरों के वैभव के भरोसे दम ठोकता है, अपना विनाश आमंत्रित करता है (२६७)। किसी दूसरे का धन पुराल ही क्यों न हो, उठाना नहीं चाहिए (२६८)। जो दूसरों का द्रव्य हटाता है, वह अपने द्रव्य का नाश आमंत्रित करता है (२६९)। चोर से बड़ा मौत का फन्दा (मृत्युपाश) कुछ नहीं होता (२७०)। विपत्ति के समय दलिया भी जीवन-धारण का साधन हो जाता है (२७१)। जो मर चुका है, दवा उसका क्या करेगी (२७२)। कभी-कभी अपनी ही प्रभुता (सामर्थ्य) का भरोसा करके प्रयोजन सिद्ध होता है (२७३)।

नीच व्यक्ति को उसकी विद्या पाप कार्यों में ही प्रेरित करती है (२७४)। साँप को दूध पिलाने से अमृत नहीं, विष ही बनता है (२७५)। अर्थ तो बहुत है, परन्तु अन्न (धान्य) जैसा कोई नहीं (२७६)। भूख से बड़ा शत्रु कोई नहीं (२७७)। धनहीन को भूख लगती भी बहुत है (२७८)। भूखे के लिए कुछ भी अभक्ष्य नहीं है (२७९)। इन्द्रियाँ मनुष्य को बुढ़ापे के अधीन कर देती हैं (यदि कार्य करने की क्षमता है तो बुढ़ापा कैसा) (२८०)। उदार स्वामी की ही सेवा करनी चाहिए (२८१)। कंजूस स्वामी का सेवक तो आग पाने की कामना से खद्योत (जुगनू) पर फूँक मारता है (२८२)। ऐसे ही स्वामी का सहारा लेना चाहिए जो विशेष गुणों का ज्ञाता हो (२८३)।

मैथुन करना बुढ़ापा समीप लाना है (२८४)। मैथुन नहीं करना स्त्रियों का बुढ़ापा है (२८५)। नीच और उत्तम नर-नारियों का विवाह वर्जित है (२८६)। मैथुन करने के अयोग्य नर-नारी का मैथुन, आयु, यश और पुण्य तीनों का क्षय कर देता है (२८७)। अहंकार से बड़ा शत्रु कोई नहीं (२८८)। संसद् (सभा) में शत्रु की निन्दा करना बुरा है (२८९)। शत्रु की विपत्ति की चर्चा सुखद होती है (२९०)। धनहीन व्यक्ति बुद्धि खो बैठता है (२९१)। धनहीन (छोटा) व्यक्ति किसी के हित की बात कहे तब भी सुनी नहीं जाती (२९२)। धनहीन

पुरुष की भार्या भी तिरस्कार करती है (२६३)। आम पर यदि बौर न लगा हो तो भौंरा उधर फटकता तक नहीं (२६४)। धनहीनों का धन विद्या ही है (२६५)। विद्या धन को चोर भी नहीं चुरा सकते (२६६)। विद्या से मनुष्य ख्याति प्राप्त करता है (२६७)। यशरूपी शरीर का कभी विनाश नहीं होता (२६८)।

सज्जन वही है जो दूसरों के काम आये (२६६)। शास्त्र इन्द्रियों पर नियन्त्रण रखता है (३००)। शास्त्र विरुद्ध कार्यों में संलग्न व्यक्ति को शास्त्र ही रोकता है (३०१)। निकृष्ट मनोवृत्ति वालों को शास्त्राध्ययन नहीं करना चाहिए (३०२)। म्लेच्छों की तरह बोलना नहीं सिखाना चाहिए अथवा यवनपारसीक आदि म्लेच्छों को भाषाएँ नहीं पढ़ानी चाहिए (३०३)। म्लेच्छों (यूनानियों और ईरानियों) में भी यदि अच्छे गुण हो तो ग्रहण करना चाहिए (३०४)। गुण ग्रहण करने में ईर्ष्या नहीं करनी चाहिए (३०५)। शत्रु में भी सद्गुण हों तो ग्रहण करने चाहिए (३०६)। विष में से भी अमृत लेना चाहिए (३०७)। अवस्था से पुरुष को सम्मान मिलता है (३०८)। स्थान पर ही आदमी का आदर होता है (३०९)। श्रेष्ठ पुरुषों के आचरण का अनुकरण करना चाहिए (३१०)। सामाजिक मर्यादाओं का उल्लंघन नहीं करना चाहिए (३११)। श्रेष्ठ आदमी का कोई मूल्य नहीं है (३१२)। श्रेष्ठ नारी के समान कोई रत्न नहीं होता (३१३)। सच्चा रत्न सरलता से नहीं मिलता (३१४)। बदनामी सबसे बड़ा भय है (३१५)। आलसी व्यक्ति शास्त्रों का रहस्य नहीं पा सकता (३१६)। स्त्रैण (लुगाईबाज) को न स्वर्ग मिलता है और न वह धार्मिक कृत्य कर सकता है (३१७)। उसका तो स्त्रियाँ भी आदर नहीं करतीं (३१८)। फूलों का इच्छुक व्यक्ति सूखा पेड़ नहीं सींचता (३१६)। असंभावित वस्तु में आशा करना ऐसा ही है जैसे कोई भोजनार्थी रेत को पकाता हो (३२०)। बड़े लोगों का मजाक कभी नहीं बनाना चाहिए (३२१)। कार्य की सफलता उसके विशिष्ट कारणों की सूचना दे देती है (३२२)। जो कार्य तत्काल होने आवश्यक हैं उनमें नक्षत्रों और ग्रहों की पूछताछ नहीं करनी चाहिए (३२४)।

परिचित है, यह सोच कर गल्तियाँ नहीं ढकनी चाहिए (२२५)। जो व्यक्ति स्वयं अशुद्ध (बेईमान) है, वह दूसरों को भी अपने जैसा ही सोचता है (२२६)। स्वभाव टाला नहीं जा सकता (३२७)। दण्ड अपराध के अनुरूप होना चाहिए, न्यूनाधिक नहीं (३२८)। प्रसंग के अनुरूप ही बात कहनी चाहिए, अप्रासंगिक नहीं (३२६)। जैसी आर्थिक हैसियत हो, आभरण उसके अनुरूप ही पहनने चाहिए (३३०)। अपने कुल के अनुरूप आचरण करना चाहिए (३३१)। कार्य के अनुसार ही प्रयत्न करना चाहिए (३३२)। दान लेने वाले की हैसियत देखकर दान देना चाहिए (३३३)। आयु के अनुरूप वेश धारण करना चाहिए (३३४)। भृत्य वही है जो स्वामी के लिए निष्ठावान (विश्वास के योग्य) हो (३३५)। भार्या वही है जो पति की इच्छाओं के अनुसार चलती हो (३३६)। गुरु के निर्देशों का पालनकर्त्ता ही शिष्य है (३३७)। पिता के आदेशों का पालन करने वाला ही पुत्र है (३३८)।

जब कोई बहुत सेवा सुश्रूषा और खुशामद करता हो तो सन्देह करना चाहिए (३३६)। स्वामी का ही अनुगमन करना चाहिए (३४०)। माँ से पिटा हुआ बच्चा माँ के

सामने ही रोता है (३४१)। स्नेही व्यक्ति का क्रोध बहुत अल्प और अल्पकाल के लिए होता है (३४२) मूर्ख की यह पहचान है कि वह दूसरों के दोषों को ही देखता है। उसे अपने दोष नहीं दिखते (३४३)। छल-कपट और धोखा सेवा की ओट में ही छिपते हैं (३४४)। उपचार (सेवा) वही है जो किसी घात के साथ की जाती है (३४५)। चिरपरिचित जन जब बढ़-चढ़ कर उपचार (सेवा) करें तो सोचना चाहिए कि दाल में कुछ काला है (३४६)। दूध देते समय गाय चाहे लात ही क्यों न मारती हो, परन्तु वह अकेली हजारों कुत्तों से अच्छी है (३४७)। कल मिलने वाले मोर से आज का कपोत अच्छा (३४८)।

अत्यधिक लगाव और चिपके रहने से दोष उत्पन्न होता है (३४९)। शान्त स्वभाव का अक्रोधी व्यक्ति सबको जीत लेता है (३५०)। यदि अपकार करने वाले व्यक्ति पर क्रोध होता है तो पहले क्रोध पर ही क्रोध करना चाहिए (३५१) बुद्धिमान व्यक्तियों में मूर्ख, मित्र और गुरु तथा उनके चहेतों में विवाद न करे (३५२)। पिशाच कर्म किये बिना ऐश्वर्य नहीं आता (३५३)। धनिक लोग अच्छे कार्यों में श्रम नहीं करते (३५४)। सवारी से यात्रा करने वाले चलने से नहीं थकते (३५५)। नारी बिना लोहे की बेड़ी हैं (३५६)। जो जिस कार्य में कुशल हो, उसे उसी कार्य में लगाना चाहिए (३५७)। बुरी स्त्रियाँ स्वाभिमानी पुरुषों का शरीर सोख लेती हैं (३५८)।

मदिरापान न करके स्त्रियों का निरीक्षण करना चाहिए (३५९)। स्त्रियों पर थोड़ा-सा भी विश्वास न करें (३६०)। स्त्रियों के स्वभाव में स्थिरता और व्यवहार कुशलता नहीं होती (३६१)। माता सभी गुरुओं में श्रेष्ठतम गुरु है (३६२)। सभी अवस्थाओं में माता का भरण-पोषण करना ही चाहिए (३६३)। विद्वता आभूषणों से ढक जाती है (३६४)। लज्जा नारी का आभूषण है (३६५)। ब्राह्मणों का आभूषण वेद का ज्ञान है (३६६)। धर्म सभी का आभूषण है (३६७)। सुशीलता (विनय) सभी भूषणों का भूषण है (३६८)। उसी देश में रहना चाहिए जहाँ उपद्रव न हो तथा शान्ति एवं स्थिरता हो (३६९)। देश वही है जहाँ के निवासी भले हों (३७०)। राजा से सदा डरना चाहिए (३७१)। राजा से बड़ा देवता कोई नहीं (३७२)। राजा का कोप अग्नि के समान दूर से ही जला देता है (३७३)। राजा के पास खाली हाथ कभी न जाएँ (३७४)। गुरु और देवता के पास भी (३७५)। पारिवारिक जनों से भय खाना चाहिए (३७६)। राजद्वार में जाते रहना चाहिए (३७७)। राजपुरुषों के साथ अच्छे सम्बन्ध रखने चाहिए (३७८)। राजदासी के साथ संभोग न करें (३७९)। आँखें उठा-उठा और आँखों में आँखें गड़ा कर राजा को न देखें (३८०)। गुणवान पुत्र हो तो गृहस्थ स्वर्ग में है (३८१)। पुत्रों को सभी विद्याओं में पारंगत करना चाहिए (३८२)।

जनपद के लिए गाँव छोड़ दे (३८३)। गाँव के लिए कुटुम्ब छोड़ा जाता है (३८४)। पुत्र का लाभ सबसे बड़ा लाभ है (३८५)। पुत्र वही है जो दुर्गति से माता-पिता की रक्षा करे (३८६)। पुत्र अपने वंश की ख्याति फैलाता है (३८७)। पुत्रहीन को मुक्ति नहीं मिलती (३८८)। भार्या वही है जो माता अर्थात् जननी हो (३८९)। तीर्थ आदि की यात्राओं के अवसर पर पुत्रवती को साथ लेकर जाना चाहिए (३९०)। तीर्थ यात्राओं के अवसर पर

संभोग करने से ब्रह्मचर्य नष्ट हो जाता है (३६१)। दूसरे की स्त्री में अपना वीर्य न सींचे (३६२)। स्त्रियाँ पुत्रों के लिए होती हैं (३६३)।

अपनी दासी को पत्नी बनाना वास्तव में स्वयं दास बन जाना है (३६४)। जिसका विनाश सिर पर हो, वह हितकारी बात नहीं सुनता (३६५)। प्रत्येक प्राणी के जीवन में सुख और दुख का सदा अभाव नहीं होता (३६६)। जैसे बछड़े माता का साथ नहीं छोड़ते वैसे ही सुख और दुख कर्ता के पीछे चलते हैं (३६७)। सज्जन किसी के तिल मात्र उपकार को भी पर्वत के समान मानते हैं (३६८)। अनार्य के ऊपर उपकार नहीं करना चाहिए (३६६)। अपने ऊपर किये उपकार का बदला देने के भय से अनार्य अपने उपकार करने वाले का शत्रु बन जाता है (४००)। किसी की ओर से किये गये अल्पमात्र उपकार का भी बदला चुकाने की चिन्ता में आर्य को नींद नहीं आती (४०१)।

देवता का कभी तिरस्कार न करें (४०२)। ज्ञान का साधन चक्षु से अधिक कुछ नहीं है। वही सबसे बड़ी ज्योति है (४०३)। चक्षु ही प्राणियों का नेता, मार्गदर्शक है (४०४)। चक्षुविहीन शरीर क्या कर सकता है (४०५)। पानी में पेशाब (मूत्र) कभी नहीं करना चाहिए (४०६)। नंगा होकर जल में प्रवेश न करे (४०७)। शरीर के अनुरूप ही ज्ञान होता है (४०८)। बुद्धि के अनुसार ही वैभव होता है (४०६)। आग में आग नहीं फेंकनी चाहिए (४१०)। तपस्वियों का स्वागत सत्कार करना चाहिए। वे पूजनीय हैं (४११)। दूसरी स्त्रियों के पास गमन नहीं करना चाहिए (४१२)। भूखे को रोटी देना भ्रूण हत्या का पाप तक धो देता है (४१३)। जब भी धर्म का पालन कर ले तभी अच्छा है (४१५)।

सद्व्यवहार स्वर्ग ले जाता है (४१६)। सत्य से बढ़ कर कोई तप नहीं (४१७)। सत्य स्वर्ग का साधन है (४१८)। संसार सत्य पर टिका है (४१६)। सत्य से वर्षा होती है (४२०)। झूठ से बढ़कर पाप नहीं है (४२१)। गुरुजनों की मीमांसा आलोचना नही करनी चाहिए (४२२)। धूर्त्तता का सहारा कभी न लें (४२३)। नीच व्यक्ति का कोई मित्र नहीं होता (४२४)। दरिद्र व्यक्ति को जीवन निर्वाह पीड़ा देता है (४२५)। जो दान करने में शूर है, वही शूर है (४२६)। गुरुओं, देवों तथा ब्राह्मणों में भक्ति रखना मानव का आभूषण है (४२७)। सुशीलता सभी स्थानों पर आभूषण है (४२८)। अकुलीन व्यक्ति भी यदि सुशील है तो कुलीन से अच्छा है (४२६)। सदाचार से आयु और कीर्ति दोनों की वृद्धि होती है (४३०)। जिससे अहित होता हो, ऐसा प्रिय वचन भी नहीं बोलना चाहिए (४३१)। ऐसे किसी अकेले व्यक्ति के पीछे न चल पड़ें जिसका बहुसंख्यक समाज विरोध करता हो (४३२)। दुर्जनों से मिलकर कभी साझेदारी के काम न करें (४३३)। नीच व्यक्ति चाहे जितने सफल एवं सामर्थ्यवान् हों, उनसे सम्बन्ध बढ़ाना उचित नहीं है (४३४)। ऋण, शत्रु और व्याधि कभी शेष नही छोड़ना चाहिए (४३५)। सदा हितकारी कार्य करना कल्याणकारी है (४३६)। जो मार्ग में आया है, उसका तिरस्कार नहीं करना चाहिए (४३७)।

नीच पुरुष पहले तो दुष्कर कार्य करा लेते हैं और बाद में उस कार्य की निन्दा करते हैं (४३८)। कृतघ्न (ऐहसान फरामोश) नरक से वापस नहीं लौटता (४३६)। किसी व्यक्ति

की उन्नति और उसका विनाश दोनों ही उसकी जवान पर आधारित हैं (४४०)। जबान विष और अमृत दोनों की खान है (४४१)। मधुर भाषी का शत्रु कौन होगा? (४४२)। स्तुति करने पर देवता भी तो प्रसन्न हो जाते हैं (४४३)। दुर्वचन चाहे असत्य ही क्यों न हो, परन्तु सदा याद रहता है (४४४)। राजा के विरुद्ध नहीं बोलना चाहिए (४४५)। कानों को भाने वाले कोयल के वचनों से लोग प्रसन्न हो उठते हैं (४४६)। अपने धर्म का पालन करने के कारण सत्पुरुष कहे जाते हैं (४४७)।

माँगने वाले की इज्जत नहीं (४४८)। सौभाग्यवती होना ही स्त्रियों का आभूषण है (४४६)। शत्रु के भी जीवन-निर्वाह-साधन पर हमला नहीं करना चाहिए (४५०)। खेत वही श्रेष्ठ है जहाँ बिना प्रयत्न के पानी उपलब्ध हो (४५१)। एरण्ड का सहारा लेकर हाथी को नहीं भड़काना चाहिए (४५२)। शाल्मती का पेड़ चाहे जितना बड़ा हो, हाथी बाँधने के काम नहीं आता (४५३)। कनेर का पौधा बहुत बड़ा हो, तव भी मूसल वनाने के काम नहीं आता (४५४)। जुगनू चाहे जितना चमकता हो आग का काम नहीं करता (४५५)। बहुत बूढ़ा और लम्बा चौड़ा होना गुण का कारण नहीं होता (४५६)। नीम चाहे जितना पुराना हो सरोता नहीं होता (४५७)। जैसा बीज डालोगे वैसा ही फल मिलेगा (४५८)। जैसा शास्त्र पढ़ते हैं वैसी ही बुद्धि होती है (४५६)। जैसा कुल होता है वैसे ही आचरण होते हैं (४६०)। नीम को चाहे जितना सजाओ आम नहीं हो जाता (४६१)। आया सुख छोड़ना नहीं चाहिए (४६२)। दुख का कारण आदमी स्वयं है (४६३)। रात में इधर-उधर न घूमें (४६४)। आधी रात तक न सोयें (४६५)। जो भी सोचना हो विद्वानों के साथ बैठकर सोचें (४६६)। दूसरे के घर में अकारण घुसना नहीं चाहिए (४६७)। जानते हुए भी लोग बुरे काम करते हैं (४६८)। लोकाचार शास्त्र के अनुसार ही होने चाहिए (४६६)। यदि शास्त्र अस्पष्ट हो तो शिष्ट पुरुषों के व्यवहार का अनुसरण करना चाहिए (४७०)। शास्त्र सदाचार एवं शिष्टाचार से बड़ा नहीं है (४७१)। दूरस्थ वस्तुओं को भी राजा गुप्तचर आँखों से देखता है (४७२)। लोगबाग भेड़ाधसान होते हैं (४७३)। जिसके सहारे जीविका चलती है उसकी निन्दा न करे (४७४)। इन्द्रियाँ नियंत्रण में रखना तप का सार है (४७५)। स्त्री के चंगुल से निकलना सरल नहीं है (४७६)। स्त्री सभी अशुभ लक्षणों की जननी है (४७७)। पुरुषों से स्त्रियों की परीक्षा नहीं होती (४७८)। स्त्रियों का मन डांवाडोल होता है (४७६)। अशुभ कार्यों से द्वेष रखने वाले अर्थात् नेक काम करने वाले स्त्रियों में आसक्त नहीं होते (४८०)।

यज्ञ फलों के वेत्ता तीनों वेदों के ज्ञाता होते हैं (४८१)। स्वर्ग स्थायी नहीं होता प्रत्युत पुण्य फलों के अनुसार मिलता है (४८२)। स्वर्ग से नीचे गिरना सबसे बड़ा दुख है (४८३)। कोई भी मरना नहीं चाहता, चाहे इन्द्र का पद भी मिलता हो (४८४)। दुखों का उपचार मुक्ति (मोक्ष) है (४८५)। अनार्य की मैत्री से आर्य की शत्रुता अच्छी है (४८६)। बुरे वचन कुल का नाश कर देते हैं (४८७)। पुत्र के आलिंगन से बढ़कर कोई सुख नहीं है (४८८)। विवादों का निर्णय धर्म शास्त्र के अनुसार करना चाहिए (४८६)। रात्रि बीत जाने पर प्रभात काल में दिन भर के कार्यों की चिन्ता करनी चाहिए (४६०)। रात्रि के पूर्व भाग में मिलना

नहीं चाहिए (४९१)। जिसका विनाश सामने हो वह बुरा आचरण करने लगता है (४९२)। दूध चाहने वाला हथनी का क्या करेगा (४९३)। दान से बढ़कर दूसरा वशीकरण नहीं है (४९४)। दूसरों के अधीनस्थ वस्तुओं में कभी लालसा न करें (४९५)। पापियों का माल पापियों के ही काम आता है (४९६)। निबोंली कौवे ही खाते हैं (४९७)। समुद्र प्यास नहीं बुझाता (४९८)। बालुका भी अपने गुण तो रखती है (४९९)। सज्जन बुरे लोगों में बैठकर सुखी अनुभव नहीं करते (५००)। हंस श्मशान में किलोल नहीं करते (५०१)। दुनिया अर्थ के लिए ही दौड़-धूप करती है (५०२)। संसार आशा से बँधा हुआ है (५०३)। दूसरों के भरोसे आशा पूरी नहीं होती। (५०४)। आशा के टूट जाने पर धैर्य टूट जाता है (५०५)। दीनता दिखाने से मरना अच्छा है (५०६)। आशा लज्जा हटा देती है (५०७)। माता के साथ कभी सहवास नहीं करना चाहिए (५०८)। अपने मुँह मिया मिट्ठू बनना बुरा है (५०९)। दिन में नहीं सोना चाहिए (५१०)। ऐश्वर्य से अन्धा व्यक्ति पास बैठे को भी नहीं देखता और न अपने हित की बात सुनता है (५११)।

स्त्रियों के लिए पति से बढ़कर दूसरा देवता नहीं है (५१२)। उसके पीछे चलने से इहलोक और परलोक दोनों में सुख मिलता है (५१३)। पूर्वसूचना के बिना आये अभ्यागत का पूरा सत्कार करना चाहिए (५१४)। यज्ञों से उत्पन्न पुण्य कभी नष्ट नहीं होते (५१५)। शत्रु कभी-कभी मित्र जैसा दिखता है (५१६)। मृगतृष्णा जल की तरह प्रतीत होती है (५१७)। अच्छा शास्त्र बुद्धिहीनों को भी मोहित कर लेता है (५१८)। सत्संग स्वर्गवास के समान है (५१९)। आर्य व्यक्ति दूसरों के सम्बन्ध में भी अपनी भ्रान्ति व्यवहार करता है (५२०)। गुण रूप के अनुसार होता है (५२१)। रहने योग्य स्थान वही है जहाँ सुखपूर्वक रहा जा सके (५२२)।

विश्वासघाती पुरुष को कोई भी निष्क्रय (छुटकारा) नहीं है (५२३)। भाग्य के भरोसे न बैठा रहे (५२४)। आश्रित व्यक्ति पर आये दुख को साधु अपना ही दुख मानते हैं (५२५)। दुष्ट व्यक्ति सोचता कुछ है और कहता कुछ और है (५२६)। बुद्धिहीन व्यक्ति पिशाच के समान है (५२७)। अकेला कभी रास्ता न चलें (५२८)। बेटे की बड़ाई न करें (५२९)। कर्मचारियों को अपने स्वामी की प्रशंसा करनी चाहिए (५३०)। अपने द्वारा किये गये धार्मिक कार्यों को भी स्वामी का ही बतायें (५३१)। राजाज्ञा का अति उल्लंघन न करें (५३२)। जैसी आज्ञा हो, वैसा ही करें (५३३)।

बुद्धिमानों के शत्रु नहीं होते (५३४)। अपनी गलतियाँ न उछाले (५३५)। क्षमाशील व्यक्ति सभी कार्यसिद्धि कर लेता है (५३६)। आपत्तिकाल के लिए धन बचाना आवश्यक है (५३७)। साहसी कर्त्तव्य परायण होते हैं (५३८)। अपना काम तत्काल करें (५३९)। दोपहर बाद के काम दोपहर से पहले ही कर लें (५४०)। धर्म लोकाचार के साथ चलता है (५४१)। सर्वज्ञाता यही है कि वह लोकव्यवहार मिलना जानता है (५४२)। लोकव्यवहार न जानने वाला शास्त्रज्ञ व्यक्ति भी मूर्ख के समान है (५४३)। शास्त्र का प्रयोग तो तत्वों का ज्ञान कराना है (५४४)। तत्वज्ञान वही है जिससे किये जा रहे कार्य पर प्रकाश पड़ता

हो (५४५)। व्यवहार में पक्षपात नहीं करना चाहिए (५४६)। धर्म की तुलना में लोकव्यवहार अधिक महत्त्व का है (५४७)। क्या करना या न करना है, इसका साक्षी व्यक्ति का मन है (५४८)। आत्मा ही सबका साक्षी है (५४९)। झूठी गवाही न देना चाहिए (५५०)। झूठे साक्षी नरक में पड़ते हैं (५५१)। छिपे हुए अपराधों के महाभूत ही साक्षी होते हैं (५५२)। अपना किया पाप वह स्वयं ही प्रकट करता है (५५३)।

व्यवहार के समय चेष्टाएँ आन्तरिक भाव प्रकट कर देती हैं (५५४)। चेष्टाएँ छिपाना देवताओं के लिए भी असंभव है (५५५)। चोरों और राजकर्मचारियों से राजकीय आय की रक्षा करनी चाहिए (५५६)। जो राजा जनता के बीच नहीं आते वे प्रजा का नाश कर देते हैं (५५७)। जो राजा आसानी से जनता के सम्पर्क में रहते हैं वे प्रजा के प्रिय होते हैं (५५८)। न्यायप्रिय राज को प्रजा अपनी माता के समान मानती हैं (५५९)। ऐसा राजा इहलोक में सुख भोगता है और परलोक में स्वर्ग पाता है (५६०)।

धर्म का मुंख्य लक्षण अहिंसा है (५६१)। सज्जन अपना शरीर भी दूसरों की तरह मानते हैं (५६२)। सभी के लिए मांस भक्षण अनुपयुक्त है (५६३)। ज्ञानी पुरुषों के लिए संसार का भय नहीं है (५६४)। विज्ञान के दीपक से संसार का भय टल जाता है (५६५)। सभी कुछ अनित्य है (५६६)। शरीर मल-मूत्र और कमियों का घर है। परन्तु यही पुण्य और पाप के जन्म का कारण है (५६७)। जन्म और मरण आदि में दुख ही दुख है (५६८)। तपस्या से स्वर्ग प्राप्त होता है (५६९)। क्षमाशील व्यक्ति का तप बढ़ता रहता है (५७०)। क्षमाशीलता से सभी कार्यों की सिद्धि होती है (५७१)।



चाणक्य-नीति-सूत्राणि

सुखस्य मूलं धर्मः (१)। धर्मस्य मूलमर्थः (२)। अर्थस्य मूलं राज्यम् (३)। राज्यमूलमिन्द्रियजयः (४)। इन्द्रियजयस्य मूलं विनयः (५)। विनयस्य मूलं वृद्धोपसेवा (६)। वृद्धसेवाया विज्ञानम् (७)। विज्ञानेनात्मानं संपादयेत् (८)। संपादितात्मा जितात्मा भवति (९)। जितात्मा सर्वार्थैत्संयुज्येत (१०)। अर्थसंपत्प्रकृतिसंपदं करोति (११)। प्रकृतिसंपदा ह्यनायकमपि राज्यं नीयते (१२)। प्रकृतिकोपस्सर्वकोपेभ्योः गरीयान (१३)।

अविनीतस्वामिलाभाद स्वाभिलाभः श्रेयान् (१४)। संपाद्यात्मानमन्विच्छेत्सहायवान् (१५)। नासहायस्य मन्त्रनिश्चयः (१६)। नैकं चक्रं परिभ्रमयति (१७)। सहायस्समसुखदुःख (१८)।

मानी प्रतिमानिनमात्मनि द्वितीयं मन्त्रमुत्पादयेत् (१९)। अविनीतं स्नेहमात्रेण न मन्त्रे कुर्वात (२०)। श्रुतवन्तमुपधाशुद्धं मन्त्रिणं कुर्बात (२१)। मंत्रमूलास्सर्वारम्भाः (२२)। मन्त्ररक्षणे कार्यसिद्धिर्भवति (२३)। मन्त्रविस्त्रावी कार्य नाशयति (२४)। प्रमादात् द्विषतां वशमुपयास्यति (२५)। सर्वद्वारेभ्यो मन्त्रो रक्षितव्यः (२६)। मन्त्रसंपदा राज्यं वर्धते श्रेष्ठतमां मन्त्रगुप्तिमाहुः (२८)। कार्यान्धस्य प्रदीपो मन्त्रः (२९)। मन्त्रचक्षुषा परच्छिद्राण्यवलोकयन्ति (३०)।

मन्त्रकाले न मत्सरः कर्तव्यः (३१)। त्रयाणामेकवाक्ये संप्रत्ययः (३२)। कार्याकार्यतत्वार्थदर्शिनो. मन्त्रिणः (३३)। षटकर्णाद्भिद्यते मन्त्रः (३४)।

आपत्सु स्नेहसंयुक्त मित्रम् (३५)। मित्रसंग्रहणे बलं संपद्यते (३६)। बलवानलब्धलाभे प्रयतते (३७)। अतब्धलाभो नालसस्य (३८)। अलसस्य लब्धमपि रक्षितुं न शक्यते (३९)। स चालसस्य रक्षितं विवर्धते (४०)। न भृत्यान् प्रेषयति (४१)।

अलब्धलाभादिचतुष्टयं राज्यतन्त्रम् (४२)। राज्यतन्त्रा यत्तं नीतिशास्त्रम् (४३)। राज्यतन्त्रेष्वायत्तौ तन्त्रावापौ (४४)। तन्त्रं स्वविषयकृत्येष्वायत्तम् (४५)। आवापो मण्डलनिविष्टः (४६)। सन्धिविग्रहयोनिर्मण्डलः (४७)।

नीतिशास्त्रानुगो राजा (४८)। अनन्तरप्रकृतिश्शुत्रुः (४९)। एकान्तरितं मित्रमिश्यते (५०)। हेतुतश्शत्रुमित्रे भविष्यतः (५१)। हीयमानस्सन्धि कुर्वीत (५२)। तेजो हि संघानहेतुस्तदर्थानाम् (५३)। नातप्तलोहो लोहेन संधीयते (५४)।

बलवान् हीनेन विगृहीयात् (५५)। न ज्यायसा समेन वा (५६)। गजपादयुद्धमिव बलवद्विग्रहः (५७)। आमपात्रमानेन सह विनश्यति (५८)। अरिप्रयत्नमभिसमीक्षेत (५९)। संधायैकतो वा (६०)।

अमित्रविरोधादात्मरक्षामावसेत् (६१)। शक्तिहीनो बलवन्तमाश्रयेत् (६२)। दुर्बलाश्रयो दुःखमावहति (६३)। अग्निवद्राजानमाश्रयेत् (६४)। राज्ञः प्रतिकूलंनाचरेत् (६५)। उद्धतवेषधरो न भवेत् (६६)। न देवचरितं चरेत् (६७)। द्वयोरपीर्ष्यतोः द्वैधीभावं कुवीत (६८)।

न व्यसनपरस्य कार्यावाप्तिः (६९)। इन्द्रियवशवर्ती च तुरंगवानपि विनश्यति (७०)। नास्ति कार्यं द्यूतप्रवृत्तस्य (७१)। मृगयापरस्य धर्मार्थौ विनश्यतः (७२)। अर्थेषणा न व्यसनेषु गण्यते (७३)। न कामासक्तस्य कार्यानुष्ठानम् (७४)। अग्निदाहादपि विशिष्टं वाक्पारुष्यम् (७५)। दण्डापरुष्यात्सर्वजनद्वेष्यो भवति (७६)। अर्थतोषिणं श्रीः परित्यजति (७७)।

अमित्रो दण्डनीत्यांमायत्तः (७८)। दण्डनीतिमधितिष्ठन् प्रजात्संरक्षति (७९)। दण्डस्संपदा योजयति (८०)। दण्डाभावे मन्त्रिवर्गाभावः (८१)। न दण्डादकार्याणि कुर्वन्ति (८२)। दण्डनीत्यामायत्तमात्मरक्षणूम् (८३)। आत्मनि रक्षिते सर्वं रक्षितं भवति (८४)। आत्मायत्तौ वृद्धिविनाशौ (८५)। दण्डो हि विज्ञाने प्रणीयते (८६)।

दुर्वलोपि राजा नावमन्तव्यः (८७)। नास्त्यग्नेर्दौर्वल्यम् (८८)। दण्डे प्रतीयते वृत्तिः (८९)। वृत्तिमूलमर्थलाभः (९०)। अर्थमूलौ धर्मकामौ (९१)। अर्थमूलं कार्यम् (९२)। यदल्पप्रयत्नात्कार्यसिद्धिर्भवति (९३)। उपायपूर्वं न दुष्करं स्यात् (९४)। अनुपायपूर्वं कार्यं कृतमपि नश्यति (९५)। कार्यार्थिनामुपाय एवं सहायः (९६)। कार्यं पुरुषकारेण लक्ष्यं संपद्यते (९७)। पुरुषकारमनुवर्तते देवम् (९८)। दैवं विनाअतिप्रयत्नं करोति यत्तद्विफलम् (९९)।

असमाहितस्य वृत्तिर्न विद्यते (१००)। पूर्वं निश्चित्य पाश्चात्कार्यमारभेत् (१०१)। कार्यान्तरे दीर्घसूत्रता न कर्तव्या (१०२)। न चलचित्तस्य कार्यावाप्तिः (१०३)। हस्तगतावमाननात्कार्यव्यतिक्रमो भवति (१०४)। दोषवर्जितानि कार्याणि दुर्लाभानि (१०५)। दुरनुबन्धं कार्यं नारभेत (१०६)।

कालवित् कार्यं साधयेत् (१०७)। कालातिक्रमात्काल एवं फलं पिबति (१०८)। क्षणं प्रति कालविक्षेपं न कुर्यात्सर्वकृत्येषु (१०९)। देशफलविभागौ ज्ञात्वा कार्यमारभेत (११०)। दैवहीनं कार्यं सुसाधमपि दुस्साथं भवति (१११)।

नीतिज्ञो देशकालौ परीक्षेत (११२)। परीक्ष्यकारिणि श्रीश्चिरं तिष्ठति (११३)। सर्वाश्च संपदः सर्वोपायेन परिग्रहेत् (११४)। भाग्यवन्तम परीक्ष्यकारिणं श्रीः परित्यजति (११५)। ज्ञानानुमानैश्च परीक्षा कर्तव्या (११६)।

यो यस्मिन् कर्मणि कुशलस्तं तस्मिन्नेव योजयेत् (११७)। दुस्साधमपि सुसार्थं करोत्युपायज्ञः (११८)। अज्ञानिना कृतमपि न बहुमन्तव्यम् (११९)। यादृच्छिकत्वात् कृमिरपि रूपान्तराणि करोति (१२०)। सिद्धस्यैव कार्यस्य प्रकाशनं कर्तव्यम् (१२१)। ज्ञानवतामपि दैवमानुषदोषात्कार्याणि दुष्यन्ति (१२२)।

दैव्र शान्तिकर्मणा प्रतिषेद्धव्यम् (१२३)। मानुषीं कार्यविपत्तिं कौशलेन विकिवारयेत् (१२४)। कार्यविपत्तौ दोषान् वर्णयन्ति बालिशाः (१२५)। कार्यार्थिना दक्षिण्यं न कर्तव्यम् (१२६)। क्षीरार्थी वत्सो मातुरूधः प्रतिहन्ति (१२७)। अप्रयत्नात्कार्यविपत्तिर्भवेत् (१२८)। न दैवपमाणानां कार्यसिद्धिः (१२९)।

कार्यबाह्यो न पोषत्याश्रितान् (१३०)। यः कार्यं न पश्यति सोऽन्धः (१३१)। प्रत्यक्षपरोक्षानुमानैः कार्याणि परीक्षेत (१३२)। अपरीक्ष्यकारिणं श्रीः परित्यजति (१३३)।

परीक्ष्य तार्या विपत्तिः (१३४)। स्वशक्तिं ज्ञात्वा कार्यमारभेत (१३५)। स्वजनं तर्पयित्वा यश्शेषभोजी सोऽमृत भोजी (१३६)। सर्वनुष्ठानादायमुखानि बर्धन्ते (१३७)। नास्ति भीरोः कार्यचिन्ता (१३८)।

स्वामिनश्शीलं ज्ञात्वा कार्यार्थी कार्य साधयेत् (१३९)। धेनोश्शीलज्ञः क्षीरं भुङ्क्ते (१४०)। क्षुद्रे गुह्यप्रकाशनमात्मवान्न कुर्यात् (१४१)। आश्रितेरप्यवमन्यते मृदुस्वभावः (१४२)। तीक्ष्णदण्डस्सर्वैरुद्वेजनीयो भवति (१४३)। यथार्हदण्डकारी स्यात् (१४४)।

अल्पसारं श्रुतवन्तमपि न बहुमन्यते लोकः (१४५)। अतिभारः पुरुषमवसादयति (१४६)। यस्संसदि परदोषं शंसति स स्वदोषबहुत्वं प्रख्यापयति (१४७)। आत्मानमेव नाशयत्यनात्मवतां कोपः (१४८)। नास्त्यप्राप्यं सत्यवताम् (१४९)। साहसेन न कार्यसिद्धिर्भतिति (१५०)। व्यसनार्तो विस्मरत्यप्रवेशेन (१५१)।

नास्त्यनन्तरायः कालविक्षेपे (१५२)। असंशयविनाशात्संशयविनाशश्श्रेयान् (१५३)। अपरध्नानि निक्षेप्तः केवलं स्वार्थम् (१५४)। दानं धर्मः (१५५)। नार्यागतोऽर्थवाद्विपरीतोअनर्थभावः (१५६)। यो धर्मार्थौं न विवर्धयति स कामः (१५७)। तद्विपरीतोअनर्थसेवी (१५८)।

ऋजुस्वभावपरो जनेषु दुर्लभः (१५९)। अवमानेनागतमैश्र्यर्यमवमन्यते साधुः (१६०)। बहूनपि गुणानेकदोषो ग्रसति दाचिदपि चारित्रं न लघंयेत् (१६३)। क्षुधाऽअतो न तृणं चरति सिंहः (१६४)। प्राणादपि प्रत्ययो रक्षितव्यः (१६५)। पिशुनश्श्रोता पुत्रदारेरपि त्यज्यते (१६६)।

बालादप्यर्थजातं श्रृगुयात् (१६७)। सत्यमप्यश्रद्धेयं न वतेत् (१६८)। नाल्पदोषाद्बहुगुणास्त्यज्यन्ते (१६९)। विपश्रित्स्वपि सुलभा दोषाः (१७०)। नास्ति रत्नमखण्डितम् (१७१)। मर्यादातींत न कदाचिदपि विश्रसेत् (१७२)। अप्रिये कृतं प्रियमपि द्वेष्यं भवति (१७३)। नमन्त्यपि तुलाकोटिः कूपोदकक्षयं करोति (१७४)।

सतां मतं नातिक्रमेत् (१७५)। गुणवदाश्रयान्निर्गुणोपि गुणी भवति (१७६)। क्षीराश्रितं जलं क्षरिमेव भवति (१७७)। मृत्पिण्डोपि पाटलिगन्धमुत्पादयति (१७८)। रजतं कनकसंगात्कनकं भवति (१७९)। उपकर्तर्यपकर्तुमिच्छत्यबुधः (१८०)। न पापकर्मणामाक्रोशभयम् (१८१)।

उत्साहवतां शत्रवोपि वशीभन्ति (१८२)। विक्रमधना राजानः (१८३)। नास्त्यलसस्यैहिकामुष्मिकम् (१८४)। निरुत्साहादेवं पतति (१८५)। मत्स्यार्थीव जलमुपयुज्यार्थं गृहीयात् (१८६)। अविश्रस्तेषु विश्रासो न कर्तव्यः (१८७)। विषं विषमेव सार्वकालम् (१८८)।

अर्थसमादाने वैरिणां संग एव न कर्तव्यः (१८९)। अर्थसिद्धौ वैरिणं न विश्वसेत (१९०)। अर्थाधीन एवं नियमसंबन्धः (१९१)। शत्रोरपि सुतस्सखा रक्षितव्यः (१९२)। यावच्छत्रोश्छिद्रं पश्यति तावद्धस्तेन वा स्कन्धेन वा वाह्यः (१९३)। शत्रुं छिद्रे परिहरेत् (१९४)। आत्मच्छिद्रं न प्रकाशयेत (१९५)। छिद्रप्रहारिणशत्रवः (१९६)। हस्तगतमपि शत्रुं न विश्वसेत (१९७)।

स्वजनस्य दुर्वृत्तं निवारयेत् (१९८)। स्वजनावमानोपि मनस्विनां दुःखमावहति (१९९)। एकांगदोषः पुरुषपवसादयति (२००)। शत्रुं जयति सुवृत्तता (२०१)। निकृतिप्रिया नीचाः (२०२)। नीचस्य मर्तिन दातव्या (२०३)। तेषु विश्वासो न कर्तव्यः (२०४)। सुपूजितोपि

दुर्जनः पीड्यत्येव (२०५)। चन्दनादीनपि दावोअग्निर्दहत्येव (२०६)।

कदाअपि पुरुषं नावमन्येत (२०७)। क्षन्तव्यमिति पुरुषं न बाधेत (२०८)। मर्त्राअधिकं रहत्युक्तं वक्तुमिच्छन्त्यबुद्धयः (२०९)। अनुरागस्तु फलेन सूच्यते (२१०)। प्रज्ञाफलमैश्वर्यं (२११)। दात्व्यमपि बालिशः परिक्लेशेन दास्यति (२१२)। महदेश्वर्यं प्राप्याप्यथतिमान् विनश्यति (२१३)। नास्त्यधृतेरैहिकामुष्मिकम् (२१४)।

न दुर्जनेस्सह संसर्ग (२१५)। शौण्डहस्तगतं पयोप्यवमन्येत (२१६)। कार्यसंकटेष्वर्थव्यवसायिनी बुद्धि (२१७)। मितभोजनं स्वास्थ्यम् (२१८)। पथ्यमपथ्यं वाजीर्णे नाश्नीयात् (२१९)। जीर्णभोजिनं व्याधिर्नोपसर्पति (२२०)। जीर्णशरीरे वर्धमानं व्याधिं नोपेक्षेत (२२१)। अजीर्णे भोजनं दुःखम् (२२२)। शत्रोरपि विशिष्यते व्याधिः (२२३)।

दानं निधानमनुगामि (२२४)। पटुतरे तृष्णापरे सुलभमतिसन्धानम् (२२५)। तृष्णया मतिश्छाद्यते (२२६)। कार्यवहुत्वे बहुफलमायसिकं कुर्यात् (२२७)। कार्य निरीक्षेत (२२८)। मूर्खेषु साहसं नियतम् (२२९)। मूर्खेषु विवादो न कर्तव्यः (२३०)। मूर्खेषु मूर्खवत्कथयेत (२३१)। आयसैरायसं छेद्यम् (२३२)। नास्त्यधीमतस्सखा (२३३)।

धमेण धार्यते लोकः (२३४)। प्रेतमपि धर्माधर्मावनुगच्छतः (२३५)। दया धर्मस्य जन्मभूमिः (२३६)। धर्ममूले सत्यदाने (२३७)। धर्मेणं जयति लोकान् (२३८)। मृत्युरपि धर्मिष्ठं रक्षति (२३९)। धर्माद्विपरीतं पापं यत्र-यत्र प्रसज्यते तत्र धर्मावमतिर्महती प्रसज्यते (२४०)। उपस्थितविनाशानां प्रकृत्या कायेण लक्ष्यते (२४१)। आत्मविनाश सूचयत्यधर्मबुद्धिः (२४२)।

पिशुनवादिनो न रहस्यम् (२४३)। पररहस्य नैव श्रोतव्यम् (२४४)। वल्लमस्य कारकत्वमध र्मियुक्तम् (२४५)। स्वजनेष्वतिक्रमो न कर्तव्यः (२४६)। माताअपि दुष्टा त्याज्या (२४७)। स्वहस्तोपि विषदिग्धश्छेद्यः (२४८)। परोपि च हितो बन्धुः (२४९)। कक्षादप्यौषधं गृहयते (२५०)। नास्ति चोरेषु विश्वासः (२५१)। अप्रतकिरेष्वनादरो न कर्तव्यः (२५२)। व्यसनं मनागपि बाधते (२५३)।

अमरवदर्थजातर्माजयेत् (२५४)। अर्थवान् सर्वलोकस्य बहुमतः (२५५)। महेन्द्रमप्यर्थहीनं न बहुमन्यते लोकः (२५६)। दारिद्रयं खुल पुरुषस्य जीवितं मरणम् (२५७)। विस्पोअर्थवान् सुरूपः (२५८)। अदातारमप्यर्थवतमर्थिनो न त्यजन्ति (२५९)। अकुलीनोपि कुलीनाद्विशिष्टः (२६०)। नास्त्यमानभयमनार्यस्य (२६१)। न चेतनवतां वृत्तिभयम् (२६२)। न जितेन्द्रियाणां विषयभयम् (२६३)। न कृतार्थानां मरणभयम् (२६४)।

कस्यचिदर्थ स्वामिव मन्यते साधुः (२६५)। परविभवेष्वादरो न कर्तव्यः (२६६)। परविभवेष्वादरोपि नाशमूलम् (२६७)। पलालमपि परद्रव्यं न हर्तव्यम् (२६८) परद्रव्यापहरणमात्मद्रव्यनाशहेतुः (२६९)। न चौर्यात्परं मृत्युपाशः (२७०)। यवागूरपि प्राणध ारणं करोति काले (२७१)। मुतस्यौषधं प्रयौजनम् (२७२)। समकाले स्वयमपि प्रभुत्वस्य प्रयोजनं भवति (२७३)।

नीथस्य विद्याः पापकर्मणि योजयन्ति (२७४)। पयः-पानमपि विषवर्थनं भुजंगस्य नामृतं स्यात् (२७५)। न हिं धान्यसमो हयर्थः (२७६)। न क्षुधासमश्शत्रुः (२७७)। अकृतेर्नियता

क्षुत (२७८)। नास्त्थभक्ष्यं क्षुधितस्य (२७६)। इन्द्रियाणि जरावशं कुर्वन्ति (२८०)। सानुकोशं भर्त्तारमाजीवेत् (२८१)। लुब्धसेवी पावकेच्छया खद्योतं धमति (२८२)। विशेषज्ञं स्वामिनमाश्रयेत् (२८३)।

पुरुषस्य मैथुनं जरा (२८४)। स्त्रीमाममैथुनं जरा (२८५)। नीचोत्तमयो र्वेववाहः (२८६)। अगम्यागनादायुर्यश पुण्यानि क्षीयन्ते (२८७)। नास्त्यहंकारसमश्शत्रु (२८८)। संसदि शत्रुं न परिक्रोशेत् (२८६)। शत्रुब्यसनं श्रवणसुखम् (२६०)। अधनस्य बुद्धिर्द विधते (२६१)। हितमप्यधनस्य वाक्यं न गृह्यते (२६२)। अधनस्तभार्यर्याअप्यवमन्यते (२६३)। पुष्पहीनं सहकारमपि नोपासते भ्रमराः (२६४)। विद्या चोरेरपि न ग्राह्या (२६६)। विद्या ख्यापिता ख्याति (२६७)। यशश्शरीरं न विनश्यति (२६८)।

यः परार्यमुपसर्पाति स सत्पुरुषः (२६६)। इन्द्रियाणां प्रशमं शास्त्रम् (३००)। अशास्त्रकार्यवृत्तौ शास्त्रांकुशं निवारयति (३०१)। नीचस्य विद्या नोपेतव्या (३०२)। म्लेच्छभाषणं न शिक्षेत (३०३)। म्लेच्छानामपि सुवृत्तं ग्राह्यम् (३०४)। गुणे न मत्सरः कर्तव्यः (३०५)। शत्रोरपि सुगुणो गाह्यः (३०६)। विषावदप्यमृतं ग्राह्यम् (३०७)। अवस्थया पुरुषस्संमान्यते (३०८)। स्थान एवं नराः पूज्यन्ते (३०६)। आर्यवृत्तमनुतिष्ठेत् (३१०) कदाअपि मर्यादां नातिक्रमेत् (३११)।

नास्त्यर्धः पुरुषरत्नत्य (३१२)। न स्त्रीरत्नसगं रत्नम् (३१३)। सुदुर्लभं रत्नम्। (३१४)। नास्त्त्यसस्य शास्त्राधिगम (३१६)। स्त्रैणस्य स्वर्गाप्तिर्थर्मकृत्यं च (३१७)। स्त्रियोपि स्त्रैणमवमन्यन्ते (३१८)। न पुष्पार्था सिंचति शुष्कतरुम् (३१६)। अद्रव्यप्रयत्नो बालुकाक्कथनादनन्यः (३२०)। न महाजनहातः कर्तव्यः (३२१)। कार्यसंपदं निमित्तानि विशेषयन्ति (३२२)। नक्षत्रादपि निभित्तानि विशेषयन्ति (३२३)। न त्वरित्स्य नक्षत्रपरीक्षा (३२४)।

परिचये दोषा न छाधन्ते (३२५)। स्वयमशुद्धः परानाशंकते (३२६)। स्वभावो दुरतिक्रमः (३२७)। अपराधानुरूपौ दण्डः (३२८)। कथानुरूपं प्रतिवचनम् (३२६)। विभवानुरूपमाभिरणम् (३३०)। कुलानुरूपं वृत्तम् (३३१)। कार्यानुरूप प्रसत्नः (३३२)। पात्रानुरूपं दानम् (३३३)। वयोअनुरूपो वेषः (३३४)। स्वाम्यनुकूलो भृत्यः (३३५)। भर्तृवशवर्तिनी भार्या (३३६)। गुरुवशानुवर्ती शिष्यः (३३७)। पितृवशानुवर्ती पुत्र (३३८)।

अत्युपचारश्शंकितव्यः (३३६)। स्वामिनमेवानुवर्तेत (३४०)। मातृताछितो वत्सो मातरमेवानुरोदिति (३४१)। स्नेहवतस्स्वल्पो हि रोषः (३४२)। आत्मच्छिद्रं न पश्यति परच्छिद्रमेव पश्यति बालिशः (३४३)। सोपचारः कैतवः (३४४) काम्यैर्विशेषिरूपचरणमुपचारः (३४५)। चिरपरिचितानामत्युपचारश्शंकितव्यः (३४६)। गौर्दुष्करा इवसहस्त्रादेकाकिनी श्रेयसी (३४७)। श्वोमयूरादद्यवपोतो वरः (३४८)।

अतिसंगो दोषमुत्पादयति (३४६)। सर्व जयत्क्रोधः (३५०)। यप्पकारिणि कोपः कोपे कोप एवं कर्तव्यः (३५१)। मतिमत्सु मूर्खमित्रगुरुवल्लमेषु विवादो न कर्तव्यः (३५२)। नास्त्यपिशाचमेश्वर्यम् (३५३)। नास्ति धनवतां शुभकर्मसु श्रमः (३५४)। नास्ति गतिश्रमो यानवताम् (३५५)। अलोहमयं निगलं कलत्रम् (३५६)। यो यास्मिन् कुशलस्स तस्मिन्

योक्तव्यः (३५७)। दुष्कलत्रं- मनास्विनां शरीरकर्शनम् (३५८)।

अप्रमत्तो दारान् निरीक्षेत (३५९)। स्त्रीषु किंचिदपि न विश्वसेत (३६०)। न समाधिः स्त्रीषु लोकज्ञता च (३६१)। गुरुणां माता गरीयसी (३६२)। सर्वावस्थासु माता भर्तव्या (३६३)। वैदुष्यमलंकारेणाच्छाद्यते (३६४)। स्त्रीणां भूषणं लज्जा (३६५)। विप्राणां भूषणं वेदः (३६६)। सर्वेषां भूषणं धर्मः (३६७)। भूषणानां भूषणं सविनया विद्यते (३६८)। अनुपद्रवं देशमावसेत् (३६९)। साधजनबहुलो देशः (३७०)।

राज्ञो भेतव्यं सार्वकालम् (३७१)। न राज्ञः परं देवतम् (३७२)। सुदूरमपि दहति राजवह्निः (३७३)। रिक्तहस्तो न राजानमभिगच्छेत् (३७४)। गुरुं च दैवं च (३७५)। कुटुम्बिनो भेतव्यम् (३७६)। गन्तव्यं च सदा राजकुलम् (३७७)। राजपुरुषैस्संवन्ध कुयात् (३७८)। राजदासी न सेवितव्या (३७९)। न चक्षुषाअपि राजानं निरीक्षेत (३८०)। पुत्रे गुणवति कुटुम्बिनः स्वर्गः (३८१)। पुत्रा विद्यानां पारं गमयितव्याः (३८२)।

जनपदार्थं ग्रामं त्यजेत् (३८३)। ग्रामार्थ कुटुम्बस्त्यज्यते (३८४)। अतिलाभः पुत्रलाभः (३८५)। दुर्गतेः पितरो रक्षति स पुत्रः (३८६)। कुलं प्रख्यापयति पुत्रः (३८७)। नानपत्यत्य स्वर्गः (३८८)। या प्रसूते भार्या (३८९)। तीर्थसमवाये पुत्रवतीमनुगच्छेत् (३९०)। सतीर्थाभिगमनाद्ब्रह्मवयं नश्यति (३९१)। न परक्षेत्रे बीजं विनिक्षिपत् (३९२)। पुत्रार्था हि स्त्रियः (३९३)।

स्वदासीपरिग्रहो हि स्वदासभावः (३९४)। उपस्थितविनाशः पथ्यवाक्यं ऋणोति (३९५)। नास्ति देहिनां सुखदः खाभावः (३९६)। मातरमिंव वत्साः सुखदःखानि कर्तार मेवानुगच्छन्ति (३९७)। तिमलमात्रमप्युपकारं शैलमात्रं मन्यते साधुः (३९८)। उपकारोअनार्यष्वकर्तव्यः (३९९)। प्रत्युपकारभयादनार्यश्शत्रुर्भवति (४००)। स्वल्पमप्युपकारकृते प्रत्युपकारं कर्तृमार्यो न स्वपिति (४०१)।

न कदाअपि देवताअवमन्तव्या (४०२)। न चक्षुषः समं ज्योतिरस्ति (४०३)। चुक्षुर्हि शरीरिणां नेता (४०४)। अपचुक्षुषः किं शरीरेण (४०५)। नाप्सु मूत्रं कुर्यात् (४०६)। न नग्नो जलं प्रविशेत् (४०७)। यथा शरीरं तथा ज्ञानम् (४०८)। यथा बुद्धिस्तथा विभवः (४०९)। अग्नावग्निं न निक्षिपेत् (४१०)। तपस्विनः पूजनीयाः (४११)। परदारान् न गच्छेत् (४१२)। अन्नदानं भ्रूण त्यामपि मार्ष्टि (४१३)। न वेदबाह्यो धर्मः (४१४)। कदाचिदपि धर्म निषेवेत (४१५)।

स्वर्गं नयीविसुनृतम् (४१६)। नाप्ति सत्यात्परं तपः (४१७)। सत्यं स्वर्गस्य साधनम् (४१८)। सत्येन धार्यते लोकः (४१९)। सत्यादेवो वर्षति (४२०)। नानृतात्पातकं परम (४२१)। न मीमांस्या गुरवः (४२२)। शलत्वं नोपेयात् (४२३)। नास्ति खलस्य मित्रं (४२४)। लोकयात्रा दरिद्रं बाधते (४२५)। अतिशूरो दानशूरः (४२६)।

गुरुदेवब्राह्मणेषु भक्तिर्भूषणम् (४२७)। सर्वस्य भूषणं विनयः (४२८)। अकुलीनोपि विनीतः कुलीनाद्विशिष्टः (४२९)। आचारादायुर्वर्धते कीर्तिश्च (४३०)। प्रियमप्यहितं न वक्तव्यम् (४३१)। बहुजनविरुद्धमेकें नानुवर्तेत (४३२)। न दुर्जनेषु भागधेयः कर्तव्यः (४३३)। न

कृताथेषु नीचेषु सम्बन्धः (४३४)। ऋणशत्रुव्याधिष्वशेष·कर्तव्य (४३५)। भूत्याअनुवर्तनं पुरुस्य रसायनम् (४३६)। नार्ष्विवज्ञा कार्या (४३७)।

दुष्करं कर्म कारयित्वा कर्तारमवमन्यते नीचः (४३८)। नाकृतज्ञस्य नरकान्निवर्तनम् (४३६)। जिंहायत्तौ वृद्धिविनाशौ (४४०)। विषामृतयोराकरी जिंहा (४४१)। प्रियवादिनो न शत्रुः (४४२)। स्तुला अपि देवतास्तुष्यन्ति (४४३)। अनृतमपि दुर्वचनं चिरं तिष्ठति (४४४)। राजद्विष्टं न च वक्तव्यम् (४४५)। श्रुतिसुखात् कोकिलालापात्तुष्यन्ति (४४६)। स्वधर्महेतुस्सत्पुरुषः (४४७)।

नास्त्यर्थिनो गौरवम् (४४८)। स्त्रीणां भूषण सौभाग्यम् (४४६)। शत्रोरपि न पातनीया वृत्तिः (४५०)। अप्रयत्नो दकं क्षेत्रम् (४५१)। एरण्डमवलम्बय कुंजरम् न कोपयेत् (४५२)। अतिप्रवृद्धा शाल्मली वारणस्तम्भो न भवति (४५३)। अतिदीर्घोपि कर्णिकारो न मुसली (४५४)। प्रवृद्धत्वं गुणहेतुः (४५६)। सुजीर्णोपि पिचुमन्दो न शङ्‌ कुलायते (४५७)।

यथा बीजं तथा निष्पत्तिः (४५८)। यथा श्रुतं तथा बुद्धिः (४५६)। यथा कुलं तथाअअचारः (४६०)। संस्कृतः पिचुमन्दो न सहकारो भवति (४६१)। न चागतं सुखं त्यजेत् (४६२)। स्वयंमेव दुःखमधिगच्छति (४६३)। रात्रिचारण न कुर्यात् (४६४)। न चार्थरात्रं स्वपेत् (४६५)। तद्विद्वद्भिः परीक्षेत (४६६)। परगृहमकारणतो न प्रविशेत् (४६७)। ज्ञात्वाअपि दोषमेव करोति लोकः (४६८)।

शास्त्रप्रधाना लोकवृत्तिः (४६८)। शास्त्राभावे शिष्टाचारमनुगच्छेत् (४७०)। नाचरिताच्छास्त्रं गरीयः (४७१)। दुरस्थमपि चारः पश्यति राजा (४७२)। गतानुगतिको लोकः (४७३)। यमनुजीवेत् (४७४)। तपस्सार इन्द्रियनिग्रहः (४७५)। दुर्लभस्त्रीबन्धनान्मोक्षः (४७६)। स्त्री नाम सर्वाशुभानां क्षेत्रम् (४७७)। न च स्त्रीणां पुरुषपरीक्षा (४७८)। स्त्रीणां मनः क्षणिकम् (४७६)। अशुभद्वेषिणः स्त्रीषु न प्रसक्ताः (४७६)।

यज्ञफलशास्त्रिवेदविदः (४८१)। स्वर्गस्थानं न शाश्वतं यावत्पुण्यफलम् (४८२)। न च स्वर्गपतनात्परं दुःखम् (४८३)। देही देहं त्यक्त्वा ऐन्द्रपदं न वाच्छति (४८४)। दुःखानामौषर्थ निर्वाणम् (४८५)। अनार्यसंबन्धाद्वरमार्यशत्रुता (४८६)। निहन्ति दुर्वचनं कुलम् (४८७)। न पुत्रसंस्पर्शात्परं सुखम् (४८८)। विवादे धर्ममनुस्मरेत् (४८६)। निशान्ते कार्य चिन्तयेत् (४६०)। प्रदोषे न संयोगः कर्तव्यः (४६१)।

उपस्थितविनाशः दुर्नयं मन्यते (४६२)। क्षीरार्थिनः किं करिण्या (४६३)। न दानसमं दश्यम् (४६४)। परायत्तेषूत्कण्ठां न कुर्यात् (४६५)। असत्समृद्धिरसद्धिभरेव भुज्यते (४६६)। निम्बफलं काकैर्भुज्यते (४६७)। नाम्भौधिस्तृष्णामपाहंति (४६८)। बालुकाअपि स्वगुणमाश्रयन्ते (४६६)। सन्तोअसत्सु न रमन्ते·(५००)। हंसः प्रेतवने न रमते (५०१)।

अर्थार्थं प्रवर्तते लोकः (५०२)। आशया बध्यते लोकः (५०३)। न चाशापरैश्श्रीस्सह तिष्ठति (५०४)। आशापरे न धैर्यम् (५०५)। दैन्यान्मरणमुत्तमम् (५०६)। आशा लज्जां व्यपोहति (५०७)। न मात्रा सह वासः कर्तव्यः (५०८)। आत्मा न स्तौतव्यः (५०६)। न दिवा स्वप्नं कुर्यात् (५१०)। न चासन्नमपि पश्यत्येश्वर्यान्धः न शृणोतीष्टं वाक्यम् (५११)।

स्त्रीणां न भर्तुः परदेवतम् (५१२)। तदनुवर्तनमुभयसौख्यम् (५१३)। अतिथिमभ्यागतं पूज्येद्याविधि (५१४)। नास्ति हव्यस्य व्याघातः (५१५)। शत्रुर्मित्रवत्प्रतिभाति (५१६)। मृगतृष्णा जलवद्भाति (५१७)। दुर्मेधसामसच्छा स्त्रं मोहयति (५१८)। सत्संगः स्वर्गवासः (५१९)। आर्यः स्वमिव परं मन्यते (५२०)। रूपानुवर्ती गुणः (५२१)। यत्र सुखेन वर्तते तदेव स्थानम् (५२२)।

विश्वासघातिनो न निष्कृतिः (५२३)। देवायत्तं न शोचेत् (५२४)। आश्रितदुःखमात्मन इव मन्यते साधुः (५२५)। हृद्गतमाच्छाद्यान्यद्वदत्यनार्यः (५२६)। बुद्धिहीनः पिशाचतुल्यः (५२७)। असहायः पथि न गच्छेत् (५२८)। पुत्रो न स्तोतव्यः (५२९)। स्वामी स्तोतव्योअनुजीविभिः (५३०)। धर्मकृत्येष्वपि स्वामिन एवं घोषयेत् (५३१)। राजाज्ञा नातिलंघयेत् (५३२)। यथाअज्ञप्तं तथा कुर्यात् (५३३)।

नास्ति बुद्धिमतां शत्रुः (५३४)। आत्मच्छिद्रं न प्रकाशयेत् (५३५)। क्षमावानेव सर्वे साध ायति (५३६)। आपदर्थ धन रक्षेत् (५३७)। साहसवतां प्रियं कर्तव्यम् (५३८)। श्वः कार्यमद्यः कुर्वीत (५३९)। आपराहिकं पूर्वाह्न एवं कर्तव्यम् (५४०)। व्यवहारानुलोमो धर्मः (५४१)। सर्वज्ञता लोकज्ञता (५४२)। शास्त्रज्ञोप्यलोकरो मूर्खतुल्यः (५४३)।

शास्त्रप्रयोजनं तत्त्वदर्शनम् (५४४)। तत्त्वज्ञानं कायमेव प्रकाशयति (५४५)। व्यवहारे पक्षपातो न कार्यः (५४६)। धर्मादपि व्यवहारो गरीयान् (५४७)। आत्मा हि व्यवहारानुलोमो धर्मः (५४१)। सर्वज्ञता लोकज्ञता (५४२)। शास्त्रज्ञोप्यलोकरो मूर्खतुल्यः (५४३)।

शास्त्रप्रयोजनं तत्त्वदर्शनम् (५४४)। तत्त्वज्ञानं कायमेव प्रकाशयति (५४५)। व्यवहारे पक्षपातो न कार्यः (५४६)। धर्मादपि व्यवहारो गरीयान् (५४७)। आत्मा हि व्यवहारस्य साक्षी (५४८)। सर्वसाक्षी ह्यात्मा (५४९)। न स्यात्कूटसाक्षी (५५०)। कूटसाक्षिणो नरके पतन्ति (५५१)। प्रच्छन्नपापानां साक्षिणो महाभूतानि (५५२)। आत्मनः पापमात्मेव प्रकाशयति (५५३)।

व्यवहारेअन्तर्गतमाकारस्सूचयति (५५४)। आकारसंवरणं देवानामशक्यम् (५५५)। चोरराजपुरुषेभ्यो वित्तं रक्षेत् (५५६)। दुर्दर्शना हि राजानः प्रजा नाश्यन्ति (५५७)। सुदर्शना हि राजानः प्रजा रंजयन्ति (५५८)। न्याययुक्तं राजानं मातरं मन्यन्ते प्रजाः (५५९)। तादृशस्स राजा इह सुखं ततस्स्वर्ग माप्नोति (५६०)। अहिंसालक्षणो धर्मः (५६१)। स्वशरीरमपि परशरीरं मन्यते साधुः (५६२)। मांसभक्षणमयुक्तं सर्वेषाम् (५६३)। न संसारभयं ज्ञानवताम् (५६४)। विज्ञानदीपेन संसारभयं निवर्तते (५६५)। सर्वमनित्यं भवति (५६६)। कृमिशकृन्मूत्रभाजनं शरीरं पुण्यपापजन्महेतुः (५६७)। जन्ममरणादिषुदुःखमेव (५६८)। तपसा स्वर्गमाप्नोति (५६९)। क्षमायुक्ततस्य तपो विवर्धते (५७०)। तत्मात्सर्वेषां कार्यसिद्धिर्भवति (५७१)।

(इति चाणक्यसूत्राणि)

●●●





उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान : इतिहास विषय की प्रकाशित पुस्तकें

क्र.सं.	पुस्तक का नाम	लेखक का नाम	मूल्य
१.	मध्ययुगीन भारतीय समाज एवं संस्कृति	डॉ. झारखण्डे चौबे डॉ. कन्हैयालाल श्रीवास्तव	रु. १५६.००
२.	बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास	डॉ. गोविन्दचन्द्र पाण्डेय	रु. ६५.००
३.	सिन्धु सभ्यता	डॉ. किरण कुमार थपल्याल डॉ. संकटा प्रसाद शुक्ल	रु. ६०.००
४.	विश्व इतिहास	डॉ. रामप्रसाद त्रिपाठी	रु. ७५.००
५.	एशिया के सामाजिक और सांस्कृतिक इतिहास की रूपरेखा	डॉ. बुद्धप्रकाश	रु. १३.००
६.	भारतीय वास्तुकला का इतिहास	कृष्णदत्त वाजपेयी	रु. ५५.००
७.	क्रांतिकारी यूरोप तथा नेपोलियन का युग	डॉ. ईश्वरीप्रसाद	रु. ४४.००
८.	कन्नौज का इतिहास	पं. आनंदस्वरूप मिश्र	रु. १७५.००
९.	एशिया की विकासोन्मुख एकता	अनु. चन्द्रशेखर मिश्र बलभद्रप्रसाद मिश्र	रु. १०.००
१०.	सातवाहन और पश्चिमी क्षत्रपों का इतिहास और अभिलेख	मू. डॉ. वा.पि. मिराशी अनु. डॉ. व्यंकटेश द्रविड़	रु. ७७.००
११.	भारत का सांस्कृतिक इतिहास	डॉ. राजेन्द्र पाण्डेय	रु. ८०.००
१२.	संयुक्त राज्य अमेरिका का इतिहास	डॉ. के.के. कौल	रु. ६०.००
१३.	मध्य पूर्व में तेल राजनीति का इतिहास	डॉ. वी.पी. बहुगुणा	रु. १४५.००
१४.	लेखन कला का इतिहास (दो खण्डों में)	ईश्वरचन्द्र राही	रु. १६४.००
१५.	वेलेजली के अधीन भारत	मू.यू.पी.ई. राबर्ट्स अनु उमाराव	रु. १५.००
१६.	एशिया उद्भव एवं विकास	डॉ. के.के. कौल	रु. १०८.००
१७.	उत्तर भारत का राजनीतिक इतिहास	डॉ. विशुद्धानन्द पाठक	रु. २००.००
१८.	आधुनिक भारत का इतिहास	डॉ. जगन्नाथ प्रसाद मिश्र	रु. १४५.००

सम्पर्क सूत्र

निदेशक

उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान

राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन हिन्दी भवन

६, महात्मा गांधी मार्ग, हजरतगंज, लखनऊ